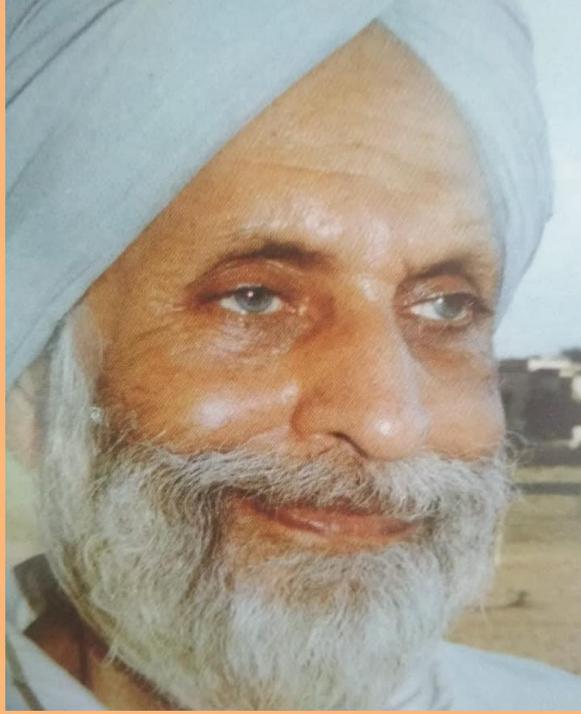


रामाश्रम सत्संग डिजिटल प्रकाशन

प्रवचन शतक

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतारसिंह जी महाराज के 100 प्रवचनों का संकलन)



रामाश्रम सत्संग (रजि०)

9 - रामकृष्ण कॉलोनी, जी०टी० रोड़,

गाज़ियाबाद (उ०प्र०) - 201009

प्रकाशक

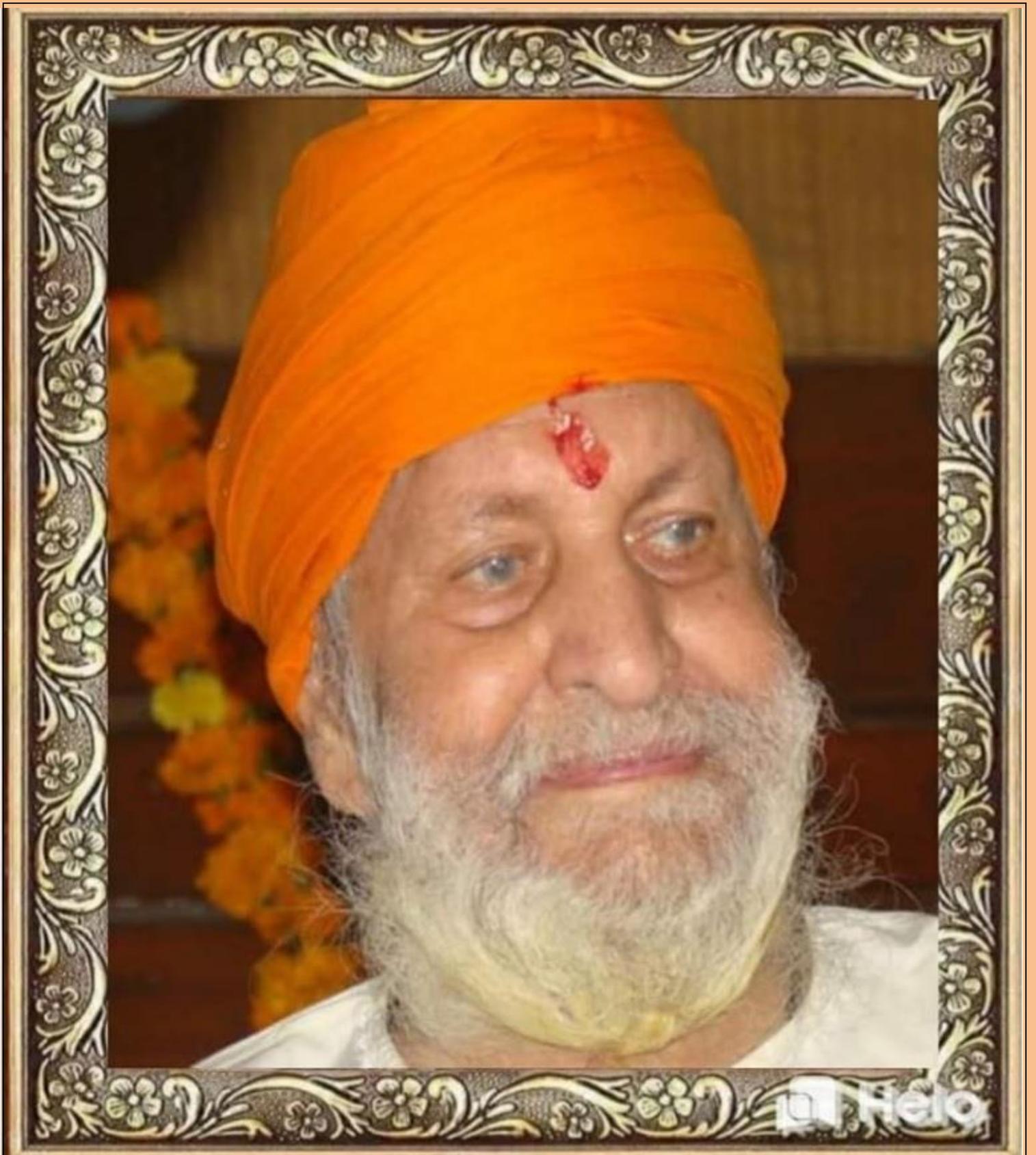
अध्यक्ष एवं आचार्य,

रामाश्रम सत्संग (रजि।)

गाज़ियाबाद (उ०प्र०)

मई, 2020

सर्वाधिकार सुरक्षित



निर्वाणप्राप्त डा० श्री करतार सिंह जी महाराज

(अवतरण १३-०६-१९१२ - निर्वाण १५-०६-२०१२)

प्रवचन सूची

- 1 हमारे जीवन -मुक्त भाग्य विधाता - परम पूज्य डॉ०श्रीकृष्ण लाल जी महाराज
- 2 मन प्रतिक्षण चंचल रहता है
- 3 अच्छी-बुराई से मन को स्वतंत्र करो
- 4 अपने जीवन काल में ही ईश्वर रूप बनो
- 5 अपने ध्येय के प्रति जागरूक रहें और गंभीरता से प्रयास करते रहें
- 6 अभ्यास और वैराग्य
- 7 असली परिवर्तन
- 8 अहंकार त्यागें दीनता ग्रहण करें।
- 9 आचरण की नीव पर आध्यात्म का, परमार्थ का मन्दिर बनायें
- 10 आत्मिक प्रेम निष्काम होता है - मन के प्रेम में बदले की भावना होती है
- 11 आनंद का भंडार हमारे अंतर में है - उसे पाने के लिए आवरण हटाने होंगे
- 12 आध्यात्मिकता का आधार - ईश्वरीय कृपा की धार
- 13 आंतरिक शांति के लिए द्वंदों को समाप्त करना होगा
- 14 इच्छा-कर्म-संस्कारों का फल और इनसे मुक्ति का साधन
- 15 ईश्वर-कृपा का आभास
- 16 ईश्वर के गुणों को अपनाओ
- 17 ईश्वर के गुणों को अपने व्यवहारिक जीवन में उतारना ही सच्चा ईश्वर दर्शन है

- 18 ईश्वर तक पहुँचने का साधन सोपान - नाम जप सुमिरन
- 19 ईश्वरीय गुणों का महत्व
- 20 करनी, कथनी और रहनी
- 21 कृपा वृष्टि तो हर क्षण हो रही है - उसे ग्रहण करने की तत्परता चाहिए
- 22 कृपा सब पर एक जैसी बरसती है - प्रभु की।
- 23 गावो री दुल्हिन मंगलचारा
- 24 गुरु और परमेश्वर एक ही जानो
- 25 गुरु का दामन न छोड़ें
- 26 गुरु कृपा कैसे प्राप्त हो ?
- 27 गुरु के आदेशों का पालन और चरित्र निर्माण से आत्म-साक्षात्कार संम्भव
- 28 गुरु के प्रति विश्वास
- 29 गुरु भक्ति और वास्तविक दर्शन
- 30 गौतम बुद्ध जी के पाँच मराकबे
- 31 चुनरी में लगा दाग
- 32 जैसा अन्न वैसा मन
- 33 जैसा हम कर्म करते हैं - वैसा उसका फल मिलता है
- 34 तीन प्रकार के चरण
- 35 तुम्हारा कर्तव्य है कि अपने आप को पोशीदा करके उसको हाज़िर कर दो
- 36 तू साहिब में बन्दा तेरा

- 37 दीनता
- 38 दीनता और सद्गुणों को अपनाना
- 39 दीनता, उदारता और सहनशीलता - इन तीन सद्गुणों को अपनायें
- 40 ध्यान
- 41 नाभि में छिपी कस्तूरी से अनजान मृग के समान मत भटको
- 42 नियमित साधना का महत्व
- 43 पर दोष दर्शन मत करो - मत सुनो
- 44 परमात्मा आत्मा के भीतर है, कहीं दूर नहीं।
- 45 परमात्मा की दयालुता
- 46 परमात्मा कैसे मिलें
- 47 परमात्मा प्राप्ति में विनम्रता का योगदान
- 48 परमार्थ साधन में साध्य और साधन
- 49 परमार्थी अभ्यासियों के लिए कुछ आवश्यक बातें
- 50 पहले सत्संग का लक्ष्य समझलें फिर भक्ति और ज्ञान का मार्ग अपनायें
- 51 प्रभु के स्थितप्रज्ञ जानी या भक्त के प्रिय गुणों में से एक विशेष गुण है - क्षमा
- 52 प्रेम से ही परमात्मा की अनुभूति होती है
- 53 प्रेमा भक्ति है - प्रेमाश्रु गंगा स्नान
- 54 भक्त और सहनशीलता
- 55 भक्ति मार्ग में प्रेम को लेकर चलना होगा

- 56 ब्रह्मज्ञानी के लक्षण
- 57 मन की अशांति का मूल कारण है - अहंकार
- 58 मन की स्थिरता में सफलता
- 59 मन तू ज्योति स्वरूप है
- 60 मनमानी करने की वृत्ति को तिलांजलि दें
- 61 मनुष्य जीवन का सर्वोत्तम उपहार - विवेक बुद्धि
- 62 महापुरुषों ने जो ईश्वरीय गुण अपनाये हैं उनमें क्षमा, प्रेम और सेवा प्रमुख हैं
- 63 मृत्यु का डर और मोक्ष
- 64 मेरे देवता मुझको देना सहारा, कहीं छूट न जाये दामन तुम्हारा
- 65 मौन की साधना आवश्यक है
- 66 मौन साधना क्या है ?
- 67 राग, द्वेष तज सबसे प्रेम करें
- 68 वास्तविक आनन्द कहाँ है ?
- 69 विवेक और वैराग्य साधना का अभ्यास
- 70 शांति की चाह हर व्यक्ति को होती है, पहले घर को शांतिमय स्वर्ग बनायें
- 71 संसार में मोहग्रस्त हो जाना - अगले जन्म को निमंत्रण देना
- 72 संतों की महिमा और हमारे गुरुजन - हमारे यहाँ का तप साधन, आत्मिक अभ्यास
- 73 सच्चा गुरु व शिष्य
- 74 सच्चा पश्चाताप और प्रार्थना

- 75 सत्संग की साधना का स्वरूप
- 76 सत्संग साधना से जीवन का उद्धार
- 77 सद्गुणों को अपनाना सीखें
- 78 सभी धर्मों के मूल सिद्धांत
- 79 सभी में एक वही रूप देखें
- 80 समय थोड़ा है
- 81 समर्पण का महत्वपूर्ण पर्व है - गुरु पूर्णिमा
- 82 सरलता, सत्संग और सेवा - श्रेष्ठ साधना
- 83 सर्व रोग की औषधि - 'नाम'
- 84 सर्वभूतों के प्रति कृतग्यता - 5 यज्ञ
- 85 साधना का अर्थ है - मन को साधना, ईश्वर जैसा बनना
- 86 साधना में शरीर और मन स्वस्थ रहने चाहिए
- 87 साहिब में बन्दा तेरा
- 88 सुःख-दुःख
- 89 सुहागिन
- 90 सेवा
- 91 स्वभाव बदलो - सतवृत्ति अपनाओ
- 92 हम सब क्यों भीतर से दुखी हैं ?
- 93 हमारा व्यवहार प्रेम मय होना चाहिए

94 हमारे जीवन का लक्ष्य क्या है ?

95 हमें दिखावटीपन से बचना है

96 आध्यात्मिक परहेज़

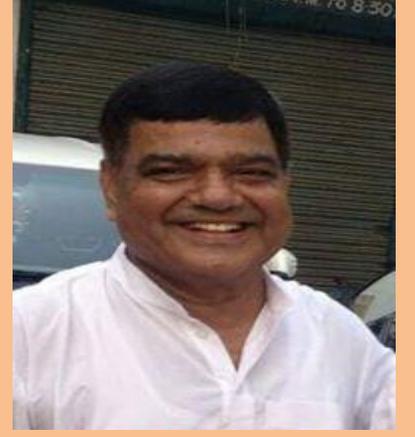
97 गुरु या प्रभु की सच्ची पूजा है - शिष्य का समर्पण, अनुपालन

98 एको सत्य विप्रा बहुधा वदन्ति

99 मानव जीवन में ईश्वरीय गुण सीखें - परमात्मा से साक्षात्कार करें।

100 मानव जीवन का सच्चा सदुपयोग

विनम्र - समर्पण



परमपूज्य गुरुदेव ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतार सिंह जी महाराज
के

प्रवचनों का यह डिजिटल संकलन

उनके ही प्रिय शिष्य एवं उत्तराधिकारी

ब्रह्मलीन परमपूज्य डॉ०शक्ति कुमार जी सक्सेना जी

की पुण्य स्मृति को

सादर समर्पित है

जिन्होंने पूज्य गुरुदेव के प्रवचनों में वर्णित सभी ईश्वरीय गुणों को
आत्मसात करते हुए अपनी कृपा-प्रसादी से हम सब साधकों को सदैव
फ़ैज़याब किया

ॐ शांति

"भावांजलि में प्रकाशित लेख

हमारे जीवनमुक्त भाग्यविधाता परम् पूज्य डॉ०श्रीकृष्ण लाल जी महाराज

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतार सिंह जी महाराज)

परम् पूज्य गुरुदेव की जन्म-शताब्दी के महत्वपूर्ण सुअवसर पर कोई विशेष लेख, संस्मरण या श्रद्धांजलि के भाव व्यक्त करना अत्यन्त कठिन कार्य है। आपके पावन सम्पर्क, सानिध्य में बिताये स्वर्णिम समय की साक्षात् अनुभूतियों तथा जीवनोपरान्त भी परोक्ष कृपाओं की स्मृतियों का इतना बड़ा भण्डार है कि उसकी एक-एक बात हमारी - सभी कृपापात्रों की - अमूल्य निधि है। तो भी, कर्तव्य पालन की दृष्टि से अपनी मनोभावना को प्रकट करने वाले प्रभावशाली सुधियों के आनन्दमय कुछ संस्मरण उन्हीं को पुनः समर्पित हैं।

प्रथम भेंट का सौभाग्य

परम् पूज्य गुरु महाराज से मेरी पहली मुलाकात सन 1951 में हुई। मेरे मित्र बाबू श्री रामजी वकील, मुझे यह कहकर - 'चलो एक परम् संत के दर्शन कर आयेँ' बाबू गिरवर कृष्ण जी के मकान पर ले गए। वहाँ सत्संग हो रहा था। कुछ विशेष आकर्षण का अनुभव हुआ। सत्संग की समाप्ति पर वकील साहब ने जाने की आज्ञा माँगी। गुरुदेव ने इजाज़त दे दी। मैंने भी अनुमति चाही तो आपने कहा - "आप रुकिए।" इन दो शब्दों में अद्भुत प्रेम था। कुछ क्षण मौन रहने के पश्चात् गुरुदेव कहने लगे कि - 'हम आपके घर चलेंगे।' आप मेरे साथ घर आये, भोजन किया/ बड़े प्रसन्न हुए।

अनुपम कृपा की अनुभूति

इस मुलाकात के बाद, आप जहाँ भी जाते मुझे अपने साथ ले जाते। 1952 ई० में आपकी विशेष कृपा हुई। एक समय मैंने अपने आपको प्रकाश के एक महान सागर में पाया। इस अवस्था को बर्दाश्त न कर सका और घबरा गया। होश आने पर मैंने एक असीम आनन्द का आभास किया। आपके चरणों में पत्र डाला। आपने उत्तर दिया - "आपको पहले ही दिन जन-

सेवा के लिए चुन लिया था/ वह बड़ा खुशकिस्मत है जिसको वह (परमात्मा) इस काम के लिए चुन लेता है । सबसे बड़ी खिदमत यह है कि गिरे हुए और भटकते हुए इन्सान को राहे रास्त (सीधे रास्ते) पर लाया जाए।”

मन में बार-बार चाह उठती थी कि ग्रह त्याग कर सन्यासी हो जाऊँ। गुरुदेव से आज्ञा माँगी तो उन्होंने लिखा " आप दुकान पर मालिक की हैसियत से काम न करें, बल्कि एक मुलाज़िम की हैसियत से रहें - और हैं भी आप मुलाज़िम/ ग़लती से अपने आपको मालिक समझे हुए हैं/ अगर दुकान आपकी होती तो आपके साथ आयी होती, आपके साथ जाती, पर क्या ऐसा है ? नहीं। यही आपकी परेशानी का बायस (कारण) है।" आप फ़रमाया करते थे कि तपस्या जंगलों में जाकर नहीं होती। हमारे यहाँ तप अपने मन को साधने में है। कुछ अमूल्य निर्देश लिखे जाते हैं, जैसे -

- 1 किसी को दोष दृष्टि से मत देखो।
- 2 जो आपसे बुरा सलूक करें उनसे क्रोधित न हों, अन्तर में टटोलो कि क्या आपकी गलती के कारण तो दूसरा आपसे दुर्व्यवहार नहीं करता ?
- 3 सहनशीलता बढ़ानी चाहिए। घृणा करने वाले को प्रेम से अपना बनाओ ।
- 4 प्रत्येक व्यक्ति से प्रेम करो । सदैव यह विचार करो कि अन्य व्यक्ति भी आप से प्रेम करते हैं ।
- 5 अपना चरित्र पहाड़ की चट्टान की तरह बनाओ । तब परवाह मत करो कि लोग क्या कहते हैं ।

एक बार कुछ खालीपन (शून्यता) का अनुभव हुआ। गुरुदेव ने कहा - " ये अच्छी अवस्था थी। चिन्ता मत करो, अच्छा है थोड़ी देर रही, परन्तु आनन्द की अवस्था भी ममता है, फँसाने वाली होती है। उससे भी आगे चलना चाहिए। 'राज़ी-बा-रज़ा' की स्थिति में आओ।"

गुरुदेव का निःस्वार्थ प्रेम व त्याग

आप ज़रूरतमन्दों की सहायता करने के लिए सदैव तत्पर व उत्सुक रहते थे। कभी-कभी तो बेचैन हो जाते थे। अगस्त 1956 में डॉ॰श्यामलाल जी ने आपको लिखा, - " मैं आज तक यह नहीं समझ सका कि वो कौन सी चीज़ मुझमें है कि आपकी इतनी दया और बुजुर्गी का हाथ मेरे ऊपर रहा। मैं अपने को टटोलता हूँ, तो किसी का न हمدर्द, न शुभ इच्छुक, और न मददगार पाता हूँ, फिर भी मुझ पर इस क़दर आपकी कृपा है। उस वक्त मैं भी घबरा गया था। शुक्र है, आपकी दुआ क़बूल हुई।"

गुरुदेव किसी को दुखी नहीं देख सकते थे। 22-11-65 के पत्र में आपने लिखा - " मुझको मालूम हुआ कि आपकी तबियत ठीक नहीं है, ये भी उसकी कृपा है/ बुरे कर्म इसी तरह कटते हैं/ इसलिए घबराना नहीं चाहिए/ हर हालत में शुकुराना वाज़िब है/ हर हालत में पूरी श्रद्धा से उसका नाम लेते रहो और ध्यान रखो कि वो हर वक्त तुम्हारे साथ है, और दुनियाँ से पीछे हटते जाओ/ बग़ैर तर्क (त्याग) के प्यार अधूरा है और जब सब छोड़ना ही है, तो क्यों न धीरे-धीरे छोड़ते चलो ।"

सदा दुःख हरने को तत्पर

इन दिनों कुछ स्थिति ऐसी हो गयी थी कि मैं घबरा गया था। आपने लिखा - " आपकी परीक्षा का यह समय है/ देखना फ़ेल (असफल) न होना/ उस ईश्वर पर भरोसा रखो, जो भी होगा आपके हित के लिए होगा/ आप मत आड़ये/ मैं आपके लिए प्रार्थना कर रहा हूँ । " आपकी असीम कृपा हुई, स्थिति धीरे-धीरे सुधरती गयी ।

बाबू प्यारे मोहन जी को गुरुदेव अक्सर मिलने जाया करते थे। कहा करते थे, ' कान्ती के सन्तान नहीं है। सत्संग ही इन बेचारों का वंश है। इससे उनको (कान्ती बहन व प्यारे मोहन जी को) राहत मिलेगी" । डॉ॰महेश चन्द्र जी की धर्मपत्नी अक्सर बीमार रहती थीं, इसलिए आप अक्सर आगरा जाया करते थे।

भाइयों को कष्ट में देखकर गुरुदेव दुःखी हो उठते थे। उनका दुःख अपना दुःख समझते थे। तन, मन, धन से, जैसी भी स्थिति हो, उनकी सहायता करते थे। कुर्बानी का अंश आपमें इतना

था कि मैंने अन्य किसी पुरुष में अब तक नहीं देखा। मेरी धर्मपत्नी मौत के पंजे में थी, गंगाराम हस्पताल में बैठे थे, आपने कहा - " बहन को बचाने के लिए ईश्वर से हार्दिक प्रार्थना की, अपनी शेष आयु भी अर्पण की है ताकि वो ठीक हो जाय, परन्तु ऊपर से निराशाजनक उत्तर मिलता है/ अब वो कुछ घंटों की मेहमान है।"

सत्संगी जनों की सेवा

गुरुदेव सत्संगियों को अपने बच्चों से भी अधिक प्रेम करते थे। अपने गुरुदेव की सन्तान समझते थे। कभी -कभी तो कह देते थे कि ये हमारे गुरु हैं, उसी रूप में उनकी सेवा करते थे। प्रेमियों से कहा करते थे, " जो कुछ हमारे पास है सो आपका है, यदि इससे भी अधिक हो तो वो भी हम न्योछावर करने के लिए हमेशा तैयार हैं।"

अगस्त 1958 में, मैं आपकी सेवा में गज़ियाबाद गया। पहुँचते ही सेवक को आराम करने के लिए कहा। कुछ देर बाद आपने कहा कि आप स्नान कर लीजिये। एक नई धोती मुझे दी। मैं गुसलखाने में चला गया। वहाँ बर्तन व जल रखे हुए थे। मैं अपना जूता गुसलखाने के बाहर छोड़ गया था। जब मैं स्नान करके निकला तो चकित रह गया, जूता कमरे में रखवा दिया गया था, बाहर मेरे लिए खड़ाऊं रखी मिली। सत्संगियों के स्नान के लिए स्वयं जल रख दिया करते थे - उनके लिए चाय भी स्वयं बना दिया करते थे। सत्संगियों को अपना परिवार समझते थे और कहा करते थे कि उनकी सेवा गुरु-सेवा है। और ऐसे ही प्रत्येक की सेवा करते थे।

आपकी क्षमाशीलता

पूज्य गुरुदेव क्षमा की सजीव मूर्ति थे। एक बार मुझसे कुछ गलती सी हो गयी। समझाते हुए आपने कहा -" शत्रु के मुँह पर थूकने पर भी हज़रत अली ने क्रोध नहीं किया था। क्रोध से अपना ही मन अशान्त होता है। इसलिए संयम में रहना चाहिए ।"

योग्य पात्रों को शिक्षा

सन 1958 के भण्डारे पर कुछ व्यक्तियों को आपने शिक्षा देने की आज्ञा प्रदान की। उनसे कहा कि -

- 1 सेवा करना परन्तु अपनी सेवा न कराना ।
- 2 पूजा का धन अपने ऊपर व्यय न करना - यदि भेंट कभी लेनी भी पड़े तो उसे किसी की सहायता में खर्च कर देना
- 3 अपना चरित्र ऊँचा रखना ताकि औरों पर प्रभाव पड़े।
- 4। भाइयों के दुःख में उनकी सहायता करना।
- 5। किसी का मन, वचन, कर्म से दिल न दुखाना।
- 6। भाइयों में परस्पर प्रेम उत्पन्न करना। हमारे यहाँ पहले ईश्वर या गुरु से प्रेम पैदा करते हैं।
- 7। साधन में - यानी सुरत-शब्द-योग में -उत्साह, सोज़ व प्रेम होना चाहिए। प्रत्येक सांस पर ध्यान रखना चाहिए कि अभ्यास हो रहा है।
- 8। मन तथा इन्द्रियों को वश में लाना है।

चमत्कार व तमाशे

आप एक बार मौज़ में बैठे थे, एक सत्संगी को पत्र लिखा कि उसका पुत्र पास हो जायेगा तथा दूसरा लड़का क्षय रोग से निरोग हो जायेगा। ऐसा ही हुआ, पहले लड़के ने प्रश्न -पत्र ठीक नहीं किये थे और दूसरा लड़का ठीक होने वाला नहीं था । जब सन्त आत्मा के स्थान पर होता है, तब वह जो कहता है वैसा ही हो जाता है। सन्त से करामात, कभी- कभी इच्छा न रखते हुए भी, अनजाने में हो जाती है। आप फ़रमाया करते थे - " करामात दिखा कर अपनी प्रसिद्धि करवानी या धन बटोरना, ये सन्त के लिए वाज़िब नहीं है । करामात फ़कीरी नहीं है यदि सेवक के पास रिद्धि-सिद्धि आती है तो गुरु उनसे वंचित करा देते हैं, ताकि परमार्थी में अहंकार न आ जाए।"

पूज्य बनर्जी साहब का सन्सर्ग

सन 1960-62 में गोरखपुर पहुँचने पर गुरुदेव को शिव भगवान के दर्शन हुए। आदरणीय बनर्जी साहब से पहली बार मुलाकात हुई तो आपने कहा कि, " उनकी शकल भगवान शिव जैसी लगती है।" एक रोज़ हम पूज्य बनर्जी साहब के दर्शन करके लौट रहे थे, तो आपने कहा, " आज ऐसा अनुभव हो रहा था जैसे तमाम श्रष्टि हमसे निकल रही हो।" दूसरे दिन भी मौज़ में थे, फ़रमाया, " हमारे तथा परमात्मा में क्या अन्तर है ?" कुछ क्षण मौन धारण करने के पश्चात् प्रश्न किया - " श्रष्टि सुखरूप है या दुःखरूप ?" फिर स्वयं ही उत्तर दिया - "यदि हमारी सुरत आत्मा पर है तो श्रष्टि सुखरूप प्रतीत होती है और यदि यह मन तथा बाहर की ओर हो तो दुःखरूप।"

पारमार्थिक लक्ष्य व अभ्यास

गुरु कौन है ? आप कहते थे, " असली गुरु परमात्मा है/ उसके चरणों से प्रकाश तथा शब्द जारी हुआ/ यह निचले दर्जे के गुरु हैं/ इसका भाव यह है कि शब्द शिष्य' है तथा ईश्वर प्रेम गुरु' है/ इसका भाव यह है कि शब्द के पश्चात् शरीर बना/ इसीलिए साधना के प्रारम्भ में गुरु के रूप का ध्यान किया जाता है, परन्तु यह सदैव ऐसा नहीं किया जाता/ जिस समय प्रकाश या शब्द खुल जाये, तब इनका ध्यान करना चाहिए/ जब प्रेम का उदय हो जाये तब उसमें लीन हो जाना चाहिए/ प्रत्येक स्थान व स्थिति में गुरु का ख्याल अवश्य होना चाहिए/ जैसे एक पिता अपनी कन्या को पढ़ा लिखाकर तैयार करता है और उसे उसके पति को अर्पण कर देता है, ऐसे ही गुरु अपने शिष्य की गढ़त करके ईश्वर के चरणों में समर्पित कर देता है/ असली गुरु ईश्वर है/ परन्तु बिना सीढ़ी के छत पर नहीं चढ़ा जा सकता, इसीलिए गुरु की आवश्यकता होती है ।"

आपका कहना था - " गुरु वह होना चाहिए जिसने आत्म-स्थिति प्राप्त कर ली हो, या उसकी नज़दीकी (सामीप्य) हासिल कर ली हो/ ऐसे व्यक्ति का मन अपने वश में होना चाहिए । उसकी कथनी तथा करनी एक जैसी होनी चाहिए ताकि जैसी अपनी अवस्था है वैसी शिष्यों की भी कर सके/ यह आवश्यक नहीं कि वह व्यक्ति अपने को 'गुरु' कहलाये, वह भाई, पुत्र, सेवक सखा आदि का सम्बन्ध रखकर भाइयों की सेवा कर सकता है/ ऐसा करने से अहंकार नहीं होता।"

कुछ और अनमोल बातें

एक बार मैंने आपसे पूछा कि मन को कैसे काबू किया जाये? अपने प्रेम से कहा , " । पिछले संस्कारों के कारण मन की वृत्तियाँ काम करती हैं। तमाशबीन (दर्शक) बन कर मन की हरकतों को देखो - यह मत समझो कि वह कर्म आपके हैं। कर्म जिनके गहरे संस्कार बन चुके हैं, वह तो भुगतने ही हैं, परन्तु यदि द्रष्टा के रूप में देखो तो दुःख नहीं होगा। अपने आपको कर्ता मत समझो। जैसे एक लट्टू को छोड़ दिया जाय, जब तक उसमें चाल है, वह घूमता रहेगा। यही अवस्था संस्कारों की है, जिस समय इनका अन्त हो जायेगा, शान्ति हो जाएगी। द्रष्टा तथा अकर्ता बने रहो, इससे संस्कार नहीं बनेंगे। यदि कोई ऐसा नहीं करता, तो संस्कार बनते रहते हैं और कभी शान्ति नहीं मिलती।

" ग़लती करके पश्चाताप करो। ईश्वर से क्षमा के लिए प्रार्थना करो। ग़लती करके justify (उसे सही साबित) मत करो कि आप ठीक हैं, यानी उसे उचित मत कहते रहो। यह मूर्खता है।"

" स्थूल संस्कारों से बचने के लिए गुरु का ध्यान करना चाहिए, सूक्ष्म संस्कारों के लिए 'सुरत शब्द अभ्यास' तथा कारण रूप संस्कारों से मुक्त होने के लिए आत्मा में लय होना चाहिए।"

o " एक बार एक प्रेमी भाई ने शिकायत की कि उसको ईश्वर दर्शन क्यों नहीं होते? गुरुदेव ने उससे पूछा - "क्या आपकी खुदी मिट गयी है?" साधक चुप हो गया/ आपने फ़रमाया - " जबतक अन्तर में खुदी तथा इच्छाएं हैं, आत्मा का साक्षात्कार होना नामुमकिन है/ इसलिए अपने आपको मिटा दो तथा ईश्वर में पूर्णता से लय कर दो/ अहंकार रहित होकर सब कर्म करो और उनके फल ईश्वर के चरणों में अर्पण कर दो/ ऐसा करने से ही आत्मा का विकास होगा और ईश्वर के दर्शन करने के काबिल (योग्य) हो सकोगे।"

00000.

मन प्रतिक्षण चंचल रहता है

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

" मैं आपके वास्ते बता दूँ आपका अभ्यास अब काफी हो गया है / इसे बन्द कर दें / इस वक्त इसकी ज़्यादा ज़रूरत नहीं मालूम देती / "

पूज्य लालाजी महाराज (दादागुरु) अपने प्रिय शिष्य को पत्र लिख रहे हैं। उसकी आत्मिक स्थिति देखकर फ़रमा रहे हैं कि भीतर का अभ्यास आपके लिए काफी हो गया है। अब अपने मन को देखिये ।

भाई-बहिनों से मेरी करबद्ध प्रार्थना है इस बात को गम्भीरता से सुनें और समझें और अपने पूज्य गुरुदेव के आदेशों का पालन करें। हम सब लोग भूले हुए हैं। आँखें बन्द कर लेने को हम समझ लेते हैं कि इसी से सारा काम हो जायेगा। आँख तो बच्चे भी बन्द कर लेते हैं। प्रत्येक व्यक्ति यदि अपनी आंतरिक स्थिति को देखे तो वह अनुभव करेगा कि उसका मन प्रति-क्षण चंचल रहता है। राग-द्वेष में फँसा है। इच्छाओं, ईर्ष्या, क्रोध की अग्नि में जलता रहता है। घरवाले हमसे कहते हैं कि आप सत्संग में जाते हैं, वहाँ क्या करते हैं। आपकी स्थिति तो बच्चों से भी गिरी हुई है। इसलिए हमें सोचना है कि हम सत्संग में आये हैं, दीक्षा ली है, हमें क्या करना चाहिए ?

हमारा ध्येय है कि हम ईश्वर जैसे बन जाएँ। यदि अभी तक नहीं बने तो इसका कारण क्या है? इस पत्र में पूज्य गुरु महाराज अपने शिष्य से कह रहे हैं - ' आपने अभ्यास किया है, यह काफी है/ आगे चलिए/ अपने मन का स्व-निरीक्षण करिये। आप अनुभव करेंगे कि आपके भीतर में ऐसी बुराइयाँ हैं जो बच्चों में भी नहीं होतीं। बुरा नहीं मानिये। गुरु किया जाता है कि वह समय-समय पर हमारा मार्गदर्शन करता रहे। हमारे दोषों को बताये। हम सब अहंकारी हैं। हम अपने दोषों को नहीं देखते। हम दूसरों के दोषों को देखते हैं। यही कारण है कि हमें हमारी साधना में पूर्णरूपेण सफलता नहीं मिलती। कोई भी व्यक्ति परिपक्व नहीं है। यहाँ पूज्य गुरुदेव फरमा रहे हैं " मैं आपके वास्ते मुनासिब हाल यह समझता हूँ कि चढ़ाव का अभ्यास ब हालत मौजूदा आपके लिए काफी हो गया है। इस वक्त इसकी ज़्यादा ज़रूरत मालूम नहीं होती।

लेकिन तावखते कि इन्द्रियाँ, मन और दीगर तत्व मगलूब होकर तरकीब में न आ जाएँ, उस वक्त तक लताफ़त नहीं आती और न असली शांति मिलती है।"

हम अपनी इन्द्रियों के गुलाम हैं। अपने मन के गुलाम हैं। मन जो चाहता है वह हम करते हैं। हमारी बुद्धि हमारे मन पर हावी नहीं है। हम अपने मन और बुद्धि पर नियंत्रण नहीं रखते। मन हमारे वश में नहीं है, बुद्धि हमारे वश में नहीं है।

भीतर में और भी तत्व हैं, जैसे अहंकार है, राग-द्वेष है, अनेक अवगुण हैं, जिन पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं है। कई भाई लोग आते हैं, कहते हैं, बीसों बरस बीत गए, लेकिन हम जैसा चाहते थे वैसा नहीं बन पाए। सरलता में कह देते हैं, हममें क्या कमी है ? कमी तो अनेक हैं, अनेक त्रुटियाँ हैं। यह जीवन बड़ा कठिन है। साधना, अभ्यास आप जो कुछ भी करते हैं, उसके साथ-साथ अपने मन का स्व-निरीक्षण अवश्य करें। अपनी कमज़ोरियों को, अपने दोषों को, देखना चाहिए और कागज़ पर लिख लेना चाहिए। यह लालाजी महाराज का आदेश है। अधिकांश हम सब लोग मन के गुलाम हैं। करना यह चाहिए कि जैसा हम कहें वैसा हमारा मन करे लेकिन जो मन चाहता है, हम वह करते हैं। इसलिए साधन में सफलता मिलना कठिन है। तब तक साधना में जैसी सफलता आप चाहते हैं, नहीं मिल पायेगी। जो आनन्द में बाधा डाल रहा है वह हमारा मन है। हम स्वयं बाधा डालते हैं और कहते हैं कि हमारा मन नहीं लगता।

पूज्य गुरु महाराज फ़रमा रहे हैं कि जिज्ञासु को एक वीर, एक योद्धा, एक सिपाही बनना चाहिए। उसका प्राथमिक सबक है कि वह अनुशासन में रहे। जो लोग कुछ समय फ़ौज़ में बिता आये हैं वे जानते होंगे कि फ़ौज़ में पहले यह बताते हैं कि आप मिलिट्री में आ गए हैं यहाँ अनुशासन का पालन करना अति आवश्यक है। सत्संगी को भी ऐसा ही करना पड़ेगा। अपने मन को, अपने शरीर को, प्राणों को, बुद्धि को वश में करने के लिए किसी बड़े व्यक्ति के अनुशासन में रहना होगा। बच्चे स्कूल जाते हैं, वे अपने अध्यापक के अनुशासन में रहते हैं उसके बाद आगे चलकर संसार में प्रवेश करते हैं।

इतिहास पढ़ लें। पत्नी को अपने पति की इच्छानुसार काम करना चाहिए। पार्वती जी ऐसा नहीं कर पायीं। भगवान शिव को प्रसन्न करने के लिए, उनसे विवाह करने के लिए

तपस्या की। सती जी देखती हैं कि आकाश मार्ग से देवगणों की एक टोली सँसार (पृथ्वी) की ओर बढ़ रही है। उनसे पूछा ' क्या बात है' ? वो हंसने लगे। आपकी छोटी बहिन का विवाह है और आपको पता नहीं। यह भावुकता उत्पन्न होती है। भावुकता उसके मन में उत्पन्न होती है जिसका अपने मन पर नियंत्रण नहीं होता। वह अपने पति शिव से पूछे बिना अपने माता-पिता की ओर बढ़ गयी। जब पार्वती (सती) के साथ ऐसा हो सकता है तो ऐसा किसी के भी साथ हो सकता है, अति कठिन है। सती जी आईं। इसके बाद जो कुछ हुआ बहुत दुर्भाग्यपूर्ण हुआ। माता-पिता ने भी उनका स्वागत नहीं किया क्योंकि भगवान शिव से उनके माता-पिता खुश नहीं थे। उनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया। उन्होंने अपने गणों को भेज दिया। हो सकता है कि वहाँ कुछ गड़बड़ हो जाये।

यह मन की स्थिति है। यदि पार्वती जी अपने पति को भूल जाती हैं तो हमारी स्थिति कैसी होगी ? आप रोज़ प्रतिक्षण देखते हैं। आपका मन आपके वश में नहीं है। मन ईश्वर के आदेशों, गुरु के आदेशों के अनुसार नहीं चलता। आपके भीतर में शक्ति दी हुई है। आप उससे पूछ कर काम करें तो गलती नहीं करेंगे। जल्दवाजी में मन के पीछे पड़ जाते हैं, इसीलिए घर में झगड़े फ़साद हो जाते हैं। मन पर विजय प्राप्त करना अति-कठिन है। हर सत्संगी का धर्म है कि वह अपने मन को वश में करें। हम अपना मन गुरु को तो दे देते हैं परन्तु गुरु के आदेशों का पालन नहीं करते।

यह पूज्य लालाजी महाराज का आदेश बहुत महत्वपूर्ण है। मैं पुराने भाइयों से भी निवेदन करूँगा, करबद्ध प्रार्थना करूँगा, कि इस पत्र को बार-बार पढ़ें। हम बड़ी जल्दी क्रोधित हो जाते हैं। कौन क्रोधित होता है - वह मन ही तो है। हमारा अपने मन पर नियंत्रण नहीं है। मन को बुद्धि के अधीन बनाना है। बुद्धि आत्मा या गुरु के अधीन होनी चाहिए। हम ऐसा करते नहीं। आज की सभ्यता ऐसा करती नहीं। पति-पत्नी एक समान हैं। पत्नी पति के अधीन क्यों रहे? पश्चिम में तो पति पत्नी के अधीन रहता है। परन्तु जो इस रास्ते पर चलें उन्हें इस वाद-विवाद से ऊपर उठना चाहिए। वास्तविकता को देखना चाहिए कि किस तरह हमारा मन शुद्ध, पवित्र और हमारे वश में रहता है।

पुरानी सभ्यता को न मानें, पर अपने मन को नियंत्रण में करें। भगवान शिव पार्वती से मिलने गए हैं। गणेश जी भगवान शिव को जाने नहीं देते। माता का आदेश है, माता की आज्ञा के बिना मैं आपको भीतर नहीं जाने दूँगा। उन्होंने समझा कि यह लड़का मेरा अपमान कर रहा है। क्रोध में उन्होंने उसकी गर्दन काट दी। यदि पार्वती और शिव को क्रोध आ सकता है तो हमारी क्या बिसात है? इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति को किसी न किसी व्यक्ति के अधीन रहना चाहिए। मेरी बात का बहिर्न बुरा न मानें। और भाई लोग भी बुरा न मानें। यह ज़रूरी है कि वे किसी व्यक्ति के अधीन रहकर अपने जीवन को ईश्वरमय बनाने का प्रयास करें। क्रोध पुरुष को भी आता है, स्त्री को भी आता है। स्त्री भूल जाती है कि मुझे क्रोध आता है और पुरुष भी भूल जाता है कि उसे क्रोध आता है। इसी तरह घर में महाभारत का युद्ध होता रहता है। जहाँ महाभारत का युद्ध होता रहता हो वहाँ आत्मा की कोमलता कहाँ से आएगी, आत्मिक अनुभूति कब होगी, परमात्मा के दर्शन कब होंगे ? हो ही नहीं सकते। इसलिए अपना व्यावहारिक जीवन कोमल बनाने की कोशिश करें।

जब तक भीतर में कोमलता, शुद्धता और सात्विकता नहीं आएगी, साधना में कोई लाभ नहीं होगा। प्रत्येक कर्म का फल कुछ न कुछ तो होता ही है परन्तु जितनी आशा आप लेकर आते हैं वह निराशा में ही रहेगी।

इन्द्रियों और मन दोनों पर विजय प्राप्त करनी है। खाना खाते हैं, भोजन बहुत स्वादिष्ट होता है, पेट की बीमारी को भूल जाते हैं, खूब खा लेते हैं। सत्संग में मैंने कल दोपहर को खाना खा लिया। खाना बहुत स्वादिष्ट था। वैसे मैं एक पूड़ी खाता हूँ, पर दो खा गया। और भी खा गया। आप लोग जो प्रसाद लाते हैं वह भी खा गया। शाम को पेट भारी लगने लगा। अब मन यही करता था कि सत्संग से हट कर आराम करूँ। यह हादसा सबके साथ होता है, मेरे साथ ही नहीं।

गुरु महाराज कह रहे हैं कि अपनी इन्द्रियों को वश में करियो। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार- जिन इन्द्रियों के कारण होते हैं, उनको अपने वश में कीजियो। इसीलिए शास्त्र कहते हैं कि जिन्होंने अपने ऊपर विजय प्राप्त करनी है, मन को वश में करें, बुद्धि को वश में करें। बुद्धि को ईश्वर की कृपा से भीतर में आवाज़ होती है। आप जब कोई बुरा काम करने लगते हैं

तो भीतर से चेतना की आवाज़ आती है- 'यह बात मत करो '। परन्तु मन को आदत पड़ गयी है कि वह भीतर की आवाज़ सुनता ही नहीं। इसे अंग्रेजी में consciousness कहते हैं, हिन्दी में इसे चेतना कहते हैं। उस चेतना की, consciousness की, हम चिन्ता नहीं करते, परवाह नहीं करते। इन्द्रियों में, मन में जो रस आता है, हम उसके अधीन हो जाते हैं। साधारणतः स्कूल में बच्चों को सिखाते हैं

" Think before you speak"- (बोलने से पहले सोचो।)

"Look before you leap" - (छलांग लगाने से पहले देख लो)

ये बातें हमें बचपन में सिखाई गयी थीं। परन्तु अभी तक हम इन्हें अपना नहीं पाए हैं। हम अकारण ही बोलते रहते हैं, अपना मान दिखने के लिए। ' मैं बड़ा बुद्धिमान हूँ। मैं सत्संगी हूँ' आदि। बहुत कम लोग शांत रहते हैं।

गुरु महाराज ने कहा, ' आप जो साधना कर रहे हैं, अब बन्द कर दीजिये।' आप इस बात को अच्छा नहीं समझेंगे कि अभ्यास बन्द कर दें। पूजा बन्द कर दें। पर करनी पड़ेगी। इन्द्रियों और मन को वश में करना कोई आसान काम नहीं है। योद्धाओं का काम है। अर्जुन तक नहीं कर पाया। लक्ष्मण नहीं कर पाया। साधारण बात नहीं है। इसके लिए, गुरु महाराज कहा करते थे, कि यदि एक जीवन भी लग जाये तो भी चिन्ता नहीं करें, पर प्रयास करें। मन बुद्धि के, आत्मा के अधीन हो जाये। इन्द्रियाँ मन के अधीन हो जाएँ। परन्तु व्यक्ति बोलता कुछ और है और भीतर में कुछ और है। व्यवहार कुछ और है। प्रत्येक व्यक्ति यह सोचता है कि वह दूसरे को मूर्ख बनाये, उसका शोषण करे।

" जेता सागर नीर भरा, तेते अवगुण हमारे "

हमारे चित्त पर इतने अहंकार भरे पड़े हैं और हम चाहें कि एक जन्म में मोक्ष मिल जाये, नहीं मिलेगी। कई जन्म लग सकते हैं।

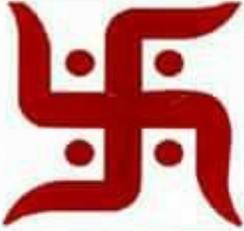
" बहुत जनम बीते तुम बिन माधव, यह जनम तुम्हारे लेखे

कह रविदास आस लग जीवा चिरमय दरसनी पेखे।"

महापुरुष कहते हैं - ' कई जनम बीत गए। हे भगवान् ! अब तो कृपा करें। मुझमें शक्ति नहीं है' । जब तक निर्मलता नहीं आएगी कुछ नहीं होगा। बड़े पाप हैं भीतर में। पुराने तो हैं ही, अब इस कम्प्यूटर में और नए अवगुण मत डालो।

वास्तव में पूजा यही है कि अपने अवगुणों को देखना और पूज्य गुरु महाराज के आदेशानुसार एक-एक अवगुण को लेकर उससे मुक्त होने की कोशिश करें। हमारे यहाँ की यही साधना है। हमारे यहाँ का अभ्यास यही है। आँखें बंद तो बच्चे भी कर लेते हैं। हमारे चित्त पर जो अवगुण अंकित हैं उन्हीं के कारण हमारा स्वाभाव बनता है और उन्हीं के कारण हम दैनिक कार्य करते हैं। विचार आदि उठाते हैं । परन्तु हम उन्हें व्यवहार में नहीं लाते।

000000000000




हमारा व्यवहार पवित्र होना चाहिये ,
शुद्ध होना चाहिये . जब तक मन शुद्ध
नहीं होगा , पवित्र नहीं होगा , आप
दस -दस घंटे आँखें बंद करके बैठे रहें
कुछ लाभ नहीं होगा . मन को साधना
. मन तभी सधेगा जब यह निर्मल हो
जायेगा . यह इंद्रियों पर , शरीर पर ,
मन पर विजय प्राप्त कर लेगा . भूखा
रहना बेहतर है , झूठ बोलना पाप है .
रोटी नहीं मिलती , चिन्ता मत करो .
झूठ की कमाई मत खाओ . सत्य
बोलना पड़ेगा , सत्य की कमाई खानी
पड़ेगी , सत्य व्यवहार करना पड़ेगा .

महात्मा डॉ . करतारसिंह जी महाराज



अच्छाई-बुराई से मन को स्वतंत्र करो

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ०करतारसिंह जी महाराज)

हमें यह देखते रहना है कि क्या हम निरन्तर सत्यता में चल रहे हैं ? सच बोलना और सत्यता ही में रहना दो भिन्न-भिन्न बातें हैं। सच बोलना तो सरल है, परन्तु सत्यता में रहना, आत्मस्थित रहना, परमात्मा के चरणों में रहना, प्रभु के स्मरण में रहना, उस आयाम में रहना जहाँ कोई अपेक्षा नहीं होती, सरल नहीं है। यह सत्य है। जो परिवर्तनशील बातें हैं वे सब असत्य हैं। तो क्या हम अपने आप को सत्य की दुनियाँ में पाते हैं ? ऐसा कोई दावे के साथ नहीं कह सकता। हमारे भीतर में इच्छाएं हैं। अच्छी इच्छा भी हैं। सबसे उत्तम इच्छा परमात्मा से मिलने की इच्छा है। हमारी कोई बुराई करता है तो हमें बर्दाश्त नहीं होती। कोई हमारी प्रिय वस्तु उठा कर ले जाता है तो हम उसका पीछा करते हैं। परन्तु हज़रत ईसा कहते हैं कि बुराई का अवरोध मत करो। आपका सामान कोई चोरी करके ले जा रहा तो ठीक है, उसे ले जाने दो। कोई आपको गालियाँ दे रहा है तो ठीक है, देने दो। आप कहेंगे कि हम व्यवहार में ऐसा कैसे कर सकेंगे, ऐसे हम कैसे जी सकेंगे ? एक ज़माने में सुना करते थे कि हमारे देश में रात में दरवाज़े बंद नहीं किये जाते थे। चोरियाँ नहीं हुआ करती थीं। यह सत्य का गुण है, आत्मा का नहीं। हज़रत ईसा उस आयाम से बोल रहे हैं। वह उस पथ से बोल रहे हैं जहाँ कोई भय नहीं है। वो जो अतीत अवस्था है, निराकार अवस्था है, जहाँ कोई आकार नहीं, केवल आत्मा ही आत्मा है। सचखंड है, परलोक है, जहाँ कोई किसी भी तरह से बुराई नहीं करता न आँख से, न कान से, न मुँह से, न व्यवहार से कुछ बुरा करता है क्योंकि वह सबको व अपने आपको एक ही समझता है। वहाँ द्वैत नहीं है, वहाँ दुई नहीं हैं।

सत्य के बाद वो अद्वैत का समय खत्म हो गया। द्वैत का समय शुरू हो गया। हम धर्म संकट में पड़े रहते हैं क्योंकि हम गुणों में फंस गए हैं। बुरा काम करेंगे, बुरा फल मिलेगा, अच्छा काम करेंगे अच्छा फल मिलेगा। कलियुग में कोई अच्छा काम तो करता नहीं है, बुरे काम ही करते रहते हैं। हम किसी भी रास्ते को अपना लेते हैं व फिर मन ही मन सोचते हैं

कि अरे, इसमें क्या रखा है? वैसे तो यदि कोई सच्चा महापुरुष मिल जाता है, तो उस महापुरुष की प्रसन्नता ही काफी है। उसकी प्रसन्नता प्राप्ति के बाद हम कर्मों की दुनियाँ से निकल सकते हैं। हम इन गुणों-अवगुणों से मुक्त हो सकते हैं। इसके लिए भी तैयारी करनी होगी। इसलिए सन्त संक्षेप में लिखते हैं कि केवल दो बातों की जाएँ - भक्ति तथा साधना। भक्ति अनन्य भक्ति हो तथा निष्काम हो। कोई इच्छा न हो। केवल अपने इष्ट को, परमात्मा को, गुरु को प्रसन्न करना है। इस काम में हम अपना जीवन लुटा दें। सब कुछ बलिदान कर दें। सेवा करें। देखिये कि हमारे इष्टदेव किस प्रकार खुश होते हैं। उनकी प्रसन्नता प्राप्त करें। भक्ति में मीरा जी, चैतन्य महाप्रभु का उदाहरण देखें तो आप देखेंगे कि भक्ति के कितने भाव हैं- विश्वास, श्रद्धा, आदि। वर्तमान काल में पूज्य लाला जी (महात्मा रामचन्द्र जी महाराज) का उदाहरण सबसे ऊँचा उदाहरण है। अपना कुछ नहीं है, अपना शरीर भी नहीं, प्राण भी नहीं, मन भी नहीं, बुद्धि भी नहीं। प्रभु के चरणों की रज बने हुए हैं। एक मिनट भी अपने इष्ट के ख्याल से न हटें। यह अन्तिम सिद्धि है। इसके साथ-साथ साधना भी करें। साधना का क्या अर्थ है ? समाधि में प्रवेश होना। अपने इष्ट के चरणों की रज बनना। उसी रज की अनुभूति होना। साधना करते-करते अपने 'अहं' को खो देना। जिस आंतरिक स्थान पर साधना करने को आपके इष्ट ने कहा है, वहाँ अपनी सुरत को इतना भीतर में प्रवेश कर दो कि आपको अपने शरीर का भी होश न रहे। संकल्प-विकल्प न उठें। जितनी गहरी सुरत भीतर में प्रवेश करेगी उतना ही ध्यान गहरा जायेगा। (deep meditation), गहरी समाधि। ऊपर-ऊपर के स्तर पर नहीं - जहाँ भीतर में मन लय हो जाय, संकल्प-विकल्प रहें ही नहीं, केवल आत्मा की या परमात्मा की अनुभूति हो। जब इस आयाम पर पहुँच जायेंगे तो भीतर में से बुराई-भलाई दोनों गायब हो जायेगी। जब तक ये दोनों रहते हैं तब तक व्यक्ति कभी भी मुक्त नहीं हो सकता।

महाभारत में यही बात अर्जुन को दुःख दे रही है। वह कहता है कि इस युद्ध के मैदान में मेरे चाचा, ताऊ, मेरे गुरुजन सब खड़े हैं। मैं इनका बध करके क्या लूँगा ? यदि मुझे परलोक मिल भी गया, मुझे राज भी मिल गया तो भी ऐसे राज का क्या महत्त्व है ? कोई बाप, चाचा, ताऊ को मार के राज ले ? मैं भगवान को कह दूँगा कि ऐसा राज मुझे नहीं चाहिए। तो अर्जुन बुराई-भलाई के दलदल में फंसे हैं। गीता आगे चलकर इसका विस्तार करती है कि अनहद शक्ति अनासक्ति ही है। हम तो आसक्त हो रहे हैं। हम अनासक्त कैसे हों ? हमें

प्रत्येक बात से अनासक्त होना है, स्वतंत्र होना है, मुक्त होना है। भगवान् धीरे-धीरे अर्जुन को समझाते चले जाते हैं। उस समय जितने दर्शन थे या साधना पद्धतियां थीं, उनको धीरे-धीरे समझाते हुए आखिर में आगये कि सब धर्म छोड़ दे, कर्म-धर्म ही तो बुराई-भलाई करते हैं। उन कर्मों-धर्मों का कोई भी समय नहीं है। वे कब छूटते हैं ? जब भीतर में अन्तिम-चेतना, आत्मिक-चेतना आ जाती है। इससे पहले बुराई-भलाई को छोड़ेगा तो धोखा है।

तो पहले सदाचार को अपनाना चाहिए। ये नींव है। पहले इसी को पकड़े रहिये फिर साधना करें और अनुभूति की ओर बढ़ें। ज्ञान, प्रेम सब कुछ आने के बाद आत्मा की अनुभूति होती है। अनुभूति भक्ति के परिणाम स्वरूप चाहे गुरु करा दे, परमात्मा करा दें, चाहे आप कर लें। लेकिन वो अनुभूति निरन्तर नहीं रहेगी। फंसे रहेंगे नामदेव की तरह। नामदेव रोज़ प्रभु से बातें करते थे। वो उसी में अटक गए। संत ज्ञानेश्वर जी जब यात्रा पर चले तो वह नामदेव जी से भी बोले कि " मेरे साथ चलो"। नामदेव बोले - " मैं तो नहीं जा सकता। मेरे से भगवान् रोज़ बातें करते हैं, मैं कैसे चलूँ?" वे बोले "ठीक है, भगवान् से पूछ लो। वे अगर आज्ञा दें तो जरूर चलें"। वे भगवान् के अनन्य भक्त थे, बड़ी निष्ठा थी। नामदेव ने पूछा तो भगवान् ने क्या कहा ? कहा कि मुझको क्यों पकड़े हो। पकड़ को कहते हैं आसक्ति। भगवान् ने कहा कि चले जाओ ओर घूमों और देखो कि मैं कहाँ नहीं हूँ। नामदेव जी को तब ज्ञान हुआ। वे यात्रा पर निकले और अनुभव किया कि भगवान् तो सभी जगह हैं। यह अनुभूति कब होती है ? जब व्यक्ति इस मन से स्वतंत्र हो जाता है। इस बुराई-भलाई से छूट जाता है।

अच्छा-बुरा ये सब अपेक्षित शब्द हैं। सब मन के शब्द हैं। अहंकार के शब्द हैं। तो भगवान् कृष्ण ने पहले अर्जुन को समझाया फिर विराट रूप में दर्शन दिए। हालाँकि यह भी उच्च कोटि का मन का ही रूप है क्योंकि आत्मा का तो कोई रूप नहीं होता। अर्जुन को समझाया कि पिछले जन्मों में तुम क्या थे, अब क्या हो। यह सब मन का व कर्मों के फल का एक रूप बतलाया। वो आत्मा का रूप नहीं है। पूज्य लाला जी महाराज ने पूज्य गुरुदेव (महात्मा डॉ०श्रीकृष्ण लालजी) को लाल मंदिर,चाँदनी चौक में अनुभव कराया था। चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश है, कोई रोक नहीं, केवल प्रकाश ही प्रकाश है, आनन्द ही आनन्द है, कोई अपेक्षा नहीं, कोई भलाई नहीं, कोई बुराई नहीं। एक ही है, मैं और तू नहीं। जहाँ मैं है वहाँ तू हो जाता है। तो भगवान् समझा रहे हैं कि यह बुराई-भलाई मन का ही रूप है, अहंकार का ही रूप है। इससे

मुक्त हो। हम इससे कब मुक्त होंगे ? जब हम आत्मा में डुबकी लगाते -लगाते आत्म-स्थित हो जाएंगे। उससे पहले नहीं। यह एक दिन में नहीं होगा। निरन्तर उस अवस्था में रहना है। भीष्म पितामह छः महीने तक तीरों की सेज़ पर लेटे रहे। कहा है, शुक्ल पक्ष नहीं आया। वह कर्म-धर्म में फंसे हुए हैं। वह मरते वक्त तक कर्मों के बंधन से नहीं छूटे। वह परलोक में भले ही गए हों परन्तु कर्मों के बंधन से नहीं छूटे। पाण्डवों को ही ले लीजियो। यह तो स्पष्ट है कि जब पाँचों भाई परलोक की तरफ बढे तो केवल युधिष्ठिर को ही स्वर्ग में प्रवेश मिला, परलोक मिला। कहीं नहीं लिखा है कि मोक्ष मिला। हमें इन बातों में नहीं पड़ना है। हमें तो वास्तविकता देखनी है। हम जब गहरी नींद में सोते हैं तो क्या होता है, कुछ नहीं होता। इसी तरह की यह अवस्था महर्षि रमण को आती थी। जब यह अवस्था हो जाती है तब यदि मन विचार उठाना भी चाहेगा तो भी विचार बड़ी मुश्किल से उठेगा। आत्मा और परमात्मा एक हैं। न बुराई है, न भलाई है। जहाँ बुराई नहीं है, भलाई नहीं है, कर्म नहीं हैं, कर्म-बंधन नहीं है, वहीं मोक्ष है। वही गुरु का रूप है। वही आपका अपना रूप है। वो आत्मा आपके भीतर में है। हम स्वयं ही रेशम के कीड़े की तरह अपने आपको बांधते रहते हैं।

भक्ति व साधना दोनों ही मुख्य बातें हैं जो हमारे सामने होनी चाहिए। हमारे सामने रहनी चाहिए। गुरु की प्रसन्नता। प्रसन्नता सिर माँगती है। हम चाहते हैं कि मोक्ष पेड़ पर लगा है, वो हमें तत्काल अप्रयास ही मिल जाए। ऐसा नहीं हो सकता। उस प्रसन्नता की प्राप्ति के लिए हमें अपना सिर देना होगा :

“ जो तोहे प्रेम करन को चाव , सिर धर तली गली मोरी आव ”

मेरी गली में आना है तो अपने हाथ में अपना सिर रख कर आ। यह प्रेम का घर है, खाला का घर नहीं। सब कुछ भूल जाएँ। जितने कर्म हों सब निष्काम भाव से करें। यह कठिन है कि हम एक ही जन्म में सिर काट कर रख दें , यानी जीते जी मर जाएँ। किन्तु हम भरसक प्रयत्न तो करें। गुरु की प्रसन्नता के लिए प्रार्थना करें। वो आपके पास है, आपके अन्दर है। भगवान कहते हैं कि गुरु और परमात्मा एक ही हैं और वह भी आपके भीतर में बैठा है। उसकी प्रसन्नता प्राप्त करो। वैसे तो अनेक प्रकार की साधनायें हैं, उन सब का सार है - भक्ति। ऐसी भक्ति जिसमें कोई माँग नहीं है। केवल वैसा विश्वास होना चाहिए जैसा विश्वास प्रह्लाद जी में

था। प्रह्लाद जी ईश्वर रूप थे, इसलिए उनको न आग सताती है, न पहाड़ से गिराए जाने पर कोई परेशानी होती है। ऐसा तो स्वयं प्रभु ही कर सकते थे। प्रह्लाद जी तो आत्म-स्वरूप थे। यह तो ईश्वर की लीला थी कि बाल प्रह्लाद के रूप में भगवान स्वयं आये हैं और संसार को प्रेरणा दी कि ईश्वर में विश्वास इस तरह का होना चाहिए। जैसे माता-पिता बच्चों को दुःख नहीं देते, इसी प्रकार से ईश्वर भी किसी को कोई दुःख देना नहीं चाहता। लोग -बाग कहते हैं यहाँ यह हो रहा है, वहाँ ऐसा हो रहा है, प्रभु बड़ा अन्याय कर रहे हैं। हम यह सब कब कहते हैं ? जब हम मन के स्थान पर होते हैं, अहंकार के स्थान पर होते हैं। यदि आत्मा के स्थान पर आकर हम ये शब्द निकालना चाहें तो निकलेंगे ही नहीं। यह सब हमारे कर्म ही हैं जो फलीभूत होते हैं। उन्हीं का यह फल है। हम ही दोषी हैं। कोई भी बात जो हमारे परिवार में, हमारे देश में या हमारे समाज में होती है, उसके लिए हम स्वयं दोषी हैं। हम तब तक दोषी बने रहेंगे जब तक हम अहंकार के स्थान पर हैं। आप जब आत्मा के स्थान पर आ जायेंगे तो आपको लगेगा कि इसमें कोई बुराई नहीं है। सब ईश्वर की लीला है, भगवान की लीला है। वो स्वयं ही बुरा कर रहा है, स्वयं ही भला कर रहा है। बुराई भलाई कुछ है ही नहीं। उसके ये नाम तो हमने रख दिए हैं। वो तो ड्रामा है। ईश्वर अपने भक्त में रासलीला करते हैं। संसार को प्रेम लीला सिखाते हैं। संसार को सिखाते हैं कि ईश्वर की आज्ञा का पालन कैसे हो। परन्तु यह मन समझ ही नहीं पाता कि ईश्वर की आज्ञा क्या है। बड़ा कठिन है ईश्वर की आज्ञा को मानना। इसीलिए गुरु किया जाता है। मन हमेशा धोखा देता है। हम गुरु की सच्ची सेवा करें। गुरु की सच्ची सेवा यही है कि हम गुरु के आदेशों का पालन करें। उनके आदेशों का पालन करते हुए भगवान कृष्ण की यह जो रासलीला है उसमें मस्त रहें। हमें यह जो बुराई भलाई दिखती है वह मन की है, आत्मा की नहीं।

आत्मा तो सबसे अलग कुछ और ही है। यह बात जैसे-जैसे हम गुरु के आदेशों का पालन करते हैं, धीरे-धीरे समझ में आती है। गुरु के आदेशों का पालन करना ही उनकी सेवा है। गुरु को पैसों की, सम्मान की ज़रूरत नहीं होती। उनको हाथ-पाँव की सेवा की भी ज़रूरत नहीं है। एक माँ की तरह वह चाहते हैं कि जो लोग इस रास्ते पर आ गए हैं उनका जीवन परिवर्तित हो जाय, उनका transformation हो जाय। उनका मन और बुद्धि अहंकार को

छोड़कर आत्मस्थित हो जाय। मोक्षगति को प्राप्त हो जाय। वे सच्चे आनन्द और सच्चे प्रेम के हकदार हो जाय ।

जब तक चेतना आत्ममय नहीं होती, हमें धर्म के अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहिए। परन्तु मोक्ष के लिए अपनी आत्मा को परमात्मा में लय करना होगा। जैसे हज़रत ईसा और फरीद जी ने कहा कोई तुम्हारी मार-पिट्टाई करे तो तुम उसकी ऊँगली भी मत छूना। बल्कि उसके घर जाकर बड़े प्रेम से उसके पाँव दबाना। हम तो सोचते हैं कि यह कैसे हो सकता है। वो कहते हैं कि उनके घर जाकर उनकी सेवा बड़े प्रेम से करो। यह फरीद जी जैसे उच्च कोटि के संत ही कह सकते हैं, हम नहीं कह सकते। यह दूसरी बात है कि समाज के डर के मारे हम बुराई का बदला बुराई से न लें । परन्तु हज़रत ईसा कहते हैं कि यह अवरोध मन से ही नहीं होना चाहिए। हम चौबीसों घंटे भलाई-बुराई की बातें सोचते रहते हैं। वह कहते हैं कि हमारे प्रति बुराई करने वाले का बुरा हमें मन से भी नहीं सोचना चाहिए। ऐसा कौन कर पायेगा ? ऐसा वह कर पायेगा जो व्यक्ति पवित्र है, जिसका आत्मिक सूर्य भीतर से उदय हो गया है, जो परमात्मा से मिला हुआ है। उसके भीतर में उसके प्रति बुराई करने पर भी यह विचार नहीं उठता कि मैं किसी की बुराई करूँ। यह बड़ा कठिन है। परन्तु हमें ऐसा करना ही होगा। यह अवस्था हमारी क्यों नहीं होती ? होगी, ज़रूर होगी, परन्तु समय लगेगा। सुधार सबका होगा, परन्तु समय लग सकता है। समय की गति किसी प्राणी के हाथ में नहीं होती। मनुष्य का केवल यह अधिकार है कि वह आगे बढ़ सकता है या पीछे गिर सकता है। यह उसके हाथ में है।

आप सब लोग गुरु-कृपा से कितने अच्छे रास्ते पर लगे हुए हैं। चल तो रहे हैं परन्तु और तेज़ी से चलिए। ऊपर-ऊपर की साधना करने से कोई लाभ नहीं होने का। आत्मा की अनुभूति होनी चाहिए। उसी अनुभूति की गहराई से हमारे पापों का नाश होगा, संस्कारों का विनाश होगा। हमें सच्चा सुख मिलेगा। हमें मोक्ष मिलेगी। हमें ईश्वर के दर्शन होंगे। तो भक्ति भी करते जाइये मगर याद रखना चाहिए कि हमारी साधना से हमें भीतर की अनुभूति हो, मन स्थिर हो जाय, संकल्प-विकल्प खत्म हो जाएँ। हमारी सुरत गुरु के चरणों में लय हो जाए और हमारा अपना अस्तित्व खत्म हो जाए।

गुरुदेव आपका कल्याण करें। राम सन्देश : नवम्बर, 1984

राम सन्देश : सितम्बर-अक्टूबर, 2009 ।

अपने जीवन काल में ही ईश्वर-रूप बनें।

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतार सिंह जी महाराज)

मन की शान्ति उसी समय मिलती ही और मन भगवान् की तरफ उसी समय झुकता है जब मन आवश्यकता के अनुसार ऐसा भोजन करे जो पवित्र हो और हक-हलाल की कमाई का हो।

आपका लक्ष्य यह है कि आपका तन-मन ईश्वर ही जैसा हो जाये। जो ईश्वर के गुण हैं वो आप में भी आ जाएँ। 'तू तू करता तो भया, मुझमें रही न हूँ। संक्षेप में, आप सब का जीवन-लक्ष्य यह है कि शरीर त्यागने से पहले आप अपने आपको ईश्वर जैसा बना लें। "अहम ब्रह्मास्मि" - मैं ब्रह्म जैसा हूँ, ब्रह्म ही हूँ। परमात्मा हूँ। ये कहने मात्र से नहीं होगा। वास्तविकता में आपका रूप, आपका व्यवहार, ईश्वर जैसा हो जाये।

"तू तू करता, तू भया, मुझमें रही न हूँ !

आपा फिरका मिट गया, जत देखा तत तू !! "

अपने भीतर में भी "अहम ब्रह्मास्मि" - मैं परमात्मा हूँ, अन्य व्यक्तियों में भी। सबमें ईश्वर के दर्शन करें। कठिन है। परन्तु परमात्मा ने आपको मनुष्य चोला दिया हुआ है। इस चोले में ही, यदि मनुष्य चाहे तो, वह शरीर त्यागने से पहले ही ईश्वर जैसा बन सकता है। शरीर छोड़ने से पहले पण्डित को बुलाकर जिज्ञासु को ज्ञान की बातें सुनाई जाती हैं। परन्तु ये कर्म शरीर के हैं जो आरम्भ से ही शुरू हो जाने चाहिए। ये काम केवल एक-दो घड़ियों का नहीं है। इसको तपस्या कहते हैं जिसके लिए बड़ी मेहनत की आवश्यकता है। आप सब को जागरूक होना है। शरीर त्यागने से पहले आपको ईश्वर जैसा बन जाना है। कठिन है। परन्तु यदि हम कोशिश करेंगे, 'अहम ब्रह्मास्मि' - मैं ब्रह्म जैसा हूँ, शरीर त्यागने से पहले यदि आपने सच्ची साधना की, सच्चा अभ्यास किया, तो आप ब्रह्म जैसे बन जायेंगे। "अहम ब्रह्मास्मि" - "अहम ब्रह्मास्मि" - मैं वो ही हूँ जैसे परमपिता परमात्मा हैं। शुरू में कहने मात्र के लिए ईश्वर का

नाम उच्चारण किया जाता है। परन्तु हमारा लक्ष्य है कि हम शरीर त्यागने से पहले ईश्वर जैसे बन जाएँ " तू तू करता, तू भया, मुझमें रही न हूँ ! आपा फिरका मिट गया, जत देखा तत तू !!" अपने भीतर में देखें तो आप अनुभव करेंगे कि आप ईश्वर जैसे हैं। आँख खुली है, पर सबमें ईश्वर के दर्शन करें।

महापुरुष प्रेरणा देते हैं कि ईश्वर की तरफ ध्यान लगा रहे परन्तु गंभीरता से चलें। शरीर त्यागने से पहले तनिक भी अहंकार आपके भीतर में न रहे। अपना स्व-निरीक्षण करते रहें। 'सत्यम-शिवम-सुन्दरम' । परमात्मा के जो सात्विक गुण हैं वो आपने अपनाये हैं या नहीं अपनाये हैं। नहीं अपनाये हैं तो अपनाने की कोशिश करें। यदि आपमें हिम्मत नहीं है तो किसी पण्डित को बुलाकर अच्छे ग्रंथों का - गीता का, रामायण का, गुरु ग्रन्थ साहिब का - पाठ सुनें। संक्षेप में, इस शरीर को त्यागने से पहले आपको ईश्वर जैसा बन जाना चाहिए। ये जो हम सुबह -शाम पूजा-पाठ आदि करते हैं उसका तात्पर्य यही है कि शरीर त्यागने से पहले हम ईश्वर जैसे बन जाएँ ताकि हमें दूसरा जन्म अच्छा मिले।

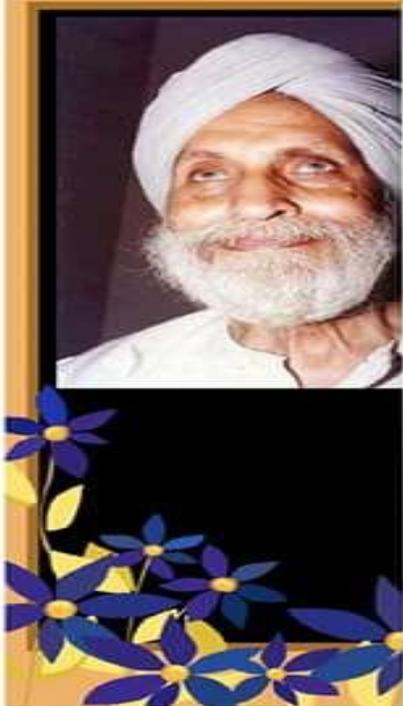
" मौन रखने, मौन सेवन और निरन्तर शुद्ध मन से ईश्वर के नाम का जाप करते रहने से प्रत्येक व्यक्ति को ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है/ हमें कोशिश करनी चाहिए कि मन में शान्ति रहे, मौन रहे।"

मौन और शान्ति में हम ईश्वर की याद रखें। किसी के प्रति हमारे मन में बुरा विचार न हो। राग-द्वेष का विचार न हो। सर्वे-ब्रह्म, ब्रह्मा मेरे भीतर में ब्रह्म है, सबके भीतर में ब्रह्म है। सर्वे-ब्रह्म ताकि शरीर त्यागने से पहले आप ब्रह्म जैसे हो जाएँ ताकि आपको ब्रह्म जैसा जन्म प्राप्त हो। इस कर्म को भूलें नहीं। सुबह-शाम ईश्वर की याद करते रहिये। ईश्वर के गुणों को याद करिये। माफ़ करेंगे, हम सब जल्दी-जल्दी पूजा-पाठ करते हैं । स्नान करते हुए कोशिश करते हैं कि जो पूजा-पाठ है उसको खत्म कर लें। परन्तु यह पूजा-पाठ नहीं है। चाहे पाँच मिनिट, दस मिनिट, बैठकर पूजा करें लेकिन पूरी गम्भीरता के साथ करें। ईश्वर के रूप को समझें और उस रूप को अपनाने की कोशिश करें। " सत्यम-शिवम-सुन्दरम "। इसके साथ-साथ आपने भीतर में देखें। भीतर में जो बुरी बातें हैं उनको त्यागने की कोशिश करें। इसके लिए महापुरुष प्रेरणा देते हैं कि किसी महापुरुष के चरणों में बैठकर उनकी संगति करो ताकि शरीर त्यागने से पहले,

महापुरुष के पास बैठने से, आपका रूप भी उस महापुरुह जैसा बन जाये, बुरे विचार खत्म हो जाएँ ताकि आपका दूसरा जन्म अति सुन्दर हो, किसी किस्म की बुराई न हो। राग-द्वेष न हो। हिन्दुओं में गीता का पाठ करने की, सिक्खों में सुखमणि साहब का पाठ करने की, प्रेरणा दी जाती है। इन दोनों पुस्तकों में आत्मिक ज्ञान की प्रेरणा दी गयी है कि 'ऐ जीव तू सचेत हो जा पता नहीं किस वक्त में तेरा शरीर छूट जाये।' मरने से पहले तुम ईश्वर जैसे बन जाओ ताकि तुम्हारा दूसरा जन्म ईश्वर जैसा हो। केवल ऐसा कहने मात्र से नहीं होगा। एक-एक अक्षर को समझना होगा, और ईश्वर जैसा बनने के लिए अपनी संगति को देखना होगा। सात्विक संगति हो, सात्विक भोजन हो, सात्विक विचार हों, सात्विक वातावरण हो। मनुष्य मरते वक्त इन बातों का खयाल करता है परन्तु मनुष्य को अपने जीवन-काल में ही इन बातों को विचारना और अपनाना चाहिए। कोशिश करनी चाहिए कि शरीर त्यागने से पहले ब्रह्म के गुणों का उच्चारण करें। सात्विकता के प्रतीक बन जाएँ मरने से पहले रोम-रोम ईश्वर जैसा बन जाये।

मेरी शुभकामना स्वीकार करें। ॐ शान्ति।

00000000000



गुरुदेव (महात्मा श्रीकृष्ण लाल जी)
कहा करते थे कि ईश्वर , संतों या
गुरुओं के गुणों को सराहना और
अपनाना और वैसे ही बन जाना ही
उनकी सच्ची पूजा है . अगर वास्तव में
आप ईश्वर के दर्शन करना चाहते हैं तो
भगवान के गुणों को केवल सराहते -
सुनाते ही न रहिये बल्कि उन्हें
अपनाइये , अपने जीवन का अंग बना
लीजिये - और वह भी बिना अहंकार के
तथा अत्यन्त दीन बन कर विनम्र भाव
से .



अपने ध्येय के प्रति जागरूक रहें और गंभीरता से प्रयास करते रहें

(ब्रह्मलीन परमसंत डॉ०करतारसिंह जी महाराज)

मैंने बारम्बार निवेदन किया है, और आज फिर प्रार्थना कर रहा हूँ, कि प्रत्येक सत्संगी भाई-बहिन को अपने लक्ष्य के प्रति गंभीर होना चाहिए। सत्संग में आये, इधर-उधर की बातें सुनी, प्रसाद लिया और फिर बातें करते हुए घर चले गए। हमने ग्रहण क्या किया, हम काहे के लिए यहाँ आये ? घर से चलने से पहले सोच लेना चाहिए कि हम सत्संग में जा रहे हैं तो हमें वहाँ जाकर क्या करना है। क्या लेने जाना है, वहाँ ? क्या सीखना, समझना और करना है ?

पूज्य गुरुदेव (महात्मा डॉ०श्रीकृष्ण लाल जी महाराज) हमें चेतावनी देते रहे कि प्रत्येक व्यक्ति को खूब समझ लेना चाहिए कि हमारा यह शरीर नश्वर है, सदा रहने वाला नहीं है। इस शरीर के साथ मोह या अन्य शरीरों के साथ लगाव या सँसार के साथ चिपकना एक ही बात है। इस चिपकाव-लगाव के बंधन से मुक्त होने का प्रयास होना चाहिए, जो कि बड़ा कठिन है। माता-पिता बच्चों से चिपके हुए हैं, बच्चे माता-पिता से चिपके हुए हैं और इसी तरह के अपनी ओर खींचने वाले सँसार में बहुत सारे प्रलोभन हैं।

सबसे ज़्यादा चिपकाव व्यक्ति का अपने विचारों के साथ होता है। कोई व्यक्ति नहीं है जो सारा दिन विचारों के जंगल में नहीं घिरा रहता। कोई नहीं है जो हर समय कुछ न कुछ सोचता नहीं रहता। मैं यह करूँगा, मैं वह करूँगा, मैं ऐसा मकान बनवाऊँगा, वैसा बिज़नेस करूँगा - सारा दिन इसी उधेड़ बुन में फंसा रहता है। और फिर रात को स्वप्न भी इसी तरह के आते हैं।

यह तो ईश्वर की कृपा है कि दो-चार घड़ी के लिए हम लोग यहाँ सत्संग में आ जाते हैं। किन्तु इन गिने-चुने मिनिटों में भी हमारा ध्यान सँसार भर की अपनी समस्याओं की ओर ही भटकता रहता है। ईश्वर के चरणों की तरफ ध्यान नहीं जाता। गुरु महाराज चेतावनी दे रहे हैं कि यह शरीर तो हमारा साथ नहीं देगा - आज छूट जाए, कल छूट जाए, कुछ पता नहीं।

परन्तु जब तक यह शरीर है तब तक तो हम अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सतर्क रहें। जब इस शरीर के साथ हमारा सम्बन्ध टूट जायेगा तो हमारे साथ कोई नहीं जाएगा - न धन जायेगा, न संपत्ति जाएगी, न हमारी सन्तान जाएगी, न सम्बन्धी - केवल हमारी आत्मा और उसके ऊपर चढ़ाये आवरण अर्थात् जो कर्म हमने किये हैं उनसे सम्बंधित संस्कार - वो ही हमारे साथ जायेंगे।

साधना यह है कि इस मनुष्य चोले में रहते हुए हम इस आत्मा के ऊपर जितने आवरण हैं, उनसे मुक्त हो जाएँ/ कहते हैं कि शरीर छोड़ने के बाद मोक्ष मिलता है। नहीं, ऐसा कुछ नहीं है। जिसको इस शरीर के रहते हुए मोक्ष की प्राप्ति नहीं हुई, शरीर छोड़ने के बाद मोक्ष का उसको स्वप्न भी नहीं लेना चाहिए। साधना तो यही है कि शरीर के रहते हुए हम अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर लें। गुरु महाराज बता रहे हैं कि आपकी आत्मा ही सदा आपके साथ रहने वाली है। यही सच्चा सुख, शांति और सच्चा आनन्द देने वाली है।

आत्मा के ऊपर जितने आवरण हैं - शरीर का, मन का, बुद्धि या आनन्द का, और इनके कारण और जितने सम्बन्ध हैं, वे सब नष्ट होने वाले हैं। अपने शरीर के रहते हुए हमें इन सब से मुक्त हो जाना चाहिए। साधना यही है। आत्मा की कोई साधना नहीं की जाती, उसकी साधना की कोई आवश्यकता नहीं है। साधना शरीर, मन, और बुद्धि की शुद्धी के लिए करी जाती है। शरीर एक रथ है। भगवान् कृष्ण सारथी बनकर उसके भीतर में बैठे हुए हैं और हमारे मन और बुद्धि को चलाना चाहते हैं। परन्तु काल या शैतान भी हमारे भीतर में बैठा हुआ है जो हमारे सब प्रयासों को प्रतिक्षण असफल करता रहता है। इसलिए हमें प्रतिक्षण सावधान रहना चाहिए। इस सावधानी को ही साधना कह सकते हैं।

हम इन सब तथ्यपूर्ण बातों को भूल जाते हैं। इन्द्रियों के रसों में फँस जाते हैं, बुद्धि की चतुराई में फँस जाते हैं। भाँति-भाँति के सांसारिक वातावरण में घिर जाते हैं। हम आत्मा को, गुरु को या परमात्मा को भूल जाते हैं। पहला साधन यह है कि हम उसे हर समय याद रखें। उसके नाम का संग नहीं छोड़ना चाहिए। सब महापुरुषों ने यही बताया है कि नाम द्वारा ईश्वर के चरणों को छोड़ें नहीं। अपनी आत्मा को या गुरु के ध्यान को छोड़ें नहीं। यह सब एक ही बात है। हमें परमात्मा के दर्शन जिस व्यक्ति के शरीर में करने हैं, उसको गुरु

कहते हैं । प्रत्येक व्यक्ति को गुरु नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति गुरु कहलाने का अधिकारी हो ही नहीं सकता। अतएव , हमें प्रतिक्षण जागरूक, गंभीर और सतर्क रहना चाहिए।

प्रभु के नाम की महत्ता

संतों की वाणी है : " आंखां जीवां , बिसरे मर जावां " महापुरुष प्रार्थना करते हैं कि आपकी स्मृति ही मेरा जीवन है और आपके चरणों से दूरी यानि विस्मृति ही मेरी मृत्यु है। उसकी (परमात्मा की) समीपता ही हमारा जीवन है, उसका आशीर्वाद ही हमारा जीवन है। बाकी सब कुछ तो मन - बुद्धि का विलास है। हम में से कोई भी न तो समझता है कि 'नाम' क्या है और न हम उस नाम को लेते हैं। नाम और नामी में कोई अन्तर नहीं है, केवल समझाने के लिए महापुरुषों ने भिन्न-भिन्न तरीके से 'नाम' को समझाया है ।

नाम एक सीढ़ी है। परमात्मा से आत्मा बिछुड़ गयी है । उसको (आत्मा को) परमात्मा तक पहुँचाने के लिए जो साधन अपनाना है, उस साधन को या सीढ़ी को नाम कहते हैं। उस सीढ़ी पर चढ़कर प्रभु-चरणों में लय होने को नाम कहते हैं। इसमें तर्क-वितर्क नहीं करना चाहिए। साधन तो एक सीढ़ी है। कोई किसी पाये पर खड़ा है कोई किसी पर। अभी तक किसी को नाम की प्राप्ति नहीं हुई है, कोई परमात्मा के चरणों तक नहीं पहुँचा है ।

नाम की प्राप्ति हो जाने पर साधक और ईश्वर में कोई अन्तर नहीं रह जाता। व्यक्ति मौन हो जाता है। यह जो मौन हम करते हैं, यह एक नक़ल है। यह एक साधन है। मौन किसका करते हैं ? शरीर मौन हो जाए , प्राण स्थिर हो जाए यानि 'कुम्भक' हो जाए। प्राण चलते हुए तो विचार आते ही रहेंगे। साधन करके प्राण स्थिर हो जायेंगे तो संकल्प-विकल्प भी धीरे-धीरे क्षीण और विलुप्त होते जायेंगे। फिर बुद्धि की चतुराई भी शांत होती जायेगी ।

इसके बाद आता है 'आनन्द' अर्थात् आनन्द का आवरण। यहाँ आकर मनुष्य अहंकारी हो जाता है, अभिमानी हो जाता है कि उसने तो सब कुछ पा लिया। आध्यात्मिक आनन्द का थोड़ा सा रसास्वादन किया तो वह समझने लगता है कि मैंने सारे सँसार का रहस्य जान लिया। यह भूल है, बड़ी भारी भूल है। माया मारती है तो संतों को भी मारती है। उन व्यक्तियों को मारती है जो यह कहते हैं कि मुझे बहुत ज्ञान है। इस रास्ते पर कभी भी ज्ञानी

होने का घमंड नहीं करना चाहिए। एक बच्चे की तरह, एक शिशु की तरह अज्ञानी ही बने रहना चाहिए। ऐसे साधक जिसने कहा कि वो ज्ञानी हो

गय, रास्ते ही में असफल हो जाता है। उसको माया या काल नहीं छोड़ेगा।

“ कहुँ नानक मैं नाहीं कोई गुण । ” “ कहुँ नानक तुम विरद पहचानो, तब हौं पतित तरो । ” अर्थात् मेरे पास तो कोई गुण नहीं हैं । प्रभु आपका ही विरद है। आप ही अपना विरद पहचानो। तभी मुझ जैसे पतित का उद्धार होगा ।

हमेशा दीन भाव को अपनाना चाहिए। क्योंकि परमात्मा को ऐसा भक्त बहुत प्रिय है जिसका अपना रूप भी दीनता का है। जो अधिक चतुर बनते हैं, वो धोखा खाते हैं। दीन बनना है, दीन, अति दीन । यानि यह स्थिति रहने लगे कि यह शरीर भी मेरा नहीं, प्राण भी मेरे नहीं, मन भी मेरा नहीं, बुद्धि भी मेरी नहीं - तब ऐसी स्थिति में मौन सधेगा। मौन का मतलब है स्थिरता आ जाना। तब जाकर आत्मा का प्रकाश, गुरु या परमात्मा का प्रकाश, हमारे भीतर पड़ेगा। भीतर में आत्मा और परमात्मा के दोनों प्रकाश मिल जाते हैं तो वो योग या मिलन कहलाता है ।

आत्मा और परमात्मा के मिलने का यह एक सरल रास्ता है। और भी परमार्थ साधन के अनेक रास्ते हैं - जैसे कि वेदांत का रास्ता, योग का रास्ता और प्रेम भक्ति या गुरु भक्ति का रास्ता है तथा अन्य अनेक रास्ते हैं । हैं सब ठीक। किसी को गलत नहीं समझना चाहिए या गलत नहीं कहना चाहिए। जिसको जो अच्छा लगता है, जो जिस ईश्वरीय स्वरूप की भी स्तुति करता है उसको वोही रास्ता अपनाना चाहिए।

पुराने समय में गुरुजन वेदांत और योग का सार बतलाते रहे हैं। जितनी चीज़ें नज़र आती हैं, जितना वातावरण बाहर और भीतर नज़र आता है, यह सारा नश्वर है। सब पदार्थ नष्ट होने वाले हैं। यदि कोई वस्तु रहने वाली है तो केवल आत्मा और परमात्मा। वेदांत यही कहता है। वह इसको थोड़ा दोष दृष्टि से देखता है। वो कहता है कि इस शरीर में तो मल है। इसको खोल कर देखो तो सही इसमें क्या है ? रोज़ देखते हैं कि मुँह से बलगम निकलती है, शौच आदि के लिए जाते हैं, क्या निकलता है, कितनी बू आती है ? दो मिनट से ज़्यादा वहाँ बैठ

नहीं पातोयह सारी गंदगी तो तेरे भीतर रहती है। तू किससे प्रेम कर रहा है ? छोड़ इस शरीर को। इस प्रकार दोष-दृष्टि से वेदांती, इस शरीर से अपने आपको अलग करता है।

ज्ञानी अपनी सुरत को आत्मा में ले जाता है, भीतर में,और उसको विलय कर देता है। वह ज्ञान द्वारा आत्मा के स्वरूप की अनुभूति करता है। वो तरीका भी सही है। प्रेमी अपने इष्टदेव से इतना प्रेम करता है कि वो अपनत्व या अपना अस्तित्व ही भूल जाता है। कबीर साहब के शब्दों में : " तू तू करता तू भया, मुझमें रही न हूँ ! आपा फिरका मिट गया,जत देखू तत तू "

प्रेमी तो अपने प्रीतम के प्रति अपना सब कुछ न्योछावर कर देता है। प्रेमी-भक्त का तो यज्ञ यही है। हम जो यज्ञ करते हैं वह स्थूल यज्ञ है, जिससे बाहरी वातावरण शुद्ध होता है। वास्तव में आध्यात्मिक यज्ञ यही है कि इस शरीर को, इस मन को, सब कुछ अपने प्रीतम के चरणों में अर्पण कर दें, उनकी आहुति दे दें। इस यज्ञ की अन्तिम उपलब्धि, जो सबको अपनी अनुभूति द्वारा होती है - वो है वास्तविक ज्ञान, आत्मिक प्रकाश के स्वरूप का दर्शन या साक्षात् ब्रह्म-दर्शन, कुछ भी कह सकते हैं।

इस परमानन्द में स्थिति पाने के लिए चाहे कोई भी रास्ता हो, मनुष्य को भीतर में सचेत रहना पड़ेगा कि यह जो कुछ भी दीखता है सब नश्वर है। मैं इसमें क्यों फँसा हूँ - और यह समझकर धीरे-धीरे इससे निकलना चाहिए। सत्संग में आने का मतलब यह है कि हमें पाश्चाताप की ऐसी चोट लगनी चाहिए कि हम रो-रोकर आत्म निरीक्षण करें कि वर्षों हो गए, हम अभी तक कीचड़ में पड़े हैं। इस सँसार की माया की कीचड़ से हमारा पाँव निकलता क्यों नहीं ?

महापुरुषों ने सँसार को कीचड़ कहा है जिसकी दलदल में हम सब फँसे हुए हैं। सुबह से रात तक हम जितने भी काम करते हैं, हम अपने को उस कीचड़ में और अधिक फँसाते जाते हैं। बड़ा कठिन है इससे निकलना। परन्तु इससे निकलने की कोशिश करते हुए बार-बार फिसल जाने में तो किसी का दोष नहीं है। हाँ, दोष उनका है जो निकलने का प्रयास ही नहीं करते, साधक को अपनी शक्ति से यथासंभव प्रयास तो निरन्तर करते रहना चाहिए।

इस प्रयास को ही साधना कहते हैं। साधना केवल आँख बंद करने का नाम नहीं है। हमारे सारे दिन की दिनचर्या साधना रूप होनी चाहिए। वो इस संसारी कीचड़ से निकलने के लिए प्रयास रूप होनी चाहिए। दैनिक - चर्या ही हमारी साधना हो। तब जाकर इस प्रयास की प्रथम सफलता हमारी बुद्धि में अंकित होगी। सब लोग जानते हैं कि आत्मा है। परन्तु, हम आत्मनिरीक्षण करके देखें कि उस आत्मा को अनुभव करने का हमारा प्रयास कितना है ?

खूब अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि हमें इस मनुष्य चोले में रहते हुए ही अपने लक्ष की प्राप्ति करना है - अर्थात् अपने आप को पहचानना है, ईश्वर में अपने आप को लय करना है। इसके लिए समझ के अतिरिक्त जागरूकता होनी चाहिए कि आत्मा क्या है ? आत्मा का स्वरूप क्या है और आत्मा का स्थान कहाँ है ?

सब साधकों को, विशेषतः सभी पुराने साधकों को, जागरूकता ही नहीं अपितु अत्यंत गंभीरता से एक पल भी गँवाये बिना, अपने ध्येय की ओर बढ़ना चाहिए और पूरी लगन से संलग्न रहना चाहिए। तभी जीवन के ध्येय की ओर हमारी प्रगति होगी।

00000000000000000000



ईश्वर की प्राप्ति का कोई भी रास्ता अपनायें यदि सदगुणों को नहीं अपनायेंगे तो किसी प्रकार की पद्धति से आपको सफलता नहीं मिलेगी . भक्ति का यह अर्थ नहीं कि केवल किसी मूर्ति या तसबीर की पूजा करो . कोई भी साधना करो , सदगुणों को अपनाना तो उसकी नींव है . वैसे भी देख लीजिये जो व्यक्ति सदव्यवहार करता है , जिसके हृदय में सदविचार उठते हैं और जो सदगुरु को अपनाता है , उसके भीतर में प्रेम और शान्ति स्वभाविक रूप से उत्पन्न हो ही जाते हैं .



अभ्यास और वैराग्य

(परमसन्त डॉ० करतार सिंह जी साहब)

व्यक्ति के भीतर संकल्प विकल्प उठते रहते हैं। सभी यही कहते हैं कि हमारे भीतर में शांति नहीं है। साधना में भी बैठते हैं तो जैसा आनन्द मिलना चाहिये, वैसा नहीं मिलता। कारण यह है कि विचार बहुत उठते हैं। इस विषय पर पूज्य गुरु महाराज (महात्मा डॉ०श्रीकृष्ण लाल जी महाराज) द्वारा लिखित पुस्तक " अभ्यास में मन न लगने के कारण और उपाय " आप सबको पढ़नी चाहिये। साधना यही है कि मन शांत हो , चंचलता छोड़ दे। साधना आत्मा की नहीं होती, साधना मन की होती है। आत्मा तो सब के भीतर है इसमें किसी प्रकार का कोई संदेह नहीं है। मनुष्य का विस्तार युग -युगान्तर से हो रहा है। उसका वर्तमान रूप उसके अपने संस्कारों से है। उन संस्कारों से निवृत्त होना है। ये ही संस्कार हमारी वृत्तियाँ बनाते हैं, कामनायें , इच्छायें, आशाएँ, विचार, संकल्प - बिकल्प उठाते हैं। यहीं भीतर में संस्कारों को गति देते हैं। जब तक भीतर में ये संस्कार खत्म नहीं होते, विचार तो उठते ही रहेंगे। जब भीतर में वृत्तियों का निरोध हो जाता है यानी वो वृत्तियाँ खत्म हो जाती हैं, संस्कार खत्म हो जाते हैं तब आत्मा का साक्षात्कार या परमात्मा के दर्शन होते हैं। हम चाहते हैं कि भीतर में गन्दगी भी पड़ी रहे और दर्शन भी हो जायें, यह नहीं हो सकता। यह असंभव है। कोई झलक तो मिल सकती है। कभी प्रकाश दीख गया, कभी कोई शब्द सुनाई दे गया या कभी किसी महापुरुष के दर्शन हो गये। कभी साधन करते - करते आनन्द मिल गया। परन्तु पूर्ण आनंद जो आत्मा -स्वरूप है, वो तब तक प्राप्त नहीं होगा, वो गंग- प्रवाह का अनुभव तब तक नहीं होगा जब तक वृत्तियों का खात्मा नहीं होगा, अन्त नहीं होगा क्योंकि वृत्तियों के कारण ही ये विचार उठते हैं। अर्जुन कहता है, हे भगवान ! मैं क्या करूँ ? इन विचारों को किस तरह समाप्त किया जावे, इन पर किस तरह विजय प्राप्त की जावे ? भगवान कहते हैं कि यह तो बहुत सरल है। दो साधन करें। एक साधन अभ्यास का दूसरा वैराग्य का। हम आँखें बंद करने का साधन करते हैं परन्तु आँखें बंद करने से पहले हम वैराग्य की विधि नहीं करते हम वैसा अभ्यास नहीं करते हैं जैसा भगवान ने समझाया है कि जब मन अपने केन्द्र से हटे तो बार - बार उसको केन्द्र पर लाने का यत्न किया जाय। इसको उन्होंने अभ्यास कहा है। बार - बार

कोशिश करो। किन्तु आप कितनी भी कोशिश करो, भीतर में जो वृत्तियाँ हैं, संस्कार हैं उनसे मन मुक्त नहीं होता। तो फिर दूसरा साधन बतलाया है वैराग्य का। बिना वैराग्य के वृत्तियाँ खत्म नहीं होंगी।

गुरु महाराज कहा करते थे कि जब आप संसार में आए ही हैं तो यहाँ के भोगों को खूब भोग लें और उन्हें बुद्धि से भी समझ लें। यहाँ की जितनी भी वस्तुएँ हैं उन्हें धर्म -शास्त्र के अनुसार भोगें फिर उनका सार देखें तो वास्तविकता समझ आयेगी कि यह तो कुछ भी नहीं हैं। मनुष्य वही है जो सत्यता के साथ अनुराग रखता है, सत्यता को पकड़ता है। जो असत्य है उसका त्याग करता है। इसी त्याग में वैराग्य है। वैराग्य का दूसरा मतलब है "मोह मुक्त होना"। गीता में मोहमुक्त होने का जो आदेश है वह यह है कि अपने कर्मों

का जो फल है उसके साथ आसक्ति नहीं होनी चाहिये। उसका परिणाम क्या होता है, अच्छा या बुरा, इसे न सोचकर उसे प्रभु के चरणों में अर्पित कर देना चाहिए, किसी प्रकार की आशा और इच्छा नहीं रखनी चाहिये। मोह के दो रूप हैं -- राग और द्वेष जिनमें हम फँस जाते हैं, जहाँ सब संसार फँसा है। यह तो नये संस्कार हैं। पुराने संस्कारों, पुरानी वृत्तियों का त्याग कैसे करें ? उसके भिन्न - भिन्न साधन हैं। मुख्य साधन है - सत्संग। किसी महापुरुष का सत्संग करें जो सत -स्वरूप हो। उसके बताए हुए रास्ते पर चलें। वह एक है रास्ता, एक ही साधन बतलाता है -- प्रेम, ईश्वर प्रेम। अपने आप को पूर्णतः ईश्वर के चरणों में समर्पित कर दीजिये। इसलिए नहीं कि हमारा अमुक काम हो जावे। यह तो सौदेबाज़ी है, समर्पण नहीं है। यह सब मन का खेल है। इसीलिये हमारी वृत्तियों में परिवर्तन नहीं आता, जो विचार थे, जो हमारी आदत थी, जो हमारा स्वभाव था, सब कुछ वही का वही है क्योंकि सच्चा प्रेम उत्पन्न ही नहीं हुआ। सच्चा प्रेम उत्पन्न हो जावे तो जो अतीत के आवरण हैं, वृत्तियाँ हैं, संस्कार हैं, वे सब उस महान हस्ती को समर्पित हो जाते हैं। बहुत लोग यही कहते हैं कि सत्संग में आते हुए पचास -पचास साल हो गये परंतु झूठ बोलने की आदत नहीं जाती। वो आदत जायेगी कैसे क्योंकि ईश्वर के साथ, गुरु के साथ आपका सच्चा प्रेम नहीं है।

ईश्वर की सच्ची प्रेम - अग्नि में ही वह संस्कार खत्म हो सकते हैं अन्यथा इसके अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है। यह भी वैराग्य का एक साधन है कि अपने पाँचों शरीरों से

मुक्त हो जावे यानी यह स्थूल शरीर, प्राण, मन, बुद्धि और आनन्द ये जो पाँच प्रकार के आवरण हैं उनसे मोह मुक्त हो जावे। शरीर है, यह ख्याल रखना चाहिये कि यह तो मेरा नहीं है, यह तो नश्वर है जिसके भीतर में शुद्ध आत्मा है। जो विचार उठते हैं, वे तो मन के विकार हैं ऐसा कहना सरल है परन्तु वास्तव में व्यवहार में जिसको देखो इसी में फँसा है। हम भले ही कह दें कि " मैं आत्मा हूँ " परन्तु व्यवहार हमारा आत्मा का नहीं है क्योंकि भीतर में मन जो है वो इन्हीं शरीरों से मोह युक्त हो रहा है। हमें यह बात केवल कहने तक ही सीमित नहीं रखनी है, इनकी साधना दृढ़ संकल्प के साथ करनी है। अपने शरीर के साथ सम्बंध बिल्कुल छोड़ दें। शरीर के साथ वैराग्य करने का मतलब है कि शरीर के जितने दुःख - सुःख हैं इन सबका आप को भान ही न हो। मैं शरीर हूँ, मैं मन हूँ, इन सब से वैराग्य करना है। ऐसा वैराग्य हो जाने से मोह -मुक्त हो जाते हैं। धीरे - धीरे ऐसे व्यक्ति के ज्ञान के प्रकाश में सब संस्कार सुगमता से खत्म हो जाते हैं ।

विचार इस तरह खत्म नहीं होंगे जिस तरह हम सोचते हैं। विचारों को धीरे -धीरे काबू करना होगा और अपने जीवन को अपने इष्टदेव की इच्छा के अनुसार बनाना होगा। हम सब शरीर के दुःख -सुःख, मन के संकल्प - विकल्प, राग -द्वेष और इंद्रियों के भोगों में फँसे हुए हैं। ऐसा व्यक्ति सफल कैसे हो सकता है ? जो भी सत्संगी है वह किसलिए सत्संग में आता है ? वो इस धारणा को लेकर आवे कि मुझे इस माया प्रपंच, द्वन्द अवस्था से स्वतंत्र होना है। संसार तो उत्तेजना देगा ही, दुःख देगा ही। हमें अपनी इंद्रियों और बुद्धि के संकल्प -विकल्प से भी दुःख - सुःख मिलेंगे ही। यह एक बड़ी चुनौती है सत्संगी के लिए जिसका उसे मुकाबला करना है और इन सब पर विजय प्राप्त करते हुए प्रभु के चरणों तक पहुँचना है।

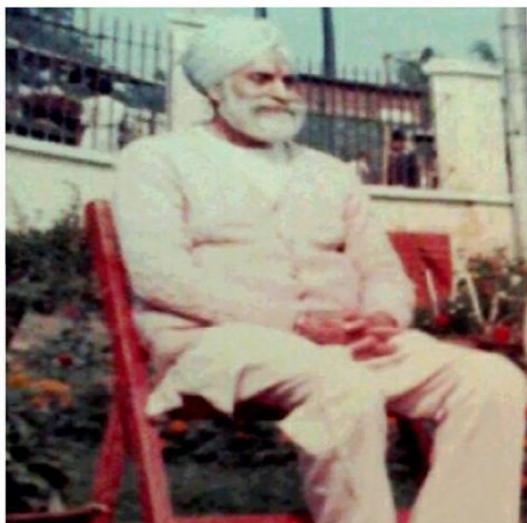
महात्मा बुद्ध और स्वामी विवेकानंद ने इसका साधन बताया है कि मन के विचार कैसे कम करें। साधना में जब बैठते हैं तो पहले भजन आदि प्रार्थना पढ़ लेनी चाहिए। उसके बाद अपने मन को एक दो मिनट के लिये देख लेना चाहिये। मन यदि संकल्प विकल्प उठाता है तो उठने दीजिये। केवल देखिए, कोई प्रतिक्रिया मत करिए। सरलता से देखिए, साक्षी रूप होकर देखिए। एक दो मिनट में जब मन देखता है कि मुझे कोई देख रहा है तो वह शांत हो जायेगा। जब मन शान्त हो जाये तब आपके गुरु ने जो साधना बतलाई है, वह करें। आप लोग भी ऐसा करें। जब भी कभी मन अधिक चंचल हो जावे तो इस प्रकार अपने मन को देखना

चाहिए। मन शांत हो जाता है। शून्यता आने लगती है। विचार खत्म हो जाते हैं। सावधान रहना चाहिये। इसमें जड़ता न आने पावे। भीतर की शून्यता में शीतलता होनी चाहिये।

यह कैसे पता लगेगा कि चरित्र निर्माण हो रहा है। हम किसी से ईर्ष्या करते हों तो हम दुःखी हों। हम किसी की निंदा करते हों, तो दुःखी हों। यानी हमसे बुराई न होने पावे। इसके अतिरिक्त भीतर में एक विचित्र आनन्द का आभास हो। उस आनन्द में न दुःख रहता है, न सुःख रहता है, न किसी प्रकार की अपेक्षा रहती है। गंगा की तरह शीतलता का प्रवाह चलता ही रहता है। इस प्रकार आप भीतर में उपरामता प्राप्त करें। एक और तरीका है। आप अपने अतीत को भूल जाते हैं तभी तो संस्कार खत्म होते हैं। यदि आपको अतीत याद आ जाता है तो अभी संस्कार छूटे नहीं, संस्कार चेतन अवस्था में हैं। जो अवचेतन हैं वो हमारे चित्त की गहराई में होते हैं। जब हम साधना करने बैठते हैं, तो जिस बात का अनुमान भी नहीं था, कभी विचार भी नहीं था, वो विचार आ जाते हैं। भीतर गहराई में जो संस्कार पड़े हैं वो जागृत हो जाते हैं। इन सब से हमें निवृत्त होना है।

जब यह संस्कार खत्म हो जायेंगे तब संकल्प -विकल्प खत्म होंगे। संकल्प -विकल्प और विचारों की अभी चिंता मत कीजिये। चिंता किया करें कि मेरा ईश्वर के साथ प्रेम क्यों नहीं होता, क्यों नहीं बढ़ता ?। मुझे भीतर में क्यों नहीं शांति मिलती है ? क्यों आनन्द नहीं मिलता ? मेरे चरित्र का क्यों नहीं निर्माण होता ? मैं क्यों किसी की सेवा नहीं करता ? क्यों मेरे में अहंकार है? क्यों मेरे में दीनता नहीं आती ? परमात्मा के गुणों को अपनाना होगा, गुरु के चरणों में समर्पण करना होगा। आत्मा के गुणों को अपनाना होगा और वैसा बनना होगा। जब तक जैसे नहीं बनते हैं, चलते रहें रास्ता बहुत लम्बा है। गुरु महाराज कहा करते थे कि संसार के रास्ते पर चलने वाला व्यक्ति यदि थकावट अनुभव करता है तो वह भाग्यशाली है यानी उस इन्सान के साथ सुःख नजदीक रहता है और वह समझ लेता है कि इसमें कोई सार नहीं है। परन्तु परमार्थ के रास्ते में कभी थकावट नहीं आनी चाहिये। यहाँ तक कि आपको गुरु के दर्शन हो जावें तब भी रास्ता चलते चलिये क्योंकि इसका कोई अन्त नहीं है। परमात्मा की सुन्दरता इतनी विशाल है, परमात्मा का प्रेम इतना अथाह है कि आज तक किसी ने उसका अन्त नहीं पाया। इसीलिये इस रास्ते पर थकावट नहीं आनी चाहिये। संतुष्टि कभी - कभी अहंकार का रूप ले लेती है कि मैं तो बहुत बड़ा साधक बन गया। मुझको तो बड़ा आनन्द आता

है। मेरे पास बैठे लोगों को भी शांति मिलती है। बस दो चार शिष्य बन गये और उन्होंने भी तारीफ़ में दो - चार शब्द कह दिए कि आप बहुत बड़े हैं तो भीतर में एक ऐसा संस्कार बनता है कि जिससे मुक्त होना तो बहुत ही कठिन है। स्थूल अहंकार से तो हम मुक्त हो सकते हैं परन्तु सूक्ष्म अहंकार से मुक्त होने बड़ा ही कठिन है। ईश्वर की कृपा तो तभी हो सकती है जब हम विचारों से मुक्त होने के लिये प्रार्थना करें और प्रयत्न करें। प्रार्थना के साथ विरह उत्पन्न होना चाहिये, व्याकुलता उत्पन्न होनी चाहिये। जब तक विरह और व्याकुलता उत्पन्न नहीं होगी तब तक मन स्थिर नहीं होगा। और यह इतना कठिन है कि बिना ईश्वर कृपा के प्राप्त नहीं होता। इसीलिये बार -बार ईश्वर के चरणों में रो -रो कर प्रार्थना करनी चाहिये कि " हे प्रभु ! बिना आपकी कृपा के मैं इस भवसागर से पार नहीं हो सकता। जब तक संस्कार हैं, संकल्प - विकल्प हैं, समझ लेना चाहिये कि भवसागर का किनारा अभी दूर है। इससे पार होने के लिए बार - बार ईश्वर के चरणों में प्रार्थना करते रहना चाहिये। यही गुरु के चरण पकड़ना है। चरण पकड़ने का मतलब है कि हम रोयें, प्रार्थना करें कि प्रभु हमसे कुछ नहीं होता। जब तक आपकी दया नहीं होगी, जब तक आपकी कृपा नहीं होगी हमारा उद्धार नहीं होगा। यह सरल तरीका है, ईश्वर आप सबका भला करें।



अभ्यासी को परमार्थ के रास्ते पर ज़ल्दी नहीं करनी चाहिये . ज़रा गौर तो कीजिये कि विद्या सीखने में पंद्रह और अठारह वर्ष सहज में गुज़र जाते हैं, जब कि विद्यार्थी कुल वक्त अपना इसी काम में खर्च करता है . फिर परमार्थ के काम में जब कि उसमें सिर्फ़ दो या तीन घंटे बमुश्किल लगाये जाते हैं , किस तरह ऐसी ज़ल्दी तरक्की हो सकती है . यह उसकी बड़ी मेहर है कि ऐसी थोड़ी मेहनत पर भी अपनी दया से हर एक को मालामाल करते रहते हैं और सच्चे अभ्यासी को अन्तर में सहारा हमेशा बख़्शते रहते हैं .

हे सत्पुरुष ! तेरी विशेष दृष्टि सदा हम पर बनी रहे .



असली परिवर्तन

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ०करतारसिंह जी महाराज)

असली परिवर्तन भीतर से होता है, बाहरी चौकीदारी थोड़ी देर ही काम करती है। जब हमारा मन पूरी तरह बदलेगा तब ही हम बदल सकते हैं, वाह्य परिवर्तन तो थोथा है, भ्रामक है।

इन्सान संस्कारों का एक जीता-जागता नमूना है। जो भी कर्म हमने किये हैं, उनकी जो भी छाप हमारे साथ है, हमारे संस्कार उन्हीं के अनुसार बने हुए हैं और उन्हीं के कारण हम इस संसार में सुख-दुःख भोगते हैं। यही जन्म-मृत्यु का कारण बनते हैं। बिना उनसे छूटे मुक्ति नहीं होती। अब सबाल यह है कि उसमें परिवर्तन हो तो कैसे हो ? बनाने वाली शक्ति तो अन्तर में है - अतः बाहर में बनने बनाने में थोड़ा फ़र्क तो पड़ सकता है, लेकिन उसमें स्थिरता नहीं आ सकती।

इस वास्ते सत्संग में अन्तर की कार्यवाही करने को कहा गया है। इसके लिए आवश्यक यह है कि अन्तर को धीरे-धीरे निर्मल कर उसके प्रवाह को पलट दें। सुरत का उलट धार होना भी यही होता है। वो बजाय बाहर की और बहने के, अन्तर में अपने केंद्र की और बहने लगती है। ऐसा बदलना ही असली बदलना होता है, हृदय ही बदल जायेगा। जो थोड़े बहुत संस्कार बचते हैं, वो भी गुरु कृपा से कटने लगेंगे। जब ऐसा हो जायेगा तब असली परिवर्तन आयेगा। ये परिवर्तन अगर कई जन्मों में भी आ जाता है तो बड़ी भारी बात है। बाहर की सावधानी से आया परिवर्तन दिखावटी हो सकता है। लेकिन अगर अभ्यास करते-करते संस्कार कटने में एक पूरा जन्म भी लग जाये तो भी समझना चाहिए कि बड़ी कृपा है। पूरे संस्कार न भी कटें पर नए संस्कार नहीं बनें एवं पुराने धीरे-धीरे क्षय होते जायें, तब भी बहुत है। करना यह है कि पुराने संस्कारों का जो भण्डार है उसमें आग लगानी है, उन्हें नष्ट करना है और नए संस्कारों को बनने से रोकना है।

अब आग लगाना इन्सान के बस का तो है नहीं। क्योंकि वह खुद इनमें इस क़दर फँसा है कि उसका बस नहीं चलता। वरना अगर इन्सान का बस चलता तो वो अपने आप ही ठीक हो जाता एवं कोशिश करके आज़ाद हो जाता। स्वयं का बस न चलने का कारण यह है कि हमारे ऊपर जन्म-जन्मांतरों के संस्कारों के आवरण चढ़े होने के कारण बुद्धि काम ही नहीं करती। इन आवरणों को हटाने के लिए संतमत में सत्य पुरुष, सद्गुरु (सतनाम), ईश्वर का वो नाम जिससे उसकी नज़दीकी हासिल हो, का सहारा लेते हैं, ताकि सतगुरु की कृपा से वही सुरत की धार जो उन आवरणों में फैल गयी थी, प्रसारित हो गयी थी, वापस खिंचकर अपने केंद्र की ओर आ जाये। तब धीरे-धीरे वगैर प्रयास के आवरण झीने होते जायेंगे। जैसे बिजली का तार है, जब तक उसमें बिजली है वो शक्तिशाली है, अन्यथा बेकार। ऐसे ही ये संस्कारों के आवरण जब तक शक्तिशाली एवं विद्यमान रहते हैं तब तक सुरत की धार की बैठक उन पर रहती है। सुरत की धार जिस आवरण पर आकर ठहरती है, उसे शक्ति देती है, अतः वह आवरण वैसा का वैसा ही बना रहता है, उस पर और मसाला चढ़ता रहता है। लेकिन अगर सुरत अन्तरमुखी हो जाये तो तो फिर मन के संस्कारों को प्रकाशित करने की शक्ति नहीं मिलती। शुरू में काफ़ी मुश्किल पड़ती है। संस्कारों का जो जाल है वो अन्तर में छाया हुआ है, इसकी दीवार को खत्म करने के वास्ते अभ्यास करना चाहिये। थोड़ा अभ्यास में गहराई तक पहुँच जायें, इसलिए सत्संग होता है। भले ही आगे न बढ़ें लेकिन जहाँ हैं वहाँ स्थिरता बनी रहे, नीचे न गिरें। इस वास्ते पहले पहल संतमत में गुरु के द्वारा बताया हुआ साधन का अभ्यास करते हैं।

अतः जहाँ तक बने सुमिरन, भजन और ध्यान अवश्य करना चाहिये। जिस रूप में ध्यान आ जाये वो अच्छा है। अगर शब्द नहीं आता तो प्रकाश का ध्यान करें। ये भी नहीं होता, गुरु का ध्यान भी नहीं होता तो उसके बताये हुए शब्द (नाम) का उच्चारण ही करें, दिल से नहीं होता तो मुख से ही करें। ये भी न हो सके तो समय मिलने पर थोड़ा बहुत स्वाध्याय ही करें। दो एक भजन ही पढ़ लिए, कुछ प्रवचन ही पढ़ कर उन पर मनन किया करें। फ़ायदा अवश्य होगा।

सतगुरु तो ईश्वर का रूप हैं, दया एवं कृपा के असीम भण्डार हैं, कृपा अवश्य करेंगे, लेकिन उनके प्रति प्रेम, श्रद्धा, विश्वास तो हो। उनका तो सबसे रिश्ता ही प्रेम का है। परम् पूज्य गुरुदेव संत शिरोमणि महात्मा श्रीकृष्ण लाल जी साहब भी यही फ़रमाते हैं - " एक प्रेम

के नाते को छोड़कर मैं किसी और नाते को नहीं जानता। केवल प्रेम और वो भी निस्वार्थ प्रेम। जो लोग बिना अपने स्वार्थ के मुझे प्रेम करते हैं, चाहे वे सज्जन हैं या दुष्ट, मैं उन्हें प्रेम करता हूँ। वे मेरे हैं, मैं उनका हूँ। वे सदैव मुझ पर आश्रित रह सकते हैं, और वे देखेंगे कि मैं सदैव उनकी सेवा के लिए प्रस्तुत हूँ।"

कितनी आत्मीयता एवं प्यार भरा पड़ा है उपरोक्त शब्दों में। ऐसे ही किसी महापुरुष, जिसमें ईश्वर के सब गुण - सत, चित, आनन्द - मौजूद हों, की सेवा करके, कैसे भी उनसे आत्मिक प्रसादी ग्रहण करनी चाहिये। उनका सत्संग करना चाहिये, ताकि हमारी सुरत अन्तरमुखी हो जाये। ये ही प्रयास करना, ये ही तरीका है सुरत पलटने का, इसी से इन्सान पलट सकता है। इसके वास्ते संतमत में सुरत के ही अभ्यास के तरीके रखे गए हैं, बल्कि यहाँ तक कहा गया है कि परमार्थ की कार्यवाही ही केवल वो कार्यवाही है जिसमें सुरत का उलटाव हो। सुरत शब्द के अभ्यास को छोड़कर और अन्य जो भी कार्यवाही है, संतमत के ख्याल से वो सब दुनियाँ की कार्यवाही है। यहाँ तक कि सतकर्म भी परमार्थ की कार्यवाही में शामिल नहीं हैं। वो बात और है कि अगर स्वभाव ही सत का बन जाये। बाकी वो समस्त कार्यवाही जो फल की इच्छा से की जाए, चाहे वह सत की ही क्यों न हो, स्वार्थ में ही शामिल की जाएगी।

अतः सतगुरु से आने वाली कृपा की धार (फ़ैज़) अन्तर में ग्रहण करनी चाहिये। ये ही काम गुरुजन करते हैं कि अपनी स्वयं की तवोज्जह को शिष्य की तवोज्जह में मिला देते हैं तो जहाँ तक उनकी (गुरुजन की) पहुँच होती है वहाँ तक का फ़ायदा शिष्य को मिलता है। अर्थात् सारा काम तवज्जोह का है। सत्संग में गुरुजन की या कोशिश रहती है कि किसी तरह शिष्य की सुरत अंग बरामद हो जाये और उसकी ऊपर के लोकों में चढ़ाई हो।

अतः जितना हो सके सतगुरु की दया एवं प्रेम के सहारे अपनी सुरत को ऊपर की ओर ले जाना चाहिये। पलटाव अपने आप होने लगेगा। आवश्यकता है - अन्तरमुखी होने की।

- असली परिवर्तन - अन्तर का परिवर्तन, आत्म परिवर्तन
- असली प्राप्ति - आन्तरिक गुणों की प्राप्ति
- असली आनन्द - अन्तर का आनन्द जिसे पाने पर अन्य किसी
आनन्द की ख्वाहिश न रहे ।

मालिक तेरी राजा रहे, और तू ही तू रहे !

मुझको तेरी तलब व तेरी आरजू रहे !!

राम सन्देश : जनवरी-मार्च २०१३

भक्त वह है जिसके भीतर में अहंकार की
बू न हो , दीनता हो . जो कोई कर्म करे ,
निष्काम भाव से करे . कर्मफल के साथ
उसकी आसक्ति न हो एवं इतनी समता
हो कि कितने ही दुःख के पहाड़ टूट
जावें , कितना ही व्यक्ति को सुःख मिल
जावे , वह अपने इष्टदेव को न भूले . वह
एक ही रस में रहे . भक्ति करते समय
भगवान के गुण हममें आने चाहिये .
भगवान का एक गुण है सरलता .
भगवान का रूप क्या हैं ? " आदि सच ,
जुगादि सच , है भी सच , नानक होसी
भी सच " . वह निरन्तर है , सच है ,
उसका नाम भी सत्य है . इसीलिये
उसको सतनाम कहते हैं .
--सद्गुरु डॉ . करतारसिंह जी साहब --



अहंकार त्यागें : दीनता ग्रहण करें

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ०करतारसिंह जी साहब)

आध्यात्मिकता में सरलता के गुण का विशेष महत्व है। सरलता उसी व्यक्ति में होती है जिसके हृदय में राग द्वेष नहीं होता, जिसके मन में अहंकार चिपका नहीं होता। आध्यात्मिकता में बहुत कठिनाइयाँ आती हैं। ऊँचे संतों और फ़कीरों को भी बाधाएँ आ जाती हैं और उसका कारण होता है उनका सूक्ष्म अहंकार। भक्ति या साधना का सार क्या है ? "तू वो ही है जो मैं हूँ/" परमात्मा सर्वव्यापक है, सर्वज्ञ है। सभी जगह वो ही है, कण - कण में, रोम - रोम में। "मन में राम, तन में राम, रोम - रोम में राम ही राम/" पर यह केवल कहने मात्र को न हो -- ऐसा अनुभव हो। ये साधना की शिखरता है परमात्मा ही जानता है कि इसके आगे भी क्या कुछ और है, क्योंकि आध्यात्मिकता का कोई अन्त नहीं है। यह विद्या कहाँ जाकर अन्तिम चरण में पहुँचती है, कुछ नहीं कहा जा सकता।

ईश्वर के गुणों को स्मरण करना, उनको सराहना, स्तुति करना, उपासना करना -- ये गुरु या ईश्वर की पूजा है। धीरे -धीरे दैवी गुण अपने में अंकित हो जावें। जो गुरु का रूप है वो ही साधक के गुण हो जावें। जो गुरु का रूप है वो ही साधक का रूप हो जावे, दोनों में कोई अन्तर न रहे - यही गुरु दर्शन है। किन्तु कहना नहीं चाहिये, ये भी सहज अवस्था नहीं है। यहाँ पर पहुँच कर भी कई लोग अपने पद से कुछ समय के लिए गिर जाते हैं। एक दफ़ा अनुभव हो जाता है, ज़्यादा तो नहीं होता। सहज अवस्था भी नहीं आ पाती है जब तक भीतर में से वासनाएँ, संस्कार, इच्छाएँ, आसक्ति हमेशा -हमेशा के लिए नहीं निकल जाती अर्थात् भीतर और बाहर पूर्ण रूप से ईश्वर रूप नहीं बन जाता, तनिक भी उसमें किसी प्रकार का दोष नहीं रह जाता। कबीर साहब जैसे महापुरुष तो ललकार कर कह सकते हैं कि " मुझे अब कुछ करने की ज़रूरत नहीं है।" परन्तु बड़े - बड़े सन्त साधू पुरुष डरते ही रहते हैं। ऐसी अवस्था पर पहुँचकर भी वो या तो सेवक बन जाते हैं या कान्ता भाव को अपना लेते हैं।

कबीर साहब ने सेवक का भाव अपनाया। गुरु नानक देव ने सेविका का भाव अपनाया है -- मिले हुए भी हैं और अलहदा भी हैं। ऐसा करने से अहंकार नहीं होता है और यदि कोई वासना रह भी जाती है तो वह धीरे-धीरे खत्म हो जाती है। नामदेव जी ने अपनी वाणी में भिन्न-भिन्न प्रकार की साधना बताई हैं परन्तु यह कभी नहीं कहा कि मैं पूर्ण हो गया। नामदेव जी ने भक्ति, प्रेम और ज्ञान तीनों को अपनाया है। पहले प्रेम को अपनाया, फिर ज्ञान को और फिर भक्ति को अपनाया है। ज्ञान को स्थिर करने के लिए भक्ति की ज़रूरत पड़ती है। आदि शंकराचार्य जैसे परम ज्ञानी ने भी बाद में भक्ति को अपनाया है। सब महापुरुषों ने ऐसा ही किया है। भक्ति में दीनता है अतः गिरने का भय कम रहता है ।

आध्यात्म विद्या में आगे बढ़ने वालों को सेवक बने रहना चाहिये, दास बने रहना चाहिये। पूज्य गुरु महाराज जी कहा करते थे जिसने यह कहा कि मैं गुरु बन गया, वो गया, और कहा करते थे कि ये बड़ा कठिन पद है। यह बात सही है। जब तक ईश्वर कृपा न हो ऐसा व्यक्ति संसार से अछूता नहीं निकल पायेगा। ये भी ईश्वर की कृपा ही होती है वरना माया तो क्रदम - क्रदम पर आक्रमण करती है, परीक्षा लेती है। भगवान शिव, भगवान राम, भगवान कृष्ण की भी परीक्षा हुई। ये माया किसी को भी नहीं छोड़ती है। साधकों को दीनता अपनानी चाहिये । सभी महापुरुष यही सिखाते हैं - " कहो नानक मोहे कोई गुण नाहिं, हे प्रभु राखो अपनी शरण में ।"

000000000

राम सन्देश : नवम्बर-दिसंबर, 2006।

आचरण की नींव पर आध्यात्म का, परमार्थ का, मन्दिर बनायें

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ०करतारसिंह जी महाराज)

भागवत की यह प्रसिद्ध कथा बहुत शिक्षाप्रद है। एक बार भगवान विष्णु ने नारद जी से अपने एक भक्त की बहुत प्रशंसा की और उनसे कहा कि, " आप मेरे इस भक्त के पास जाइये और उसकी कुशलता का समाचार ले आइये" नारद जी स्वयं को भगवान का सबसे प्रिय भक्त मानते थे। कुछ बुरा मानते हुए भी वह उस किसान भक्त के पास गए।

वहाँ पहुँचकर नारद जी देखते हैं कि वह व्यक्ति जब सुबह सोकर उठता है तो एक बार "नारायण" कहता है और जब रात को सोता है तब "नारायण" कहता है। शेष दिन भर अपने कार्य में व्यस्त रहता है। जबकि नारद जी प्रतिदिन दिन-भर "नारायण - नारायण " रटते रहते थे और इसके सिवाय कोई काम नहीं करते थे। उन्होंने उस किसान से कहा कि, "तुम भगवान् के कैसे भक्त हो जो भगवान का ठीक से भजन भी नहीं करते, कभी पूजा नहीं करते ? वह किसान भक्त चुप रहा और मुस्करा दिया।

नारद जी भगवान के पास आकर उनसे तर्क करने लगे कि वे उस भक्त को इतना अच्छा क्यों मानते हैं ? भगवान ने कहा, "ठीक है, थोड़ी देर में बताऊँगा। एक काम करें, यह कटोरा है, इसमें दूध है और उसमें एक पुष्प रखा है। आप मन्दिर की परिक्रमा करके आइये, पर यह ध्यान रखें कि पुष्प या दूध गिरने न पाए। तब हम बात करेंगे।"

आज्ञा का पालन तो करना ही था। नारद जी दस-बीस कदम चले, ख्याल दूध की तरफ़ था, इधर-उधर नहीं देखा कि भगवान नाराज हो जायेंगे। उस ध्यान से ईश्वर का ध्यान हट गया, नारायण-नारायण जो कहते थे, वहाँ से भी ध्यान हट गया, केवल दूध में ही ध्यान लगा रहा, ऐसी एकाग्रता आ गयी। कुछ ही कदम से ज़्यादा नहीं चल पाए, डरते रहे कि दूध गिर गया तो भगवान नाराज हो जायेंगे। वापिस लौट आये।

भगवान से बोले, " यह काम मुझसे नहीं हो सकता, और कोई काम बता दीजिये । भगवान बोले, "कहिये, अब आप समझ गए ? वह व्यक्ति सारे ही दिन ऐसे ही काम करता रहता है। उसे कुछ भी होश नहीं रहता पर वह भीतर में मेरी याद में है और काम भी करता रहता है। उसका मन दायें-बायें नहीं जाता। इसीलिए मुझे वह बहुत प्रिय है।"

जिन व्यक्तियों का मन दायें-बायें जाता है, उनको कहीं भी शांति नहीं मिल पाती। हमें प्रत्येक क्षण अपने मन पर निगाह रखनी चाहिए, यह ऐसी-वैसी निरर्थक बातें करता रहता है। इससे आपको ही नुकसान होता है। यदि आपके भीतर में बुरे विचार हैं तो आपके बुरे विचारों से वायुमण्डल भी दूषित होता है। कारखानों से वायुमण्डल इतना दूषित नहीं होता, जितना कि बुरे विचारों के कारण दूषित होता है।

आप कह सकते हैं कि ऐसा कैसे हो सकता है ? आप टीवी भी सुनते हैं, टेलीफोन करते हैं, रेडियो सुनते हैं। रेडियो स्टेशन से जो तरंगे आती हैं वह आपका रेडियो पकड़ता है और आप सुन लेते हैं। ऐसे ही टीवी या टेलीफोन (अब इन्टरनेट) की तरंगें आती-जाती हैं।

इसी प्रकार से आपके भीतर में प्रतिक्षण विचारों की तरंगें निकलती रहती हैं। और यह तरंगे सारे वायुमण्डल को शुद्ध या अशुद्ध करती रहती हैं। इसीलिए कहते हैं कि संत जहाँ जाता है, वह स्थान तीर्थ बन जाता है। उसके शरीर की तरंगों से ऐसा होता है। अच्छे-अच्छे विचारों की, भावों की, तरंगें वहाँ फैल जाती हैं।

जहाँ गन्दे आदमी रहते हैं या जमा होते हैं वहाँ जाएँ तो आपको अनुभव होगा कि आपका मन वहाँ नहीं लगता। जहाँ आपका मन लगे, समझ लीजिये कि या तो कोई संत महापुरुष वहाँ आया है और अपनी उपस्थिति का चिन्ह वहाँ छोड़ गया है या वहाँ आपके या किसी और के रोज़ाना पूजा करने का असर है।

अब भी आप देख सकते हैं कि मन्दिर में जाइये, गिरजाघर, गुरुद्वारे में जाइये, वहाँ आपका मन लगेगा। हजार-हजार साल के पुराने मज़ार हैं, समाधियाँ और तपोभूमियाँ हैं। उनके दर्शनों के लिए जाइये। अब भी वहाँ बैठते ही ऐसा मालूम होता है कि हमें किसी ने सरूर से भरकर नशा पिला दिया है। वह संत तो शरीर रूप से वहाँ नहीं है पर उस स्थान को अपनी

पावन तरंगों से इतना रंग गया है कि जो भी वहाँ श्रद्धा से जाता है, बैठता है, उसको प्रसादी मिल ही जाती है।

कई स्थानों पर हम गए हैं, गुरु महाराज के साथ भी गए हैं। आगरा में एक संत की मस्जिद है। वहाँ गुरु महाराज के साथ बैठकर विशेष आकर्षण या कृपा मिली, भीतर में ऐसा लगा कि किसी ने हमें इतनी पिला दी है कि हमारी आँखें खुल नहीं रहीं थीं। हम और भी स्थान पर गए हैं, जहाँ आत्मिक कृपा की प्रसादी मिलती रही है।

इसीलिए लोग तीर्थों पर जाते हैं। परन्तु लोग इसका महत्व समझते नहीं हैं। यही देखते हैं कि पवित्र स्थान है, वहाँ खूब दुकानें लग रही हैं, चाट-पकोड़ियाँ खाई जा रही हैं, कोई चाय पीने में मस्त है, कोई कुछ और सैर-सपाटा कर रहे हैं। तीर्थों पर जाने वाले अधिकाँश तीर्थयात्रियों या यों कहें कि पर्यटकों के ऐसे व्यवहार से उस स्थान की सारी पवित्रता कम होती जाती है।

एक भाई बड़े अच्छे अभ्यासी थे। उनके गुरु महाराज (पूज्य महात्मा रामचन्द्र जी महाराज) की उन पर विशेष कृपा थी। उन्होंने अपने गुरुदेव को पत्र लिखा कि अभ्यास करते-करते इतना समय हो गया परन्तु मन अभी तक स्थिर नहीं होता, शान्ति नहीं मिलती। हम सबके भीतर में भी यही भाव रहता है। बड़ी अच्छी-अच्छी स्थिति के कई वरिष्ठ भाई भी यही कहते हैं।

ऐसे साधकों के हितार्थ हमारे दादा गुरु पूज्य लालाजी महाराज लिख रहे हैं कि, " आप जो साधन कर रहे हैं, वह आपके लिए काफ़ी हो गया है। आपकी सुरत की चढ़ाई तो सहस्र दल कँवल तक पहुँच गयी है। काफ़ी साधना व अभ्यास हो गया है। अब समय आ गया है कि इस अभ्यास को आनन्द से सराबोर करने के लिए कुछ और बातों की ज़रूरत है, उनकी तरफ आप ध्यान दें।"

वास्तविक स्थिति यह है कि हम न तो मनन करते हैं न किसी बात का ध्यान रखते हैं। हम ईश्वर या गुरु के गुणों को सराहते तो हैं लेकिन यह प्रयास नहीं करते कि गुरु की बातों को, उसके गुणों को अपने आचरण में अपनायें। हम तो अपने ही अवगुणों से घिरे रहते हैं -

जैसे कि हम ज़रा-ज़रा सी बात पर झूठ बोलते हैं और सालों से बोलते रहे हैं। सत्संग में इतने दीर्घ काल से आने पर भी हमारी यह आदत नहीं जाती।

ऐसे ही निन्दा या घृणा करने की हमारी आदत नहीं जाती। यह आदत गयी क्यों नहीं ? कान और रसना का रस, आँखों के देखने का रस, आदि वही चल रहा है। बातें करने में वही रस आ रहा है, जाता क्यों नहीं ? न तो इस बारे में कभी गम्भीरता से सोचा या मनन किया, न कभी ईश्वर के गुणों की पूजा की, दर्शन तो दूर रहे। पूजा का अर्थ यही है कि हम ईश्वरीय गुणों को आत्मसात करने का गम्भीरता से यत्न करें।

मनुष्य की इन्द्रियाँ और मन अपना ही खेल खेल रहे हैं। मन संकल्प-विकल्पों में फँसा हुआ है। वह शरीर और इन्द्रियों को अपनाता ही नहीं, इसलिए शक्ति को व्यर्थ खोता जा रहा है। चंचलता में फँस गया है। वह आत्मा-परमात्मा से, गुरु से, प्रकाश नहीं लेता। अर्जुन को इतने प्रश्न क्यों करने पड़े ? प्रभु उसके ऊपर अत्यन्त दयालु थे। इसी प्रकार हमारा मन प्रश्न और शंका तो उठाता है पर गुरु और परमात्मा की तरफ़ उन्मुख नहीं होता, अपने को नियोजित या संयमित नहीं करता, मनमानी करता है, दिखावा करता है कि मैं बड़ी पूजा करता हूँ।

साधक को गम्भीरता से आत्मिक स्थिति की तरफ़ उन्मुख होना पड़ेगा। परमात्मा के, गुरु के, गुणों को अपनाना होगा और मन के अन्धकार पर उनका प्रकाश डालना पड़ेगा। उसे अपने अधीन करना पड़ेगा, तब ईश्वर प्रेम का संगीत सुनाई देगा। साधक जब आगे बढ़ने का अधिकारी होगा, तभी शान्ति और आनन्द प्राप्त होंगे, इससे पहले तो ये सत्संग-पूजा ऐसे हैं जैसे बच्चे खिलौनों के साथ खेल रहे हों। हमारे जीवन में अभी आत्मजागृति नहीं हुई है कि हमारे जीवन का लक्ष्य क्या है ? योग क्या है, आनन्द क्या है, परमात्मा क्या है - ये तो दूर की बातें हैं।

पूज्य लालाजी इसी आत्मिक संगीत के आनन्द को सुनने के बारे में फ़रमाया करते थे - " हारमोनियम को ठीक तरह से बजाया जाये तो संगीत निकलता है। सरस्वती माँ की सुरसुधा मिलती है। अगर अनाड़ीपन में या बच्चों की तरह हाथ-पैर मारें, तो लोग कहते हैं - इसे बन्द करो। ठीक से बजाने से ही अच्छा लगेगा।" इसी तरह हमारे भीतर में भी शान्ति और आनन्द का संगीत होना चाहिए।

वास्तविक शान्ति आसानी से नहीं मिलती। खाना खाया, स्वाद आया। हम इसे ही शान्ति मान लेते हैं। यह शान्ति नहीं है। हमारी कोई आशा बच्चों ने, मित्रों ने पूरी कर दी, इसे ही हम शान्ति मान लेते हैं। यह अस्थायी सुख है जो थोड़े समय बाद दुःख में परिवर्तित हो सकता है। असली शान्ति तो आत्मा में है। इसके लिए हमें सर्वप्रथम अपने आचरण की नीव को मज़बूत करना होगा।

हमें अखबार पढ़ने से फ़ुरसत नहीं मिलती, हमारा ऐसा स्वभाव बन गया है। अखबार में इतने मस्त हो जाते हैं कि हमें अपना कोई ध्यान नहीं रहता - न पूजा का और न अन्य आवश्यक बातों का। इसलिए पूजा में बैठने से पहले अपनी इच्छा शक्ति को नियंत्रण में करें। अन्य उपाय भी करना चाहिए। अखबार वाले से कह दीजिये कि अखबार एक घंटे के बाद दे जाया करे। परमार्थ में लाभ प्राप्त करने के लिए जितनी आपकी शक्ति लग सकती है उसका तो उपयोग करें। साथ ही, ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिए कि आपको शक्ति दें।

पूज्य लालाजी महाराज ने कहा है तथा पूज्य गुरु महाराज ने लिखा भी है कि, " जो अपनी कमज़ोरी हमने अपने गुरुदेव से कह दी, वो तो दूर हो गयी/ जिनको हमने छिपा कर रखा, कुछ संकोच के कारण, वह कमज़ोरियाँ हमसे अब तक नहीं छूटें।" यदि कोई कमज़ोरी आपसे नहीं छूटती है तो अवश्य कह दीजिये/ गुरु आपकी सेवा करेंगे, आपके लिए दुआ करेंगे/ उससे आपको बल मिलेगा/ हमें गुरुजनों से अपनी स्थिति का सच्चा हाल अवश्य कहना चाहिए।

प्रार्थना करने, मनन करने, आचार-व्यवहार शुद्ध करने के बिना साधना नहीं हो सकती, रास्ता नहीं मिलेगा। अपने मन पर अंकुश लगाना चाहिए। मन, शरीर और इन्द्रियों पर अंकुश रखें। बुद्धि मन को वश में रखे और बुद्धि आत्मा और गुरु के सत्संग से प्राप्त हुई ज्ञान-प्रसादी से, उनकी आत्मिक ज्योति से, प्रकाशित होवे। इन बातों को सबको अपने मन में याद रखना है।

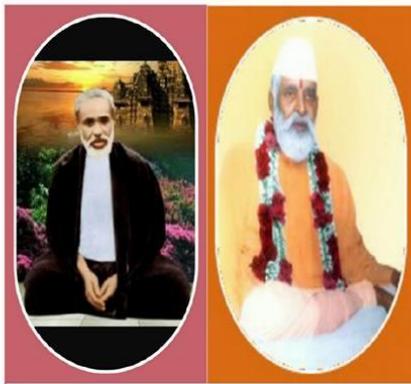
इन बातों को याद रखेंगे तो हमारी प्रगति थोड़े ही दिनों में होने लगेगी। आप स्वयं अनुभव करेंगे। आपके मित्र एवं परिवारी -जन भी खुश होकर अनुभव करेंगे। कि आप में कोई विशेष परिवर्तन आ गया है। आपके स्वभाव में शान्ति होगी, प्रेम होगा, करुणा होगी। यहाँ तक कि जहाँ आप बैठेंगे, आपके पास जो बैठेंगे, उन्हें भी शान्ति का अनुभव होगा।

आप एक सुगन्धित पुष्प की तरह बन जायेंगे। आपसे सुगन्ध का प्रवाह होने लगेगा। आप इसी सुगन्ध का अपनों पर प्रकाश डालकर आयेंगे तो उनको भी प्रेरणा मिलेगी, जिससे वह भी अच्छे रास्ते पर चलेंगे। यह प्रत्येक सत्संगी-साधक का काम है। एक ही व्यक्ति को सेवा नहीं करनी है। आप सबको सुगन्धित पुष्प की तरह बनना है और अपनी सुगन्ध से चारों ओर परमात्मा के नाम को, उसके प्रकाश को, सच्चे आनन्द को, फैलाना है। अपने उद्धारकर्ता सद्गुरु के नाम को उज्ज्वल करना है।

अतः प्रत्येक सत्संगी का व्यवहार सामान्य व्यक्ति से ऊँचा होना चाहिए । आचरण की मज़बूत नींव पर हमारा आध्यात्म का, परमार्थ का, मन्दिर बन पायेगा।

गुरुदेव सबका कल्याण करे ।

000000000



पीर से उलफत हो मुझको और बन्
उनकी मुराद
'राम' के 'श्रीकृष्ण' की अनुपम कृपा
के वास्ते



अभ्यासियों को तीन बातें अवश्य करनी चाहिए :-

- १.) जहाँ तक हो गुरु का सत्संग करें
- २.) आंतरिक अभ्यास -- ध्यान , भजन सुमिरन और मनन करते रहें .
- ३.) अपने मन के ख्यालों पर हमेशा निगाह रखें और बुरे ख्यालों को हटा कर अच्छे ख्याल कायम करते रहें .

निश्चित है कि फ़ायदा होगा . मालिक की याद से शाफ़िल न हों और मन में धीरज रखें . सब उल्टी सीधी हालतें आएँगी और चली जाएँगी . आँधी आती है , वर्षा लाती है , शीतलता छोड़ जाती है .

महात्मा डॉ . श्रीकृष्ण लाल जी महाराज

आत्मिक प्रेम निष्काम होता है - मन के प्रेम में बदले की भावना रहती है

(ब्रह्मलीन परमसंत डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

रामाश्रम प्रकाशन ' नवनीत भाग 2 ' में सम्मिलित परमपूज्य गुरुदेव डॉ०श्रीकृष्ण लाल जी महाराज के एक प्रवचन में गुरु महाराज ने फ़रमाया है कि, " मन का प्रेम बदला चाहता है और बदलता रहता है/ हम ईश्वर से प्रेम इसलिए करते हैं कि हमारी दुनियाँ की ख्वाहिशें पूरी हों, हमें दुनियाँ में धन, सम्पत्ति, ऐशो-आराम मिलें/ यह मन का प्रेम है/ आत्मा का प्रेम बदला नहीं चाहता/ जाँनिसारी (बलिदान, जान से न्यौछावर हो जाना) यानी सब कुछ दे देना चाहता है, लेकिन लेना कुछ नहीं चाहता/ आत्मा का प्रेम प्राकृतिक है जो अँश को अंशी से होता है/ आत्मा परमात्मा की अँश है और इस नाते वह अपने अंशी से स्वाभाविक प्रेम करती है/ मन के प्रेम की एक पहचान यह भी है कि वह जिससे प्रेम करता है, उससे वैसा ही प्रेम चाहता है/ उससे किसी दूसरे को प्रेम करता नहीं देख सकता/"

हम सब लोग भले ही ऊँची-ऊँची बातें करें परन्तु हम सब मन के स्थान पर हैं। हमारी छिपी हुई इच्छा है कि हमें किसी प्रकार का दुःख न हो, किसी प्रकार का अभाव न हो। कोई हमारी आशाओं के विरुद्ध न जाये। हम चाहते हैं कि हमारा पारिवारिक जीवन सुखमय हो, आनंदमय हो। सामजिक जीवन में हमारा कोई विरोध न करे। हमारा साम्राज्य हो। गुरुदेव ने फ़रमाया है कि हम लोग जब ईश्वर के चरणों में जाते हैं तो यही भिक्षा माँगते हैं कि हमें फ़लाँ प्रकार का सुख चाहिए - मेरी संतान को कोई दुःख न लगे, मेरी लड़की की शादी जल्दी हो जाए या मेरा शारीरिक रोग मिट जाये। हम गुरु के चरणों में जब भी जाते हैं इन्हीं बातों के लिए, बहुधा साँसारिक पदार्थों के लिए, प्रार्थना करते रहते हैं।

गुरुदेव ने फ़रमाया कि ऐसा व्यक्ति मन के स्थान पर है, उसकी मोक्ष नहीं हो सकती। उसको आत्मिक प्रेम नहीं मिल सकता। जब उसकी इच्छा की, उसकी आशा की, पूर्ति नहीं होती तो वह निराश हो जाता है, क्रोधित हो जाता है। हम कभी -कभी अपनी बुद्धि का सन्तुलन भी खो बैठते हैं। यह सच्चा प्रेम नहीं है, ईश्वर की सच्ची आराधना नहीं है। यह ईश्वर

का सच्चा ध्यान नहीं है। सच्चा प्रेम, ईश्वर का प्रेम, आत्मा का प्रेम, आदि को हम ज्ञान कहते हैं। वह शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता, यद्यपि महापुरुषों ने उसे समझाने का प्रयास किया है।

जिसको आत्मिक प्रेम होता है उसकी स्वाभाविक प्रकृति अपने आपको पूर्णतः न्यौछावर करने की होती है, पूर्णतः खत्म करने की होती है। वास्तव में सच्चा प्रेम तभी प्राप्त होता है जब व्यक्ति अपना सब कुछ ईश्वर को भेंट कर देता है।

जब लग में था गुरु नहीं, अब गुरु है मैं नाहिं

प्रेम गली अति सांकरी, या मैं दो न समाहिं।

जहाँ दो हैं, द्वैत है, वहाँ भक्ति तो हो सकती है किन्तु प्रेम नहीं हो सकता। प्रेम परमात्मा का दूसरा नाम है, एकता का नाम है, शुद्ध अद्वैत का नाम है। कोई शब्द रहते ही नहीं। कोई व्यक्ति जो जो उस रास्ते पर चल रहा है या पहुँचने वाला है वह तो कुछ-कुछ कह सकता है कि प्रेम कैसा होता है। परन्तु जिसने प्रेम में स्थिति प्राप्त कर ली है, जो ईश्वरमय हो गया है, जिसने आत्मानुभूति प्राप्त कर ली है, जो एक हो गया है, कहते हैं कि उसकी ज़बान बन्द हो जाती है। उसका भाव यह है कि वहाँ शब्द रहते ही नहीं। जहाँ शब्द हैं, वहाँ मन है। इस जगह आकर किसी प्रकार की माँग नहीं रहती। माँग तो दूर, कोई विचार ही नहीं रहता। किसी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं है। कोई राग-द्वेष नहीं है, छोटा-बड़ा नहीं है।

सूफ़ियों में कहते हैं कि, " अगर गुरु समझता है कि वह अपने शिष्यों से, अपने सेवकों से बड़ा है तो उसकी गर्दन काट देना चाहिए। यदि उसके शिष्य यह समझते हैं कि वे छोटे हैं, तो उनका सर कलम कर देना चाहिए।" जो ऐसा कहते हैं, वे दोनों ही अहंकारी हैं। वे खुदी में फँसे हुए हैं। सच्चे प्रेम में किसी प्रकार का विभाजन नहीं, द्वैत नहीं, इसलिए द्वेष नहीं है। वो प्रेम वास्तविक आत्मिक प्रेम है जिसमें इतना आनन्द है कि हम उसके लिए मारे-मारे फिरते हैं। परन्तु दुर्भाग्यवश हम माँग लेते हैं कि हमारे फल काम सिद्ध हो जाये। इस तरह तो यह मन की बात हो गयी।

परन्तु यहाँ प्रश्न उठता है कि सारा सँसार क्या प्रेम की उस स्थिति को प्राप्त कर सकता है ? नहीं। गिनती के लोग ही प्रेम के आयाम में प्रवेश करते हैं। बाकी जनसाधारण के लिए तो यही है कि उन्हें तो सर्वप्रथम धर्म तथा शास्त्र को अपनाना चाहिए। तमोगुणों का त्याग करके रजोगुणों का अभ्यास करना चाहिए। उसके बाद रजोगुण भी छोड़कर सतगुणों को ग्रहण करना चाहिए। आगे चलकर इन तीन गुणों से भी अतीत अर्थात् गुणातीत हो जाना है। एकदम जो छलांग लगाएगा, वह गिरेगा। धीरे-धीरे चलना चाहिए।

इसलिए हमारे देश में एवं अन्य देशों में भी भक्ति को अधिक महत्व दिया गया है। भक्ति में एक ही धर्म के इष्ट प्रत्येक स्थान पर, प्रत्येक समाज के पृथक-पृथक होते हैं। जैसी-जैसी अस्थायें होती हैं, वैसे नियम बन जाते हैं और सँसार में वही व्यक्ति सुखी रहता है जो इन नियमों का पालन करता है। जैसे बहुत मामूली सी बात है कि सत्य बोलना चाहिए, झूठ नहीं बोलना चाहिए। परन्तु प्रेम में अपेक्षा रहती ही नहीं। वहाँ सत्य भी नहीं और झूठ भी नहीं। जब तक हम सत्य के उस आयाम में नहीं पहुँचते हैं, हमें सत्य को अपनाना होगा एवं द्वैत को त्यागने का प्रयास करना होगा। ये दोनों प्रयास जो हैं मन के हैं।

आत्मा किसी प्रकार का प्रयास नहीं करती। यदि प्रयास रहता है, तो जिज्ञासु अभी इस स्थान पर पहुँचा ही नहीं है। जन साधारण को चाहिए कि वह धर्म के अनुसार जीवन जीने का भरसक प्रयास करे। धर्म का आसरा छोड़कर यदि वह अपने आप को यह समझ बैठे कि मैं प्रेम रूप हूँ, मैं प्रेम हूँ - तो वह किसी भी समय धोखा खा सकता है। बड़े-बड़े धोखा खा जाते हैं।

परमहंस स्वामी रामकृष्ण को ज्ञान की साधना तो संत तोतापुरी जी ने सिखाई थी। रामकृष्ण जी के शिवनेत्र खोले थे - इस स्थान को जख्मी करके। परन्तु वह बड़े ही सरल स्वभाव के थे। अपना काम बना लिया। एक दिन बैठे थे तो तोतापुरी महाराज के पेट में बड़ी पीड़ा हो रही थी। पेचिश लग रही थी। घबरा उठे और कहने लगे कि अभी गंगा में जाकर आत्म हत्या कर लूँ। इस पर परमहंस मुस्कराये। उस मुस्कराहट में अर्थ था - यह कहना आसान है कि मैं शरीर नहीं हूँ, प्राण नहीं हूँ, आनन्द नहीं हूँ। परन्तु जब कोई शारीरिक या मानसिक कष्ट आता है तब हमारी परीक्षा होती है कि हम कौन से स्थान पर हैं?।

तोतापुरी जी उच्चकोटि के ज्ञानी संत थे, समझ गए यह परमहंस जी की लीला है। वह बोले कि, " मेरी भूल है, मन्ज़िल अभी दूर है। शरीर का बन्धन छोड़ना अनिवार्य है। परन्तु इसमें समय लगता है। परमात्मा किसी की परीक्षा न लें।" स्वामी रामकृष्ण जी को भी गले का कैंसर था। भयंकर पीड़ा थी। कैंसर का रोगी ही जानता है कि कितनी पीड़ा तथा जलन होती है। महर्षि रमण का भी बाजू का घाव बाद में कैंसर बन गया। उन्होंने बड़ी सख्ती के साथ अपना आपरेशन करवाया। पीड़ा और शरीर का भान उन्हें नहीं हुआ, परन्तु फिर भी ख्याल तो उन्हें बना ही रहा होगा। याद तो सबके साथ बनी रहती है।

स्वामी रामकृष्ण के सेवक उनसे अनुरोध करते थे कि आप अपना दुःख क्यों नहीं बाट देते। क्यों नहीं माँ से कहते कि मुझे इस दुःख से निवृत्ति दें ? परन्तु स्वामीजी हस कर कहते थे कि यह सब माँ की ही तो लीला है। वे ज्ञानी भक्त थे। ज्ञान की भी सिद्धि की थी और भक्ति में भी भगवत रूप हो गए थे। वे ईश्वर की लीला में संतुष्ट रहते थे।

जेहि विधि राखे राम, तेहि विधि रहिये।

यह ऊँचे संत की पहिचान है। दुःख भी दो ताकि मैं भी आपकी याद करता रहूँ और यदि सुख भी देते हो तो भी मैं आपको भूलूँगा नहीं। भक्त क्या चाहता है ? " राज न चाहूँ, मोक्ष न चाहूँ " सच्चा सेवक न राज माँगता है, न बैभव माँगता है और न मोक्ष माँगता है। तो उसकी इच्छा है क्या ? वह तो प्रभु के चरण कमलों की प्रीत की भिक्षा माँगता है। प्रश्न है कि साधारण व्यक्ति क्या करे ? मेरा अपना विश्वास है कि साधारण व्यक्ति को यदि ईश्वर से अपने साधारण दुखों की निवृत्ति के लिए प्रार्थना करनी पड़े तो कोई बात नहीं। पूज्य गुरुदेव कहा करते थे कि ऐसा करना भी चाहिए।

यह दीनता है। यदि साधक माँगता नहीं तो वह अहंकारी है। परन्तु ऊँचे अभ्यासी के लिए किसी प्रकार की माँग करना आवश्यक नहीं है। उनका स्वभाव ही ऐसा हो जाता है। साधना करते हैं कि सब कुछ ईश्वर का ही तो है। वह यही चाहते हैं कि यदि हमारे शरीर से किसी को दुःख पहुँचता है तो परमात्मा बेशक वह शरीर ले ले। हमारे मन से यदि किसी को दुःख होता है, तो हमारा मन ले ले। हमारे पास जो सम्पत्ति है यदि उससे किसी को कोई हानि पहुँचती है तो बेशक उस सम्पत्ति को हमसे छीन ले। उनकी तो, ऐसी प्रेमी की प्रवृत्ति बन जाती है,

स्वभाव बन जाता है, जैसे कि प्रभु का विरद है अर्थात् सबका पालन-पोषण करना, अगरबत्ती की तरह स्वयं जलना तथा दूसरे को सुख पहुँचाना। ये लोग प्रयास से ऐसा नहीं करते। उनकी यह सहज, स्वाभाविक अवस्था हो जाती है।

तो जैसे-जैसे व्यक्ति साधना करके प्रगति करता जाता है उसकी प्रार्थना में भी परिवर्तन आता जाता है। अन्त में वह एक ही प्रार्थना करता है - " या रब तेरी रज़ा रहे और तू ही तू रहे/" प्रभु तेरी इच्छा में ही मैं संतुष्ट रहूँ और मेरी में, मेरापन मिट जाये/ तू ही तू रहे/"

हम में भिन्न-भिन्न श्रेणियों के साधक हैं, जिज्ञासु हैं। सबके लिए एक सी बात नहीं कही जा सकती। बच्चे हैं, नादान हैं, स्कूल में पढ़ते हैं। बहिन हैं उनको परमार्थ का तो छोड़िये, संसार तक का भी पता नहीं है, बहुत सरलता होती है उनमें। यदि वे अपने दुखों की निवृत्ति के लिए झोली फैलाते हैं तो कोई बुरी बात नहीं। यदि सच्चे हृदय से हम ईश्वर के चरणों में निवेदन करें तो वे हमारी प्रार्थना को स्वीकार करते हैं।

परन्तु जो साधक परिपक्व प्रेमी होता है वह आगे बढ़ जाता है, स्नातक (ग्रेजुएट) हो जाता है। वो तो उसके प्रेम को - यहाँ तक कि प्रियतम को ही माँगता है। और आगे चलकर वह माँगता भी नहीं, वह तो अपने प्रियतम से तदरूप ही हो जाता है। वहाँ दो हों, तो माँग करो। पूज्य गुरु महाराज भक्ति के स्वरूप थे। परन्तु वो भक्ति को शिखर पर ले जाते हैं। भक्ति को और ज्ञान को सम्मिलित करके प्रेम के आयाम में पहुँच जाते हैं। भक्ति में तो द्वैत रहता ही है, चाहे साधक अद्वैत का अभ्यास करते हों। कबीर साहब इसको स्पष्ट करते हैं :-

" एक कहूँ तो है नहीं, दो कहूँ तो झूठ "

जब हम कहते हैं कि ईश्वर एक है तो दूसरेपन का विचार मन में है, तभी तो एक कहते हैं। ईश्वर के प्रति पुजारी भला क्या बोलेगा? यदि वह एक कहता है तो दूसरेपन का विचार उसके मन में है, तो अभी उसकी मन्ज़िल दूर है। जीवन के लक्ष्य से दूर है। यदि कह दे कि ईश्वर दो रूप में है तो यह भी उस शक्ति के लिए झूठ है। ' तीन कहूँ तो गारि (गाली) ' यानि तीन कह दूँ या तीन देवता मानूँ जो सब कुछ है तो भी बहुत ग़लत होगा।

' जो जैसा वैसा रहे, कहत कबीर विचार '

प्रभु को तो कुछ कहा नहीं जा सकता है कि एक है या दो या तीन। नेति -नेति करते एक क्षण वह आता है जब नेति -नेति करने वाला स्वयं नेस्त हो जाता है, खत्म हो जाता है। इतिहास में देखेंगे कि जिन महापुरुषों को छोटी आयु में सच्चे ज्ञान की प्राप्ति हुई उनका शरीर टूट गया। शरीर में इतनी शक्ति रह ही नहीं सकती। उसी शरीर में यह शक्ति रह सकती है जो इसकी साधना करता है, परन्तु धीरे-धीरे बढ़ता है।

‘ सहज पके सो मीठा होय ’

यह सिद्धांत कितना अच्छा और सत्य है। आपकी शक्ति दो प्याले पीने की है और कहा जाये कि यह बहुत ही अच्छा है, दस प्याले पी लो तो क्या होगा ? हज़म ही नहीं होगा।

इसी प्रकार आत्मा महान है तो पूर्ण आत्मिकता को हज़म करने के लिए बड़ी शक्ति चाहिए। वह शक्ति आती है साधना से, धीरे-धीरे। आप देख लीजिये जितने महापुरुष हुए हैं, छोटी आयु में चले गए। स्वामी विवेकानंद जी, ज्ञानदेव जी, स्वामी रामतीर्थ आदि। एक और संत मद्रास में हुए। उन्होंने एक पुस्तक लिखी है जो इतनी महान है कि उच्च कोटि के वेदांती भी आश्चर्य करते हैं। वह बाईस वर्ष की आयु में चले गए।

प्रेम की बातें सुनकर मन बड़ा रोमांचित होता है, बड़ा अच्छा लगता है। वह हमारा लक्ष्य भी तो है, परन्तु धीरे-धीरे। गुरुदेव फरमा रहे हैं कि जब हम कुछ माँगते हैं तब हम मन के स्थान पर हैं - चाहे वह कितनी ही अच्छी माँग क्यों न हो। सच्चे साधक को किसी प्रकार की आशा नहीं रहती। उसकी प्रकृति या परमात्मा का विरद, ये सब एक ही हो जाते हैं। साधक का स्वभाव यह हो जाता है कि उसका सब कुछ न्यौछावर है। वह अपने लिए कुछ नहीं माँगता। वह माँगेगा क्या ? वह तो ईश्वर रूप हो गया, ईश्वर बन गया। माँगता वह है जिसके हृदय में कुछ विचार उठता हो, वहाँ तो कोई तरंग है ही नहीं। आत्मा में कोई तरंग है ही नहीं।

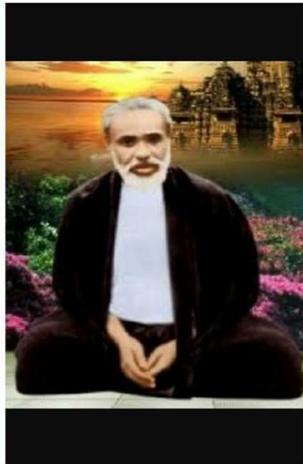
अपने भगवान शिव की मूर्ति देखी है। मूर्ति देखकर ही समाधी लग जाती है। भगवान बुद्ध भी शिव भगवान की तरह बिलकुल शांत हैं। उनकी शांत मुद्रा देखकर हमारे मन में भी शांति उत्पन्न हो जाती है। ऐसी स्थिति प्रेमी की हो जाती है। वहाँ एक बात और है कि प्रेम किसी भाव से व्यक्त नहीं होता। साधारण आदमी को पता नहीं लग सकता कि यह आदमी

कौन है। यह प्रेमी कौन है। उसकी एक ही पहचान है कि उसके पास मौन में बैठने से हमें भी प्रेम की अनुभूति होने लगती है। हमारा मन भी स्थिर होने लगता है। हमारे मन में जो विकार हैं, खत्म होने लगते हैं। हमारे भीतर में भी यह चाह उठती है कि शांति से बैठ जायें, बैठे रहें।

मैं पूज्य गुरुदेव के साथ कसौली में एक संत से मिलने गया। वह बड़े फ़कीराना ढंग से रहते थे। हम जब वहां पहुँचे तो उन्होंने एक चटाई सी बिछा दी। गुरु महाराज भी वहाँ बैठ गए। वह बंगाली साधू कुछ बोले ही नहीं। पूज्य गुरुदेव ने भी कोई प्रश्न नहीं किया। एक घंटे तक इसी अवस्था में बैठे रहे। तब साधू महाराज ने आशीर्वाद दिया और हम चले आये। पूज्य गुरुदेव ने मुझसे पूछा, "कहो कैसा लगा?" मैंने निवेदन किया कि "एक अजीब सा नशा जिसमें अद्भुत आनंद था वही प्राप्त होता रहा।" गुरुदेव ने फ़रमाया, "यही सच्चे संतों की हाज़िरी का तोहफ़ा है, बिना माँगे मिलता है।"

पूज्य गुरुदेव हमें शक्ति दें।

000000000000000000



कुछ रीति रिवाज़ों को पूरा कर लेना लोगों ने धर्म या मज़हब समझ रखा है . मैं ऐसे धर्म को , चाहे वह किसी भी पंथ का हो , धर्म या मज़हब नहीं मानता .मज़हब वास्तव में विशाल हृदयता , फरागदीली , अच्छी आदतें (नेक सीरती)सदाचार , सहानभूति , एकविचार , आत्मानुभव और प्राणिमात्र के साथ प्रेम और एकता का व्यवहार करना सिखाता है न की रिवाज़ों के बारे में बाल की खाल निकालना और अपने आप को फ़कीर कहना और कहलवाना

.....
अदिगुरु परमसंत महात्मा रामचंद्र जी महाराज , फतेहगढ़ी

आनंद का भण्डार हमारे अंतर में है -

उसे पाने के लिए आवरण हटाने होंगे

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ०करतारसिंह जी महाराज)

गुरु महाराज परमसन्त डॉ०श्रीकृष्ण लाल जी महाराज ने पुराने भाइयों के लिए कुछ आवश्यक बातें बतलाई हैं, जिनको अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। बहुत से भाई-बहिन यह कहते हैं कि हमने नाम तो ले लिया परन्तु हमारे स्वभाव में कोई परिवर्तन नहीं आया। हमारी इच्छाओं की पूर्ति नहीं होती। हमें कोई आनन्द नहीं मिलता। अधिकाँश भाई-बहिन यह चाहते हैं किउनका मन जो इच्छाएँ उठाता चला जाए, उनकी पूर्ति होती रहे। यह उन भाई-बहिनों की गलती है। यहाँ आकर तो यज्ञ में आहुति देनी पड़ती है। आनन्द तो है, आपके भीतर में है उसका भण्डार है। प्रथम बात जो गुरु महाराज ने बताई है वह यह है कि आप आत्मा हैं। आप वही हैं जो परमात्मा है। उसी आत्मा के आप अंश हैं और आनन्द के भण्डार हैं। हमेशा-हमेशा के सुख का जीवन और सर्वोत्तम ज्ञान - जो आत्मा का ज्ञान है - वो सब आपके भीतर है। भीतर में तो है, परन्तु वह हमें प्राप्त कब होगा? सत्संग में आये अब काफी समय हो गया। हमें सावधान होना चाहिए। मृत्यु का पता नहीं, किस वक्त हमारे पास आजाये। यह शरीर छोड़ने से पहले हमें इस शरीर का मोह त्यागना है। शरीर पाँच प्रकार के हैं जो हमारे सच्चे स्वरूप परमात्मा को ढके हुए हैं, जो आत्मा और परमात्मा में योग नहीं होने देते, जो हमें सच्चा आनन्द प्राप्त नहीं होने देते। सब कुछ हमारे भीतर होने पर भी इन पर्दों के कारण हम उनका अनुभव नहीं कर पाते।

इन्हें छिपाये रखने वाले पाँच परदे हैं, जिनसे हमें मुक्ति पानी है। पहला आवरण शरीर का है। एक महापुरुष ने कहा है - दो शब्दों में जीवन की यात्रा है "मैं और मेरापन"। इस "मैं" को त्यागना है जो यही बताता रहता है कि "मैं शरीर हूँ"। हम शरीर नहीं अपितु आत्मा हैं। इस शरीर के साथ हमारा जो मोह है उसे हमें त्यागना है। यही वैराग्य है। मन शरीर के साथ बंधा हुआ है। जब तक विवेक और वैराग्य जाग्रत नहीं होते, इस शरीर के साथ सम्बन्ध तोड़ना असम्भव है। यह कहना कि यह तो ज्ञान योग की बात है, गलत है। भक्त को भी अपने इष्ट की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए सब कुछ न्योछावर करना पड़ता है। और सबसे पहले भक्त

जो न्योछावर करता है वो भी तो उसी का रूप है। भक्त भी शरीर को यह मानकर चलता है कि ये इष्ट का है, अपना नहीं। ज्ञानी कहता है - मैं शरीर नहीं हूँ, और उधर भक्त शरीर को अर्पण कर देता है। दोनों में विशेष अन्तर नहीं है। हमारे गुरु महाराज भक्ति, ज्ञान और कर्म - इन तीनों को इकठ्ठा लेकर चलते थे। तर्क-वितर्क नहीं करते थे, इन तीनों योगों के बारे में। साधना के ये तीनों मुख्य रास्ते हैं। अन्य भी हैं पर ये तीनों मुख्य हैं। पूज्य गुरु महाराज ने इन तीनों को लिया है। इसलिए यह हठ नहीं करना चाहिए कि मैं भक्त हूँ या मैं ज्ञानी हूँ या मैं कर्मयोगी हूँ। हम सब तो गृहस्थ में रहते हैं, अतएव हमें इन तीनों साधनों को अपनाना है। यही तीनों योग भगवान कृष्ण ने अर्जुन को समझाए हैं। गुरु महाराज ने , या आपके इष्टदेव जो भी रास्ता आपको बताया है, उसको पकड़िए, उस पर चलिए।

हमारा यह शरीर ही हमारे अपने स्वरूप को देखने में पहली बाधा है। अपनी बुद्धि (विवेक) से हमें यह समझना चाहिए कि यह शरीर तो नश्वर है, थोड़े समय के लिए रहेगा, फिर अग्नि में जला दिया जायेगा। परन्तु आत्मा, जो हमारा वास्तविक स्वरूप है, उसको जलाया नहीं जा सकता। अपने स्वरूप को पहचानने के लिए इस पहली बाधा - शरीर, से मुक्ति प्राप्त करनी होगी, जिसके लिए हमें मोह का त्याग करना आवश्यक है। हमारा इस शरीर के साथ जो मोह है वो तो हमें त्यागना ही पड़ेगा। सारा सन्सार इसी में फंसा हुआ है। ज्ञान या भक्ति की बातें कहने में बड़ी सरल लगती हैं, परन्तु उनको व्यवहार में लाने में बड़ी कठिनाई आती है। कौन कहेगा कि मैं अपने शरीर के साथ मोह छोड़ दूँ - इसको नहलाऊँ - धुलाऊँ नहीं, इसको कपड़े नहीं पहनाऊँ, इसका श्रृंगार नहीं करूँ ? कौन मानेगा हमारी बातें ? परन्तु जब तक हमारे शरीर के साथ हमारी आसक्ति है, मोह है और जब तक इस मोह को हम छोड़ेंगे नहीं, हम भीतर की यात्रा नहीं कर पाएँगे। हमारे अपने शरीर के साथ, सन्सार के अन्य शरीरों के साथ, हमारे सम्बन्ध हैं, जिनमें मनुष्य जकड़ा हुआ है।

कुछ लोग कहते हैं कि दस-बीस साल में हमें मुक्ति मिल जाये। मिल सकती है - क्षण भर में मिल सकती है। परन्तु जब हम मोह और आसक्ति रूपी अज्ञान को त्यागें तभी आगे का रास्ता खुलेगा। अभी तो हम इसी में फंसे हुए हैं, चौबीसों घंटे इसी को सवारते रहते हैं। इससे छूटने का उपाय यही है कि जो साधना आपको आपके गुरु ने बताई है वो साधना करो। आपको गुरु ने रास्ता बताया है कि अपने भीतर में जाओ, अपने आप को पहचानो। अभी तक हमारे

आस-पास एक भी व्यक्ति नहीं है जिसका अपने शरीर के साथ सम्बन्ध टूटा हो। सब मन और शरीर के बन्धन में ही फंसे हुए हैं। हाँ, मोह का त्यागना बहुत कठिन होता है। हमारा अपने शरीर के साथ सर्वाधिक मोह रहता है। ' मेरा शरीर' और मेरे शरीर के साथ मेरी धन-दौलत, ज़मीन-ज़ायदाद, संतान-रिश्तेदार, आदि। इन सबका त्याग करना है - विवेक के द्वारा, ज्ञान के द्वारा।

आप सत्संग में आये हैं, दीक्षा ली है तो इन सब बातों को समझना चाहिए, मनन करना चाहिए और अपने आप को पहचानने का गम्भीर प्रयास करना चाहिए। तो पहला कदम तो इस शरीर के साथ मोह छोड़ने का है। इसका उपाय यह है कि आप जो भी, जितने भी कर्म करें, ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए कीजिये। सभी को ईश्वर का रूप समझकर उनकी सेवा करो परन्तु फंसो नहीं। हमको कर्म करना है और कर्म करके कर्म और उसके कर्मफल दोनों ही को ईश्वर के चरणों में, अपने इष्टदेव (गुरु) के चरणों में अर्पण करना है।

पहला पड़ाव तो शरीर के साथ मोह त्यागना हुआ। इसके बाद दूसरा परदा (आवरण) है प्राणों का। तीसरा है मन का। यह और भी कठिन है। चौथा बुद्धि का है और यह उससे भी कहीं ज़्यादा कठिन है। यहाँ हम मन और बुद्धि दोनों की बाधाएँ इकट्ठी ले लेते हैं। अधिकांश हम लोग तर्क-वितर्क करते रहते हैं। हम देखते हैं, सुनते हैं, शरीर को कुछ महसूस होता है, तो हमारा मन उसकी प्रतिक्रिया करता है। हमने आम खाया, बड़ा मीठा है। दूसरे ने खाया, बड़ा खट्टा है। किसी व्यक्ति को देखा तो उसी वक़्त प्रतिक्रिया करते हैं - यह बड़ा सुन्दर है, यह बड़ा स्वार्थी है, आदि। हम प्रति क्षण प्रतिक्रिया करते रहते हैं। हालाँकि हम सारा दिन विचार उठाते रहते हैं, किन्तु हम कोई गम्भीर चिंतन-मनन नहीं करते। हमारा प्रत्येक विचार प्रतिक्रिया का रूप होता है। जब तक प्रतिक्रिया होती रहेगी, हमारा मन कैसे स्थिर होगा ?

भगवान ने अर्जुन को बुद्धि की सम-अवस्था ही तो समझाई है। साधना में पहला चरण - बुद्धि की सम-अवस्था - जब तक नहीं आएगी, भीतर में आनन्द नहीं आ सकता, दुःख-सुख, भला-बुरा, मान-अपमान या लाभ-हानि, आदि, ये जो द्वन्द हैं, उनसे मुक्त होना होगा। इन द्वंदों के रहते हुए भी सम-अवस्था आनी चाहिए। आगे चलकर भगवान कहते हैं कि इस समबुद्धि को अपनी आत्मा में लय कर द। गीता के दूसरे अध्याय में शुरू के 40-50 श्लोकों

तक यही बुद्धि को सम अवस्था में लाने का उपदेश दिया गया है। फिर स्थितिप्रज्ञ अवस्था के लिए आगे के 20 श्लोक हैं। साधारणतः मन भीतर में नहीं जाएगा। मन आत्मा के भीतर में प्रवेश नहीं करेगा, बुद्धि प्रवेश नहीं करेगी, जब तक कि ये सम अवस्था में नहीं आजायेंगे। चंचल मन, चंचल बुद्धि आत्मा के भीतर में प्रवेश कर ही नहीं कर सकते । हैं

यही कारण है कि हम सब का मन दुखी रहता है। हमें सुख नहीं मिलता, भीतर की शांति नहीं मिलती, क्योंकि हमारे मन और बुद्धि में स्थिरता नहीं है, समता नहीं है। जब तक वो सम अवस्था में आकर आत्मा में विलय नहीं होंगी, तब तक सच्चा आनन्द कैसे प्राप्त होगा। गीता में यही सार-तत्व समझाया गया है कि पहले मन कि चंचलता को खत्म करो, बुद्धि की चंचलता को खत्म करो, इन्हें सम -अवस्था में ले आओ। दुःख-सुख जो कुछ भी आयें , उसमें सम रहो। महात्मा बुद्ध ने भी ऐसा ही साधन लिया। उन्होंने अगला यह साधन नहीं लिया कि सम बुद्धि को आत्मा में लय कर दो। भगवान कृष्ण ने दोनों साधन बताये हैं। भगवान कृष्ण का उपदेश हमारी ज़्यादा सहायता कर सकता है। यह ज़्यादा व्यापक, उपयोगी और हमारे लिए अनुकरणीय है।

मन और बुद्धि का आवरण हटाने के लिए सबसे पहले प्रतिक्रिया न करने की आदत डालो। आदत डालो, प्रायः मौन रहने की। मौन का मतलब यही है कि हम प्रतिक्रिया न करें। सत्संग में बैठ कर भी हमारी चंचलता खत्म नहीं होती है तो सत्संग के बाहर क्या होगी? हम किसी बक्त भी तो चुप करके नहीं बैठते। किसी की बुराई कर रहे हैं, किसी की स्तुति कर रहे हैं। कोई हमें अच्छा लग रहा है, कोई बुरा लगता है। यानी हमारा मन शान्त नहीं बैठता। मन शांत नहीं होगा तो बुद्धि कहाँ से शान्त होगी ?

गुरु महाराज ने यही कहा है कि पहले मन में, बुद्धि में समता लाओ और उस सम - बुद्धि को आत्मा में लय कर दो, ईश्वर के चरणों में लय कर दो। फिर आपको सच्चा सुख, सच्ची शान्ति , सच्चा आनन्द प्राप्त होंग, उससे पहले कुछ प्राप्त नहीं होगा। इसी को गुरु की चरण-शरण में आना या अपना रूप पहचानना भी कहते हैं। हमें करना यही है। कितनी विचित्र बात है कि हमारे भीतर में आत्मा है, परमात्मा है, किन्तु हम परमात्मा होते हुए भी अवगुण करते हैं। अपने स्वरूप को हम ऐसे भूल गए हैं कि मानो हम उसे जानते ही नहीं। उस स्वरूप

का जो व्यवहार होना चाहिए, वह व्यवहार हमारा है ही नहीं। कैसी बेतुकी सी बात है कि हम स्वयं परमात्मा हैं पर फिर भी दुखी हैं - जबकि हम आनन्द के भण्डार, शान्ति और सुख के भण्डार हैं। यही दशा अज्ञान कहलाती है। इसी अज्ञान को दूर करने के लिए ही तो साधन किया जाता है - भक्ति का साधन हो या कर्मयोग अथवा ज्ञान का साधन या कोई अन्य साधन भी हो सकता है।

सरल साधन यही है कि यदि कोई ऐसा महापुरुष मिल जाय जिसने आत्मा का साक्षात्कार कर लिया हो, तो उसकी शरण ले लें और उसके बताये हुए रास्ते पर चलें। धीरे-धीरे उस मार्ग-दर्शक की सहायता से हमें अपने भीतर के ढके हुए अनमोल खजाने को पाने का मार्ग-दर्शन मिल जाएगा और हम उसको पहचान लेंगे। इसीलिए ऐसे समर्थ सत्पुरुष चेतावनी दिया करते हैं कि शरीर छोड़ने से पहले अपने जीवन के लक्ष्य को पहचान लेना चाहिए ताकि मरते वक्त, शरीर छोड़ते वक्त यह पछतावा न हो कि - हाय ! मैंने सारा जीवन व्यर्थ खोया। संतों की वाणी में कहा जाता है कि ' मरने से पहले मरना ' चाहिए अर्थात् जितने आवरण हैं, रास्ते की जितनी रुकावटें हैं, इनसे हमें मुक्त हो जाना चाहिए। गुरु महाराज ने इन बाधाओं या पाँच प्रकार के शरीरों के आवरणों को हटाने का जो उपदेश दिया है, उनमें पाँचवा आवरण अति सूक्ष्म कारण रूप चित्त का है जो ऊंची हालत के साधकों को भी डाँवाडोल कर देता है।

हमारे चित्त पर भी जन्म-जन्मांतर के संस्कार पड़े हुए हैं, सूक्ष्म रूप से अंकित हैं। चित्रगुप्त महाराज ने हिसाब-किताब लिखा हुआ है और उसकी एक कंप्यूटर-कॉपी हमारे चित्त पर अंकित की हुई है। इन संस्कारों से मुक्त होना आसान बात नहीं है, यह अत्यन्त दुष्कर कार्य है। यह भी हो सकता है कि किसी के पिछले जन्म के शुभ संस्कार हों। जब वो इस सन्सार में आते हैं तो बचपन से ही ईश्वर से नाता जोड़ लेते हैं, जैसे ध्रुव ने, भक्त प्रह्लाद ने या शुकदेव जी ने बचपन में ही ईश्वर के साथ एकता स्थापित कर ली थी। परन्तु हम तो ऐसे नहीं हैं। कर्मफल तो सबको भोगना पड़ेगा, तथापि उन संस्कारों को जल्दी से निबटा कर उनसे मुक्त होना ही होगा।

इन संस्कारों के प्रभाव से, प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि मेरे में क्या कमी है, मेरी क्या वृत्तियाँ हैं। हम देखेंगे कि हमारी जितनी भी इन्द्रियाँ हैं, हम उन सब इन्द्रियों के गुलाम हैं।

खाने-पीने, कपडे पहिनने, बातें करने, आदि का हमें शौक है, सिनेमा आदि अच्छी-बुरी बातें देखने की हमारी इच्छा रहती है। कौन सी इच्छा है जिससे हम मुक्त हो पाए हैं? परन्तु हम अपनी इच्छा-शक्ति या आत्मबल से कम-से-कम इतना तो प्रयत्न करते रहें कि नए संस्कार न बनने दें।

मनुष्य के प्रबल संस्कार जो प्रारब्ध बन चुके हैं उनको तो भोगना ही होगा। तो भी गुरु की कृपा से इन्हें बड़ी सहजता से कटवा दिया जाता है, अन्यथा उन्हें भोगते हुए तो न जाने कितने जन्म और बीत जायेंगे। इस प्रकार जब हमारे चित्त से संस्कारों का पर्दा हट जाता है और नए संस्कार नहीं बनते तो साधक के मार्ग में कारण-रूप में अहंकार सामने आ जाता है। बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों और रावण जैसे महापंडित और सिद्ध ज्ञानियों को अपनी साधना पर अभिमान होने लगता है - आजकल के गुरु महानुभावों का तो कहना ही क्या? इसीलिए गुरु महाराज कहा करते थे कि कोई सच्चा गुरु मिल जाय तो इस अहंकार को भी उनकी चरण-शरण में जाकर, उन्हीं की सहायता और कृपा से हटा लेना चाहिए।

गुरुदेव यह भी बताते थे कि दस जन्म साधना करने और उसके बाद चार-पाँच जन्म और लग जाते हैं मोक्ष प्राप्त करने में। तब भी व्यक्ति को गम्भीर होना चाहिए। जैसे माता-पिता अपने बच्चे को गोद में लेकर प्रसन्न होते हैं, इसी तरह परमात्मा भी हमारा सच्चा पिता है। तभी तो हम प्रार्थना में कहते हैं ' त्वमेव माता, च पिता त्वमेव ' । ईसाई धर्म में तो परमात्मा को father (पिता) कहा है " My Father is in heaven " (मेरा पिता स्वर्ग में है) उन्होंने पिता कहा है, परमात्मा नहीं कहा। बहुत से संतों ने परमात्मा को पिता कहा है।

अन्य अनेक सन्त महापुरुष कहते हैं "तत्त्वमसि" या "अहं ब्रह्मास्मि" अर्थात् तुम तो वही हो जो परमात्मा है - मैं भी परमात्मा हूँ। तुम परमात्मा के ही रूप हो, यह सन्सार भी परमात्मा का ही रूप है। अन्तर यह है कि परमात्मा विशाल है, आत्मा एक कण मात्र है। परन्तु है उसी का स्वरूप, वही गुण, वही रूप, वही सब कुछ है। इन पाँच आवरणों के बाद आपका असली स्वरूप जो कि आत्मा है, - उसका साक्षात्कार हो सकेगा। आत्मा भी परमात्मा का ही स्वरूप है। उसमें भी वही गुण हैं जो परमात्मा में हैं। हमारे भीतर में जो आवरण हैं, जो पर्दे या

दीवारें खड़ी हुई हैं, जब हम उनको हटा लेंगे तो आत्मा-परमात्मा मिलकर एक हो जायेंगे, कोई अन्तर नहीं रहेगा।

“ मन तू जोत सरूप है , अपना मूल पछाड़ ” यानी तू भी वोही ज्योति स्वरूप है जो परमात्मा है। सच्चिदानंद- स्वरूप के सारे गुण हमारे भीतर में हैं। साधन तुम्हारा यह है कि तुम अपने आपको पहिचानो। तुम समझ रहे हो कि मैं शरीर हूँ, मैं मन या बुद्धि हूँ - ये नहीं है। तुम वास्तव में ज्योत स्वरूप हो, आनन्द स्वरूप हो, सच्चिदानंद परमात्मा स्वरूप हो।

सागर में से बादल बनकर जो पानी ऊपर जाता है वह बारिश बनकर फिर नीचे गिरता है। बारिश की उस एक बूँद में वही गुण हैं जो सागर के हैं। उस बूँद की सहज वृत्ति है कि वह समुन्द्र की ओर बढ़ना चाहती है। इसी तरह हमारे भीतर जो आत्मा है उसका भी कुदरती सहज स्वभाव है कि जहाँ से वह आई है वहीं वापस पहुँचना चाहती है। बूँद और सागर रूपी आत्मा और परमात्मा में अंतर नहीं है। अन्तर मात्रा का है - लघु ओर विराट का है। आत्मा की वृत्ति तो है कि वो परमात्मा की ओर जाना चाहती है - जैसे बूँद सागर की ओर बढ़ती है। बीच में रुकावटें आ जाती हैं, आवरण आ जाते हैं, दोनों की वृत्ति यही है कि अपने विराट रूप में समा जाऊँ।

परमपिता परमात्मा की भी यही बिरद है। ईश्वर भी चाहता है कि समस्त रूँहें मेरे भण्डार में आ जायें, परन्तु हम पापी हैं। तब भी हमारी कमियों ओर दोषों को देखते हुए भी प्रभु हमसे नाराज़ नहीं होते। ईसाईओं में कहते हैं कि परमात्मा का प्रथम गुण जो है वह क्षमा है। परमात्मा पापियों को भी क्षमा करते हैं। परन्तु हमारे यहाँ कर्मफल को भोगने का सिद्धान्त है।

परमात्मा जो हमारा सच्चा पिता है, वो चाहता है कि मेरी सन्तान सदा सुखी रहे। वो अपनी तरफ से भी चाहता है और ऐसी विभूतियों को सन्सार में भेज देता है जिन्हे हम अवतार और देवता कहते हैं, पीर-पैगम्बर और संत -सतगुरु या मुर्शिद कहते हैं, ताकि वे भूले-भटके लोगों को सन्मार्ग पर लाएं और भूली भटकी आत्माएँ परमात्मा के चरणों में पहुँच जाएँ। ऐसे किसी महापुरुष का साथ बड़े सौभाग्यशाली लोगों को मिल पाता है।

सारांश में, साधक को जीवन जीते हुए ही 'मरना' है - सारे आवरणों को हटा कर अपनी आत्मा को परमात्मा में विलय करने का अभ्यास करना है। हमारी साधना का वास्तविक लक्ष्य यही है। इसके लिए पागलपन चाहिए, इसके लिए त्याग चाहिए। कोई भी रास्ता अपना लीजिये - भक्ति का मार्ग, कर्म का अथवा ज्ञान का - कोई भी मार्ग अपनाइये परन्तु उसे (परमात्मा को) पाने के लिए सतत प्रयास तो करना ही पड़ेगा।

गुरुदेव सबका भला करें!!

0000000000



हमारे दुःखों का कारण ही यह है कि हम अपनी आत्मा को नहीं पहचानते, हम परमात्मा से बिछुड़ गये हैं . जब तक हमारा योग परमात्मा से नहीं होगा , हमारी आत्मा का योग उसके सच्चे पति परमात्मा के साथ नहीं होगा , तब तक संसार के चाहें कितने ही पदार्थ प्राप्त हो जायें, व्यक्ति को कभी भी सच्चा सुःख नहीं मिल सकता . सच्चा सुःख तो प्रभु के मिलने में ही है . वही हमारे जीवन का लक्ष्य है . यही मनुष्य चोले का ध्येय है कि इसी जीवन में हम आत्मा का साक्षात्कार कर लें , भगवान के दर्शन कर लें .

-सद्गुरु डॉ . करतारसिंह जी महाराज

आध्यात्मिकता का आधार - ईश्वरीय कृपा की धार

(ब्रह्मलीन परमसंत डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

मानव जीवन का सबसे प्रमुख उद्देश्य है - ईश्वर प्राप्ति अर्थात् ईश्वर के स्वरूप से सक्षात्कार और आत्मा का परमात्मा के चरणों में समर्पित हो जाना। इसी परम ध्येय के लिए युग - युगान्तर से महान विभूतियों ने आध्यात्मिकता के पथ का मार्गदर्शन कराया है, अंतर की साधना करने का महत्त्व समझाया है।

परमात्मा की कृपा की धार (फैज़, अमृत, ग्रेस या भगवत प्रसादी) निरन्तर प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक कण पर बिना किसी भेद - भाव के अविरल बरसती रहती है जिसकी व्याख्या विभिन्न महापुरुषों ने ज्ञान - वृष्टि, प्रेम वृष्टि या अमृत वृष्टि, आदि कह कर की है। पूज्य लालाजी महाराज ने लिखा है कि यदि ईश्वर की ओर से यह प्रेम की धार बन्द हो जाए तो समस्त श्रष्टि का विनाश हो जाएगा। परम पिता परमात्मा सर्व -व्यापक है। वैश्वी शक्ति (cosmic energy) की तुलना में आत्मिक शक्ति (Divine spiritual power) सर्व -व्यापक एवं अधिक सूक्ष्म होने के साथ ही महानतम है। हर कण में - ज़र्रे -ज़र्रे और पत्ते - पत्ते में समाई रहती है। ऐसी आत्मिक शक्ति या आत्म -प्रसादी ही सारी श्रष्टियों का पालन पोषण कर रही है।

मन में प्रश्न उठता है कि इस आत्मिक शक्ति के सर्व -व्यापक होते हुए भी आनन्द का अभाव अथवा चित्त में चंचलता और अशांति क्यों आती है। मान्यता यही है कि चिरन्तन अस्तित्व तो मात्र आत्मा या परमात्मा का ही है। शेष जो भी

सुःख -दुःख भासते हैं या पाप- पुण्य जो भी होते हैं वे क्षणिक, अस्थायी, नश्वर एवं भ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। उनकी आस्था है कि उस दैवी शक्ति के आनन्द का प्रवाह अविरल एवं चिरन्तन रूप में सर्वत्र बह रहा है। कुछ के विचार से यह भ्रम है। वह तो मन की वृत्तियाँ हैं जिनके लिए मनुष्य स्वयं उत्तरदायी है - वह इसे पिछले संस्कारों का परिणाम मानते हैं। कुछ विद्वान इसे संसार के रंगमंच पर ईश्वर की लीला मानते हैं जिसमें ईश्वर एक निर्देशक

की तरह अपनी इस अभिनय क्रीड़ा में प्रत्येक पात्र को पात्रतानुसार सुःख - दुःख देते हैं, पुनीत या पतित के अभिनय करवाते हैं - पृष्ठभूमि में निर्देशक आत्मा या परमात्मा ही है।

हमारे पूज्य गुरुदेव का कथन है कि हमारे दुःख- सुःख का मुख्य कारण हमारे द्वारा निरन्तर बरस रही फ़ैज़ की अर्थात् परमात्मा की कृपा - धार से अपने आपको विमुख कर लेना है। जब तक हम इस अमृत वृष्टि के सन्मुख रहते हैं, हम आत्मिक सुःख में लीन होते हैं परन्तु इस वृष्टि से पृथक होते ही हम अहंकार के स्थान पर अथवा माया के साम्राज्य में आ जाते हैं, परिणाम स्वरूप दैहिक, दैविक एवं भौतिक तापों को भोगते रहते हैं। इन तापों से बचने के लिए, अविरल हो रही ईश्वर कृपा की धार से समरस होना ही वाँछनीय है। आत्मिक आनन्द इन सभी से परे है उसमें किसी प्रकार की रुकावट या बाधा नहीं है। सभी संत समागमों में जो लोग अपनी तवज्जोह यानी सुरत को इस फ़ैज़ अर्थात् अमृतधारा को, ग्रहण करने में सरलता से लगाते हैं, उनका सम्बन्ध इस अमृतधारा से जुड़ जाता है। इस अमृतधारा में अव्यक्त रूप में छिपे सूक्ष्म ईश्वरीय गुण हमारे शरीर के रोम -रोम में प्रवेश करके अदभुत परिवर्तन लाते हैं। हमारा चित्त भी धीरे- धीरे निर्मल होता चला जाता है। इस अमृत को हम जितना आधिकाधिक ज़ब कर लेंगे, आत्मसात कर पायेंगे, उतना ही हम निर्मल होते जाएँगे, हमारे संस्कार समाप्त होते जाएँगे। यही हमारे भीतर का 'गंगा स्नान ' है। जो व्यक्ति इस प्रसादी को ग्रहण कर लेता है व स्वयं ही फ़ैज़ या नाम रूप बन जाता है। उसमें और प्रभु में अन्तर या दूरी कम होने लगती है। जिस नामी से यह नाम की धारा प्रवाहित हो रही है, अर्थात् इसके वास्तविक स्रोत परमात्मा में और उसमें धीरे - धीरे कोई भेदभाव नहीं रहता। वास्तव में साधक को करना केवल यही है कि मानव शरीर को इसी आँतरिक अनुभूति की प्राप्ति करना सिखाए और उसके लिए नियमित अभ्यास और निरन्तर प्रयास करना ही आध्यात्म का सार है

000000000000000000

आन्तरिक शान्ति के लिये द्वन्दों को समाप्त करना होगा

(ब्रह्मलीन सदगुरु डॉ। करतारसिंह जी)

गुरु अर्जुन देव जी का शब्द पढ़ा गया

"अब हम चलीं ठाकुर पै हार ,

जब हम शरण प्रभु की आई राख प्रभु भावें मार ।"

पूज्य गुरुदेव (महात्मा श्रीकृष्ण लाल जी महाराज) फ़रमाया करते थे कि परमात्मा ने अपने आप को गुप्त किया, मनुष्य को प्रकट किया तथा उसको अपना जैसा ही बनाया। अब मनुष्य की साधना यह होनी चाहिये कि वह अपने आप को गुम कर दे और अपने भीतर से ईश्वर को व्यक्त करे ईश्वर की प्राप्ति के लिए सैंकड़ों पद्धतियाँ हैं परन्तु सब का सार यही है कि मनुष्य अपने अहंकार को खत्म कर दे। अहंकार के कारण ही वह अपने आपको परमात्मा से भिन्न समझता है। यह अहंकार ही उसकी खुदी या अहं को खत्म नहीं होने देता।

यह संसार द्वेतों का, ईर्ष्या का, बदले की भावना का, स्थान है। ऐसे व्यक्ति आपको कम ही दीखेंगे जो फ़रीद जी की तरह कह सकें कि यदि कोई व्यक्ति आपकी पिटाई करे तो आप उस व्यक्ति के घर जाकर उसके चरण दबाइए। पढ़ा लिखा व्यक्ति इस बात को क्या समझेगा कि जो व्यक्ति हमको दुःख पहुँचाता है हम उसके घर जाकर उसकी सेवा करें। किन्तु जिसको परमात्मा की प्राप्ति करना है उसको यह विशेष व्यवहार करना ही पड़ेगा। उसको अपनी बुद्धि से बदले की भावना, जैसे को तैसा करने की भावना निकालनी ही होगी। उसको दीन बनना ही पड़ेगा।

गुरु अर्जुन देव जी ने अपनी वाणी में फ़रमाया है : " अब हम चलीं ठाकुर पै हार " यानी हमने इस संसार को देख लिया है और उससे ऊब कर अब हम अपने सच्चे पिता परमात्मा की ओर चले हैं। वह हमारे प्रतीक बन कर परमपिता परमात्मा से प्रार्थना कर रहे हैं कि हमने इस संसार - यात्रा में देख लिया कि हमें अपने बल बूते, अपनी शक्ति से, अपनी बुद्धि से, अपने अहंकार से, सफलता यानी भीतर की शान्ति नहीं मिलती। जो व्यक्ति संसार से

थकता नहीं है, जिसके हृदय में संसार से उपरामता उत्पन्न नहीं होती, उसकी साधना तो अभी शुरू ही नहीं हुई। इसीलिये गुरुदेव कह रहे हैं -

"अब मैं चलीं ठाकुर के द्वार"। यानी हे परमात्मा! मैंने इस संसार की असारता को देख लिया, अब मैं ऊब कर, हार कर, आपके चरणों में उपस्थित हुआ हूँ संसार में मेरा कोई नहीं है। न माता - पिता, न पति -पत्नी, न संतान और भी संसार में जितने हैं, उनमें से कोई अपना नहीं है।

साधक के मन में जब वैराग्य उत्पन्न हो जाता है कि मैं किस कीचड़ में फँस गया हूँ तब उसमें परमात्मा को पाने की सच्ची जिज्ञासा उत्पन्न होती है। जब तक व्यक्ति दीनता को नहीं अपनाता, संसार से उपराम नहीं होता तब तक उसमें समर्पण भाव नहीं आता, तब तक वह शरणागत नहीं होता। यह संसार द्वन्दों का है। एक ओर हमारी खूब उपमा होती है, वो भी हमें कीचड़ में फँसाती है, और दूसरी ओर हमारी बदनामी भी होती है, वो भी दुखदायक है। प्रत्येक मनुष्य इन द्वन्दों में फँसा रहता है।

गीता में भगवान अर्जुन को यही बतलाते हैं कि तू द्वन्दों को छोड़ आत्मस्थित हो। निष्काम भाव से सबकी सेवा यज्ञ समझ कर कर। ये 'यज्ञ' शब्द बड़ा विशेष है। यज्ञ में आहुति दी जाती है। दी गई आहुति वापस नहीं आती, वह अग्नि रूप हो जाती है। इसीलिये भगवान कह रहे हैं कि तू कर्म कर परन्तु कर्म के साथ उसक आहुति भी उस कर्म -यज्ञ में डाल दे। कोई आशा या इच्छा मत रखा। हमें पढ़ने या सुनने में तो यह बड़ा सरल लगता है परन्तु व्यवहार में यह बड़ा कठिन है। हम स्वनिरीक्षण करके देखें कि क्या हमारा कोई भी काम यज्ञ -रूप होता है। जब व्यक्ति संसार की ठोकरें खाकर थक जाता है तब परमात्मा की कृपा से ही ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है, अन्यथा आदमी कितना ही बड़ा हो जाय, वह कीचड़ में ही फँसा रहता है। वह आशा -निराशा, इच्छायें, क्रोध आदि सब में लिप्त रहता है। बुद्धि का, स्मृति का नाश हो जाता है। स्मृति क्या है ? कि मैं तो आत्मा हूँ, परमात्मा का अंश हूँ। ये दुःख -सुःख किसको होता है - ये उत्तेजना किसको मिलती है, संसारी वस्तुएं क्या हैं, इनकी कीमत क्या है ? वह उस समय भूल जाता है कि ये सब असार है। फलतः उसकी बुद्धि का नाश होने से उसका परमार्थ नष्ट हो जाता है। इसीलिये चाणक्य मुनि कहते हैं कि हे परमात्मा ! तू मेरा

सब कुछ हर ले किन्तु मेरी बुद्धि को मत हरना। यहाँ बुद्धि का मतलब है 'आत्ममय बुद्धि', 'शुद्ध बुद्धि', 'विकार रहित बुद्धि'।

संसार से थकावट किसी को नहीं आती। ईश्वर के प्रति अपने को समर्पण कोई नहीं करना चाहता। केवल वह व्यक्ति जिस पर ईश्वर या किसी महापुरुष की कृपा हो जाती है और जब उस साधक के हृदय में समर्पण की भावना उत्पन्न हो जाती है तो वह संसार से विरक्त होने लगता है। उसके मन में यह प्रश्न उठने लगता है कि मैं यहाँ किस लिए हूँ। सब की स्मृति का विनाश हो चुका है किसी को याद नहीं कि मेरा कर्तव्य क्या है और मैं हूँ कौन? हम सभी अहंकार के पीछे लगे हुए हैं --मैं-तू, मैं- तू। जब व्यक्ति इस संसार से हार जाता है और जब उस पर प्रभु की कृपा होती है, तब वह प्रभु से प्रार्थना करता है कि चाहे तू मुझे इस दुन्दों की दुनिया में रख पर मेरा यह भाव बनाये रख कि दुःख आते हैं तो वो तेरी प्रसादी हैं और यदि सुःख आते हैं तो भी वो तेरी प्रसादी हैं।

यह कह देना आसान नहीं है कि दुःख भी दे तो मैं तेरा हूँ और सुःख दे तो भी मैं तेरा हूँ। जब तक हम इन दुन्दों से ऊपर नहीं उठेंगे, मुक्त नहीं होंगे, तब तक हमें आत्मा की अनुभूति नहीं हो सकती। गुरु महाराज हमारा प्रतीक बन कर ईश्वर से प्रार्थना कर रहे हैं कि जैसे आपने द्रोपदी की लाज रखी, उसकी रक्षा की, उसी प्रकार हम भूले-भटके जिज्ञासुओं की भी रक्षा कीजिये। यदि कोई व्यक्ति यह चाहे कि वह अपने बल पर इस संसार रुपी कीचड़ से निकल जाये तो यह असम्भव है। हो सकता है किसी एकाध व्यक्ति, जिसके पिछले जन्म के संस्कार बहुत अच्छे हों और वह आपने आप निकल जाय, अन्यथा यह बहुत ही कठिन है।

भक्ति मार्ग में दीनता एक मुख्य बात है। बिना दीनता के सफलता नहीं मिलती अर्थात् हमारा मन भगवान या अपने इष्टदेव के चरणों में नहीं लगता तथा जिस परिस्थिति में भगवान ने हमें रखा है उससे हम सन्तुष्ट नहीं होते। साधारण सी बात भी होती है तो हमारे मन में क्रोध उत्पन्न हो जाता है और बदला लेने की भावना उत्पन्न हो जाती है। ये मानसिक अवस्था हम सब की है। हम कहते हैं कि साधना में आनन्द नहीं आता। आनन्द तभी आयेगा जब हम निर्विकार होंगे, निर्द्वन्द्व होंगे, निर्विचार होंगे। तब आत्मा रुपी सूर्य उदय होगी, तब आत्मा का सागर तरंगें मारेगा। हमारे भीतर बाहर शान्ति होगी, स्थिरता होगी। हम भीतर से राग-द्वेष में

फँसे रहेंगे, राग -द्वेष की अग्नि में जलते रहेंगे, तो शान्ति प्राप्त नहीं होगी। हमारे मन में विचार क्यों उठते हैं ? वे किस बात के प्रतीक हैं ? विचार द्वन्द के ही प्रतीक हैं। जहाँ मन है, भीतर में राग -द्वेष है, वहाँ भीतर में शान्ति कैसे होगी ? आन्तरिक स्थिरता की प्राप्ति के लिए समर्पण करना ही होगा। हमारी जीवन - नौका संसार रूपी सागर में फंसी हुई है और लहरों के थपेड़े खा रही है। हमारे अपने बल बूते से नौका किनारे पर नहीं आसकती। इसके लिए एक ही साधन हमारे पास है कि हम प्रभु के चरणों में दीनता पूर्वक सच्ची प्रार्थना करें। प्रार्थना तभी सच्ची होती है जब हम जो कुछ गुरु कर रहे हैं उसके अनुसार अपना जीवन बनाने का प्रयास करें। ईश्वर में विश्वास रखिये और इस बात को खूब समझ लीजिये कि जो कुछ वह करता है वो हमारे हित के लिए करता है।

प्रत्येक मनुष्य यही चाहता है कि उसके हृदय में शान्ति हो। शान्ति तब तक नहीं आयेगी जब तक भीतर में आत्मा परमात्मा का साक्षात्कार नहीं होता। चाहे भक्ति का साधन अपनाइए और चाहे ज्ञान का साधन अपनाइये, दीनता को तो अपनाना ही होगा। इस संसार से आसक्ति उसे छोड़नी होगी। संत मत में घर छोड़ने के लिए तो नहीं कहते हैं परन्तु यह कहाँ कहते हैं कि इतने चिपक जाओ कि प्रभु को ही भूल जाओ। घर -बार मत छोड़ो, मगर घर में रहते हुए कमल पुष्प की तरह रहने का प्रयास करिये।

" ब्रह्मज्ञानी सदा निर्लेप, जैसे जल में कमल अलेप । "

गृहस्थी में कमल पुष्प की तरह रहना है। यदि हमें कमल पुष्प की तरह जीना है तो हमें सब कुछ ईश्वर के चरणों में समर्पण करना होगा और ऐसा करने से पहले दीनता को अपनाना होगा। दीनता का मतलब है कि ऐसा दृढ़ विश्वास होना चाहिये कि जो कुछ प्रभु करते हैं वह हमारे हित में है। इस साधना में हम गिरेंगे परन्तु घबराना नहीं चाहिये। आज सफल नहीं होंगे तो कल होंगे, आगे होंगे, पर सफल अवश्य होंगे। परन्तु पूर्ण समर्पण करना होगा।

चित्त को शान्त रखने के लिए, ईश्वर के दरबार में जाने का अधिकारी बनने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने भीतर में शान्ति रखें। शान्ति कभी नहीं आ सकती है जब तक अपने भीतर से द्वन्द नहीं खत्म होते, राग - द्वेष नहीं खत्म होते। यह तभी होगा जब हम प्रभु के चरणों में लिपट जायेंगे। तब हमारा रोम -रोम यह कह उठेगा - " अब हम चलो ठाकुर

पै हार । तब द्रोपदी जैसा समर्पण आजायेगा - " अब मुझसे कुछ नहीं होता भगवान, जैसी तेरी मरज़ी हो वैसे कर"।

गुरु महाराज कहा करते थे कि प्रभु की तरह माया भी बड़ी बलवान है। इससे मुक्ति पाने की , छुटकारा पाने की मनुष्य के पास शक्ति नहीं है। गुरुदेव कहा करते थे कि प्रकृति माँ के साथ cooperate (सहयोग) करना चाहिये तब वह पिता के पास ले जाती है। जिसको आत्मा का साक्षात्कार करना है, उसको अपने व्यवहार में परिवर्तन लाना ही होगा। दीन अति दीन बनना होगा। कबीर साहब कहते हैं " जब तक मैं था हरि नहीं, अब हरि हूँ मैं नाहि। प्रेम गली अति सांकरी या मैं दो न समाएं ।" प्रेम में द्वेत नहीं है। भक्ति में द्वेत होती है -- स्वामी और सेवक। परन्तु प्रेम में नहीं है, आत्मा में नहीं है, परमात्मा में नहीं हैं। द्वेत कब खत्म होती है, जब व्यक्ति का अहंकार खत्म होता है, जब सच्ची दीनता आती है।

आध्यात्मिकता में दो चीज़ें होती हैं - दर्शन (philosophy) और विज्ञान। हम सब समझते हैं कि ईश्वर क्या है ? आत्मा, क्या है ? परन्तु इतना समझ लेना ही काफ़ी नहीं है। हाथ - पाँव द्वारा , वाणी द्वारा, विचार द्वारा मेरे कर्म ईश्वर -मय, आत्मा - मय होने चाहिये। यदि नहीं हैं तो मैंने दर्शन (शास्त्र) भी अच्छी तरह नहीं पढ़ा - समझा और उसके अनुसार मैंने अपना जीवन नहीं बनाया। हमारा जीवन हमारी साधना के अनुसार नहीं है । चाहे साधना हम पांच -सात मिनिट ही करें परन्तु पांच मिनिट मनन ज़रूर करना चाहिये। महापुरुषों का जीवन, उनकी वाणी का अध्ययन गहराई में जाकर करना चाहिये, उसमें जो प्रेम गंगा, ज्ञान गंगा बह रही है उसमें स्नान करना चाहिये तथा यह सोचना और मनन करना चाहिये कि हमारा जीवन उसके अनुसार है या नहीं। उसमें जहाँ -जहाँ कमी देखें उसे दूर करने का प्रयास करें - यह साधना है। हम अपने गुरुदेव के आदेश के अनुसार अपना जीवन नहीं जीते। हम सारे दिन तो अपने गुरुदेव के उपदेशों के विपरीत चलते हैं और प्रातः या शाम, वह भी कभी -कभी, संध्या पर बैठते हैं। आँखें बंद करके बैठ जायें और ये आशा रखें कि हमें ईश्वर के दर्शन हो जायेंगे, हम उससे तदरूप हो जायेंगे, ऐसा नहीं हो पायेगा। इसीलिये पूज्य गुरु महाराज का आदेश है कि प्रातः जब से उठते हैं और रात को जब सोते हैं तब तक का सारा समय साधना -मय होना चाहिये। ईश्वर की याद बनी रहनी चाहिये। हमें ईश्वर के गुणों की पूजा करनी चाहिये। पूजा का मतलब है कि हम अपने जीवन में, विचार में, व्यवहार में, वाणी में उन गुणों को विकसित करें।

जब तक हमारे भीतर आशायें, इच्छायें और स्वार्थ हैं तब तक ईश्वर की समीपता नहीं होगी। जीवन को यज्ञ -रूप बनाना ही होगा, आहुति देनी ही होगी। तभी जाकर सच्चा आनन्द, सच्ची शान्ति मिलेगी। सच्ची शान्ति, सच्चा आनन्द, सत -चि त -आनन्द, ये गुण केवल आत्मा या परमात्मा में ही हैं। आत्मा, परमात्मा, परम शान्ति सब कुछ आपके भीतर में हैं। परन्तु इसके ऊपर जो आवरण पड़े हुए हैं उनसे मुक्त होना है। यहीं साधना है। ईश्वर के गुणों को धारण किये बिना यह साधना सिद्ध नहीं होती ।

पूज्य गुरु महाराज का उपदेश था कि गुरु पूजा या ईश्वर पूजा यही है कि ईश्वर -गुरु के गुणों को सराहना और उनको अपने जीवन में उतारना। ईश्वर दर्शन यह है कि जो गुण ईश्वर के हैं वे ही हमारे हो जाने चाहिये तब जाके सच्ची शान्ति, सच्चा सुःख और सच्चा आनन्द मिलेगा। उस आनन्द में स्वार्थ नहीं हैं। जैसे ईश्वर अपना आनन्द सबको बाट रहे हैं ऐसे ही ईश्वर से तदरूप सन्त शान्ति और सुःख का अप्रयास वितरण प्रतिक्षण करता रहता है। ऐसे महापुरुष के पास बैठने से हमारी आत्मा के ऊपर जो आवरण पड़े हुए हैं वो भी उतर जाते हैं।

ऐसे महापुरुष की खोज में हमेशा रहना चाहिये। ईश्वर कृपा से यदि ऐसा कोई व्यक्ति मिल जाय तो कुछ करने- कराने की आवश्यकता नहीं। उनके पास केवल श्रद्धा से बैठना ही काफ़ी है। चाहें उसके समीप बैठें, चाहें कोसों दूर बैठें, उसका ख्याल करें। लाभ अवश्य होगा। केवल इतना ही करें। हमारे व्यवहार में मधुरता हो। हमारी मधुरता से दूसरों को शान्ति मिलती है, सुःख मिलता है। आप किसी का भला करना चाहते हैं और अहंकार के साथ करें तो लाभ नहीं होगा। अभिमान नहीं आना चाहिये। प्रत्येक कर्म में सावधान रहना चाहिये कि हमसे किसी का दिल न दुखे। गुरु महाराज कहा करते थे कि अपने जीवन को (रहनी सहनी को) बनाओ। हमारा जीवन साधना के अनुसार नहीं है। हम प्रातः -सांय की साधना को एक अलग वस्तु समझते हैं और सांसारिक व्यवहारों को एक अलहदा वस्तु समझते हैं। ये हमारी भूल है। संस्कार चाहें अच्छे हों या बुरे, जब तक सारे संस्कार, सारी इच्छाएँ, सारे अहं खत्म नहीं हो जायेंगे, तब तक आत्मा का साक्षात्कार नहीं होगा ।

000000000

इच्छा - कर्म - संस्कारों का फल और इससे मुक्ति का साधन

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

जो यह जानना चाहता है कि मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, मुझे कहाँ जाना है, मेरा सच्चा मालिक कौन है, वह कहाँ रहता है और उसके पास पहुँच कर सच्चा आनन्द, सच्चा सुःख कैसे पाया जाय, वही परमार्थी है। उसे दुनियाँ के सब सुःख होते हुए भी चैन व खुशी यहाँ नहीं मिलती। अन्दर से वह सदा उदास रहता है वह वैसे तो दुनियाँ का सब व्यवहार आम लोगों की तरह करता है, लेकिन धर्मानुसार। परमार्थी के हृदय में दया और प्यार सब के लिए होता है, लेकिन मोह किसी से नहीं रहता। आसक्ति और फँसाव कही नहीं होता।

इस आवागमन (जन्म -मरण) के चक्कर से छुटकारा कैसे मिले। इस पर बड़े -बड़े सन्तों की वाणी तथा लेखकों की पुस्तकें भरी पड़ी हैं जिन्हें पढ़कर हमारी बुद्धि चकरा जाती है और कुछ हाथ नहीं लगता। हमारे गुरुजनों ने बड़े आसान ढंग से इसे बताया -समझाया है, जो गम्भीरता से ध्यान देने और अनुसरण करने योग्य है।

विचारणीय है कि आखिर हम यहाँ (संसार में) क्यों आए हैं ? आत्मा क्यों इस आवागमन के चक्कर में पड़ी ? अपनी इच्छाओं को पूरा करने तथा उन्हें भोगकर उनसे उपराम होने के लिए प्रभु ने हमें यहाँ भेजा है। लेकिन यहाँ आकर बजाय इच्छाओं से उपराम होने के, हम और इच्छाओं का अम्बार इकट्ठा कर लेते हैं और दिनोंदिन उलझते चले जाते हैं।

। जनमाजन्म के संस्कारों का बोझ लेकर हम पैदा होते हैं जिन्हें या तो भोग कर या फिर गुरु कृपा से सरलता से निपटाना है। अगर उन संस्कारों को किसी तरह निपटा लिया जाय और आगे संस्कार न बनें तब उद्धार सम्भव है। जो संस्कार स्थूल रूप धारण कर चुके हैं वे तो तक्दीर बन गये हैं। इन्हीं को प्रारब्ध कर्मों की निश्चित नियति या किस्मत का लिखा कहा जाता है जिन्हें भोग कर ही निपटा जा सकता है। बहुत से संस्कार बीज रूप में मस्तिष्क में दबे पड़े हुए हैं, उनको गुरु कृपा से अभ्यास में भी हम निपटा सकते हैं। ये संस्कार जो बीज रूप में पड़े हैं, अगर स्थूल रूप धारण करेंगे तो एक - एक संस्कार को निपटने में वर्षों लग जायेंगे।

परन्तु गुरु कृपा से उनको आसानी से नष्ट किया जा सकता है। भुने हुए बीज की तरह उनमें अंकुर नहीं फूटते। गुरु कृपा से ज्ञान उदय होने पर उनका स्वतः नाश हो जाता है।

आगे संस्कार न बनें इसके लिए पूज्य गुरुदेव ने जो अभ्यास बताया है उसे दृढ़ता पूर्वक ग्रहण करके, उस अभ्यास को करते रहना चाहिए। मोटे ढँग से, सन्त मत के अभ्यास में आँख, कान, और ज़बान - इन तीन प्रमुख इंद्रियों पर प्रतिबन्ध लगाना होता है। आँख ऐसी इंद्रिय है जिससे एक जगह पर खड़ा होकर मनुष्य बहुत दूर तक का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसलिए यह संस्कार जोड़ने में प्रमुख भूमिका अदा करती है। इस पर नियंत्रण रखने के लिए सन्तों ने कहा है कि इन चर्म चक्षुओं (स्थूल आंखों) से अपने पैरों के आगे देखना चाहिये जिससे ठोकर न लगे या पैरों में कोई चीज़ न चुभ जाये। अन्तर की आँखों से गुरुदेव के चरणों का ध्यान करना है। नाच, तमाशा और सिनेमा वगैरह देखना संस्कार बनाने और बढ़ाने में अत्यन्त प्रभावी रूप से सहायक होते हैं। अतः इनसे बचते रहने का आदेश है।

जिहवा से, गुरु ने जो नाम दिया है, उसको लेते रहें। अनाप -शनाप, झूठ -सच, अनर्गल वार्ता से अपने को अलग रखें। आज के समाज में समय काटने के लिये लोग बहुधा फ़िज़ूल की बातें करते हैं जिससे किसी का कोई उपकार नहीं होता, वरन अपना तथा औरों का अहित ही होता है और नये संस्कार बनते हैं। जिहवा का उपयोग प्रभु के गुणगान में करना उचित है। जिहवा स्वाद का भी रस लेने वाली इंद्रिय है। अतः खान - पान में संयम बरतें। भोजन में भी जो चीज़ बहुत अच्छी लगे उसे कम से कम लें वरना उसका भी संस्कार बन जायेगा यानी उस चीज़ में आसक्ति बढ़ जायेगी।

तीसरी इंद्रिय कान का उपयोग प्रभु की महिमा -गुणगान, आदि धार्मिक वार्ताएँ सुनने में करें। ग़लत, अश्लील बातें न सुनें। अन्दर के कानों से अनहद शब्द, जो यदि गुरुदेव ने आपको बताया हो तो, उसे सुनने की कोशिश तथा अभ्यास करें। इस तरह यथा सम्भव एकान्त तथा संयम का जीवन बिताने से आगे संस्कार कम बनेंगे ।

जब तक इस संसार तथा यहाँ की चीज़ों के प्रति आसक्ति है, उद्धार सम्भव नहीं है। संतमत के आचार्य इतने दयालु हैं कि त्याग पर बल नहीं देते। वे कहते हैं कि दुनियाँ भोगो,

लेकिन धर्मानुसार, और अनुभव करो कि कहाँ सच्चा और शाश्वत सुःख है। दुनियाँ की नाशवानता पर गौर करते चलो और दुनियावी भोगों के आकर्षण से उपराम होते चलो।

इस रास्ते का सबसे बड़ा रहस्य है कि गुरुजन आपको इतना प्रेम देते हैं कि आप उनके प्रेम में मस्त होकर बहुत सी बातें (बुराइयाँ) जो गुरुदेव के आदेशों - उपदेशों के अनुसार उचित नहीं होती स्वयं छोड़ देते हैं। गुरुजनों का प्रेम जो निस्वार्थ और ईश्वरीय प्रेम होता है, उसके आकर्षण का क्या कहना है ? इसमें हम सभी अकारण ही खिंचते चले जाते हैं और हम उनके प्रेम में स्वतः शुद्ध होने लगते हैं। उनके सानिध्य में बुराईओं को छोड़ने में अधिक कठिनाई नहीं होती। हंसी -खुशी लगन के साथ हम बुराईओं से मुक्त होते जाते हैं और आसक्ति भी समाप्त होती जाती है।

हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि संतमत में गुरुप्रेम ही साधना की सफलता की जड़ है। बिना इसके सारी साधना फीकी है और इतना ज़ल्दी फ़ायदा भी नहीं होता। इसीलिये हमें किसी संत का पल्ला मज़बूती से पकड़ना ज़रूरी है। किसी भी तरह उनका प्रेम - पात्र बनना है तथा उनकी संगति में रहकर उनके गुणों को धारण करना है। महापुरुषों की वाणी पढ़कर, उस पर मनन करना है। गुरु भक्ति को अपनाना तथा उनके आदेशों का पालन करना हमारा प्रमुख कर्तव्य होना चाहिये।

परम पूज्य गुरुदेव (डॉ० श्रीकृष्ण लाल जी) कहा करते थे कि - "हज़ार वर्ष की अपनी तपस्या से क्षण - मात्र की गुरु कृपा की दौलत कहीं ज़्यादा फ़ायदेमंद होती है "। यह धन अपनी साधना के बल पर प्राप्त करना असम्भव तो नहीं है, परन्तु अति कठिन है। इसे प्राप्त करने के लिए किसी सन्त की निकटता प्राप्त करना अति आवश्यक है। गुरु के आदेशों का पालन करने के लिए मेहनत (साधना) करनी होगी जिससे उनकी ऐसी कृपा प्राप्त हो सक । सभी संतों का यही कहना है। तुलसीदास जी ने लिखा है - " यह धन साधन ते नहिं होई, तुम्हरी कृपा पाय कोई -कोई "।

गुरुदेव हम सब पर कृपा बनाये रहें तथा हमें सही रास्ते पर लगाये रखें। उनकी कृपा कभी न कभी तो अवश्य होगी - यही आस्था और विश्वास साधकों का सहारा और आसरा है।
गुरुदेव आपका कल्याण करें ०००००००००० राम संदेश : मई -जून , 1997॥

ईश्वर कृपा का आभास

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

प्रत्येक व्यक्ति पर एक जैसी ईश्वर-कृपा (फ़ैज़याबी) है। यह बात कोई अन्धविश्वास नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति इसकी अनुभूति स्वयं कर सकता है। उसे इतना ही करना है कि सिद्ध आसन में, या उस आसन में जिसमें उसे सुख मिले, बैठ जाए, शरीर सीधा हो, मन में विचार न हों, एक प्रार्थना का भाव लेकर बैठें। हृदय की झोली फैलाकर बैठें। प्रभु का जो भी रूप आपका इष्ट हो उसी रूप का नाम भीतर में लेते रहें। केवल इतना ही करना है। इसी कृपा-वृष्टि के नीचे बैठना है। आप देखेंगे कि दो-तीन मिनट के बाद आपको ऐसा मालूम होगा कि आपके शरीर को कुछ सूक्ष्म सी शक्ति मिलती जा रही है। इस अभ्यास को यदि बढ़ाते चले जाएँ तो आपका शरीर इतना सूक्ष्म हो जायेगा कि जैसे कपास होती है, पर यदि भीतर में भी निर्मल हैं तो समय पाकर आप आपने व्यक्तित्व को भी देखेंगे कि केवल एक आनन्द का प्रभाव रखता है।

यह इतना सहज साधन है कि प्रत्येक व्यक्ति, बच्चा हो या स्त्री हो, बूढ़े पुरुष हों, सब कर सकते हैं। ईश्वर को आप चाहे किसी रूप में मानते हों, प्रभु के साकार स्वरूप को देवी-देवता के रूप में मानते हों या चाहे गुरु को मानते हों, यही ख्याल करके बैठ जाइये कि हम प्रभु के चरणों में बैठे हैं और उनकी कृपा हम पर बरस रही है। उनकी कृपा आपको अवश्य ही मिलेगी। ईश्वर की कृपा बरसती रहती है। यह इतना सरल साधन है और इसको करना इतना आसान है कि यदि कोई भी व्यक्ति इसको मन लगाकर कुछ महीने करे तो उसमें क्रान्ति आ सकती है। कहते हैं कि उसको ईश्वर के दर्शन हो जायेंगे - यह सत्य है।

ईश्वर के दर्शन करने का मतलब यह है कि आपके भीतर में भी वही गुण आ जायेंगे जो गुण ईश्वर के हैं। यदि किसी साधना करने के पश्चात् आपके भीतर में कोई गुण उत्पन्न नहीं होते तो आपकी साधना में कहीं कमज़ोरी है। इस कमज़ोरी के विषय में आप अपने गुरु से भी पूछ सकते हैं। इस अभ्यास को बढ़ाने से आप भीतर में बढ़ेंगे। आप अपने असल स्वरूप के दर्शन

कर पायेंगे। आपकी दृष्टि ईश्वरमय हो जाएगी। ईश्वर की उपस्थिति का भान प्रतिक्षण होने लगेगा। भीतर में एक प्रकार की अनुभूति होने लगेगी। पहले यह अनुभूति शरीर से होगी। जब धीरे-धीरे शरीर सूक्ष्म होता चला जायेगा, इसकी अनुभूति भीतर में भी होने लगेगी। जितना मन स्थिर होने लगेगा, उतना ही साधुता एवं सत्यता का भान होगा। भीतर और बाहर की अनुभूति मिल जाने को आत्मा-परमात्मा का मिलन कहते हैं। हमारी आत्मा जो ईश्वर से बिछुड़ी हुई थी, बीच में जो एक दीवार सी खड़ी थी, वह दीवार टूट जाएगी। आत्मा-परमात्मा एक हो जायेंगे। ईश्वर की आनन्दमयी अनुभूति होगी।

परन्तु यह होना चाहिए चरित्र-निर्माण के साथ-साथ। गुरु बताता है कि परिवर्तन हमारे भीतर में कैसे होना चाहिए। यदि परिवर्तन नहीं होता तो कहीं कोई कमजोरी है। जो व्यक्ति जागरूक और पढ़े-लिखे हैं उनको विचार करना चाहिए कि परिवर्तन क्यों नहीं आ रहा है। आप देखेंगे कि ईश्वर की मौजूदगी को, उसकी स्मृति को ही हम साँसारिक कामों में फँसकर भूल जाते हैं। हम तो ईश्वर का एक मित्र की तरह भी स्मरण नहीं करते हैं। इसीलिए महापुरुषों ने कहा है कि 'स्मृति ही जीवन है, विस्मृति मृत्यु है।' जब हम स्मरण करते हैं तो स्मरण करने पर मन की वो दीवार टूट जाती है और आत्मा-परमात्मा एक हो जाते हैं। यहाँ अपने इष्ट का रूप, उसके गुण, उसकी जीवन-लीला और व्यवहार आपकी आँखों के सामने, आपके हृदय में समा जाते हैं, प्रकट हो जाते हैं। स्मृति का, सुमिरन का असली परिणाम यही है कि जिसका स्वरूप और गुण हम स्मरण करें वह हमारे भीतर में प्रकट होकर रोम-रोम को रोमांचित कर दें। सारा शरीर ही ईश्वर मय हो जाये।

आपको केवल इतना ही करना है जो ऊपर कहा गया है उस पर थोड़ा सा विचार करके, अभ्यास करके देखें। ईश्वर की कृपा इतनी मात्रा में है कि हम लोग इसकी ओर ध्यान नहीं देते। जो चीज़ कम होती है उसकी कीमत ज़्यादा पड़ती है, जैसे हीरा-पन्ना, सोना आदि। इससे कम चाँदी आदि अन्य धातुएं हैं। उनकी कीमत कम होती जाती है क्योंकि वे कुछ अधिक मात्रा में हैं। इसी प्रकार जल, वायु तो कितनी अधिक मात्रा में हैं ज़रा सोचिये, इनकी कोई परवाह ही नहीं करता। पर इन सबसे भी अधिक मात्रा में है ईश्वर की कृपा। इस महान कृपा को प्राप्त करने का भाव लेकर बैठें कि - 'हे प्रभु, हमें शक्ति दें ताकि आपकी कृपा से ही हम इस फ़ैज़ को ग्रहण कर सकें।'

वैसे तो लाभ सभी को होगा, पर उसका पूरा लाभ लेने के लिए दो-तीन बातें करनी होंगी। यदि पूरा लाभ लेना चाहते हैं तो सबसे पहले अपने शरीर को स्वस्थ और चुस्त बनाना आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह स्त्री हो, बूढ़ा हो, बच्चा हो कोशिश करनी चाहिए कि उसका शरीर स्वस्थ रहे। स्वस्थ शरीर ही साधना कर सकता है। इसके लिए भी भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में समझाया है, अन्य विद्वतजनों ने, साधु-संतों ने भी समझाया है और उनके कुछ सुझाव भी हैं। ये सुझाव हैं - कम खाना चाहिए, कम सोना चाहिए, कम बोलना चाहिए। कम का मतलब है बीच का रास्ता। जैसा आपका व्यवसाय है, काम है, उसके अनुसार आपका हर काम और भोजन भी होना चाहिए। युवकों और मेहनत का काम करने वालों को कुछ अधिक खाना चाहिए, कार्यालय में काम करने वालों को जो कुर्सी-मेज़ पर बैठे रहते हैं उनको कुछ कम खाना चाहिए। ये बातें प्रत्येक व्यक्ति के लिए भिन्न हैं, एक ही बात हर व्यक्ति के लिए नहीं है। फिर भी प्रत्येक व्यक्ति इस तरह से भोजन खाये कि जितना भीतर से मन हो उससे 10-15 प्रतिशत कम खाये। भोजन सात्विक, पौष्टिक एवं तुरन्त हज़म होने वाला हो जैसे साग-सब्ज़ी, मौसम के फल, दूध-दही, दाल-चावल, अनाज आदि का सेवन करना चाहिए। मीट, मछली, अण्डे का परहेज़ करना चाहिए। तम्बाकू, सिगरेट, आदि से यथाशक्ति एकदम ही बचना चाहिए।

इसी के साथ अपने व्यवसाय के अनुसार यथायोग्य व्यायाम या सैर करनी चाहिए। मेहनती लोगों को व्यायाम या सैर करने की आवश्यकता नहीं परन्तु सुबह से शाम तक जो लोग कुर्सी-मेज़ पर बैठे रहते हैं, उनके लिए तो ज़रूरी है कि वे कुछ व्यायाम करें, नहीं तो वे जल्दी बूढ़े हो जायेंगे, डायबिटीज हो जाएगी या और कई प्रकार की बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। शक्ति तो कम होती ही है पर उन्हें किसी न किसी काम को करके अपने अंगों को, विशेषतः हाथ-पैरों को चलाते रहना चाहिए।

शरीर को स्वस्थ रखना पूजा के लिए बड़ा महत्वपूर्ण काम है। जिसका शरीर स्वस्थ नहीं, मन स्वस्थ नहीं, वो भीतर में प्रसन्न नहीं रह सकता। उसका मन भी रोगी होता है, उसे जल्दी गुस्सा आ जाता है। इसलिए शरीर स्वस्थ रखिये, साथ में मन भी पवित्र रखिये। हम गंगा स्नान करने जाते हैं और भी अनेको स्थानों पर जाते हैं, सोचते हैं कि वहाँ स्नान करके पवित्र हो जायेंगे। ये बाहर की पवित्रता है। इसका रास्ता आसान है। परन्तु होनी चाहिए भीतर की पवित्रता। इसके लिए संक्षेप में, भीतर में राग-द्वेष की भावना नहीं होनी चाहिए, ईर्ष्या की भावना नहीं

होनी चाहिए, झूठ बोलने की या किसी को हानि पहुँचाने की आदत नहीं हो, अपितु भीतर में प्रेम की ज्योति या सेवा की भावना प्रकाशित होनी चाहिए। सबसे प्रेम करें क्योंकि इसकी प्रभाव शक्ति सर्वव्यापक है। आपकी भावना भी ऐसी होनी चाहिए कि सबमें ईश्वर के दर्शन करें। जब सबमें ईश्वर के दर्शन करेंगे तो भीतर की बुराइयाँ तनिक से प्रयास से सहज ही खत्म होती चली जाएँगी।

चित्त, बुद्धि एवं विचार निर्मल होने चाहिए। मन में बुरी भावना न हो, चित्त में नये-नये संस्कार न बनें, बुद्धि तर्कशील न रहे। जब हम तीनों से मुक्त हो जाते हैं तब जाकर कहीं पवित्रता पाते हैं। विनोबा जी ने लिखा है कि प्रसन्नता के अभ्यास से भी ईश्वर के दर्शन हो जाते हैं। पहले यह बात समझ में नहीं आती थी, लेकिन अब मैं यह मानता हूँ कि उनकी बात सत्य है। परन्तु प्रसन्नता केवल साँसारिक वस्तुओं से न हो। सिकन्दर बादशाह के पास क्या कुछ नहीं था, पर क्या वो प्रसन्न था ? प्रसन्नता किसको आएगी ? जिसके भीतर में निर्मलता तथा तृप्ति होगी। जिसके भीतर में संतोष होगा वही तृप्त होगा। इसका मतलब यह नहीं है कि आप काम न करें, खूब करें। अपनी अवस्था अनुसार अपनी आर्थिक या सामाजिक स्थिति को बढ़ाने के लिए अधिक से अधिक प्रयास करें। खूब कमायें परन्तु ईमानदारी और मेहनत से।

अब विवेक पूर्वक देखें कि उससे क्या प्राप्त होता है ? धन-राशि आदि से बैंक लॉकर भर लें, दो-चार मकान खड़े कर लें, ज़मीन-ज़ायदाद खरीद लें, पर क्या इनमें प्रसन्नता है। बड़े-बड़े आदमियों को रात को सोने के लिए नींद की गोलियाँ खाकर सोते सुना है। प्रयास एवं परिश्रम करने के बाद यदि कुछ प्राप्त नहीं होता है तो ईश्वर की इच्छा में, उसकी गति में, अपनी गति को मिला देना चाहिए। जो व्यक्ति ऐसा नहीं करता है, वह व्यक्ति कभी प्रसन्न नहीं रह सकता। प्रभु जो करते हैं, हमारे हित में करते हैं - इसका अभ्यास करना चाहिए। जब शरीर स्वस्थ है, मन निर्मल है, भीतर में प्रसन्नता है तब ईश्वरीय कृपा की अनुभूति होती है। प्रसन्नता आती है जब निर्मल मन स्थिर और एकाग्र हो जाता है, संकल्प-विकल्प नहीं रहते हैं। ऐसी स्थिति में प्राप्त प्रसन्नता से ही ईश्वरीय कृपा की अनुभूति होती है।

ये बातें जो मैं आपकी सेवा में कह रहा हूँ कोई कठिन नहीं है, केवल थोड़ा सा, तनिक सा, प्रयास करने की आवश्यकता है। विशेषकर माताओं को अपने प्रति भी सतर्क रहना चाहिए साथ

ही साथ बच्चों को स्वस्थ रखने के लिए, उनकी प्रसन्नता के लिए, उनमें अच्छे गुण हों, अपने घर परिवार में इसके लिए अनुकूल वातावरण बनाना चाहिए। वे माता तो हैं हीं, पर दाता भी हैं क्योंकि बच्चों को प्रथम शिक्षा वे ही देती हैं। परन्तु बड़े दुःख की बात है, खेद है कि वह इस तरफ अधिक ध्यान नहीं देती हैं। लकीर की फ़कीर हैं। हमारी बहिने बहुधा यह नहीं जानती कि क्या खाना चाहिए। सबके घरों में दबाइयों के ढेर और बिल मिलेंगे, कोई अस्पतालों में घूम रहे होंगे। ये सब परेशानी भोजन विषयक अज्ञान के कारण है। माताओं के साथ-साथ आप सभी लोग कोशिश करें कि जहाँ तक हो सके भोजन पौष्टिक-लाभप्रद हो आप साफ़ रहें, शरीर रोगी न हो, मन रोगी न हो, प्रसन्नता का बोध करने के लिए संतोषवृत्ति हो। ईश्वर हमें जिस परिस्थिति में रखता है उसमें ही संतुष्ट रहें।

मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि आप तीन-चार महीने साधना का और इन तीन बातों का जो मैंने आपको बतलाई हैं - यानी यथोचित खाना, यथा आवश्यकता बोलना और सोना - इनका अभ्यास करिये। आप स्वयं देखेंगे कि आपको ईश्वर की अनुभूति, आत्मा का साक्षात्कार हो सकता है। एक व्यक्ति विलायत में गए तो उनसे पूछा गया कि आध्यात्मिक महापुरुष में और आपमें क्या अन्तर है ? उन्होंने कहा कि वे तो संत बनाते हैं, मैं सेवक बनाता हूँ और वह व्यक्ति यही 'अकिंचन' था क्योंकि मैं तो सेवक बनाता हूँ, मैं स्वयं सेवक हूँ।

गुरु केवल परमात्मा है। हमारे दादागुरु कहा करते थे कि जो व्यक्ति अपने आपको गुरु कहता है वो गुरु नहीं है। ईश्वर की तुलना हम क्या कर सकते हैं ? उसके मुक़ाबले में हमारी हैसियत क्या है ? हमारे जैसे साधक तो केवल सेवक हैं। आप भी सेवक बनिये, गुरु बनने की चेष्टा छोड़िये। जो कुछ मैंने निवेदन किया है, इन सावधानियों और साधना को, इन गुणों को, पहले आप अपनाएं, फिर परिवार में, समाज में सबको बतलायें।

परमात्मा के अनेक नाम हैं। कोई व्यक्ति शिव भगवान का नाम लेता है तो कोई राम, कृष्ण आदि का। उसको अपना प्रिय नाम लेने दीजिये। नाम के झगड़े में मत पड़िये। नाम वही है जिसके लेने से ईश्वर की तस्बीर, ईश्वर का स्वरूप और उसके गुण, हमारे सन्मुख आ जाते हैं, हमारे हृदय पर छा जाते हैं। वास्तव में उस नाम के साथ नाम लेने वाले को प्रेमगति है जिससे लाभ होता है, भाव से लाभ होता है। जिस भाव से आप प्रभु को याद करते हैं उसको हम प्रेम

कहते हैं। प्रेम से उसको बुलाइये। प्रेम से उसके चरणों में बैठिये। आप व्यवहार में भी संसार के साथ प्रेममय हों। गुरु का यही ऋण है कि आप सुन्दर बनें, भगवान की तरह निर्मल बनें। भगवान शिव भी प्रेम गंगा और ज्ञान गंगा से सबको निर्मल करते हैं। आप भी वही रूप हैं। आपका भी वही कर्तव्य है। ईश्वरीय गुणों का ऋण आप तभी उतार सकेंगे जब आप पहले स्वयं निर्मल बनेंगे फिर संसार को निर्मल बनाने का प्रयास करेंगे - अपने व्यवहार को प्रेममय, सुन्दर, सेवामय बनाकर। गुरु मत बनिये, सेवक बनिये।

इस स्थिति के साथ-साथ भीतर का जो अभ्यास है वो भी करना है। जिसको जो पूछना है, मैं तैयार हूँ वो सब बताने को। इसके बारे में संकुचित होने की आवश्यकता नहीं है। मैं स्पष्ट बतला सकता हूँ। परन्तु जो भीतर का अभ्यास है वह अभ्यास प्रत्येक व्यक्ति के लिए अलग-अलग होगा। किसी के भीतर में भक्ति की भावना होती है, उसे भक्ति का अभ्यास बता दिया जाता है। जिस साधक में ज्ञान वृत्ति होती है, उसको ज्ञान-साधना बता दी जाती है। ये बातें पूछने बतलाने में कोई संकोच नहीं करना चाहिए। किसी तरह सबको आनन्द, सुख और शांति मिलनी चाहिए। पर ये काम मेरे अकेले का नहीं है। आप सबका काम है। इस प्रेम-यज्ञ में आप सबको आहुति डालनी है।

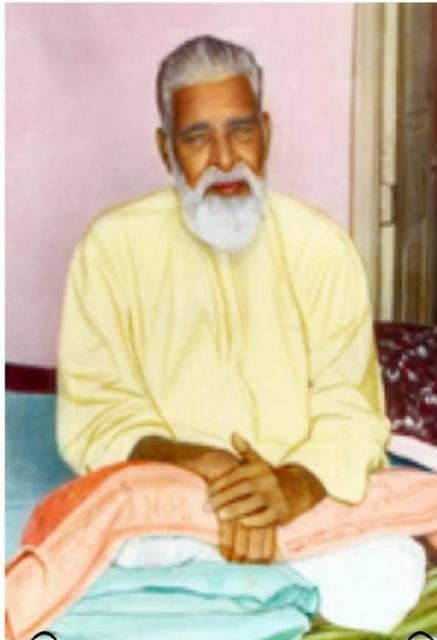
जयप्रकाश नारायण ने क्या माँगा था ? समाज में 'सम्पूर्ण क्रान्ति'। लोगों ने समझा नहीं था कि वह 'बिहार का शेर' क्या चाहता था ? सम्पूर्ण क्रान्ति ।।। भीतर की क्रान्ति, प्रत्येक की व्यक्तिगत क्रान्ति, क्योंकि व्यक्ति ही समाज को बनाते हैं। हम इतने बड़े समाज को बनाने की बात करते हैं, व्यक्ति को बनाने की नहीं। हमें, आप सबको, पहले स्वयं में क्रान्ति लानी होगी। हमारा व्यक्तित्व एक उदाहरण बनना चाहिए। यदि हम सब ही कोशिश करेंगे तो समाज बनता जायेगा, खुद-ब-खुद समाज में अपने आप क्रान्ति आ जाएगी। आप स्वयं सुख, शान्ति और आनन्द प्राप्त करेंगे एवं इस प्रसादी को समाज में, देश में, बाँटने का प्रयास करेंगे। राजनीति में नहीं पड़ना है। आज की राजनीति में पड़ना तो दुर्भाग्य होता है क्योंकि वहाँ एकमात्र ध्येय अब निजी स्वार्थ पूर्ति करना है, और इसके लिए कैसी-कैसी और क्या-क्या बुराइयाँ होती हैं, सब ही जानते हैं।

हमारे सत्संग के सभी भाई-बहिनों से, विशेषतः पुराने और वरिष्ठ उत्तरदायी साधकों, शिक्षकों, आचार्यों आदि से प्रार्थना है कि अपने व्यवहार से देश में क्रान्ति लाइए। सच्चाई की क्रान्ति लाइए, प्रेम और सेवा करके क्रान्ति लाइए। पहले अपने आप में परिवर्तन करिये। अहिंसा और सत्य धारण करिये। अपने आप को पवित्र बनाइये, फिर परिवार में परिवर्तन लाइए। घर में एक आनन्द का साम्राज्य होना चाहिए। इसी प्रयास को फैलाते जाइये, विकास करते जाइये जिससे समाज और देश सुखी हो जाय।

छोड़ दीजिये विश्व को, देश को, किन्तु अपने आपको और अपने आस-पास के माहौल को तो इस प्रकार का बनायें कि सबको प्रतिक्षण सुख, शान्ति, पावनता और प्रेमानंद की अनुभूति हो। इसी ईश्वरीय प्रेम और आनन्द का आभास और प्राप्ति करने-कराने का सहज प्रयास और सरल साधन है हमारे यहाँ का अभ्यास।

गुरुदेव सबको ऐसी शक्ति प्रदान करें।

00000000



बिना रहबर (पथ प्रदर्शक) को साथ लिए, बिना गुरु किए रास्ता तय नहीं होता . निर्गुण का ध्यान कैसे हो सकता है ? इसलिए उस महापुरुष की शरण लो जिसने ईश्वर का सक्षात्कार कर लिया है . उसका स्थूल शरीर मंदिर है जिसमें निर्गुण परमात्मा विराजता है . उससे प्रेम करने से , उसका ध्यान करने से तुम्हें भी आत्मदर्शन होगा . इसलिए हमारे यहाँ के तरीके में गुरु धारण करते हैं . गुरु की पूजा को ही मुख्यता देते हैं . गुरु और ईश्वर को दो नहीं मानते .

महात्मा डॉ . श्रीकृष्ण लाल जी महाराज



ईश्वर के गुणों को अपनाओ

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ०करतारसिंह जी महाराज)

" जो आदमी बिना गरज के प्यार करता है, अपने बेटी - बेटे और दूसरों के बेटी - बेटों को बिना भेद भाव के सबको एकसा प्यार करता है, कोई फ़र्क नहीं समझता और जिसका प्यार जीव - जन्तुओं, बनस्पति, इत्यादि सबके लिये समान है, उसी के दिल में परमेश्वर बसता है।"

पूज्य गुरुदेव (महात्मा श्रीकृष्ण लाल जी महाराज) फ़रमा रहे हैं कि जिसके हृदय में ईश्वर बसता है, जिसके हृदय में ईश्वर का प्रेम बसता है, उसका व्यवहार प्रेम - मय, ईश्वर -मय, आनन्द -मय होता है। सूरज की रश्मियाँ सब पर एक जैसी पड़ती हैं। परमपिता परमेश्वर हम सबको एक जैसा स्नेह देते हैं। मनुष्य के हृदय में भी आत्मा , परमात्मा के रूप में विराजमान है। उसका व्यवहार भी ईश्वरमय, प्रेममय होना चाहिये। प्रेम में एकता है, सरलता है स्थायित्वता है, अपनत्व है। दूसरा कोई है ही नहीं। सब प्रभु रूप हैं। मेरा - तेरा कुछ भी नहीं । प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में जहाँ ईश्वर बसना चाहिये, माया बस गयी है। अर्जुन भी भगवान कृष्ण से कहते हैं कि मेरे मन में क्या हो रहा है, मन में उथल -पुथल मचती रहती है, मैं वास्तव में आपसे स्नेह नहीं करता, संसार से स्नेह नहीं करता हूँ। मेरा मन चंचल रहता है, क्या करूँ ? इसका उपाय भगवान स्वयं ही गीता में केवल दो शब्दों में बताते हैं -- "वैराग और अभ्यास "। वैराग स्थिर होता है, पहले विवेक द्वारा। विवेक का अर्थ है कि जो बात, जो विचार, जो संगत, जो भोजन, आदि आपके हित में हैं उन्हें अपनाना है, तथा जो अहित में है, उनका त्याग करना है। जब विवेक सध जाता है तब वैराग शुरु होता है। वैराग का मतलब है बे -राग होना - राग और द्वेष से विमुक्त हो जाना। इस वक्त हमारा मन फँसा हुआ है राग में, द्वेष में। जब तक यह भावना नहीं हटेगी, भगवान हमारे भीतर में बसेंगे नहीं। इसके लिए भगवान कहते हैं - अभ्यास। संसार से अपने मन को विवेक और वैराग द्वारा हटाते चले जायें, एवं ईश्वर के साथ अनुराग करें, प्रेम करें, सेवा करें। ये एक क्षण में नहीं होता। बार - बार अभ्यास करेंगे तो ईश्वर कृपा से एक क्षण ऐसा भी आ सकता है, एक समय ऐसा भी आ सकता है कि भीतर और बाहर ईश्वर ही ईश्वर हो, प्रेम ही प्रेम हो, आनन्द ही आनन्द हो ।

पूज्य गुरु महाराज जी फ़रमाया करते थे कि संसार को भोगो, विवेक के साथ, वैराग के साथ एवं ईश्वर को याद रखो। सीधा साधन है - परन्तु इसमें सिद्धि एक दिन में नहीं आती, समय लगता है। घबराना नहीं चाहिये। परन्तु अपनी साधना को, अपने मन की स्थिति को समझना चाहिए। साथ-साथ अपने लक्ष्य को भी समझना चाहिये। हम दो - चार, पाँच -दस मिनिट ,सुबह - शाम ईश्वर की याद में बैठ जाते हैं, वह भी कभी बैठते हैं, कभी नहीं। सारा दिन हमारा मन इधर -उधर की बातें करता रहता है। तो जब साधना के समय बैठते हैं तो जो बातें सारे दिन हमने मन में एकत्र की थीं और उनकी छाया मन पर डाली थी, वो सब उस समय सामने आजाती हैं और हम घबरा जाते हैं कि हमारा मन ईश्वर के चरणों में नहीं लगता है। मेरा सबसे निवेदन है कि साधना पांच -दस मिनट की नहीं, पूज्य गुरुदेव के आदेशानुसार, सारे दिन की है, सारी रात्रि की है। सुबह शाम जो बैठते हैं ये, गुरु महाराज कहा करते थे, शक्ति पूजा है, शक्ति ग्रहण का साधन है। असली पूजा तो हमारी दिनचर्या है। संसार में व्यवहार करते हैं, या अपना शत्रु या मित्र समझ कर व्यवहार करते हैं तो दिन में किसी वक्त भी हम प्रभु की स्मृति को भूल जाते हैं, प्रभु ओझल हो जाते हैं। हम भूल जाते हैं कि प्रभु हमारे मन में बसते हैं और वो हम को देखते हैं। ये बार - बार अभ्यास करना पड़ेगा। एक क्षण में यह स्थिति सिद्ध नहीं होती। बड़े -बड़े सन्तों को भी इसकी सिद्धि नहीं है, उनका भी मन इधर - उधर चला जाता है। घबराना नहीं चाहिये । परन्तु यह भी नहीं समझना चाहिये कि प्रमाद से ईश्वर प्राप्ती हो जायेगी। ऐसा नहीं होगा ।

पूज्य गुरु महाराज का प्रवचन " स्तुति करने का तरीका " आप सबको पढ़ना चाहिये जिसमें उन्होंने यह बताया है कि प्रातःकाल उठने से रात के सोने तक हमें अपनी दिनचर्या कैसे व्यतीत करनी चाहिये ? उसका पालन हममें से कोई नहीं करत । सत्संग समाप्त हुआ तो देखिए कितनी बातें शुरु हो जाती हैं। ये तो यहाँ हैं, घर पर क्या करते होंगे लोग। किसी का भय है ही नहीं। भक्ति बिना भय और बिना भाव के होती ही नहीं। ईश्वर के प्रति किसी को भय की भावना नहीं है। ईश्वर का भय भी हो और ईश्वर के प्रति भाव भी हो, प्रेम भी हो, तब मन धीरे - धीरे लगने लगेगा, स्थिर होने लगेगा।

ईश्वर के गुणों में सहनशीलता भी एक गुण है। जो सहनशील है उन्हें लोग समझते हैं कि वे बुद्धू हैं। बुद्धू नहीं, वे सरल होते हैं, सब कुछ जानते हैं। उनकी सरलता एक महान गुण

है, ईश्वर का गुण है। क्षमा करके भूल जाओ। यदि याद रह जाती है, तो वह क्षमा नहीं है। आप जो कुछ नेकी करें ईश्वर के चरणों में समर्पित कर उसको भूल जायें।

मनुष्य ईश्वर से दूर हो गया है, अपने मन को ही सब कुछ समझता है। 'मैं - मैं ' का राग गाता है। 'तू ही तू', 'तू ही

तू' का राग नहीं गाता। प्रत्येक व्यक्ति अपनी 'मैं - मैं' करता है। उसके मुख से यह कभी नहीं निकलता कि मैं ईश्वर की कृपा से बोल रहा हूँ या मेरे साथ जो कुछ हुआ है या हो रहा है, यह सब ईश्वर की कृपा से हो रहा है। अब हम देखें कि हम कैसा व्यवहार करते हैं ? हम सब राग -द्वेष में फँसे हुए हैं। हम ईश्वर के दरबार में जाने के अधिकारी ही नहीं हैं। साधना में प्रगति क्यों नहीं होती ? हम में साधारण प्रेम भी नहीं उपजता, विश्व प्रेम, आत्मिक प्रेम तो छोड़ियो। एकता का प्रेम बहुत दूर है। भीतर में एक विषमता है। केवल अपने हित की सोचते हैं, दूसरे का हित नहीं सोचते। भीतर में काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार है। ईर्ष्या से हम कितना जलते हैं ? जहाँ ईर्ष्या होगी, जहाँ जलन होगी, जहाँ अग्नि होगी, वहाँ गंगा की शीतलता कहाँ रहेगी ? वहाँ आत्मा की शीतलता कहाँ होगी ? वहाँ परमात्मा का प्रेम कहाँ होगा ? साधना के साथ हमें प्रेम का महान गुण अपनाना होगा। सुबह - शाम की साधना के साथ हमें अपनी दिनचर्या को साधना का रूप देना होगा। तब जाकर हमारी सहज अवस्था आयेगी, तभी हमें प्रेम प्रसादी मिलेगी। सच्ची पूजा यही है कि हम ईश्वर के गुणों को सराहें, उन पर मनन करें तथा उन्हें अपना कर वैसे बन जायें। हमारे यहाँ की गुरु पूजा या ईश्वर पूजा यही है। नहीं तो यह जड़ समाधी हो जावेगी।

पत्थर भी तो पड़ा रहता है, उसको भी तो विचार नहीं आते। क्या यही हमारा लक्ष्य है ? विचार का आना न आना - भाई साहब ! इसकी चिन्ता मत करो। मन एक जगह केन्द्रित नहीं होता, इसकी चिन्ता मत करो। चिन्ता करनी चाहिये कि मेरे हृदय में ईश्वर के गुण कितने बसे हैं। पूज्य गुरु महाराज कहा करते थे कि ईश्वर का एक गुण भी हमारे हृदय में है तो ईश्वर के सारे गुण हृदय में आ जाते हैं। मन लगने की चिन्ता मत करो, चिन्ता करो कि ईश्वर के गुण कितने हमने अपनाये हैं। हमारे हृदय में से राग और द्वेष कितना निकल गया और उसकी जगह ईश्वर का प्रेम कितना बस गया है। केवल ईश्वर के लिये ही नहीं जनता

के लिये कितना प्रेम हमारे हृदय में बस गया है। हम जनता की सेवा अप्रयास, सहज में कितनी करते हैं ?

तो गुरु महाराज के आदेश का हम पालन करें। पहले निज प्रेम करें, समाज की सेवा करें और इसका विस्तार

करते - करते ईश्वर प्रेम के सागर में हम स्नान करेंगे एवं उसमें ओतप्रोत हो जायेंगे। ईश्वर को मन में बसायें। जिस व्यक्ति के हृदय में 'नाम' उतर जाता है उसके शिव- नेत्र खुल जाते हैं। वह कण-कण में ईश्वर के दर्शन करता है / "मन में राम, तन में राम, रोम-रोम में राम ही राम/ "

तो ईश्वर प्रेम को भीतर में उतारना चाहिए। वह हमारे भीतर में बसना चाहिए। हम ईश्वर जैसे ही बन जायें। " तू तू करता तू भया, मुझ में रहा न हूँ "। हम उसके प्रेम को, उसके गुणों को इतना याद करें कि हम वो ही (ईश्वर रूप ही) हो जायें तथा ' मैं' यानी हमारा अहंकार खत्म हो जाये। प्रेम के अर्थ को समझते हुए, प्रेम को भीतर में बसायें। हम प्रेम रूप हो जायें। प्रेम हमारा सहज रूप हो जाये। उस सहजता में एक भी अवगुण न ठहर सके। स्वामी रामदास जी के शब्दों में हम सबको एक अगरबत्ती की तरह बनना है। अगरबत्ती स्वयं जलती है परन्तु औरों को सुगन्धि देती है, आनन्द देती है। प्रेम बिना बलिदान के नहीं होता। संसार सब महापुरुषों के साथ दुर्व्यवहार करता रहा है। हज़रत ईसा ने कितना बलिदान दिया ? स्वामी दयानन्द जी, कबीर साहब, पर पत्थर फेंके गये। परन्तु उन्होंने संसार के लिये अपना सर्वस्व लुटा दिया ताकि संसार को आनन्द, शांति और प्रेम का अनुभव हो।

गुरुदेव सबका कल्याण करें ।

00000000000

ईश्वर के गुणों को अपने व्यवहारिक जीवन में

उतारना ही सच्चा ईश्वर दर्शन है

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ०करतारसिंह जी महाराज)

जब से सृष्टि उत्पन्न हुई है और संसार में उसका विस्तार हुआ है, जैसा कि हमारी संस्कृति बताती है, तब से अस्सी लाख योनियों के बाद भिन्न-भिन्न योनियों से निकलकर, कितने दुःख - सुःख सह कर यह मनुष्य चोला मिलता है। परन्तु खेद की बात है कि मनुष्य भूल जाता है कि यह विशेष उपकरण (मनुष्य चोला) जिसका कोई मूल्य नहीं आँक सकता और जो प्रभु ने हमें बड़ी कृपा करके प्रदान किया है, उसका लक्ष्य क्या है ? उसका क्या उपयोग करना है ? हमारे काफी संस्कार पिछले जन्मों में खत्म हो गये। फिर भी कुछ संस्कार शेष रह गये हैं। यह संस्कार ऐसे होते हैं कि जब तक मनुष्य चोला नहीं मिलता तब तक उनसे मुक्ति प्राप्त होती। देवगण जो परलोक में रहते हैं उनको भी जब तक मनुष्य चोला प्राप्त नहीं होगा तब तक उनकी गति (मोक्ष) नहीं होगी। इसलिए वे भी प्रभु से प्रार्थना करते रहते हैं कि - : 'हे प्रभु ! हमें मनुष्य चोला प्रदान करें ताकि हम अपने संस्कार भोग कर जल्दी से जल्दी आपके चरणों में पहुँच सकें। इस मनुष्य चोले का उद्देश्य यह है कि पिछले जन्मों के जो संस्कार हमारे भीतर में जमा हैं उन्हें भोग कर हम जन्म - मरण से मुक्ति प्राप्त करें। जब तक हमारे भीतर में पिछले संस्कार जमा हैं, वृत्तियाँ हैं, हमारा निषेध स्वभाव है हमारा संसार के साथ

राग - द्वेष है, इच्छाएँ हैं, तब तक हम अवागमन से मुक्त नहीं हो सकते। जब तक संस्कार खत्म नहीं होते हम जन्म - मरण के चक्र से नहीं छूट सकते। भगवान ने अपने आप को तो छिपा लिया और मनुष्य को व्यक्त किया और अवसर दिया कि अपने संस्कारों को खत्म करके अपने आप को गुप्त करो और मुझे प्रगट कर। संस्कार और परमात्मा दोनों ही हमारे भीतर हैं। परमात्मा हमारे निकट से भी निकट है। परन्तु मन और संस्कारों की दीवार ने परमात्मा को ढंक रखा है, उसके दर्शन नहीं होने देते। हमारा सारे दिन का व्यवहार राग - द्वेष से भरा होता है। पुराने संस्कारों में नये संस्कार और जुड़ते चले जाते हैं। रेशम के कीड़े की भाँति हम राग और

द्वेष के धागे से अपने आप को बांधते चले जाते हैं। यह बन्धन संसार रूपी कूड़ा - करकट को और अधिक जमा किये जाता है। हम आये थे निर्मल होने के लिये, स्वतन्त्र होने के लिए, मुक्त होने के लिये परन्तु संसार में ऐसे फँस गये जैसे गजराज कीचड़ में फँस गये थे। प्रत्येक व्यक्ति माया रूपी कीचड़ में फँसा है। गजराज ने तो भगवान से प्रार्थना की तो उसका उद्धार होगया परन्तु हमें तो प्रार्थना करनी भी नहीं आती। प्रार्थना तो हम तब करेंगे जब हम यह समझ लेंगे कि हम कीचड़ में फँसे हुए हैं। कोई भी व्यक्ति यह समझने की कोशिश नहीं करता कि वह माया में फँसा है। प्रत्येक व्यक्ति इंद्रियों के विषय -सुखों में लिप्त है और अपने जीवन का लक्ष्य जिसकी पूर्ति के लिये वह इस संसार में मनुष्य चोले में आया था, उसे भूल बैठा है। हम जानते हैं, माया में फँसते हैं और अपने असली लक्ष्य से बेखबर रहते हैं। जिन्हें होश आ जाता है या जिनके अन्दर जागृति उत्पन्न हो जाती है, वे अपने इस मनुष्य चोले का वास्तविक उपयोग करते हैं। दो रास्ते हैं - एक भक्ति का, दूसरा ज्ञान का। भक्त भगवान को बाहर से ढूँढता है, ज्ञानी भगवान को अन्दर खोजता है। बात एक ही है। हम सब मतान्ध हैं। जब ईश्वर की कृपा होती है, गुरु कृपा होती है तो हमें खूब ठोकरें खिलाते हैं, संसार के धक्के खाकर हमारे भीतर जागृति उत्पन्न होती है। तब बुद्धि समझती है कि अरे ! अमूल्य समय खो दिया। मरते वक्त किस को होश आता है ?

इसके आगे सहज समाधि है, आपका भी वही स्वरूप हो जायेगा जो प्रभु का, गुरु का या आत्मा का है। सहज अवस्था में आ जाता है। कहीं भी हो आपकी अवस्था सहज रहेगी, अर्थात् आत्मा के साथ तदरूप हो जायेंगे। ईश्वर के अनगिनती गुण हैं। वह सबको देता है और कोई आशा नहीं रखता। जो कुछ उसके पास है और जो कुछ उसने संसार में बनाया है, वह हमारे लिए है और हमको खूब बांटता है। क्या हम भी यही करते हैं ? अभी उसके गुण हमारे भीतर में अंकित नहीं हुए हैं। समाधि व एकाग्रता सिद्ध नहीं हुई है। गुरु महाराज बार -बार कहा करते थे कि गुरु या ईश्वर की पूजा क्या है ? उसके गुणों को सराहना, उन गुणों को बार -बार याद करना। गुरु या ईश्वर दर्शन क्या है ? जो ईश्वर या गुरु का स्वरूप है, जो उसके गुण हैं, वही हमारे हो जाने चाहिये। ईश्वर तो सारे संसार की रक्षा, पालन -पोषण कर रहा है। वह कुछ भी अपने पास नहीं रखता, खूब बांट रहा है। क्या हम ऐसा करते हैं ? ईश्वर सबको प्रेम देते हैं। क्या हम सबको प्रेम देते हैं ?

प्रभु सबको एक जैसा प्रेम देते हैं। किसी के प्रति विरोध की भावना नहीं। यह पाप और पुण्य मनुष्य स्वयं अपने मन के द्वारा करता है। क्या हमारे अन्दर ऐसी धारणाएं हैं ? यदि आपकी आत्मिक समाधि होती तो ये गुण नहीं जाते, अप्रयास ही विकसित होते। ईश्वर के भान का मतलब तो यही है कि भीतर और बाहर में (चाहे कोई व्यक्ति हमारा मित्र है या शत्रु) हमें सब ही में हमें हमारे प्रीतम के दर्शन हों। सत्संग में बैठ कर तो सबको थोड़ा बहुत भान हो जाता है परन्तु आँख खुलते ही आपको ईश्वर या गुरु के सिवाय और कुछ दीखे ही नहीं।

ईश्वर सबके अवगुणों को क्षमा कर देते हैं। वह किसी के पाप या दोष नहीं देखते। क्या हम भी सब में ईश्वर के दर्शन करते हैं ? हम तो लोगों के गुण -अवगुण देखते हैं। हमारी सहज अवस्था या वृत्ति बन गई है कि गुण तो हमें दीखते नहीं, हम सारे दिन दूसरों के अवगुणों की प्रतिक्रिया, आलोचना और चर्चा करते रहते हैं।

मन में किसी के प्रति बुरी भावना मत रखिए। हम रोज़ पढ़ते हैं कि प्रभु करुणानिधान हैं। परन्तु कितनी करुणा उत्पन्न हुई है हमारे हृदयों में ? । हम कितना प्रयास करते हैं कि लोगों के पास जाकर उनके कष्ट, दुःख आपस में बाटें, उनको मानसिक शांति दें। पैसा नहीं बाटें, शरीर से सेवा न करें परन्तु मन से, वचनों के द्वारा तो दुःखी को शांत करें। परन्तु यह कैसी समाधि है, यह कैसा भान है कि हम हर बख्त क्रोध और अहंकार में जलते रहते हैं। मैं भाई - बहिनों से हाथ जोड़कर निवेदन करूँगा कि ईश्वर के गुणों की स्मृति बार -बार करें। आँख बन्द होती है कि नहीं, मन लगता है कि नहीं, एकाग्रता आती है कि नहीं, इसकी चिन्ता मत करिये। आप दो घंटे बैठते हैं या ढाई घंटे, यह कोई विशेष बात नहीं है। अवगुणों का त्याग करें और गुणों को अपनायें। गुणों को अपनाने से समाधि सरलता से बन जायेगी। भीतर में किसी प्रकार का दुःख नहीं, मन शान्त है। प्रभु भी कितने शान्त हैं।

भगवान शिव जैसी शान्ति हमारे हृदय में होनी चाहिये। ईश्वर के रूप तथा गुणों का भान निरन्तर रहना चाहिये। यह देखिए कि हम प्रभु की, गुरु की पूजा तो करते हैं परन्तु प्रभु या गुरु के गुणों की पूजा करते हैं या नहीं। ईश्वर के कितने गुण हमारे भीतर में समां गये हैं ? यदि गुणों की समाधि हो जाती है तो हमारे भीतर में न क्रोध रहेगा न अहंकार रहेगा, न मेरापन रहेगा, न तेरापन, न कर्तापन रहेगा न मोह रहेगा। यह जो समाधि होगी उसमें आनन्द

होगा। यह समाधि अगरबत्ती की तरह होगी। स्वयं भी सुगन्धित है और चारों ओर अपनी सुगंधि फैला रही है।

ज्ञानी लोग कहते हैं - " मैं और परमात्मा एक हूँ "। परन्तु भक्त लोग कहते हैं -" मैं उसी से हूँ "। गुरु महाराज कहा करते थे कि मधुमक्खी मधु के किनारे बैठ कर आनन्द लेती है। इसी तरह हमारी भी कितनी भी सहज समाधि लग जाय, हम और प्रभु एक हो जायें, परन्तु भक्त पृथक हो कर प्रभु की आराधना करता है, पूजन करता है, गुणगान करता है, भजन गाता है। वह सुन रहे हैं, हम सुना रहे हैं। अपने आप को खत्म करके नहीं। यह कांता -भाव है। भगवान और राधा जी एक हैं । परन्तु राधाजी को आनन्द आता है श्याम से पृथक होकर। भगवान को पुकार कर आनन्द आता है। भगवन ! तुम कहाँ हो? अपनी मुरली की मधुर ध्वनि सुनाओ। ये दो साधनायें हैं। अन्तर कुछ भी नहीं है। यह नहीं समझना चाहिये की ज्ञान की अवस्था गलत है। परन्तु भक्त को इसमें आनन्द आता है । ज्ञानी लय- अवस्था में ही मस्त है। भक्त लय अवस्था को प्राप्त करके फिर अलग हो जाता है। यह ऊँची अवस्था है।

ज्ञानी एक होकर उसी में मस्त रहते हैं, किन्तु भक्त नहीं। इस बेहोशी में यानी सुषुप्ति की अवस्था में हम कहीं आत्मा या परमात्मा के गुणों को भूल न जायें । हमारे हृदय में कृतज्ञता रहनी चाहिये। शुक्र रहना चाहिये। "तू " ही "तू " की आवाज़ उठनी चाहिये । " मैं " की नहीं । फिर उसी "तू " में उसके गुण याद करके कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिये। तू कृपानिधि है, तू दयानिधि है, यह तुम्हारी ही दया है कि मैं अपने अवगुणों से मुक्त हो गया, मुझे आत्मा की अनुभूति हुई। आपकी कृपा से ही मुझे गुरुदेव के दर्शन हुए, उनके चरणों का आश्रय मिल । इस प्रकार समाधि भी है , ध्यान में मस्त भी हों, भीतर में कृतज्ञता का भाव भी हो, शान्ति हो और ईश्वर की निकटता का भान हो। ऐसा होता है कि कई लोग ईश्वर से बातें भी करते हैं। कोई समस्या आ जाती है तो जैसे हम और आप बातें करते हैं, वे लोग ईश्वर से बातें करते हैं और ईश्वर उनका मार्गदर्शन करता है।

ऊँची आत्मायें आकर मनुष्य रूप धारण करके ऐसे जिज्ञासुओं से बात -चीत करती हैं। साधना का रास्ता कभी खत्म नहीं होता। इसकी गहराई में आज तक कोई नहीं पहुँचा। प्रभु का अन्त आज तक किसी ने नहीं जान । इस कारण साधक ज्ञानी हो या भक्त, बढ़ता चला जाता

हैं, कभी थकता नहीं। जो भक्त हैं वह प्रार्थना द्वारा ईश्वर का आव्हान करके, पुराने बुजुर्ग आत्माओं का आव्हान करके, उनसे बात - चीत करते हैं और जो बाधाएं रास्ते में आती हैं, उनके लिए आदेश लेकर आगे बढ़ते हैं। गुरु गोविन्द सिंह जी ने स्वयं लिखा है कि परमात्मा ने मुझे प्रेरणा दी कि अब यहाँ नहीं रहना है, दूसरा चोला धारण करके भारत में जाकर देशवासियों का उद्धार करना है। बातचीत हुई। वह प्रभु के चरणों को नहीं छोड़ना चाहते थे। पता नहीं कितने सैकड़ों या हज़ारों वर्ष तक उन्होंने एक ही स्थान (हेमकुंड) पर बैठकर तपस्या की। कभी भी सन्तुष्टि नहीं होनी चाहिये।

लाला जी महाराज हमें सावधान करते हैं कि कहीं हम अपने आपको तामसिक अवस्था में न खो दें। ईश्वर या गुरु की जो कृपा है उसकी हमें स्मृति होनी चाहिए, उसके प्रति कृतज्ञता का भाव होना चाहिये, गदगद होना चाहिये, प्रसन्न चित और आनन्दित होना चाहिये। हम तो मामूली साधारण समस्याओं में ही ईश्वर को भूल जाते हैं। यह तो समाधि नहीं है। आत्मिक समाधि होनी चाहिये। वह समाधि इतनी प्रकाशमय, इतनी शक्तिमय है कि साधारण समस्याएँ तो महत्व ही नहीं रखतीं। व्यक्ति के अन्दर प्रभु की तरह निर्भयता आ जाती है, वह अभय हो जाता है। हमें यह देखते रहना चाहिये कि हमारे भीतर प्रभु के गुण विकसित हो रहे हैं या नहीं तथा हमारा व्यवहार कैसा है ?

साधारणतया सत्संगी का मन जब लगने लगता है तो उसे एक सूक्ष्म सा अहंकार हो जाता है। कहता है "मैं तो बहुत बढ़ गया, परमात्मा जैसा हो गया"। यह बड़ी भूल है। पूज्य लाला जी महाराज ने लिखा है कि हमारे चित की अवस्था प्याज़ जैसी होती है। एक के बाद एक छिलका उतरता जाता है, कभी खत्म होने को नहीं आता। हमारे चित में इतनी मलीनता है कि थोड़ी सी एकाग्रता के बाद यह सोच लेना भूल है कि आखिरी मन्ज़िल मिल गई। कोशिश करो कि गुरु, आत्मा या परमात्मा के गुण आपमें विकसित हों। जब तक वे गुण विकसित नहीं होते और आपका सहज में व्यवहार वैसा नहीं बनता, तब तक मन्ज़िल दूर है। कभी भी अपने ऊपर यह विश्वास न कर लें कि हमने साधना में बहुत तरक्की कर ली। कुछ नहीं किया। हम तो सागर के किनारे बैठे हुए कंकड़ों से खेल रहे हैं। परमात्मा को भूल जाना हमारे यहाँ बेअदबी समझी जाती है। हम सांसारिक काम करते हुए परमात्मा को भूल जाते हैं। जो व्यक्ति परमात्मा की याद रखता है और उसके अन्तर में परमात्मा की अनुभूति का भान निरन्तर बना रहता है,

उससे बुराई नहीं होगी। श्रद्धा और विश्वास के साथ इस साधना का अभ्यास करना चाहिये। हम जो सुबह- शाम पूजा करते हैं उसे साधना का रूप देना चाहिये। जिस व्यक्ति के व्यवहार में यह साधना बनी रहती है और जिसे उसमें सिद्धि प्राप्त हो जाती है, वह धन्य है। उसके मन में कोई समस्या, कोई दुःख रहता ही नहीं। किसी सुःख की चाह भी नहीं रहती क्योंकि परमात्मा की याद में इतना सुःख है कि सांसारिक सुखों का वहाँ पर स्थान ही नहीं है। वह तो स्वयं ही आनन्द रूप है। तृप्ति है, सन्तोष है, शान्ति है। वह तो भगवान शिव का रूप बन जाता है। उसके चहरे पर मुस्कान है, संतुष्टि है। वह तो एक मशीन की तरह है - जैसे ईश्वर चाहता है, वैसे कर्म वह करते रहता है। उसका किसी के साथ कोई बन्धन नहीं। क्या ईश्वर का या प्रकृति के किसी रूप का किसी के साथ कोई बन्धन है ? केवल एक मनुष्य ही है जो मोह ग्रस्त है, राग और द्वेष में फंसा हुआ है।

भीतर में से अहंकार, संसार के प्रति हमारी इच्छायें, आशायें हैं, इनको कम करना चाहिये क्योंकि जिस व्यक्ति के मन में इच्छाएँ उठती हैं और वे पूरी नहीं होतीं तो निराशा होती है, परिणाम स्वरूप क्रोध आता है, हमारे भीतर में अग्नि जलती है। इच्छाओं को कम किया जाना चाहिये। एक ही इच्छा रह जाय, ईश्वर के प्रेम की। हमें ईश्वर में विश्वास नहीं है कि कोई तकलीफ़ आयेगी तो कैसे हल होगी। हम ईश्वर से प्रार्थना नहीं करते, मित्रों - सम्बन्धियों की खुशामद करते हैं। यह ईश्वर के साथ हमारा सम्बन्ध नहीं है। हम सांसारिक व्यक्तियों को ज़्यादा महत्व देते हैं जिसके कारण हम रोग-ग्रस्त हो रहे हैं। हमें इनका त्याग करना चाहिये। ऐसा करने पर ईश्वर में हमारा विश्वास दृढ़ हो जाता है कि परमात्मा मेरे सब काम करेंगे। हम निर्भय अवस्था को प्राप्त होते हैं। इच्छाओं को कम करने के लिये सन्तोष का अभ्यास करना चाहिये। जिसके भीतर में ईश्वर का नाम बस गया, उसको ईश्वर के प्रेम के अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु अच्छी नहीं लगती। सन्तोष अप्रयास ही आ जाता है। भीतर में शान्ति रहती है, व्याकुलता नहीं।

एक दार्शनिक ने लिखा है : "My richness consists in the smallness of my wantsl " (" मेरी अमीरी मेरी इच्छाओं की कमी में है ") पूज्य लाला जी ने फ़रमाया है कि इच्छाओं का त्याग करना चाहिये, संसार के व्यक्तियों के साथ अपने मोह से मुक्त होना चाहिये। इच्छाएँ ही सब दुःखों का कारण हैं। इच्छाओं को कम करना चाहिये।

गुरुदेव फरमा रहे हैं कि साधक उतावले न हों। शान्ति की अवस्था, भीतर और बाहर प्रभु की उपस्थिति की अवस्था, धीरे-धीरे हो जायेगी। परन्तु साधक को भी प्रयास करना चाहिये। गुरु कृपा और ईश्वर कृपा तो हर समय हो रही है। उसमें कभी कमी नहीं हुई। परन्तु साधक को भी निज कृपा करनी चाहिये। उसको भी आगे बढ़ना चाहिये। यह ठीक है कि परमात्मा प्रेम देता है, गुरु स्नेह देता है, परन्तु हमारा भी तो कुछ कर्तव्य है। वह है गुरु के प्रति 'भय और भाव' रखना। भय का मतलब डर नहीं लज्जा का है। श्री जैसे अपने पति के प्रति लज्जा रखती है। वह प्रत्येक काम पति को खुश करने के लिए करती है। उसके सब व्यवहार पति की प्रसन्नता के लिए होते हैं। उसके मन में यह भाव होता है कि मुझसे ऐसा कोई काम न हो जाय जिससे मेरे पति मुझसे रुठ हो जाये। इसी प्रकार का भय व भाव हमारा गुरु व परमेश्वर के प्रति होना चाहिये। यदि एक यह भय हमारे भीतर में है तो हमसे कोई बुराई होगी ही नहीं।

दूसरा है 'भाव' अर्थात् गुरु और परमात्मा के प्रति प्रेमा खाना खा रहे हैं तो उनकी याद है कृतज्ञता के रूप में काम कर रहे हैं तो उनकी याद है। यह व्यावहारिक भाव है। व्यक्तिगत भाव यह है कि उनके साथ हमारा प्रेम का सम्बन्ध हो। पत्र द्वारा, सत्संग में आकर गुरु से सम्बन्ध पैदा कर लेना चाहिये। गुरु हमारे वगैर न रह सकें, हम गुरु के वगैर न रह सकें। स्वामी राम कृष्ण और विवेकानन्द या पूज्य गुरु महाराज और पूज्य लालाजी महाराज का सा प्रेमा।

अधिक प्रतिक्रिया करने, संसार की अधिक आलोचना करने, भला - बुरा कहने के अपने स्वभाव की वृत्ति का त्याग करने का अभ्यास करना चाहिये। इससे मन की चंचलता जाती रहेगी। किसी के दोष न देखें, अपने दोष देखें। किसी की आलोचना नहीं करनी चाहिये। आगे चलकर बुराई -भलाई नहीं दिखेगी। केवल परमात्मा के ही दर्शन होंगे।

इसलिए ईश्वर की उपस्थिति के भान के लिये दो तीन बातों का होना बहुत ज़रूरी है। कम बोलें, किसी की प्रतिक्रिया न करें और अपने अहंकार को कम करते जायें।

गुरुदेव सबका कल्याण करें।

000000000

ईश्वर तक पहुँचने का साधन सोपान - 'नाम' जप सुमिरन

(ब्रह्मलीन महात्मा डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

हर साधक की एक बड़ी जिज्ञासा रहती है कि ' नाम ' क्या होता है ? नीचे से छत के ऊपर जाने के लिए हम सीढ़ी का उपयोग करते हैं। सीढ़ी हमारा साधन बन जाती है, हमारी पद्धति बन जाती है। इसी तरह 'नाम' भी ईश्वर तक पहुँचने का एक सरल साधन है, सोपान या सीढ़ी है ।

बहुत दिनन बिछुड़े थे माधव बिना तुम्हारे लेखे,

कहै रविदास आस लागि जीवो चिर भयो पुरुख न देखे !

संत रविदास जी भगवान के प्रति कहते हैं कि जन्म-जन्मान्तर से मैं आपसे बिछुड़ चुका हूँ पर यह आशा लगाकर बैठा हूँ कि इस जन्म में आपकी कृपा होगी तो आपके चरणों की समीपता प्राप्त हो जाएगी। इतने ऊँचे संत जब यह कहते हैं तो उनकी तुलना में हमारी गति क्या होगी ?

हम सब अपने प्रियतम परमात्मा से बिछुड़े हुए हैं। मिलन की यह जो क्रिया है उसको 'योग' कहते हैं और उसको 'नाम' भी कहते हैं। यह एक पद्धति है, तरीका है, साधना है। सामान्यतः यह समझा जाता है कि यह जो हम 'राम-राम' कहते हैं, 'ॐ ॐ ' करते हैं, ये ही 'नाम' है। परन्तु यह 'नाम' नहीं है। ये उस साधन पद्धति का, योग की क्रिया का, श्री गणेश है। ये अन्तिम चरण नहीं है, यह सीढ़ी का पहला चरण है।

लकड़ी के दो टुकड़ों को जोड़ने के लिए जैसे हम सरेस लगाते हैं तो वह जुड़ जाते हैं। इसी तरह से जिस साधन के द्वारा हमारी बिछुड़ी हुई आत्मा परमात्मा से मिल जाती है उस साधना को हम 'नाम' कहते हैं। इसका बड़ा विस्तार है जिससे ग्रन्थ भरे पड़े हुए हैं। महापुरुषों की जीवनियों के उदाहरणों से हमें प्रेरणा मिलती है कि 'नाम' किस प्रकार लें यानी अपनी आत्मा को परमात्मा में किस प्रकार विलय करें कि हम जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाएँ।

बात छोटी सी है परन्तु है बहुत महत्वपूर्ण। ईश्वर का रूप क्या है, सभी जानते हैं। सभी संतों ने इसकी महिमा गायी है और कहा है कि 'ईश्वर प्रेम है।" God is Love, Love is God"(परमात्मा प्रेम है और प्रेम ही परमात्मा है।) परमात्मा तो प्रेम है और उससे मिलने की साधना भी प्रेम है। जैसे लकड़ी के दो टुकड़े हो गए हैं वैसे ही हम भी ईश्वर से पृथक हो गए हैं। उससे मिलने के लिए हमारी साधना भी प्रेम ही है। यह 'प्रेम' की परिभाषा, प्रेम की विचित्र लीला, बड़ी कठिन है जो शब्दों में व्यक्त नहीं की जा सकती ।

सत्संग-भंडारों में हम पूज्य दादागुरु (महात्मा रामचन्द्र जी महाराज, फतेहगढ़ी) के वचन सुनाया करते हैं। उनको यह आध्यात्मिक दौलत किस प्रकार प्राप्त हुई ? वे अभी बालक थे, विद्या पूरी नहीं की थी। एक दिन बारिश में भीगते हुए, तूफान से बचते हुए, जिस कोठरी में आप रहते थे उस कोठरी में शाम को वापस आये। रास्ते के बीच में (जिस सराय में दादागुरु ने कोठरी किराये पर ले रखी थी और जिसमें रहकर वे विद्या अध्ययन करते थे) एक महापुरुष भी एक कोठरी में रहते थे। उन्होंने देखा कि सर्द है और बारिश से बच्चा भीगा हुआ तो बड़ी करुणा से उस बच्चे को सम्बोधित करते हुए महापुरुष कहते हैं, " नन्हे ! यह क्या तुम्हारी हालत हो रही है, जाओ फ़ौरन कपड़े बदल कर मेरे पास आ जाओ। पूज्य दादा गुरुदेव कहते थे कि महापुरुष के इन शब्दों में असीम आकर्षण भरा था, खिंचावट थी । वे तुरन्त ही कपड़े बदलकर उन महापुरुष की सेवा में पहुँच गए।

उस महान फ़कीर (परम पूज्य मौलाना फ़ज़ल अहमद खां साहिब) ने पूज्य दादागुरु के पहुँचने से पहले ही एक अंगीठी में आग जला रखी थी और बिस्तर बिछा रखा था। कहा - " बेटे ! यहाँ बैठ जाओ और कुछ देर आग सेककर तब घर जाना। " ऐसा कहकर उन्हें अपनी रज़ाई उढ़ा दी। पूज्य लालाजी (दादा गुरु महाराज) कहते थे कि " उस समय मेरी अवस्था अनिर्वचनीय थी। मुझे पता नहीं था कि मेरा शरीर कहाँ है, मेरे मन के संकल्प-विकल्प कहाँ गए, बुद्धि का तर्क कहा चला गया, मेरा अपनत्व कहाँ है ? किसी महान शक्ति के वश मैं आकर मैं अपने आपको तथा अपने कर्तव्य को भूला हुआ हूँ।"

जब उन महान सूफ़ी फ़कीर ने अपनी शक्ति को खेंचा और पूज्य दादा गुरुदेव अपनी सामान्य स्थिति में आये, तो उन्होंने उन्हें बड़ा प्यार दिया। उसके बाद भी मौन में, बिना बताये

हुए, उस बालक को वे हमारे बुजुर्ग सूफी संत अपनी अमृत प्रसादी प्रदान करते रहे। बीस साल की उम्र में उस महापुरुष ने अपनी सारी आत्मिक शक्तियाँ उन्हें प्रदान कर दीं और कहा कि, 'बेटे ! जाओ और संसार की सेवा करो। जितनी अधिक सेवा करोगे तो जो कुछ मैंने तुम्हें दिया है वह और अधिक फूलेगा-फलेगा।' यह भी 'नाम' है, प्रेम की प्रसादी है।

इसी सन्दर्भ के समान हमारे गुरु महाराज (महात्मा डॉ, श्रीकृष्ण लाल जी महाराज) पूज्य लालाजी महाराज (दादा गुरुदेव) की सेवा में गए तो निवेदन किया कि, "मुझे भी रूहानियत का रास्ता बताइये, मुझे भी कोई पद्धति बताइये कि मैं साधना किया करूँ।" लालाजी महाराज पूज्य गुरुदेव को बहुत स्नेह करते थे। उन्होंने फ़रमाया कि, " नन्हे ! तुम्हें साधन की क्या ज़रूरत है? तुम्हारे लिए तो साधन मैं करता हूँ जो कुछ मेरे पास है वह तुम्हारा है।" मौन में ही, बिना बताये, बिना किसी संकेत के जो कुछ आपके पास था वो सब गुरु महाराज को प्रदान कर दिया और अपने गुरुदेव के आदेशानुसार उनसे कहा कि , " अब तुम सबकी सेवा करो। जितनी अधिक सेवा करोगे उतनी अधिक वह प्रसादी जो मैंने तुम्हें दी है फलित होगी।" ये है 'नाम' की महिमा - 'नाम' की शिखरता को सिद्ध करने वाली पद्धति या साधना।

संत की कृपा जिस पर होती है, वह किस समय होती है, यह कुछ कहा नहीं जा सकता। हमें तो सतर्क रहना चाहिए कि हम कोई ऐसी बात न कर जायें जो उनकी इच्छा के प्रतिकूल हो। इसको सूफी भाषा में 'बे-अदबी' (अशिष्टता) कहते हैं। हमारे यहाँ का पहला करीना यानी पहला नियम जो है वो है 'अदब' (विनय, शिष्टाचार) का रास्ता। अदब का पहला करीना है, 'मौहब्बत के करीनों में।' कभी भूलकर भी इस अदब के करीने को, इसके नियमों को न छोड़ें।

प्रेम में क्या करना है ? प्रेम साधन में कुछ नहीं किया जाता। कुछ मत करियो। कुछ करने की ज़रूरत भी नहीं है। ये साधन तो मेरे जैसे व्यक्ति के लिए है। आत्मिक साधन के लिए निष्क्रिय बनाना पड़ता है। वैसे भी इस प्रेम की साधना में एक प्रकार की 'निष्क्रियता' है और अपने इष्ट के साथ प्रेम व्यवहार में भी केवल प्रेम ही है और कुछ नहीं। अब प्रेम कैसे किया जाता है - ये सिखाया नहीं जाता। इसका कोई स्कूल नहीं है जहाँ यह सिखाया जाता हो। गुरु महाराज (डॉ०श्रीकृष्ण लाल जी महाराज) कहा करते थे कि, "अगर प्रेम सीखना है तो प्रेमियों

का संग करो, उनका सत्संग करो, वहीं प्रेम की प्रेरणा मिलेगी। मोहब्बत का सलीका आ जायेगा।"

ये कैसी विचित्र लीला है ? गुरु गोविन्द सिंह जी ने 'नामदान' दिया है जिसको पंजाबी में 'अमृत' कहते हैं। उस वक्त देश में इतना उपद्रव हो रहा था कि इतिहास पढ़ने वालों को पता है कि उस वक्त हमारी क्या दुर्दशा थी ? आवश्यकता थी उस वक्त कि जो अधर्म हो रहा था उसको खत्म किया जाय। इसीलिए उन्होंने ललकार कर कहा था कि, " मुझे पाँच व्यक्ति ऐसे चाहिए जो अपना सिर दे सकें।" धीरे-धीरे पाँच व्यक्ति सामने आये ,बाकी सब भाग गए, कोई नहीं टिका। उन पाँच व्यक्तियों को उन्होंने अपनी शरण में ले लिया, उन्हें 'अमृत' प्रदान किया, अपने जैसा बना लिया और फिर उन 'पंज प्यारों ' (श्री दया राम, धर्मचन्द, साहिब राम, हिम्मतराय, और मौहकम राय) को अमृत दान देने के पश्चात् इनके नामों के साथ 'सिंह' लगा दिया और फिर हाथ जोड़कर उनसे निवेदन किया कि अब आप मुझे 'नामदान' प्रदान करें।

यह इतिहास की अनोखी घटना है कि गुरु कह रहा है अपने शिष्यों को कि वे उनको अमृत प्रदान करें। उनको शिष्य कहते हैं कि, " ये आप क्या कह रहे हैं ? हमारा तो सब कुछ ही आप हैं। हमें आपने जो कुछ प्रदान किया है, हम पर जो कृपा आपने की है, उसका हम वर्णन नहीं कर सकते। हम आपको कैसे 'नाम' दें ? एक शिष्य आपने गुरु को नाम दे, ये कैसे हो सकता है ? परन्तु गुरु मज़बूर करते हैं और शिष्य विवश हो जाते हैं। पाँचों शिष्य मिलकर जिस तरीके से गुरु ने अमृत प्रदान किया था, उसी तरीके से उन पाँचों शिष्यों ने आपने गुरु को 'अमृत' प्रदान किया है। अब गुरु क्या करता है उन शिष्यों के प्रति ? शिष्य तो गुरु की महिमा करते ही आये थे, ग्रन्थ भरे हुए हैं गुरु की महिमा पर, परन्तु गुरु शिष्य की महिमा का गुणगान करे - ये एक अनोखी बात है। तभी तो आपने (दशम गुरु गोविन्द सिंह जी ने) इस अद्भुत पद की रचना की -

' इन्हीं की कृपा से सजे हम हैं / '

'सजे हैं' का मतलब है कि हमारी आत्मशक्ति इन्हीं भाइयों की, इन्हीं प्रेमियों की, इन्हीं प्यारों की कृपा से मुझे प्राप्त हुई है - ' नहीं तो करोड़ों गरीब मुझसे पड़े हैं '। इन्हीं की कृपा

से अब मैं ईश्वर के समीप आ गया हूँ । उन्होंने शिष्यों की इतनी स्तुति की है कि जितना परमात्मा की की जाती है। 'ये मेरे ही रूप हैं, ये ही परमात्मा हैं, ये ही सब कुछ हैं।

आप कहेंगे कि ये कैसी अनौखी दीक्षा है और ये 'नाम' कैसा है ? ये है प्रेम की लीला। शिष्य में और गुरु में वास्तव में कोई अन्तर नहीं होता। हमारी साधना ही प्रेम की साधना है। ये जो कुछ भी हम दीक्षा के समय बतलाते हैं ये एक तकनीकी साधना है क्योंकि साधारण व्यक्ति को विश्वास नहीं होता जब तक उसको उसकी तकनीक न बतलायी जावे। वास्तव में हमारे यहाँ की जो साधना है वह प्रेम की ही है। प्रेम कहते हैं - जहाँ कोई दुई नहीं, विभाजन नहीं, जहाँ एकता ही एकता है, जहाँ शब्द नहीं हैं, केवल भाव का ही आनंद सागर है।

ये शब्दों का (बोलने का, प्रवचन करने का) प्रयोग कुछ सालों से होने लगा है क्योंकि प्रायः लोगों को तृप्ति नहीं होती जब तक गुरु कुछ बोले नहीं। हमारा ये साधन शब्दों का नहीं है। जहाँ शब्द खत्म हो जाते हैं वहाँ से ये साधना शुरू होती है। इसीलिए हम मौन साधना पर बैठते हैं। परन्तु हम 10-15 मिनटों के बाद ऊब जाते हैं। फिर कभी भजन पढ़ते हैं, कभी हम (गुरु) बोलते हैं, कभी पुस्तकें पढ़ते हैं, तो मौन में जो प्रेम साधना करते हैं उसको ग्रहण करने की कोशिश करते हैं। आत्मा की तो कोई साधना नहीं है। उसको ग्रहण करने की कोशिश मात्र है, उसकी कोई पद्धति नहीं है। किस समय, किस प्रकार, ईश्वर की, गुरु की, कृपा हो जाती है, कोई कुछ नहीं कह सकता। वह कृपा क्षण भर में होती है उस क्षण की प्रतीक्षा ही हमारी साधना है। उस क्षण की लम्बी प्रतीक्षा का शबरी के जीवन से पता चलता है जिसे स्वयं अचानक आकर भगवान राम कृतार्थ करते हैं, उसे 'नाम' या अपना प्रेम प्रदान करते हैं।

भगवान की दया की, उनकी कृपा-प्रसादी की, प्रतीक्षा भी एक साधना हैं। गोपियों की लीला भी एक प्रेम लीला है। कभी तो गोप-गोपियाँ भगवान को आपने हृदय में बसा लेते हैं, कभी रास-लीला करते हैं, खेलते हैं, जो भी मन में आता है वो कहते हैं। ये सब प्रेम-लीलाएं हैं। परन्तु प्रेम का जो अन्तिम साधन है वह है आपने अस्तित्व को खत्म कर देना और उस महान शक्ति में विलय हो जाना।

“ नानक सोई सुहागिन जिन जोती जोत समाना !”

जो व्यक्ति अपनी ज्योति यानी अपनी आत्मा को परमात्मा रूपी ज्योति में लय कर देता है वही सुहागिन है, बाकी सब दुहागिन हैं। अभी भी वृन्दावन में 'सदा-सुहागिन' नामक भक्तों का एक सम्प्रदाय ऐसा है जिसमें लोग स्त्रीयाँ बनकर भगवान् कृष्ण का नाम लेते हैं। वे गोपियों जैसे वस्त्र पहनते हैं, और वैसे ही बोलते हैं जैसे स्त्रीयाँ बोलती हैं। सुहागिन बनने का अर्थ यह है कि वे भगवान को अपने अंग-अंग में समा लेते हैं। परन्तु यह वाह्य साधन है। सुहागिन का वास्तविक मतलब यह है कि जैसे गोपियाँ थीं, वैसे हम बन जाएँ, राधाजी जैसे बन जाएँ अपना कुछ है ही नहीं, सब भगवान का ही है। अपना कहने को कुछ भी नहीं, शब्द भी नहीं, वाणी भी नहीं। तो वो ही व्यक्ति सुहागिन है, वो ही व्यक्ति प्रेमी है जो अहंकार को, अपने अस्तित्व को खत्म करके अपने आपको ईश्वर में लय करदे। केवल तू ही तू रह जाये और वो भी तू तू करता ही मौन हो जाये।

तू तू करता तू भया मुझ में रही न हूँ !

आपा फिरका मिट गया जत देख्यां तत तू !!

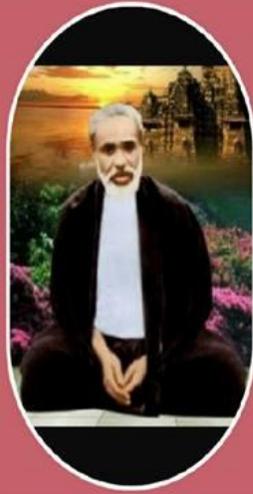
तो ये सब 'नाम' हैं। नाम और नामी में कोई अन्तर नहीं है। सूर्य और सूर्य के प्रकाश में कोई अन्तर नहीं है। ईश्वर और ईश्वर के नाम में कोई अन्तर नहीं है। ईश्वर अनामी है। उसका नाम ही अनामी है। जो कुछ हम बोल रहे हैं, बताने का प्रयास कर रहे हैं, ये अनामी नहीं है। ये केवल प्रयास है। उस नाम के आश्रित ही यह सारा विश्व खड़ा है। ईश्वर की कृपा, ईश्वर प्रेम, ईश्वर की शक्ति - बस उसी के सहारे यह सँसार चल रहा है। परन्तु अपने मन के कारण, अपने अहंकार के कारण, अपनी अनामी स्थिति को मनुष्य भूल गया है। उसने अपनी अलग दुनियाँ स्थापित कर ली है। मनुष्य दुनियाँ में, माया में, इतना ग्रस्त हो गया है, इतना फंस गया है कि वह यह भूल गया है कि वो ही अनामी है, वो ही सतपुरुष है। उस स्थिति को जानने के लिए हम जो साधना करते हैं, जो पद्धति अपनाते हैं, उसको 'नाम' कहते हैं।

इस भ्रम को दूर करने के लिए कोई एक साधना-पद्धति नहीं है। स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने सत्रह पद्धतियाँ अपनाकर भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की, भिन्न-भिन्न धर्मों की, पद्धति से साधना करके यह सिद्ध कर दिया कि सब धर्म, सब पद्धतियाँ सही हैं। ईश्वर सत्य है और सब धर्म ईश्वर को सत्य स्वरूप मानते हैं। ये जो आपस के झगड़े हैं कि मेरी ही पद्धति ठीक

है, जिस तरह से मैं ईश्वर का नाम लेता हूँ, या ईश्वर से प्रेम करता हूँ, वो ही सही है, बाकी सब ग़लत हैं - ऐसा कभी भूल कर भी नहीं कहना चाहिए।

सब रास्ते, सब पद्धतियाँ सही हैं। परमात्मा सत्य है और उससे मिलने का रास्ता भी सत्य है। वो प्रेम है अर्थात् नाम और नामी एक ही हैं। उसको पाने की पद्धति प्रेम है - सब धर्म यही सिखाते हैं। ये ही सब 'नाम' हैं। ईश्वर का नाम प्रेम है।

0000000



पीर से उलफत हो मुझको और बनूँ
उनकी मुराद
'राम' के 'श्रीकृष्ण' की अनुपम कृपा
के वास्ते



अभ्यासियों को तीन बातें अवश्य
करनी चाहिए :-

- १.) जहाँ तक हो गुरु का सत्संग करें
- २.) आँतरिक अभ्यास -- ध्यान ,
भजन सुमिरन और मनन करते रहें .
- ३.) अपने मन के ख्यालों पर हमेशा
निगाह रखें और बुरे ख्यालों को हटा
कर अच्छे ख्याल कायम करते रहें .

निश्चित है कि फ़ायदा होगा . मालिक
की याद से गाफ़िल न हों और मन में
धीरज रखें . सब उल्टी सीधी हालतें
आएँगी और चली जाएँगी . आँधी
आती है , वर्षा लाती है , शीतलता छोड़
जाती है .

महात्मा डॉ . श्रीकृष्ण लाल जी महाराज

ईश्वरीय गुणों का महत्त्व

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

संसार के सभी महान ऋषि-मुनियों, सन्त महापुरुषों और उनके द्वारा लिखे गए वेद, उपनिषद, पुराण, महाभारत, गीता, रामायण, बाइबल, कुरान शरीफ़, गुरुग्रंथ साहब, आदि और दूसरे सम्प्रदायों के धर्म-ग्रंथों और आध्यात्मिक शास्त्रों या 'रूहानी आवाज़' की किताबों में यही सन्देश है कि इस श्रष्टि में मानव सर्वोत्तम प्राणी है और उसका जन्म व शरीर ईश्वर की सत्ता को जानने और ईश्वर से साक्षात्कार करने के लिए ही होता है।

सभी ने यह बताया है कि इस महान उद्देश्य की प्राप्ति की शुरुआत होगी उसके (ईश्वर के) महान गुणों को सीखने और उन्हें अपनाने से। मनुष्य सबसे ऊँची श्रेणी का जीव है - क्योंकि सब प्राणियों में केवल वो ही अपने असली स्वरूप को पहचान सकता है। इसीलिए प्रकृति में अपने गुणों को लेकर स्वधर्म का आश्रय लेते हुए इस जीवन को व्यतीत करना और सफल बनाना चाहिए। यही सब धर्मों का मानना है।

बात बड़ी साधारण सी है। परन्तु स्वार्थी लोगों ने धर्म को इतना उलझाने वाला बना दिया है कि सभी लोग दुखी हैं। एक दूसरे को भला-बुरा समझते हैं, परस्पर वैर-द्वेष या झगड़े करते हैं। धर्मग्रंथों की शिक्षा पर कोई नहीं चलता। हमारे शास्त्र, हमारे महापुरुष, सभी कहते हैं कि पैसा यानी धन-सम्पत्ति एकत्र नहीं करना चाहिए क्योंकि बिना बेईमानी या पाप के पैसा एकत्र नहीं होता। न तो सम्पत्ति को एकत्र करना चाहिए और न ही किसी का शोषण करना चाहिए।

परन्तु हम देख रहे हैं कि हर व्यक्ति के मन में होड़ है कि मैं कैसे पैसा एकत्र करूँ, चाहे जिस तरह भी हो पैसा जमा करूँ। अपनी आवश्यकताएँ, अपनी ज़रूरतें कम करने को कोई व्यक्ति तैयार नहीं है। इसीलिए हम सब दुखी हैं। चाहिए तो यह कि प्रत्येक व्यक्ति धर्म में निष्ठा और विश्वास रखे तथा धर्म के अनुसार जीवन व्यतीत करते हुए इस जीवन के असली ध्येय को प्राप्त करने में सफलता प्राप्त करे।

जीवन की सफलता क्या है ? जीवन की सफलता है कि हम अपने आप को पहचानें व अपने इष्टदेव के दर्शन करें। अपनी आत्मा को परमात्मा में मिला दें। ये भिन्न-भिन्न प्रकार से

करना सम्भव होता है। जैसा भी हो सके, जैसा भी आपको अच्छा लगे, जिस प्रकार भी आप उत्तम समझें - वही साधन करना अच्छा है। इस संसार में सबसे मधुर प्रेम का नाता बनाते हुए अपने आप को पहचानें। सबके साथ प्रेम का व्यवहार करें। दूसरे शब्दों में, हमारी वाणी में, हमारे व्यवहार में, मधुरता हो। हम यदि और कुछ भी नहीं दे सकते तो मधुरता तो बाँट सकते हैं। भगवान ने हमें जिस स्थिति में रखा है, उस स्थिति में रह कर धर्म और कर्तव्य का पालन करते रहें। स्वधर्म का अर्थ यही है कि हमारे परमात्मा ने हमें जो काम सौंपा है हम उसे बड़ी ईमानदारी के साथ, बड़ी दयानतदारी के साथ करें।

भगवान् कृष्ण ने इसे बड़े सुन्दर और स्पष्ट रूप में कहा है कि अपने कर्म को यज्ञ-रूप बना लो। यज्ञ में क्या करते हैं ? उसमें आहुति या बलिदान देते हैं। इसका सरल सीधा उपाय यह है कि अपने प्रत्येक कर्म को पूजा-रूप, सेवा-रूप बना दो। गुरु महाराज ने भी इसे बड़े सुन्दर ढंग से समझाया है। परन्तु हम वैसा नहीं करते। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर में एक अभिमान है, अहंकार है, "मैं" है। इस "मैं" के कारण हम अपने स्वधर्म का पालन नहीं कर पाते हैं।

यदि व्यक्ति अपने स्वधर्म का पालन ठीक ढंग से करता है अर्थात् परिवार में पत्नी का स्नेहमय सहयोग, सेवा और सहायता लेते और देते हैं, अपने माता-पिता की सेवा करते हैं, माता-पिता सही तरीके से बच्चों की सेवा करते हैं तो स्वर्ग और कहीं होगा तो होगा - ऐसे घर में ही स्वर्ग बन जायेगा। इस संसार में ही स्वर्ग मिल सकता है। इस संसार में ही प्रभु की अनुभूति हो सकती है। स्वर्ग जैसे वातावरण का सुख प्राप्त कर लेना कितना आसान काम है, यदि सब लोग स्वधर्म का पालन करें।

कृष्ण भगवान ने स्वधर्म का पालन करने के लिए गीता में प्रवचन दिए हैं। भिन्न-भिन्न प्रकार से बतलाया है कि किस प्रकार से धर्म का पालन करना है। (इसका भाव कर्तव्य भी है)। परन्तु संक्षिप्त में शुरू में भी यही लिया है और अन्त में भी यही कहा है कि धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए। धर्म तो इस लोक में भी सहायक है और परलोक में भी सहायक है। बाकी चाहे जितनी कितानें पढ़ते चले जाओ, लाइब्रेरी बना लो, किन्तु यदि एक शब्द भी हज़म नहीं किया,

उनके बताये आदर्श यानी ईश्वरीय गुणों को नहीं अपनाया, तो ऐसी पढाई या लाइब्रेरी का क्या लाभ ?

युधिष्ठिर का उदाहरण है - उन्होंने सत का जो प्रथम पाठ वाला केवल एक शब्द पढ़ा है उसको ही आचरण में पालन करने के लिए अड़े रहे, तब आगे पढ़ना सीखा है।

गुरु महाराज कहा करते थे कि ईश्वर में हजारों गुण हैं, यदि उनमें से एक गुण में भी हम निपुणता प्राप्त कर लें तो हम ईश्वर के जैसे ही हो सकते हैं। परमात्मा सागर-रूप है, उसकी प्रत्येक बूँद में भी वही गुण हैं जो सागर में हैं। आकार में भले ही अन्तर हो, परन्तु गुणों में कोई अन्तर नहीं है। एक गुण को ही पकड़ लें। युधिष्ठिर ने एक ही शब्द पकड़ा - सत्या। राजा हरिश्चंद्र ने भी एक ही शब्द पकड़ा - सत्या। उस सत्य को अपनाने से ही दोनों को परलोक मिल गया। कोई विशेष साधना नहीं की। परीक्षा दी, देनी पड़ती है। जो आदर्श का जीवन जीता है उसे बलिदान देना ही पड़ता है।

मानव जीवन बना ही इसलिए है कि मनुष्य आदर्शमय जीवन जिए। यह ठीक है कि यदि हम एक ही ईश्वरीय गुण या आदर्श को पकड़ लें तो उद्धार हो जायेगा, मनुष्य को बीसियों आदर्श पकड़ने की ज़रूरत नहीं है।

गीता में, गुरुग्रन्थ साहब में या अन्य धर्म ग्रंथों में साधकों को बड़ी स्वतंत्रता दी है कि जो भी रास्ता तुम्हें अच्छा लगे, उसे पकड़ लो, मगर दृढ़ता से पकड़ो। भक्ति योग पकड़ो, कर्म योग, ज्ञान योग, वैराग्य या सन्यास का कोई भी पथ पकड़ो, मगर पकड़ो दृढ़ता से। अर्जुन को केवल एक ही रास्ता पकड़वाया - 'स्वधर्म' का पालन।

वास्तव में आनन्द या स्वर्ग का सुख कोई दूर नहीं है, हमारे भीतर में है, हमारे पास ही है, बस ज़रा स्व-निरीक्षण करने की आवश्यकता है। अपने भीतर में घुसने की ज़रूरत है। शान्त मन से देखें कि हमारे अन्दर में क्या कमी है ? मुसीबत यह है कि कोई भी व्यक्ति अपनी गलतियों को देखने और मानने को तैयार नहीं है।

इसके लिए कबीर साहब ने निन्दक को सबसे बड़ा गुरु माना है। उनकी पंक्ति है कि, " निन्दक नियरे राखिये, आंगन कुटी छवाय " वे कहते हैं, " मेरा निन्दक मेरा सबसे बड़ा हितेपी

हैं/उसको मेरे आंगन में बिठा दें ताकि वो मेरे दोष देखता रहे और मैं उससे अपने दोषों को सुनकर उन दोषों से निवृत्त होने की कोशिश करता रहूँ।" हमें कोई एक भी बुरी बात कहता है तो हमें बड़ा दुःख लगता है परन्तु कबीर साहब के शब्दों में कितनी गहराई है। वे आगे कहते हैं - 'निंदों, निंदों, मोको निंदों " वो बार-बार निंदों इसलिए कहते हैं कि इससे हमारा उद्धार होगा।

हम जीवन पर्यन्त सोये रहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति कुम्भकर्ण जैसी निद्रा में सोया हुआ है। कुम्भकर्ण तो केवल छह महीने सोता था, और हम..... ? तो हमें कौन जगायेगा ? वो जो हमारी आलोचना करता है, जो हमारी प्रतिक्रिया करता है, जो हमारी निंदा करता है - एक प्रकार से वह हमारा परम हितेषी है, हमारा सच्चा मित्र है। तो भीतर में घुसकर देखें कि हमारे में कौन-कौन सी कमियाँ हैं और उन कमियों से निवृत्त होने के लिए प्रयास करते रहना चाहिए। ईश्वर का आश्रय लें, गुरु का आश्रय लें, भीतर में आत्मा है, उसका आश्रय लें। सारा दिन उन बुराइयों से दूर होने की कोशिश करते रहें। यही परमार्थ का सीधा-सादा रास्ता है। बाकी जितना है, सब विस्तार है।

आपकी इच्छा है जो भी रास्ता चाहें अपनायें, परन्तु करना यह ज़रूर पड़ेगा कि भीतर में जो अवगुणों की मलिनता है उससे मुक्त होना ही पड़ेगा। जब तक व्यक्ति के कर्म और व्यवहार में ये मलिनता है मनुष्य जनम-मरण के चक्कर से नहीं छूटेगा। महाभारत और गीता हमारे सामने हैं। युधिष्ठिर को भी केवल स्वर्ग ही मिला, उनको भी मोक्ष नहीं मिला। मोक्ष बहुत दूर है। युधिष्ठिर जैसे व्यक्ति के लिए भी सिर्फ स्वर्ग ही था तो हमारी क्या स्थिति होगी - यह बात गम्भीरता से सोचनी चाहिए।

आप कहेंगे कि रास्ता बड़ा कठिन है। हाँ, मेहनत न करने वालों के लिए बड़ा कठिन है। परन्तु जिसने दृढ़ संकल्प कर लिया, उसके लिए कोई कठिन नहीं है। केवल एक ही बात करनी है - भीतर में जो अहंकार है उसे ईश्वर के या गुरु के चरणों में अर्पण कर दें। अपनी मति को छोड़कर गुरु की सन्मति में चलना है।

यही बात भगवान अर्जुन को समझा रहे हैं। अर्जुन अपनी मति पर चलना चाहता है। विद्वान और बुद्धिजीवी था। यह तो भगवान श्रीकृष्ण की बड़ी कृपा थी जो उसे इतना सुन्दर उपदेश दिया। अर्जुन पूछे चला जा रहा है, प्रश्न किये जा रहा है, परन्तु भगवान कितने दयालु

हैं और अपने मित्र के लिए कितनी मंगल कामनाएं अपने हृदय में रखते हैं हैं कि थकते नहीं और उसे समझाये चले जा रहे हैं। अन्त में जाकर यही कहा है कि, " हे पार्थ ! अब तुम कर्म, धर्म, सब छोड़ो, बस आत्म समर्पण कर दो, अपनी इच्छा को मेरी इच्छा में मिला दो । मेरी इच्छा के अनुसार कर्म परायण बनो और अपने कर्म के साथ आसक्ति मत रखो" उन्होंने अर्जुन को रास्ता बतलाया कि कर्म करते हुए अकर्मि हो जाये ।

गुरुवाणी में भी आता है - "कर्म करत निरकामा/" इस प्रकार से कर्म करते जायें तो उसका संस्कार भी नहीं बनेगा। यानी कर्म, अकर्म और विकर्म। निष्काम कर्म भी यही है। तरीका तो साधारण है। परन्तु व्यक्ति को चेतनता चाहिए, सचेत रहना चाहिए। उधर कर्म का जो फल है वो ईश्वर के चरणों में अर्पण कर दें। निष्काम कर्म के विषय में भी यही कहना है कि कर्म को प्रेम के साथ करो। प्रेम के साथ कर्म करते-करते आपका स्वभाव ऐसा बन जाय जैसा सूरज का स्वभाव है, ईश्वर का स्वभाव है। सूर्य सबको गरिमा देता है, सबको जीवन ज्योति प्रदान करता है, परन्तु वो स्वयं यह नहीं जानता कि मैं क्या कर रहा हूँ ? ईश्वर भी इसी प्रकार कर्म कर रहा है।

भगवान अर्जुन को सिखा रहे हैं कि वह भी इसी प्रकार से कर्म करे। " कर्म करके ना करना - तू अकर्मि बन जा/ " ये व्यवहार में बरतने से आएगा। किसी ने तुम्हें गालियाँ दी हैं - तुम उसको भी प्रेम करो, उसको भी ईश्वर-रूप मानो। सूफी संत बाबा फ़रीद जी कहते हैं - " जो तुम्हारी पिटाई करे तुम उसके घर जाकर उसके हाथ-पाँव दबाओ।" ये अकर्म से एक चरण आगे है। कर्म करें तो ऐसे करें कि सबको ईश्वर-रूप समझ कर करें। और फिर ऐसे कर्म करते -करते अकर्मि हो जायें, यानी जो भी कर्म हो वो अपने आप हमसे हो।

"ब्रह्म ज्ञानी पर उपकार" - यानी ब्रह्मज्ञानी को पता भी नहीं है परन्तु उसके हृदय से प्रेम का झरना हर समय प्रवाहित होता रहता है। इसी प्रकार परोपकार से आनन्द निकलता है, फैलता है और सबको शीतलता और शान्ति प्रदान करता है। सबका कल्याण - यह तो प्रभु का विरद है। ये उनका स्वभाव बना हुआ है। हम भी जब ऐसे कर्म करेंगे तो कर्म का फल या संस्कार हमें नहीं छुएगा। और जो भी संस्कारों से रहित हो गया, वो मुक्त हो गया। गुरुजनों ने

बड़ा सरल रास्ता बताया है कि हमारे कर्म कैसे स्वतंत्र हो सकते हैं, हम कैसे मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं ?

महात्मा गाँधी ने गीता के अनुवाद में व्याख्या करते हुए उसका नाम 'अनासक्ति योग' रखा है। यानी आसक्ति या मोह से मुक्ति का योग। हम सब पढ़ते हैं मगर हमसे होता नहीं है। ये मन ऐसा बेईमान है कि हमसे करने नहीं देता। इसीलिए तो युधिष्ठिर ने एक ही शब्द सीखा ज़्यादा सीखने की ज़रूरत नहीं समझी। जो हमारे रोज़ के काम हैं, वो सब काम हम निष्काम भाव से करें, उनके फल की आकाँक्षा न रखें। फल को कर्मयोग यज्ञ में बलिदान देकर फिर निश्चिन्त होकर सोयें और यह याद न रखें कि हमने सारा दिन क्या किया है। किसी ने हमें बुरा कहा या किसी ने हमें भला कहा या हमने कोई भला काम किया - इस सबकी हमें कोई याद न हो।

दान के बारे में संत-ज्ञानी लोग समझाते हैं कि खैरात (दान) देनी है तो ऐसे दें कि यदि दान दाँया हाथ देता है तो बायें हाथ को पता न चले। वो तो समझाते हैं, परन्तु हम लोग नहीं समझते। स्वयं को दान से जोड़े रखते हैं। हम हर बात में अपने आपको फँसाये जाते हैं। भगवान हमें अनासक्त करना चाहते हैं, हमको मुक्त करना चाहते हैं, परन्तु हम किसी न किसी अवगुण या राग-द्वेष में उलझ जाते हैं और मोह में फँसे रहते हैं।

इसका मतलब यह नहीं कि हम सेवा न करें - माता-पिता की सेवा न करें, बीबी-बच्चों की सेवा न करें। हम माता-पिता और बच्चों की सेवा करें तो वैसे करें जैसे यशोदा और नन्द जी कृष्ण जी की सेवा करते थे। पहले तो वो उनकी बच्चों की तरह ही सेवा करते थे परन्तु जब उनको पता लग गया कि ये तो भगवान हैं, तो वे पूजा के रूप में उनकी सेवा करने लगे। माता-पिता बच्चों को प्रभु का रूप समझें और बच्चे माता-पिता को परमात्मा का रूप समझ लें तो फिर दुःख कहाँ है ? हमें सिर्फ़ अपने व्यवहार को बदलना है।

आज विश्व में हर परिवार में कितना दुःख है। उसका कारण यही है कि माता-पिता और बच्चे एक दूसरे का विरोध करते हैं। यहाँ तक कि पति-पत्नी भी ऐसा ही स्वभाव रखते हैं। समय में ऐसा परिवर्तन आ रहा है कि हमारे जितनी भी शास्त्र या संस्कृति की मान्यतायें हैं सब

खत्म होती चली जा रही हैं। मनुष्य का मन जो है, हम उसी मन के पीछे लगे रहते हैं। मैं सुख में सुखी रहूँ चाहे संसार दुःख में दुखी रहे, मुझे इसकी कोई परवाह नहीं - हम ऐसा सोचते हैं।

आदि काल से हमारी संस्कृति ने हमें यही सिखलाया है कि हम अपने मन के गुलाम न होकर संतों का सा जीवन जियें। ये जितने यज्ञ हैं उनका भाव यही है कि केवल अपने बच्चों को ही नहीं वरन सारे संसार को ही अपना परिवार मान कर हम सम्पूर्ण संसार की शुभ कामना करें और उसके साथ हमारी आसक्ति यानी कोई आशा न हो। यदि हम किसी के साथ भलाई करते हैं तो यह न सोचें कि वह हमारा आभार मानेगा या हमें सलाम करेगा।

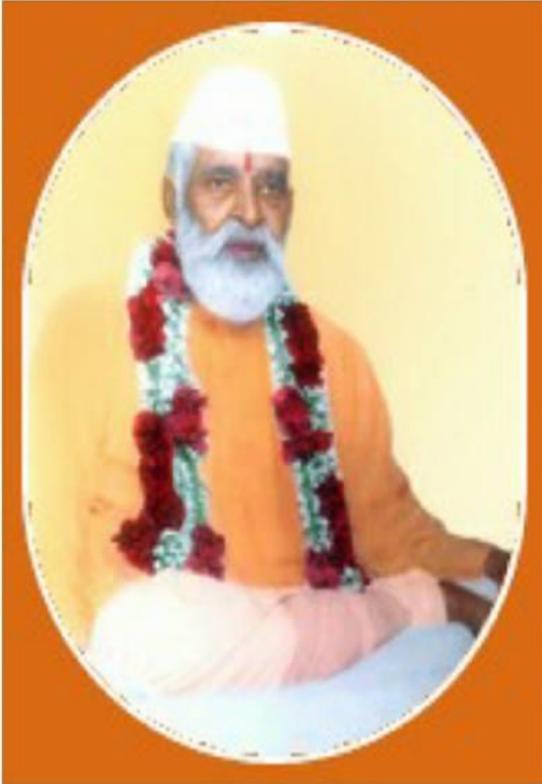
वैसे संसार का सारा काम तो प्रकृति करती है, परमात्मा कुछ नहीं करता, वह तो अकर्मो है। काम हो रहा है - उसके जो भी ज़रिये हैं यानी जो सूरज चाँद हैं या प्रकृति के और स्वरूप हैं - उनके द्वारा हो रहा है। मनुष्य को भी वैसा ही बनना है। हमें सबकी सेवा करते हुए, बड़े स्वाभाविक रूप से संयमित और बड़े अनुशासित होकर रहना है।

बच्चे कितने सरल होते हैं। जैसे-जैसे बड़े होते जाते हैं माँ-बाप उनसे उतना प्यार नहीं करते। छोटे बच्चे को हर कोई गोद में लेना चाहता है। क्या चीज़ है बच्चे में ? वही माँस-हड्डी का बच्चा है। परन्तु उसमें सरलता है - उसमें राग-द्वेष नहीं है, मेरा -तेरापन नहीं है। वैसी ही निर्मल सरल स्थिति के लिए जिज्ञासु को इतना साधना करनी पड़ती है - अपने भीतर में से मैं-मेरापन निकालने के लिए। लाखों में से कोई एक आदमी सफल होता है जिसके हृदय में से मैं और मेरापन खत्म हो जाता है। परन्तु बच्चों में, शिशुओं में मैं और मेरेपन का भाव होता ही नहीं ।

ऐसी सरलता सब साधकों के हृदय में आनी चाहिए और उनके व्यवहार में विकसित होनी चाहिए। यह जो बच्चे में सरलता का गुण है उसे ही अपनाने वाले मनुष्य को भी प्रभु आलिंगन करते हैं जैसे नामदेव जी को। ये सरलता पुस्तक पढ़ने से नहीं आएगी। किन्तु जिस पर गुरु की या ईश्वर की कृपा हो और उसका अपना भी सच्चा यत्न हो, तो उसे ही यह मन को लुभाने वाली सरलता प्राप्त हो सकती है। बड़ा कठिन है बूढ़े से बच्चा बनना। पर ऐसे ही निश्छल सरल रूप पर परमात्मा की कृपा बरस सकती है ।

साराँश यह है कि हम प्रभु के इतने सारे गुणों की चर्चा तो कर लेते हैं, परन्तु परमार्थ में साधक की सफलता के लिए परमात्मा के इन गुणों को अपने व्यवहार में अपनाना बहुत आवश्यक है। एक भी गुण - जैसे दीनता, परोपकार, सरलता, आदि यदि पूरी तरह आ जाये तो साधक का कल्याण हो जायेगा।

0000000000



सब लोगों (अभ्यासियों) को अपनी हालत की समझ नहीं होती . जब तक तत्त्वजो का आधा अंश रज से निकलकर सत पर नहीं आ जाता , हालत का अंदाज़ नहीं होता . तम में आलस , कामेंद्रि भोग और गुस्सा बहुत होता है . रज में दीनी और दुनियावी ख्वाहिशात होती हैं और मनुष्य उनको पूरा करने की कोशिश करता है . सत में धर्म से प्यार , इन्द्रिय दमन , दया और दान होता है . तीनों हालतें साथ - साथ रहती हैं , कभी किसी का उभार और कभी किसी का उभार होता रहता है . अभ्यास किए जाओ और परमात्मा से प्रार्थना किये जाओ .

(महात्मा डॉ . श्रीकृष्ण लाल जी द्वारा २९-१२-१९६१ को लिखे गये पत्र से)

करनी, कथनी और रहनी

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

ईश्वर के रास्ते पर चलने वालों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि यह रास्ता क्लबों में जाने का या अन्य साँसारिक आनन्द प्राप्त करने के जो स्थान हैं वहाँ जाने का जैसा रास्ता नहीं है। इस रास्ते पर जिसे चलना है उसे पता होता है कि उसके जीवन का लक्ष्य क्या है और जीवन का लक्ष्य किस तरह प्राप्त होता है ? जिसको यह पता नहीं कि ईश्वर कौन है, ईश्वर की प्राप्ति कैसे होती है, वह अपना जीवन कैसे बनाएगा ? वह ईश्वर प्राप्ति की अभीप्सा भी रखे, चाह रखे और माया में फंसा रहे तो काम नहीं चलेगा। हम परमात्मा का नाम तो routine (दिनचर्या) के तौर पर या एक कला के तौर पर लेते हैं। वास्तविकता तो हम नहीं समझते और ईश्वर प्राप्ति के लिए गम्भीर नहीं हैं, दृढ़ संकल्प नहीं हैं। यदि हम दृढ़ संकल्प हो जाएँ तो हमसे बुराई-भलाई नहीं हो सकती। हम वही कर्म करेंगे जिनके करने से हमारे प्रीतम (ईश्वर) प्रसन्न हों। इस रास्ते पर चलने वालों को अपना आचरण बहुत ऊँचा बनाना पड़ता है। उनकी करनी, कथनी और रहनी में सन्तुलन (harmony) होनी चाहिए। वह कहता कुछ है, यानी ऊँचे-ऊँचे आदर्शों की बातें करता है, परन्तु उसकी वाणी में से कठोरता निकलती है, उसकी वाणी दूसरों को दुःख पहुँचाती है, उसमें लचक नहीं है, दीनता नहीं है, हठ है। ऐसा नहीं होना चाहिए। इस तरह के व्यवहार में शोषण है। यदि उसके व्यवहार से दूसरों को दुःख पहुँचता है तो ऐसा व्यक्ति परमार्थ का अधिकारी नहीं है। परमार्थ में, ईश्वर प्राप्ति या ईश्वर दर्शन के लिए अधिकार प्राप्त करना होगा। कबीर साहब कहते हैं कि जिसकी रहनी-सहनी शास्त्र अनुसार, गुरु आदेश के अनुसार है, वाणी उसी के अनुसार है, और विचार भी वैसे ही हैं, वह हमारे सम्बन्धी हो सकते हैं हमारे प्रिय हो सकते हैं। गुरु गोविन्द सिंह जी ने भी लिखा है कि मुझे सिख (शिष्य) प्यारा नहीं है, उसकी रहनी मुझे प्रिय है। सब महापुरुषों ने इसी को महत्त्व दिया है। परन्तु इस वक्त उल्टा हो रहा है। न तो हमारी कथनी में सत्यता है, और न मधुरता है। हम दूसरों के सुख में सुख नहीं देखते। गीता का यह सार है कि हम जो कुछ करें

वह सबके हित के लिए हो और यह भी निष्काम भाव से हो। हम देखते हैं कि ऐसा कोई नहीं करता।

जिससे बात करो वही कहता है कि - करें क्या ? सँसार में कुछ ऐसा अनाचार फैला हुआ है कि जिसके कारण हम मज़बूर हैं। जैसे दफ्तर में सब ओर रिश्वत चलती है, और हम रिश्वत न लें तो हम वहाँ ठहर नहीं सकते, दफ्तर वाले तंग कर देते हैं। जिसके मुख से ऐसी बातें निकलती हैं उसे या तो इस माया में बह जाना चाहिए, किन्तु यदि उसे परमार्थ की प्राप्ति करनी है तो उसको वहाँ से छोड़ देना चाहिए। यह कायरता की बातें हैं कि सँसार में ऐसा हो रहा है तो मैं भी क्यों न करूँ, मेरा रहना कठिन हो जाएगा। फिर तो माया प्राप्त हो सकती है, ईश्वर प्राप्त नहीं हो सकता। यह बड़ी अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। इसके लिए महात्मा बुद्ध ने जो नींव रखी है वह है 'शील साधना'। ऐसे कर्म करना, ऐसी वाणी बोलना जिससे भीतर में शान्ति उत्पन्न हो। शील का मतलब है शान्ति। बौद्ध धर्म का अनुयायी अपने मन को शान्त करने की बीस-बीस साल तक साधना करता है जैसे हमारे यम और नियम हैं (सत्य बोलना, अहिंसा पर बल, ब्रह्मचर्य, अधिक धन इकठ्ठा न करना, इत्यादि) बीस-बीस, पच्चीस -पच्चीस साल तक, जब तक यह संतुष्टि नहीं हो जाती कि अनुयायी के मन में शान्ति हो गयी, उसके भीतर में सत्य बस गया, वह संतोषी है और उसमें बलिदान करने का, यज्ञ करने का भाव उत्पन्न हो गया है, तब जाकर कहीं बौद्ध मत की साधना का रास्ता बतलाया जाता है।

यह किसी एक के हित के लिए नहीं है। यदि किसी को परमात्मा की प्राप्ति करनी है तो उसको यह करना ही होगा कि उसकी वाणी में मधुरता हो, व्यवहार शुद्ध हो, प्रेममय हो, आनन्द-मय हो, मंगल-मय हो। केवल अपने लिए ही नहीं, दूसरों के लिए पहले-पहले दूसरों को सुख पहुंचायेंगे। दूसरों को शान्ति पहुंचायेगे, दूसरों को आनन्द देंगे, तब हमें सुख और शान्ति का अनुभव होगा। इसी प्रकार जब हमारी रहनी घर में, दफ्तर में लोगों के साथ, उन्ही आदर्शों के अनुसार होगी, तब हम अधिकारी बनेंगे। पुराने ज़माने में गुरुजन तुरन्त दीक्षा नहीं देते थे। बीस-बीस साल बर्तन साफ़ करवाते थे, सेवा करवाते थे जब साधक का मन बिल्कुल मोम की तरह मुलायम हो जाता था, तनिक भी उसके भीतर कठोरता नहीं रहती थी, दीनता, गरीबी, उसके स्वभाव में आजाती थी, तब दीक्षा मिलती थी। गुरु वाणी में लिखा है कि व्यक्ति की

बुद्धि बड़ी तीव्र है परन्तु ऐसा व्यक्ति अपने आप को अबोध समझता है और व्यवहार भी वैसा करता है। शक्ति होते हुए भी वह अपने आपको हीन समझता है और उसी तरह का व्यवहार करता है। शक्ति का मतलब है कि शारीरिक, मानसिक, आर्थिक और बौद्धिक चारों प्रकार की शक्तियाँ होने के बावजूद भी वह व्यक्ति अपने आपको शक्तिहीन समझता है। सर्वस्व सम्पन्न हुए भी वह अपने आप को कुछ नहीं समझता क्योंकि परमात्मा की तुलना में आदमी है ही क्या? अपने पास कुछ नहीं था तब भी कबीर साहब अपनी धर्मपत्नी की इज्जत की परवाह न करते हुए, सन्तों की सेवा करते थे। कपड़ा बेच कर जो कमाते थे उसका आधा गरीबों को बाँट देते थे। सभी महापुरुषों ने ऐसा ही किया है। ऐसा गुरुमुख संत बिरला ही होता है। सब कुछ होते हुए भी वह कहता है - 'मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर' / यानी वह मोहमुक्त होता है, राग-द्वेष में फंसा हुआ नहीं होता। यह केवल नारेवाजी के लिए न हो, वास्तविकता हो। हमारा जीवन दीनता का हो।

क्या हमारे भीतर में सहन शीलता है, दीनता है। आप अपना स्व-निरीक्षण करेंगे तो पाएंगे कि अभी तो हम सागर के किनारे तक भी नहीं पहुंचे हैं, अभी तो सागर पार करना है। हमारी कथनी, करनी और रहनी में बहुत कमियाँ हैं। जब हम मनन करेंगे तभी हमें पता चलेगा, मनन भी तभी होता है यदि गुरु या ईश्वर के साथ प्रेम हो। नहीं तो मन कहता है 'इसमें क्या बात है' मन कहता है कि यदि तुमने कोई बात नहीं मानी तो इसमें क्या बुराई है? मेरे मन की भी तो इच्छा है, वह भी तो पूरी होनी चाहिए। मन ऐसे-ऐसे ढोंग रचाता है कि इसमें दीनता आती ही नहीं। एक नन्हा सा पौधा आंधी तूफान में झुक जाता है और बच जाता है। किन्तु जो बड़ा वृक्ष होता है वह हठी होता है। वह अड़ा रहता है और गिर जाता है। हमें नन्हे पौधे की तरह बनना है। दीनता में आनन्द है, प्रसन्नता है। कथनी, करनी और रहनी को बनाने का मतलब है हमें अपने मन को बनाना चाहिए। गुरुदेव के या शास्त्रों के जो आदेश हैं उन्हें देखना चाहिए कि हम उनका कितना पालन कर रहे हैं। एक-एक शब्द का मनन करेंगे तो आपके भीतर में आत्मिक प्रगति बढ़ती चली जायेगी। आँखें बन्द करना तो बच्चे भी कर लेते हैं। थोड़ी सी शक्ति भी आजाती है। शुद्ध आचरण सब साधनों की नींव है। जिनका आचरण शुद्ध या पवित्र नहीं है उनका आध्यात्मिक जीवन ऊँचा नहीं होता। आप कितनी देर पूजा में बैठते हैं, इसकी चिंता मत करिये। यदि मैं तीन घंटे साधना में बैठता हूँ किन्तु मेरे मन में

कठोरता है, अहंकार है, मैं दूसरे के दुःख में शरीक नहीं होता हूँ, तो मेरा तीन घंटे बैठना बेकार है। यह तो एक नशे की तरह है। शास्त्रों में इसी को जड़ समाधी कहा है। इस जड़ता से दूर जाना है। जो आगे बढ़ चुके हैं उनको अपनी सब इच्छाएं अपने प्रीतम पर न्योछावर कर देना चाहिए। इसका मतलब यह नहीं कि हम सँसार में नहीं रहें या सँसार से भाग जाएँ। खूब मेहनत करें। जिस परिस्थिति में आपको रखा है उसमें धर्म के अनुसार खूब मेहनत करें। सफलता मिलती है, तो भगवन का शुक्र करना चाहिए। असफलता मिलती है तो समझना चाहिए कि यह असफलता हमारे हित में है, इसीलिए प्रभु ने ऐसा किया और खुशी से उस असफलता को स्वीकार कर लेना चाहिए। यही भगवान कृष्ण अर्जुन को समझाते हैं। तेरा कर्तव्य है लड़ना। विजय या पराजय की तुझे नहीं सोचना है। आगे जाकर और भी विस्तार से कहते हैं कि कर्म का जो फल हो उसमें तुम्हारी आसक्ति नहीं होना चाहिए। जो कर्म में आसक्ति रखेगा उसमें उसकी इच्छा और आशा तो शामिल होगी ही। उसको निराशा होगी यदि उसके मुताबिक कर्मफल नहीं होगा। इस निराशा से बचने के लिए भगवान ने बहुत सरल उपाय बताया है कि कर्म तो करो किन्तु कर्म के फल के साथ आसक्ति नहीं होनी चाहिए। उसके साथ चिपकाव नहीं होना चाहिए किन्तु हम ऐसा करते नहीं हैं।

सँसार को जानने के लिए साँसारिक मन की आवश्यकता होती है। परन्तु परमात्मा की अनुभूति तभी होगी जब हम आत्मा का साक्षात्कार कर लेंगे। आत्मा ही परमात्मा में लय हो सकती है। शुद्ध बुद्धि केवल किञ्चित आभास मात्र ही ले सकती है, वह भी पूरी तरह नहीं। आत्मा की शुद्धि के लिए आत्मा के ऊपर से आवरणों को हटाने के लिए शुरू में कही गयी तीन बातों को, कथनी, करनी और रहनी को, सुधारना आवश्यक है।

00000000000

कृपा वृष्टि तो हर क्षण हो रही है,

लेकिन उसे ग्रहण करने की तत्परता चाहिए

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ०करतार सिंह जी महाराज)

परमात्मा की कृपा या गुरुजनों की कृपा, जिसको हम फैज़ या प्रसादी कहते हैं, प्रतिक्षण हम सब पर होती रहती है। उस कृपा को हमेशा ग्रहण करते रहना चाहिए। इसमें विस्मृति नहीं होनी चाहिए। जब हम बातें करते हैं, खाना खाते हैं या काम करते हैं, तब उस कृपा को ग्रहण करना भूल जाते हैं। अतएव सदा सतर्क रहना चाहिए। प्रभु की, संतजनों की, कृपा-प्रसादी जो प्रतिक्षण हम पर बरस रही है, उसे चाहे हम कुछ भी कर रहे हों, उसे ग्रहण करते रहना चाहिए।

इस प्रसादी में केवल आनन्द ही नहीं, इसमें ईश्वर के सारे गुण विद्यमान होते हैं। जैसे सूर्य और सूर्य की किरणों में कोई भेद नहीं होता, उसी प्रकार परमपिता परमात्मा और उसकी कृपा-प्रसादी जो हमें मिल रही है, उन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। परमात्मा का कोई रूप नहीं है। उसके रूप, रंग और भेद को कोई जान नहीं पाया है। कोई कहता है कि वह सर्वव्यापक है, कोई कहता है कि वह आनन्द का सरोवर है, तो कोई उसे सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान मानता है। प्रभु के तो अनन्त रूप हैं, अनन्त स्वरूप हैं और वह अरूप भी है। उसका पूरा अनुमान लगाना तो असम्भव है। जैसे अग्नि के पास बैठने से अग्नि की ऊष्मा की अनुभूति होती है, उसी प्रकार इस फैज़ के मिलने से हमें अनुभव होता है कि परमपिता परमात्मा कितने बड़े आनन्द के भण्डार हैं।

आप विश्वास रखिये कि आप यदि प्राकृतिक नियमों का पालन करते रहेंगे और इस फैज़ को ग्रहण करते रहेंगे तो आपको अपने जीवन में किसी प्रकार की कमी नहीं आयेगी - न धन की, न स्वास्थ्य की और न ही आत्मिक गुणों की। अमेरिका में आजकल बहुत चर्चा हो रही है आत्मिक साधनों से बीमारी को दूर करने की। वह ग़लत नहीं है, परन्तु कुछ लोग उसका दुरुपयोग कर रहे हैं। आध्यात्मिक प्रक्रियाओं द्वारा उपचार करने के बारे में जो लिखा जा रहा है वह ग़लत नहीं है।

ईश्वर सब गुणों का भण्डार है। हम यदि अपने आपको पूर्णतया समर्पण कर दें तो हममें भी वे ही गुण आ जावेंगे। ईश्वर सत, चित, आनन्द स्वरूप है। यदि हम समर्पित भाव से और तत्परता से प्रयास में लग जावें तो हम भी सत्य स्वरूप हो जायेंगे, ज्ञान स्वरूप हो जायेंगे, आनन्द स्वरूप हो जायेंगे। और यह प्रयास है - गुरुदेव द्वारा बताई गयी साधना या अभ्यास जो कि बड़ा ही सरल साधन है। शायद इसी सरलता के कारण ही लोग-बाग इसे महत्व नहीं देते। आज विदेशों में लोग एक-एक मिनिट की शान्ति के लिए हजारों खर्च कर रहे हैं। परन्तु यहाँ तो ईश्वर की कृपा मुफ्त में बट रही है।

यदि कोई व्यक्ति इस प्रसादी को अपने आप ग्रहण नहीं कर सकता है तो उससे निवेदन है कि वह किसी महापुरुष की सेवा में जाये। उनके पास जाकर कुछ न करे - शारीरिक, मानसिक किसी प्रकार का प्रयास न करे, केवल सेवा में बैठे। कुछ ही क्षण बाद उसे अनुभव होगा कि उसके भीतर एवं बाहर दोनों तरफ बड़ी ही शान्ति और आनन्द की लहर चल रही है। ऐसी अनुभूति के समय कड़ियों को तो होश ही नहीं रहता। वह कहते हैं कि आज तो इतना सरूर (नशा) आया जो पहले कभी आया ही नहीं। वह नशा नहीं है, आत्मा का गुण है - आनन्द है। उस आत्मिकता की दशा में मन स्थिर हो जाता है, बुद्धि की चंचलता खत्म हो जाती है, तर्क-वितर्क के द्वन्द खत्म हो जाते हैं, स्थिरता आ जाती है। एक सरूर सा भीतर में अनुभव होता है जिसको हम आनन्द कहते हैं। यह आनन्द साधक को बहुत अच्छा लगता है।

इस आत्मिक आनन्द की प्राप्ति के लिए निरन्तर सतर्क रहना चाहिए। जैसे चातक का मुँह हमेशा खुला रहता है कि पता नहीं कब स्वाति नक्षत्र की बूँद उसके मुँह में पड़ जाये। जब एक पक्षी इतना इन्तज़ार कर सकता है तो मनुष्य जिसको पता है कि परम पिता परमात्मा की कृपा हर वक़्त उस पर बरस रही है, क्यों न अपने हृदय का मुखारबिन्द खोल कर रखे? क्यों न अपने आपका समर्पण करे ? आज तक स्वाति बूँद किसी ने देखी नहीं है, हो सकता है कि वह आत्मा का ही एक रूप हो। हमारे यहाँ का साधन है कि हमें हमेशा उस स्वाति बूँद की, उस रूहानी फ़ैज़ की प्रतीक्षा में प्रतिक्षण रहना चाहिए। हमारा मुँह खुला रहना चाहिए और उस महान उपहार को ग्रहण करने के लिए साधक को उचित है कि अपनी प्रकृति को बदले। साधक के स्वभाव में दीनता आनी चाहिए जो अहंकार त्यागने पर ही सम्भव होगी। अहंभाव के रहते हुए प्रभु कृपा या प्रभु की प्राप्ति कैसे होगी ?

जब तक मैं था हरि नाहिं , अब हरि हैं मैं नाहीं

प्रेम गली अति साँकरी, या में दो न समाहिं

इस अहंकार का अर्थ है ' मैं ' और 'मेरापन'। इसको छोड़ दें। अहंकार का त्याग करके दीनता को अपनायें। दीनता का अर्थ यह नहीं कि अपना काम निकालने के लिए हम कुछ समय के लिए मीठे शब्दों और मधुर व्यवहार का प्रयोग करें। दीनता का मतलब है कि अपना कुछ रहे ही नहीं। यहाँ तक कि साधना में साधक को अपना भान ही न रहे, केवल परमपिता परमात्मा ही हो। ध्यान-अवस्था में ध्यान करने वाला रहे ही नहीं।

दीनता का एक और अर्थ यह है कि " जेहि विधि राखे राम, तेहि विधि रहिये/" भगवान ने गीता में भी यही कहा है। कबीरदास जी और अन्य संत - महापुरुषों ने भी यही कहा है कि अपनी इच्छा कुछ नहीं है, अपनी आशा-अभिलाषा कुछ नहीं है, गुरु या ईश्वर जिधर ले जाये वही ठीक है, हमारे हित में है। फिर वह चाहे जिन परिस्थितियों में हमें रखे - चाहे वे परिस्थितियाँ सुखदायी हों या दुखदायी। जिज्ञासु के हृदय में संतोष हो। भगवान कृष्ण भी यही कहते हैं - " मेरा वही भक्त मुझे अति प्रिय है जो सन्तुष्ट रहता है/ जो किसी भी परिस्थिति में - दुःख में, सुख में, सम रहता है और हमेशा हर हाल में प्रसन्न रहता है/ "

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सब तेरा

तेरा तुझको सौंपते क्या लागे है मेरा

ईश्वर से या गुरु से सम्बन्ध पति-पत्नी जैसा सम्बन्ध है। हम राधा जी से प्रेरणा लेते हैं। राधा जी भगवान कृष्ण की विवाहिता स्त्री नहीं थीं। हमारे देश के लिए यह गर्व की बात है कि प्रत्येक स्त्री अपने पति की राधिका बनना चाहती है, भगवान विष्णु की लक्ष्मी बनना चाहती है। इसी तरह जिज्ञासु भी जिसमें ईश्वर प्राप्ति की आकाँक्षा रहती है उसको भी गोपियों से प्रेरणा लेनी चाहिए। भक्ति का सर्वोत्तम भाव महापुरुषों ने कान्ता भाव को बताया है। मथुरा की प्रत्येक गोपी के हृदय में यही भावना उठ रही है कि वह भी राधिका जी बन जाये और भगवान कृष्ण की समीपता का लाभ उठाये। भक्त भी यही चाहता है। मथुरा, बृन्दावन में अभी भी कुछ ऐसे लोग हैं जो स्त्रियों के रूप में रहते हैं और बातचीत भी स्त्रियों जैसी करते हैं और

इसी रूप में भगवान को याद करते रहते हैं। उनका यह पहनावा, उनकी यह भगवान के प्रति श्रद्धा और सतत स्मृति हमें प्रेरणा देती है कि " कान्ता - भाव ' की भक्ति अपनाकर भगवान के चरणों में कैसे पहुँचा जा सकता है।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हमें प्रेम मार्ग अपनाना पड़ेगा। हमारे देश की परम्परा में साधारण स्त्री अपना तन-मन-धन सब कुछ अपने पति के लिए न्यौछावर कर देती है। उसमें प्रेम, दीनता, सहयोग, सहनशीलता और त्याग व बलिदान जैसे गुण भरे हैं जो हमें प्रेरणा देते हैं। ईश्वर की प्राप्ति के लिए जिनके मन में अभिलाषा है उनके हृदय में ऐसे गुण होना आवश्यक है। जिज्ञासु साधन में जब तक स्त्री जैसी लचक और लोच नहीं आएगी, वह ईश्वर को प्राप्त करने का अधिकारी नहीं बन पायेगा।

प्रभु को प्रिय इन सद्गुणों को अपनाने (और साथ-साथ अपने दोषों-अवगुणों को छोड़ते जाने) के लिए गुरुजन बताते हैं कि जिज्ञासु स्वयं अपनी स्थिति को परखे - स्व-निरीक्षण करो। हमारे एक बुजुर्ग थे जो कहा करते थे कि प्रत्येक व्यक्ति को एक डायरी रखनी चाहिए और उसमें अपनी दिनचर्या लिखनी चाहिए कि आज क्या किया, क्या नेकी या क्या बुराई की। वैसे तो गुण -दोष दोनों ही प्रभु के चरणों में अर्पण कर देने चाहिए परन्तु अपनी बुराइयों का स्व-निरीक्षण करना चाहिए और दृढ़ संकल्प करना चाहिए कि दूसरे दिन वह बुराइयाँ न हों। फिर धीरे-धीरे अपने आचरण का सुधार करते हुए बुराइयों को छोड़ते चले जायें एवं सद्गुणों को अपनाते चले जायें ताकि हम परमात्मा की कृपा के, गोपियों के समान भगवान कृष्ण की चरण-रज के अधिकारी बन सकें।

गुरु की प्रसन्नता में हमारा सब कुछ है। उनको प्रसन्न करने के लिए एक ही सरल साधन है और वह है सेवा। सेवा क्या है - गुरु के परामर्श एवं उनके आदेशों का पालन करना। सेवा, निष्काम भाव से की गयी सेवा तो ईश्वर भक्ति के लिए, उसकी समीपता प्राप्त करने के लिए एक महान साधन है। सेवा से ही दीनता आती है, सेवा से प्रेम मिलता है, सेवा से ज्ञान मिलता है, और सेवा से ही आनन्द लाभ होता है।

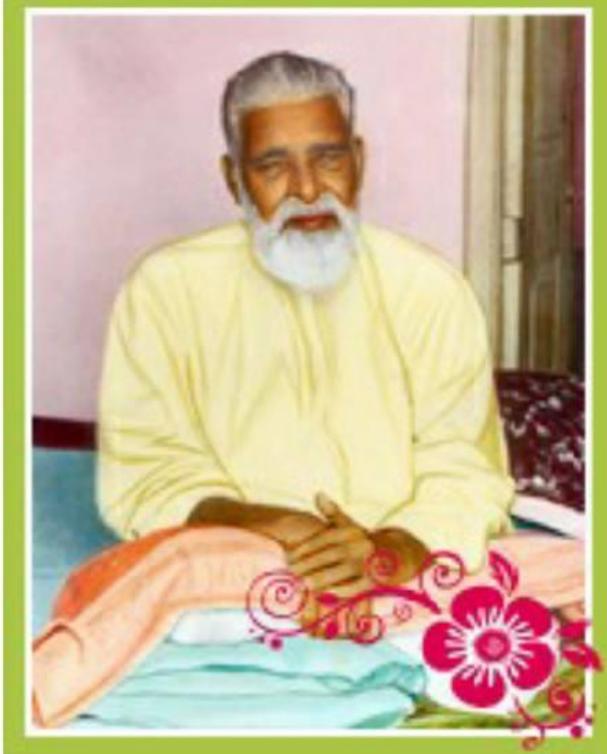
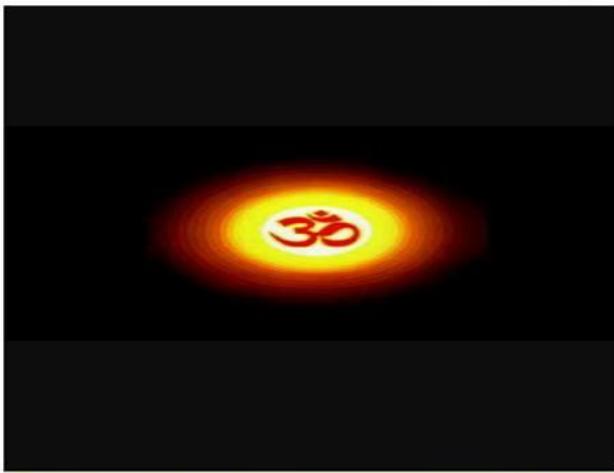
संक्षेप में, ईश्वरीय कृपा (फ़ैज़ या अमृत प्रसादी) की वर्षा तो होती ही रहती है जिसको प्राप्त करने के लिए जिज्ञासु साधकों को सदा तत्पर रहना होगा। अपने गुरु, अपने इष्टदेव की

सेवा में जाने से उस अमृत धारा के आनन्द की अनुभूति स्वतः होने लगेगी। धीरे-धीरे उनकी सत्संगति के प्रभाव तथा उपदेशों का पालन व्यावहारिक रूप में करते जाने से निरन्तर आत्मिक प्रगति होती जायेगी। कमी है तो अपनी लगन और तत्परता की।

गुरुदेव सबका कल्याण करें।

000000000000

राम सन्देश : अक्टूबर-सितम्बर, 2015



जीवन सुःख से बिताने का तरीका यह है कि जो कर्तव्य ईश्वर ने तुम्हारे सुपुर्द किया है उसे पूरा करो और कोई गरज किसी से न रखो . ईश्वर पर पूरा भरोसा रखो और उसी से प्रेम करो , तभी सुःख मिल सकता है , वरना हमेशा दुःखी रहोगे . परमात्मा ने तुम्हारी तकदीर पहले ही लिख दी है , उसे कोई भी शक्ति नहीं मिटा सकती और न बना सकती . ज़िन्दगी अपने कर्मों से बनती है . इसलिए यदि खुश रहना चाहते हो तो ईश्वर के नाम और ध्यान को अपनी ज़िन्दगी का मुख्य कर्तव्य समझो . जो काम करो , ईश्वर को खुश करने के लिए करो . हर काम में उसका भरोसा रखो .

राम सन्देश : नवम्बर-दिसम्बर, 2008 ।

कृपा सब पर एक जैसी बरसती है प्रभु की

(परमसन्त सद्गुरु डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

आप दूर-दूर से पधारे हैं। आजकल मंहगाई के दिन हैं। खर्चा भी काफी होता है। इसलिए हमें गम्भीरता से मनन करना चाहिए कि हम कौन सा ध्येय लेकर इस सत्संग में सम्मिलित हुए हैं। विश्व का प्रत्येक व्यक्ति शान्ति चाहता है, आनन्द चाहता है। वह दुःख नहीं चाहता। तो ऐसी स्थिति कैसे प्राप्त हो? मैं संक्षिप्त में आपकी सेवा में निवेदन करूँगा।

कुछ लोगों ने पूछा कि क्या कारण है कि लोग गंगा स्नान करते हैं, पवित्र हो जाते हैं - बाहर से भी और भीतर से भी। तो गंगा माई क्या उत्तर देती हैं। उनकी दीनता देखिये, सरलता देखिए, वे उत्तर देती हैं कि मैं कुछ नहीं करती, महापुरुष आते हैं, वो स्नान करते हैं, उनके शरीर से मेरा जल छूता है और वो जल पवित्र हो जाता है। ये संत समागम जो है यह भी गंगा स्नान करने का महत्व रखता है। चाहे हरिद्वार में जाएँ, चाहे गढ़मुक्तेश्वर में जाएँ, चाहे वाराणसी जाएँ, सब जगह वही गंगा माँ हैं। देश में उनकी पूजा होती है। काहे के लिए ? क्योंकि वो अति निर्मल हैं। जो भी व्यक्ति उनके सम्पर्क में आता है, उनमें डुबकी लगाता है, वह भीतर और बाहर में निर्मल हो जाता है। कैसी निर्मलता ? हम जितने लोग हैं बाहर से भले ही जितने सुन्दर वस्त्र पहने हों, अच्छे लगते हों, परन्तु हम नीच से भी नीच हैं। महापुरुष हिचकिचाते नहीं जब वो कहते हैं।

कह नानक मैं नाही कोऊ गुण राख लेलो सरनाई

हे प्रभु, मेरे में कोई गुण नहीं है जिसके आधार पर जो आपसे मैं भिक्षा मांगूँ, झोली फैलाऊँ। केवल एक ही प्रार्थना कर सकता हूँ कि हे सच्चे पिता ! आप मेरे दोष मत देखो, मुझे अपने चरण में जगह दे दो।

हमारे देश की जो संस्कृति है वो स्त्रीयों पर आधारित है। विवाह पर तथा उसके पश्चात् वो पति के सन्मुख अपने आपको, तन, मन, धन से समर्पित कर देती है। मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा, तेरा तुझको सौंप के क्या लागे है मेरा।' ये दार्शनिक बात भले ही सबको अच्छी लगती हो, परन्तु व्यवहार में हमारे देश की स्त्रीयाँ ही ऐसा कर सकती हैं। ठीक है, आज के समय में परिवर्तन आ रहा है। वो बात जो आज से 50 साल पहले या कुछ और साल पहले बहनों से हमें जो प्रेरणा मिलती थी वो नहीं है। पर उनमें वो गुण अभी भी प्रकाशित हो रहे हैं। वो अपना शरीर, अपना मन, अपना धन सब कुछ पति के चरणों में समर्पित कर देती हैं।

पार्वती जी ने कितनी तपस्या भगवान शिव को प्राप्त करने के लिए की। मायके में पिता उच्च कोटि के राजा हैं। राज दरबार के सब कुछ सुख छोड़ दिए। जंगलों में जाकर तपस्या कर रही हैं। काहे के लिए। अपना शरीर, अपना मन और जो कुछ भी अपना है सब कुछ भगवान शिव को अर्पण कर देना है और भीतर से बिलकुल शून्य हो जाना है, कुछ भी न हो। ॐ तत सत, कुछ नहीं सिवाय परम पिता परमात्मा के। भीतर में ऐसी शून्यता आ जाय कि सिवाए भगवान शिव के अलावा कुछ रहे ही नहीं।

लक्ष्मी जी ने वरमाला डाल दी विष्णु जी के गले में। स्वयम्बर समाप्त हुआ, शादी हो गयी, विवाह हो गया। लक्ष्मी जी चरणों में बैठ गयीं हैं और भगवान से प्रार्थना करती हैं कि मुझसे आप कभी मत पूछियेगा कि मुझे क्या चाहिए। ईश्वर को कह रही हैं कि मुझे कुछ नहीं चाहिए। मुझे आज्ञा दीजिये कि मैं सदा आपके चरणों में बैठी रहूँ और आपके चरण दबाती रहूँ।

ये व्यवहार या ये आचरण पुरुषों में बहुत कम है, या है ही नहीं। तो कहने का भाव मेरा यह है कि सच्चे जिज्ञासु को अपने हृदय को संवेदनशील बनाना है। प्रभु की कृपा तो सब पर एक जैसी बरस रही है। कृपा-वृष्टि हो रही है।

झिम -झिम बरसे अमृत धारा

वह आत्मा की धार जो है सब स्थानों पर, सब व्यक्तियों पर, बनस्पति पर, पत्थर पर, वृष्टि हो रही है, वारिश हो रही है। परन्तु उस वृष्टि को कौन ग्रहण कर पायेगा ? जिसका हृदय कोमल होगा, जिसका हृदय संवेदनशील होगा।

इस संवेदनशीलता को बनाने का नाम ही साधना है। भीतर-बाहर एक परमात्मा है। भीतर भी वही है, बाहर भी वही है। परन्तु हमें उसकी अनुभूति क्यों नहीं होती ? इसलिए कि हम पत्थर समान हैं। बुरा मत मानियेगा, हम पत्थर समान हैं। ईश्वर की इतनी कृपा है कि 24 घंटे उसकी कृपा वृष्टि सब पर एक समान हो रही है। तब हम क्या करें ? इसके लिए दो चार बातें मुख्य हैं वो निवेदन करता हूँ।

संवेदनशील बनने के लिए, इस आत्मप्रसादी को, गुरुप्रसादी को, ग्रहण करने के लिए, हमें अपने हृदय को कोमल बनाना पड़ेगा। अपने पूरे शरीर को कोमल बनाना पड़ेगा। परमात्मा कहीं दूर नहीं है, वह भीतर में भी है, बाहर भी है।

अन्दर बाहर एको जानो, ये गुरुज्ञान बताई !

कह नानक, बिन आपा चीने मिटे न भ्रम की खाई !!

वो भीतर में भी है, बाहर में भी। हमारे भीतर में भ्रम फैला हुआ है। परमात्मा पता नहीं हिमालय की चोटी पर है, [पता नहीं जंगलों में है। ये सब भ्रम ही हैं। ये भ्रम को दूर करना है। भ्रम कैसे दूर होगा ?

हम सब अहंकार के प्रतीक हैं - 'मैं' 'मेरापन'। इस 'मैं' को खत्म करना है। मुसलमान भाइयों में ईद आती है जब वो बकरे का सिर काटते हैं और प्रभु चरणों में अर्पण करते हैं। वास्तव में हमारे यहाँ नवरात्रों के दिनों में कलकत्ता में, और एक दो स्थानों पर अब भी बलिदान दिया जाता है। वो सांकेतिक है।

वास्तविक बलिदान जो है वो अपने अहंकार का है - 'मैं' और 'मेरापन' का। हमारा यह अहंकार हमें अपने परमपिता परमात्मा से दूर करता है। हम यह समझ रहे हैं कि प्रभु हमसे लाखों-करोड़ों मील दूर है। कोई हज़ करने जाता है, कोई बद्रीनाथ जी जाता है, और कोई कई अन्य स्थानों पर यात्रा करने जाते हैं। उसका भी लाभ है। परन्तु जो वास्तविक चीज़ है वो तो आपके भीतर और बाहर है, इसी वक्त आपके अन्दर है। एक क्षण भर में उससे तदरूपता हो सकती है। उस महान सागर में आप विलय हो सकते हैं, यदि हम अपने अहंकार की आहुति भगवान के चरणों में दे दें। बड़ा कठिन है, कहना सरल है, परन्तु करना बहुत कठिन है। इस

कठिनाई को दूर करने के लिए जो उपाय है, जो हम करते हैं, उसी का नाम 'साधना' है, 'अभ्यास' है। बड़े-बड़े अच्छे संतों को, फ़कीरों को, अहंकार नहीं छोड़ता, आप और हम तो कोई चीज़ ही नहीं हैं। अहंकार किसी को नहीं छोड़ता, अहंकार का साम्राज्य बहुत फैला हुआ है। इसी शरीर में नहीं है केवला सारे संसार में फैला हुआ है। उस अहंकार के कारण हम ऐसे कर्म करते हैं, या पाप करते हैं, जिनसे आगे भी हम और कीचड़ में फंसते हैं। इस माया रूपी कीचड़ से निकलने के लिए भगवान कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया। कौरव और पाण्डवों में युद्ध पर महत्व दिया गया। भगवान कृष्ण ने अर्जुन को जो उपदेश दिया उस उपदेश को गीता में संकलित किया गया है। गीता में अर्जुन को प्रेरणा दी गयी है। पहला जो अध्याय है वह भूमिका है। दूसरे अध्याय से शुरू होता है वास्तविक उपदेश। संसार रूपी कीचड़ से कैसे निकला जाये ? शुरू के 40 श्लोक तो इतने महत्वपूर्ण नहीं हैं, परन्तु उसके बाद के जो 35 या 36 श्लोक हैं, वे अति महत्वपूर्ण हैं और उनका संक्षिप्त में जो सार है वह यही है कि अहंकार को छोड़ें। अहंकार का कारण मैंने आपको बताया है। जैसे इच्छाओं और आशाओं की पूर्ति न हो तो मन खराब हो जाता है। फिर क्रोध आता है। क्रोध से बुद्धि का नाश हो जाता है। बुद्धि के नाश से सब कुछ नाश हो जाता है, ये सारा कुछ समझाया है। उसमें मुख्य बात यही बताई है कि अहंकार मनुष्य को माया रूपी कीचड़ से निकलने नहीं देता। इसी तरह आगे विस्तार करते गए। अर्जुन को समझते गए हैं कि संसार रूपी कीचड़ से किस प्रकार निकला जाये। यहाँ इस दुनियाँ में रहते हुए मनुष्य को कर्म भी करने है और भी बातें करनी हैं। गृहस्थ में जाना है, वानप्रस्थ में जाना है, सन्यास में जाना है, तो सब प्रकार के जीवन को लेकर सब तरह के साधन भगवान् ने अर्जुन को समझाये हैं। मुख्य रूप से उन्होंने अर्जुन को समझाया है कि मुझे वो भक्त, वो प्रेमी, अति प्रिय हैं जिनमें वो गुण हों जो गीता के 12-वें अध्याय, श्लोक 13-वे लेकर 20-वे तक में वर्णन किये गए हैं। वो गुण यदि जिज्ञासुओं में हैं तो वो प्रेमी मुझे अति प्रिय हैं। अन्त में अर्जुन सुनता गया, पता नहीं सारा कुछ सुन पाया, समझ पाया या नहीं। वह प्रश्न भी करता गया, भगवान् उत्तर भी देते गए। परन्तु अन्त में वह मानसिक तौर पर थक गया। 18-वें अध्याय के अन्तिम दो श्लोकों में उसने भगवान् के चरणों को पकड़ लिया और हाथ जोड़कर करबद्ध प्रार्थना की - हे प्रभु ! आप जैसे कहेंगे मैं वैसा ही करूँगा। उसने तर्क करना छोड़ दिया। मनुष्य का स्वभाव है कि वो तर्क करता रहता है जिससे उसका मन शान्त

नहीं होता। कई लोग तो यह कहते हैं कि ये गीता का जो उपदेश भगवान् ने दिया है, ये भगवान ने आत्मा-रूप में आकर मन रूपी अर्जुन को, भीतर में ही उपदेश दिया है। केवल एक ही शख्स ने सुना और किसी ने नहीं सुना। वो भी व्यास जी की कला ही है, जो जीवन की कला है, लिखने की कला है। जो ऐसी पुस्तकें लिखते हैं वें उसे रोचक बनाने के लिए कुछ न कुछ पृष्ठभूमि (background) बना लेते हैं, भूमिका बना लेते हैं।

जिज्ञासु को 12-वे अध्याय में भगवान कहते हैं कि जिनमें निम्न गुण हैं, वो प्रेमी मुझे प्रिय हैं, बाकी सब छोड़ दें। 12-वे अध्याय में 13-वे श्लोक से लेकर 20-वे श्लोक तक इतने गुण हैं कि एक-एक गुण को लें तो हममें से कोई शख्स ये नहीं कह सकता कि उसमें ये गुण पूर्णतः हैं। 'बिन गुण कीते भक्ति न होय " भक्ति न होने का अर्थ यह है कि भक्ति में सफलता नहीं मिलती जब तक हम उन गुणों को धारण नहीं करेंगे। भगवान कहते हैं कि जब तक ये गुण मेरे भक्त में नहीं होंगे वो जिज्ञासु मुझे प्रिय नहीं होगा। तो साधना को सफल बनाने के लिए इन गुणों को अपनाना होगा।

सब भाई-बहन कहते हैं कि हमारा मन नहीं लगता, मन एकाग्र नहीं होता, और भी अपनी बुराइयाँ लिखते हैं। आपकी सेवा में मेरी करबद्ध प्रार्थना है कि कुछ समय रोज साधना से पहले या साधना खत्म करने के बाद दो-चार मिनिट स्वनिरीक्षण करें कि मेरा मन क्यों नहीं प्रभु के चरणों में लगता। 2-4 दिन या 2-4 सप्ताह भले ही आपको सही उत्तर न मिले पर तत्पश्चात आपको उत्तर मिलेगा। स्वनिरीक्षण भी एक विशेष प्रकार की साधना है। सच्चाई से अपने आप को देखियो। हम अपने आप से झूठ बोलते हैं। मैं धोखा देता हूँ तो छुपाता हूँ अपने आपको। मैं किसी का शोषण करता हूँ, तो अपने इस अवगुण को छुपाता हूँ। मैं भले ही बाहर से अच्छा व्यक्ति लगूँ पर वास्तव में ऐसा नहीं है।

दादागुरु पूज्य लालाजी महाराज ने फ़रमाया है कि लोग-बाग़ तपस्या करते हैं, जंगलों में जाते हैं, धूप में बैठते हैं, अग्नि भी जला लेते हैं और साधना करते हैं। परन्तु हमारे यहाँ की साधना है कि हम अपने आपको जानें, स्वनिरीक्षण करें। 'जेता सागर भरया नीर, तेते अवगुण हमारे' महापुरुष कहते हैं कि जैसे सागर विशाल है, कितना विशाल है, हमारे अवगुण इससे भी ज़्यादा हैं। तो इतने अवगुणों से मुक्ति पाना कोई सरल काम नहीं है। दादागुरु हमें प्रेरणा देते हैं

कि हम स्वनिरीक्षण करें और किसी कॉपी पर नोट करें। एक-एक अवगुण को लें और उससे मुक्त होने के लिए सच्चाई के साथ प्रयास करें। यदि मेरा झूठ बोलने का स्वभाव है तो मैं मानूँ कि मैं झूठ बोलता हूँ जो व्यक्ति अपनी गलतियों को नहीं मानता वह साधन करने का अधिकारी नहीं है। अपने साथ तो सत्य बोलो। पूज्य गुरुमहाराज ने फ़रमाया है कि चाहे एक जीवन भी क्यों न लग जाये, जब तक उस अवगुण से मुक्ति न मिले साधना करते रहें। वास्तविक साधना ये है। क्योंकि जब तक गंगा-स्नान की निर्मलता नहीं आएगी, ये चित्त जो है इस पर युग-युगान्तर के हमारे संस्कार अंकित हैं, तब तक हमें सफलता नहीं मिलेगी। तो कृपया पूज्य लालाजी महाराज की पुस्तक अमृत रस, भाग-1 में जो दूसरा या तीसरा पत्र है उसे गम्भीरता से पढ़ें। कम से कम प्रत्येक सप्ताह वो जो 2,3 पैसेज हैं, सफ़े हैं, पढ़ने चाहिए। ये साधना आपको स्वयं करनी पड़ेगी। एक तो मुझे आपसे यह निवेदन करना है, दूसरी आपसे मेरी यह प्रार्थना है कि आप यहाँ आये हैं तो अपने समय का सदुपयोग करें। बिना आवश्यकता के बोलें नहीं, चुप रहने की कोशिश करें। आवश्यक कोई बात करनी है तो ज़रूर करें, अन्यथा भीतर और बाहर चुप रहें। बाहर तो चुप शायद हो जाएँ, भीतर को चुप करने के लिए जिस नाम का अभ्यास आप करते हैं, करते रहिये और जो ध्यान आप करते हैं वो करते रहिये चाहे आँखें खुली हों, चाहे घूम रहे हों। यदि यह भी नहीं कर सकते तो जो मैंने कहा कि ईश्वर की कृपा वृष्टि जो सब जगह हो रही है, अपने आपको शान्त कर लें, स्थिर कर लें, और उस कृपा वृष्टि को, उस बारिश को, ग्रहण करने की कोशिश करें, जज़ब करें, हज़म करें। ये कोई अन्धविश्वास नहीं है। यदि आपको अनुभव न हो तो आप मुझे मिल लें। ये समय फिर नहीं मिलेगा। बातें कम करें, अति आवश्यक कोई बात हो तो अवश्य करें। होता क्या है कि जब सत्संग खत्म होता है तो बाहर ऐसा मालूम होता है कि यहाँ कोई बड़ा मेला लगा हुआ है, सब बोलने लग जाते हैं। मेरी पुनः करबद्ध प्रार्थना है कि मौन की साधना कर सकें तो कृपया करें।

तीसरा, यहाँ के भाइयों को जिनके जिम्मे आपके प्रति प्रबन्ध करने का काम है, उनके साथ अपना पूरा सहयोग दें। आप जहाँ भी रह रहे हैं वहाँ सफ़ाई रखें। भीतर की भी और बाहर की भी। यहाँ आकर आपके मन में किसी के प्रति बुरी भावना नहीं होनी चाहिए। हे प्रभु ! सबका भला हो। यहाँ की सेवा में जितना सहयोग दे सकें कृपया वो करें।

गावो री दुलहिनि मंगल चारा , मेरे गृह आये राजाराम भरतारा

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

गावो री दुलहिनि मंगल चारा, मेरे गृह आये राजाराम भरतारा /

तन रहनी मन पुनरव करिहौं पाँचों तत्व बाराती

राम राम सौं भांवर लइहौं, आत्म से रंग राती

नाभि कवल में वेदी रच ले , ब्रह्मज्ञान उचारा

राम राय सो दूहों पायो, अति बड़भाग हमारा

सुर नर मुनि जन कौतुक आये कोटि तैंतीस उजाना

कहैं कबीर' मोहे ब्याह चले हैं , पुरुष एक भगवाना /

कबीर साहब ने अपनी इस वाणी में भगवान राम का सीता के साथ विवाह होना बताया है। इस बारात में कौन-कौन सम्मिलित हैं ? सब जीव जन्तु हैं, पंचतत्व हैं और कामनायें, इच्छायें सब बारात में हैं। वेदी कहाँ बनाई गई है ? नाभि चक्र पर। यह भगवान विष्णु का स्थान है। उन्होंने सारा साधन बतलाया है। ये पंचतत्व जो हैं सोये हुए हैं मूलाधार चक्र में जो भगवान गणेश का स्थान है हम जो भी शुभ काम करते हैं, भगवान गणेश की पूजा करके करते हैं। गणेश भगवान की पूजा का मतलब यह है कि शक्ति को साथ लें। आत्मिक शक्ति, परमात्मा की शक्ति प्राप्त करें गुरु की सहायता लेकर इस आध्यात्मिक पथ पर चलने का साहस करे। पुरातन काल में पहले साधना मूलाधार चक्र से शुरू की जाती थी। सन्तों ने, विशेष कर कबीर साहब ने, जैसा कि उपरोक्त वाणी में स्पष्ट है, सीता और राम के विवाह की वेदी नाभि चक्र पर, भगवान विष्णु के चरणों में, बनाई है। यहाँ से भगवान राम सीता को लेकर या भगवान शिव शक्ति (पार्वती जी) को लेकर, या भगवान कृष्ण राधा को लेकर अपने धाम जिसे सचखण्ड या सतलोक (जहाँ लोग सर पर चोटी रखते हैं वह ब्रह्मरंध्र का स्थान है) भी

कहते हैं, पधारे हैं और उस स्थान की महिमा गाई है। सीता जी के मुखारबिन्दु से यह वाणी कही गयी है कि भगवान राम की प्राप्ति के बाद कितना आनन्द मुझे मिला है। सीता जी अपनी सहेलियों से कहती हैं कि भगवान के गुणगान करो और इस पथ पर चलकर राम सरीखे पति को अपनाकर आप भी राममय हो जाओ। ।

गुरु नानक साहब ने भी लिखा है " सीता सीता महिमा मोय " - यानी सीता, ये सुरत जो है वह सत्य के साथ समा जाती है, वह सचखण्ड बन जाता है। मनुष्य को परमात्मा ने अपने अनुरूप बनाया है। " पिण्डे सो ब्रह्माण्डे " जैसी शरीर में हमारी अवस्था होती है, शरीर में जिस स्थान पर हमारी सुरत की बैठक होती है, उस स्थान का आकर्षण महामन्दिर में हमारा स्थान हो जाता है। जिन अभ्यासियों की सुरत गुरु या परमपिता परमात्मा में या भगवान राम के चरणों में लीन हो जाती है तो उनका सम्बन्ध परमात्मा के अस्तित्व के साथ हो जाता है। जिनकी सुरत शरीर पर है उनका सम्बन्ध तत्वों के साथ रहता है, दुनियादारी में रहता है। जिनकी सुरत मन पर है, वे चंचलता में रहते हैं, मन के स्थान पर ही रहते हैं। वायुमण्डल में भी जहाँ मन का स्थान है, यानी कभी उतार कभी चढ़ाव है, कभी तो आप परलोक के विचार उठाते हैं, कभी गिर जाते हैं। कभी जब बड़े अच्छे विचार आते हैं तो उस वक्त सन्तों का, परमात्मा का ध्यान आता है, उनके निकट होते जाते हैं। जब नीचे गिर जाते हैं तो राक्षसों जैसी प्रवर्तियाँ हो जाती हैं यही रोज़ होता रहता है।

साधना यही है कि अपनी सुरत जो नीचे के स्थानों में फंसी हुई है उसको उठाकर आज्ञा चक्र या ऊपर के चक्रों में लाना है इसके लिए बड़ी कोशिश करनी पड़ती है। जब मन चंचल अवस्था में होता है या बुरे विचार सोचता है तो उसका स्थान नीचे होता है। जब विचार सात्त्विक होते हैं या मन में स्थिरता आ जाती है तो कई सत्संगी भाई कहते हैं कि हमारी सुरत का पता नहीं लगता। आपने तो कहा था कि ध्यान आज्ञा चक्र पर करें, हमारा ध्यान तो ऊपर चला जाता है। तो यह तो अच्छी हालत है। कोशिश करनी चाहिये कि वहाँ हम अपने आपको स्थिर कर सकें बच्चे अभी ज़ल्दी न करें। उनको बिना मुझसे पूछे आज्ञा चक्र से ऊपर जाने की कोशिश नहीं करना चाहिये। और दूसरे अभ्यासी भी बीच - बीच में अपनी हालत बताते रहें क्योंकि एकदम कोशिश करने में कभी -कभी हानि भी हो जाती है। उपरोक्त पद में कबीर साहब ने हमें लक्ष्य बता दिया है कि अपनी सुरत को निर्मल करते हुए अपनी जीवात्मा को धीरे -

धीरे ऊपर ले जाकर भगवान राम के चरणों में डालिए। वही राम भगवान कृष्ण हुए, वही भगवान शिव हुए। राम परमात्मा हैं। परमात्मा को भिन्न - भिन्न नामों से पुकारते हैं।

नवरात्रों में पूजा पाठ करते हैं। शक्ति की पूजा होती है। हमें वास्तविकता समझनी चाहिये। हमारे भीतर में जो शक्ति सोई पड़ी है, उसे जगाना है। नवरात्रों में बच्चों की भी पूजा की जाती है। छोटे -छोटे बच्चों के चरण धोते हैं, उनकी पूजा करते हैं। बच्चों की पूजा उनकी पवित्रता, निर्मलता और सरलता की पूजा है। जब तक ये तीन गुण हमारे में नहीं आते, हम उन्नति नहीं कर सकते। हमें बच्चों के इन गुणों को धारण करना है। जब तक सरलता नहीं आयेगी, हम कितने ही विद्वान बन जायें, हमारी आत्मा परमात्मा में लय नहीं हो सकेगी। गुरु महाराज का कहना है कि प्रकृति के दो रूप हैं - शिव और शक्ति, पुरुष और स्त्री। जब तक पुरुष स्त्री के गुणों को नहीं अपनाता, कितनी भी साधना कर ले, वह आध्यात्म के अन्तिम चरण पर नहीं पहुँच सकता। इसी प्रकार स्त्री भी जब तक पुरुष की दृढ़ता को नहीं पकड़ेगी उसमें स्थिरता नहीं आयेगी। स्त्रियों के गुणों को, सीता -लक्ष्मी -भगवती के गुणों को, अपनाये बिना भगवान राम की प्राप्ति कैसे होगी ? स्त्री और पुरुष दोनों के गुणों के संगम के बिना हमारी प्रगति नहीं होगी।

कोशिश करें कि गुरु महाराज के जो प्रवचन हैं उन्हें बार - बार पढ़ें। उनके जो अनुभव उसमें लिखे हैं, उन पर विचार करना चाहिये। उन्हें समझना चाहिये और विचार करके देखना चाहिये कि हमारे भीतर क्या कमियाँ हैं, गलतियाँ हैं। भगवान राम जैसी स्थिरता, उनके जैसे गुण आने चाहिये, बच्चों जैसी सरलता आनी चाहिये। पूजा जो है वह सरलता की है। जितना आदमी बड़ा होता जाता है उसमें राग द्वेष आदि और विकसित होते जाते हैं। साधना यही है कि राग- द्वेष इन दोनों से अलग होकर सीता जी जैसा निर्मल पवित्र होकर हम भगवान राम की पूजा करें।

वहाँ (परलोक में) जा कर, प्रभु के चरणों में जा क , निर्णय किस बात का होगा ? वहाँ तो हमारी सरलता का निर्णय होगा। यदि सब कुछ करके भी हमारे भीतर में शत्रुता है, छोटे -बड़े का प्रश्न है, स्त्री -पुरुष, बुराई - भलाई का ज्ञान है, तो अभी रास्ता दूर है। गीता का उपदेश सुनकर, भगवान कृष्ण की मर्यादा को पकड़ कर भी यदि हमारा राग -द्वेष खत्म नहीं

होता, तो यह हमारा दुर्भाग्य है। हम हर वक़्त, प्रति क्षण मोह में फँसे रहते हैं। मोह घोर शत्रु है।

भगवान कृष्ण ने अर्जुन को प्रतीक बना कर सारे विश्व को उपदेश दिया। पहला उपदेश दिया कि अज्ञानता दूर करो जो ज्ञानी है वह क्या समझ सकता है कि मोह क्या है, शुद्ध अनुराग क्या है, द्वेष क्या है ? हमारे अन्दर का सबसे बड़ा राक्षस है, हमारे दुःख का मूल कारण है - हमारा अहंकार। वही कभी हमारा गुरु बन बैठता है, कभी ईश्वर। कभी किसी बुरे काम के लिए कहता है कि इस काम को करने में क्या बुराई है ?

जब अज्ञान से कुछ मुक्त हुए, अहंकार से मुक्त हुए तो भगवान अर्जुन को आत्मा पर ले आए । इसमें बड़ी कठिनाई आई है। अठारह अध्यायों में अर्जुन को भगवान ने प्रवचन दिए, कितने ही प्रश्न अर्जुन ने किए। परन्तु भगवान कितने दयालु , कृपालु थे कि उन्होंने तनिक भी बुरा नहीं माना। अर्जुन कितना भाग्यशाली था कि भगवान ने धीरे -धीरे उसको लाकर आत्म - स्थिति की अवस्था पर खड़ा कर दिया। विराट रूप के दर्शन दिए । समझाया कि कौन किसका है ? जिनको तुम पिता मान रहे हो कभी वो तुम्हारी सन्तान थे। अब भी उसे समझ नहीं आई, आत्म स्थिति क्या है ? वहाँ मेरा- तेरा -पन है ही नहीं। आप देखिए हमारा अभ्यास में मन लग जाता है पर जब ध्यान के बाद आँख खुलती है और हम दुनिया के व्यवहार में आते हैं तो कभी हमें स्वयं गुस्सा आ जाता है और कभी कोई हमें गुस्सा दिला देता है। हमारा जो ज्ञान क्षण भर पहले था, खत्म हो जाता है। हमें अनुभूति भी हो जाती है, परन्तु हमारा जीवन उसके अनुसार नहीं बनता। भगवान ने धीरे -धीरे अर्जुन को मोह से मुक्त कराया और कहा तू वीर है, तू तो ईश्वर की सन्तान है । वीरता तो तुम्हारा प्रतीक है, धर्म, ज्ञान यह तो तुम्हारी वृत्ति है। सभी आत्मा हैं। यह भगवानकी रास लीला है। आत्मा तो एक ही है परन्तु विभिन्न शरीरों में रहने के कारण सबका दायित्व अलग -अलग कर दिया है। परन्तु अज्ञान के कारण हम इसे समझ नहीं पाते। गुरु की, ईश्वर की कृपा यदि हो जाए तो यह रहस्य समझ में आजाता है कि वास्तव में हम और परमात्मा एक हैं कौन लड़ता है, कौन मरता है ? भगवान ने गीता में यह स्पष्ट किया है कि अगर युद्ध भी लड़ना है तो वह भी सेवा के रूप में, निष्काम भाव से लड़ना है। अपना स्वार्थ रख कर नहीं, मन में शत्रुता रख कर नहीं। जब तक प्रभु का यह रहस्य हमारी

समझ में नहीं आता, हमारी साधना सफल नहीं हो सकती। यही साधना करनी है कि ईश्वर के रहस्य को समझें और उसके अनुसार अपना जीवन व्यतीत करें।

गुरु गोविन्द सिंह जी का पूर्व जन्म बद्रीनाथ के निकट हेमकुण्ड में हुआ। वहाँ प्रेरणा हुई और पटना में उनका जन्म हुआ। आप लड़ाई में क्या करते थे ?। इनके प्रत्येक तीर के साथ डेढ़ तोला सोना लगा रहता था। जिस की मृत्यु उस तीर से होती थी उसकी क्रिया उस सोने को बेचकर होती थी यानी उनका किसी के साथ बैर नहीं था। ईश्वर की इच्छा थी, ईश्वर का आदेश था उसका पालन करने के लिये आपने यह सब लड़ाई लड़ी। उनका एक सेवक था जो सब घायलों की मरहम पट्टी किया करता था। सेवकों ने शिकायत कि गुरुदेव एक सी।आई।डी का आदमी है जो हमारे शत्रुओं से मिला हुआ है। उनके घायलों की मरहम पट्टी करता है। गुरुदेव ने उस आदमी को, जिसका नाम भीखाजी था, बुलवाया और कहा कि कहिए आप क्या कहते हैं, ये लोग जो कह रहे हैं क्या वह ठीक है। उन्होंने कहा कि गुरुदेव मुझे क्षमा करें। मुझे तो पता नहीं कि मैं किसकी सेवा, किसकी मरहमपट्टी करता हूँ। मुझे तो ऐसा लगता है कि मैं आपकी ही सेवा करता हूँ। सब सेवक यह सुनकर हैरान रह गये। यह तो उन सेवकों का अहंकार था। गुरुदेव ने कहा कि लड़ाई लड़ना कोई हमारा काम थोड़े ही है। यह तो हम ईश्वर की इच्छावश, उसकी आज्ञा का पालन कर ऐसा कर रहे हैं और देखिए आपके सामने यह महान व्यक्ति खड़ा है। भीखाजी को गुरु की पदवी दी और आज्ञा दी कि आप अपना पन्थ या सम्प्रदाय अलहदा चलाइये। उनके सम्प्रदाय का नाम सेवा पन्थी है , निर्मल सन्त कहलाते हैं।

साधना जीवन जीने का नाम है। इसी को राजी -ब -रजा (यथा -लाभ-संतोष) कहते हैं। "जेहि विधि राखे राम, ता ही विधि रहिये "। जबरदस्ती नहीं , रासलीला समझ कर। कबीर साहब कहते हैं कि मुझे तो खुली आँखों भगवान की लीला नज़र आती है। गुरु नानक देव कहते हैं कि कोई साधना सफल ही नहीं हो सकती जब तक हम ईश्वर की रजा को न समझेंगे और उसके अनुसार चलेंगे नहीं। केवल बुद्धि से ही समझ लेना काफी नहीं है। शिव नेत्र खुलना चाहिये, उसकी रासलीला के दर्शन होने चाहिये, और हमें उसकी रासलीला में सम्मिलित होकर निष्काम भाव से गीता के उपदेश के अनुसार संसार की सेवा करनी होगी।

अन्तिम उपदेश भगवान का यह है कि आसक्ति न हो। सब कर्म भगवान का काम समझकर, भगवान की प्रसन्नता के लिये करते रहिये। कोई आसक्ति नहीं। जहाँ आसक्ति होगी, संस्कार बन जायेगा। भरत जी को एक मृग के बच्चे की सेवा करने पर तीन जन्म लेने पड़े क्योंकि उस सेवा में मोह से संस्कार बन गया था।

आत्मा निर्मल हो जाया। गंगा के निर्मल प्रवाह की तरह हो जाया। कोई बुरा आदमी स्नान करता है या संत स्नान करते हैं, गंगा को कोई चिन्ता नहीं, कोई परवाह नहीं। वो तो अपने प्रवाह में सबको शान्ति प्रदान कर रही हैं। गंगा भगवान शिव के चरणों से निकलती है। भगवान शिव परमात्मा हैं, गंगा उनकी शक्ति है। उस शक्ति में निर्मलता है, शान्ति है, सत -चित - आनन्द सब गुण हैं। परन्तु हम ही उस निर्मल जल को गंगा के प्रवाह से निकाल कर गन्दा कर देते हैं। यह मन का रूप है। साधना यही है कि इस मलीनता को धोकर, शुद्ध होकर पुनः गंगा के प्रवाह में सम्मिलित हों।

" नानक सदा सुहागिन जिन जोती जोत समानी /" वो ही सुहागिन है, वो ही जिज्ञासु है जो परमपिता परमात्मा के चरणों में नितान्त लिपटा रहता है। चाहें भक्ति का साधन करें या ज्ञान का साधन करें, नीव तो है निर्मलता और शुद्ध आचर। गुरु महाराज (परमसंत महात्मा श्रीकृष्ण लाल जी महाराज) के साथ इलाहाबाद गये। वहाँ गंगा जी के दूसरे तट पर एक मन्दिर है जिसमें आन्तरिक चक्रों की एक बड़ी मूर्ति है। वहाँ गुरुदेव ने भगवान शिव के तीन रूप बताये। पहला रूप तो प्रकाश का है। जिस लिंग की हम पूजा करते हैं वह भगवान शिव का पूरा ललाट है। इसके बाद सत है। हम गुरु की, शिव की, कृष्ण भगवान की, भगवान के जिस रूप की भी पूजा करते हैं उसी रूप में हमें भगवान के साक्षात् दर्शन होते हैं तथा जो आदेश आप उनसे मांगें स्वप्न अवस्था में तथा साधना अवस्था में खुली आँखों मिलते हैं।

तीसरा रूप उन्होंने बताया - निर्मलता का है। गंगा जैसी निर्मलता। स्वयं में स्थित रहकर वह अप्रयास ही सारे विश्व को निर्मल करती है। यह संत का जीवन है। वो जहाँ बैठेगा वहीं गंगा है, वहीं तीर्थ है। उसको कुछ करना नहीं पड़ता। स्वाभाविक है कि ऐसे व्यक्ति के पास जो बैठेगा उसको भी शान्ति मिलेगी और धीरे -धीरे उसके भीतर में भी निर्मलता आजाएगी।

सन्त मत में इसका ही महत्त्व बताया है। ईश्वर कृपा से यदि कोई ऐसा सन्त मिल जाय तो आपको विशेष परिश्रम करने की ज़रूरत नहीं। ऐसे व्यक्ति के पास बैठें, उसका संग करें। ऐसे व्यक्ति के पास बैठने का अवसर मिल जाय तो एक कल्प की घोर तपस्या से कहीं अच्छा है। ऐसा सन्त ईश्वर बन जाता है, ईश्वर की आज्ञा का पालन करते हुए संसार का उद्धार करता है।

महर्षि रमण से कहा गया कि आप आश्रम में ही बैठे रहते हैं, बाहर स्थान स्थान पर जाकर, लोगों को प्रवचन देकर, उनका उद्धार क्यों नहीं करते ? उनका उत्तर था - " आप क्या समझते हैं ? क्या यहाँ मौन में बैठे हुए मैं संसार का उद्धार नहीं करता? सूरज जब आसमान में चढ़ता है तो क्या प्रकाश देने के लिए उसको कहीं जाना पड़ता है ? उसका प्रकाश तो सबको मिलता है। दोष हमारा है कि हम अपने मकान की खिड़की नहीं खोलते। खिड़की खुली रहेगी तो प्रकाश अन्दर आयेगा ही । खिड़की बन्द कर लेते हैं , प्रकाश से वंचित हो जाते हैं । इसी प्रकार सन्त भी सूर्य समान हैं । जैसे -जैसे उनकी प्रगति होती जाती है वैसे - वैसे उनकी किरणें, तरंगे (vibrations) दूर तक जाती हैं। मुसलमानों में कहते हैं कि एक -एक गाँव या शहर का एक - एक ' कुतुब ' सन्त होता है जो उस जगह की देख -भाल करता है। इस बात को सन्त लोग हमारे यहाँ भी मानते हैं। ईश्वर की ओर से सन्त की ड्यूटी लगी होती है कि वे जहाँ रहते हैं वहाँ की देख भाल करते रहें। गुरु महाराज कहा करते थे कि कभी -कभी साधना में ऐसे व्यक्तियों की कृपा का अनुभव होता है।

00000000000

राम संदेश : जुलाई ,1982

गुरु और परमेश्वर एक ही जानो

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ०करतारसिंह जी महाराज)

हमारी संस्कृति में सदैव गुरु का स्थान विशेष रहा है। प्रायमरी स्कूल के बच्चों को पढ़ाने वाले शिक्षक, ऊँची क्लास के बच्चों को पढ़ाने वाले अध्यापक, धार्मिक शिक्षा देने वाले अध्यापक (शिक्षक) को 'गुरु' कहते हैं। परन्तु जिस गुरु को हम लोग समझते हैं, वह कुछ और है। 'गु' का अर्थ है अज्ञान और 'रु' का अर्थ है दूर। **जो हमारे आत्मिक अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर करा दे - उसे 'गुरु' कहते हैं।** ये शब्द भी आपेक्षिक है। उसकी कोई सीमा नहीं। हमारी संस्कृति कहती है कि 'गुरु और ईश्वर दोनों खड़े, किसके पैर छुऊँ? " हम उस गुरु के पैर छूएंगे जो हमारे प्रियतम परमात्मा का ज्ञान हमको देते हैं। जिसने हमारे प्रियतम के साथ हमारा योग कराया। (कबीर जी के शब्दों में "गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागू पांय। बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दियो बताय।।")

गुरु का स्थान बहुत ऊँचा होता है। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति गुरु नहीं हो सकता। जिस पर ईश्वर की कृपा होती है वही व्यक्ति गुरु बनता है। हमारी संस्कृति भी यही है। पहले हजारों की संख्या में साधू होते थे, वे सब गुरु नहीं होते। जो सन्यासी होता है वह गुरु भी बन जाता है - यह ज़रूरी नहीं है। "गुरु परमेश्वर एको जानो " यानी गुरु और परमेश्वर को एक ही समझो। हमारे देश की संस्कृति में आदिकाल से ही गुरु की पूजा करते आ रहे हैं। कौन सा गुरु ? गुरु और परमेश्वर को एक ही जानो - वह कौन सा गुरु है ? प्रत्येक व्यक्ति गुरु नहीं हो सकता। गंगा माई से पूछा गया कि क्या कारण है कि लोग गंगा स्नान करते हैं और वो पवित्र मानते हैं अपने आपको। तो गंगा माँ ने उत्तर दिया - संत जन अर्थात् सत्पुरुष जो सत का प्रतीक हैं (सत के अर्थ हैं ईश्वर जिनके भीतर आत्मिक प्रकाश हो गया है, जो स्वयं भी प्रकाशित हैं और संसार को भी आत्मा का प्रकाश, आत्मा का ज्ञान देते हैं उनके संग के द्वारा) ऐसे व्यक्ति आकर मुझमें स्नान करते हैं, उनकी चरण-रज से मैं पवित्र हो जाती हूँ। मेरे से आगे और लोगों को लाभ पहुँचता है। यह गुण सब सन्तों में नहीं होता इसलिए सभी सन्तों को गुरु बनने की

आज्ञा नहीं होती। उनमें संवेदनशीलता होनी चाहिए। जैसे आग लकड़ी को छूने से जला देती है, इसी प्रकार की अग्नि उनमें भी उतपन्न हो जानी चाहिए। महापुरुष अधिकारी 'गुरु' की पदवी उसी को देते हैं जिसमें यह गुण पाया जाता है कि उसके पास बैठकर वह भी उसके जैसा ही हो जाता है। जैसे चन्दन के साथ जो भी लकड़ी छुयेगी उसमें भी चन्दन की सुगन्ध तो आ जाएगी लेकिन चन्दन रूप नहीं बनेगी। इसी प्रकार सब संतों में इतना तो होता है कि उनके पास बैठना अच्छा लगता है, वहाँ हमें प्रेरणा मिलती है। संत भले ही उपदेश अच्छा देते हैं, पर वे गुरु नहीं बन सकते। गुरु वही बन सकता है जो चन्दन की लकड़ी जैसा ही चन्दन रूप बना दे। उसकी आत्मा जाग्रत हो। सच्चे संत की, सच्चे गुरु की यही पहिचान है कि जो उसके पास बैठे वह भी गुरु रूप बन जाये, आत्मा रूप बन जाये, तब वह व्यक्ति गुरु कहलाने का अधिकारी है, अन्यथा नहीं। संत भला ही बड़ा उपदेशक हो, बड़ी अच्छी बातें कर सकता हो, हज़ारों की संख्या में बैठे व्यक्तियों को स्टेज पर बड़ा मोहक भाषण दे दे, वह गुरु नहीं कहला सकता जब तक वह दूसरों को अपना जैसा न बना ले, भले ही उसमें कुछ समय लग जाये।

गुरु वही बन सकता है, लकड़ी वही चन्दन बन सकती है जो दूसरी लकड़ी को चन्दन बना दे, अपना जैसा बना ले। यह बड़ा गम्भीर विषय है। लोगों में इसमें मतभेद हैं और गलतफहमियाँ भी हैं। मेरा इसमें कोई मतलब नहीं है। मैं सबका सम्मान करता हूँ, पर गुरु महाराज ने जो बताया उन्हीं के शब्दों को दोहरा रहा हूँ। सत्संग की महिमा सभी शास्त्रों ने गायी है। सब महापुरुषों ने इसका गुणगान किया है। सत्संग भी कई प्रकार के हैं। परन्तु वास्तव में सत्संग चन्दन की लकड़ी वाला हो। चाहे देर लग जाये। अपना ध्येय अतीत के अपने संस्कारों के अज्ञान के कारण बाधित हो सकता है, परन्तु अन्त में सच्चे सत्संग का परिणाम यही होता है कि जिसके चरणों में हम बैठें, हम वैसे ही हो जाएँ। पूज्य गुरुदेव बार-बार अपने प्रवचनों में बताया करते थे कि एक महापुरुष थे जो मस्जिद में बैठकर ईश्वर-भक्ति कराते थे। एक नानबाई भोजन रख आया करता था और दूर से प्रणाम करके चला आया करता था। छह महीने गुज़र गए। उस महापुरुष ने एक दिन सोचा यह कौन व्यक्ति है ? किसी को कुछ कहता नहीं। खाना रख जाता है और बोलता भी नहीं। एक दिन उन्होंने अपनी आँखें खुली रखी। जैसे ही नानबाई आया साधु ने पूछा, " तू रोज़ मेरी सेवा करता है, मेरे लिए भोजन लाता है, बता तेरी क्या इच्छा है ? कहता है। "मेरी एक इच्छा है यदि आप नाराज़ न हों तो बताऊँ"। साधु बोला -

"तुमसे मैं नाराज़ कैसे हो सकता हूँ ? तूने मेरी इतनी सेवा की है, मैं नाराज कैसे हो सकता हूँ ?" नानबाई करबद्ध होकर कहते हैं - " प्रभु, जैसी आपकी आंतरिक स्थिति है वैसी ही मेरी भी बना दीजियो" वह फ़कीर थोड़ी देर चुप रहा, बड़ी गम्भीर बात थी क्योंकि आत्मप्रसादी कोई व्यक्ति ही हज़म कर सकता है। सामान्यतः व्यक्ति पागल हो जाता है, या उसका शरीर टूट जाता है, या उसकी मृत्यु हो जाती है। इतनी मधुरता है आत्मप्रसादी में, पर प्रत्येक व्यक्ति इसे हज़म नहीं कर सकता। इसीलिए सब महापुरुष कहते हैं कि इस रास्ते पर जल्दी नहीं करनी चाहिए। धीरे-धीरे योग्यता, संवेदनशीलता, जज़ब करने की ताकत बढ़ती जाती है। समय लगता है। किसी को एक जन्म लगता है, किसी को कई जन्म लग जाते हैं, और कइयों को कुछ माह, कुछ साल ही लगते हैं। पर समय सबको लगता है।

गुरु महाराज का आदेश था - ' या तो गुरु करो मत, कर लिया तो छोड़ो नहीं' उसकी बात मानते चलो। उसके जीवन का अनुसरण करते चलो। उसकी नकल करो, उसकी बात सुनो, बैठो, निध्यासन करो, कोशिश करो। वैसे बनते चलो, परन्तु यह कभी मत सोचो कि मुझे एक दिन मैं ही भगवान के दर्शन करा दो।

वह संत आँख खोलकर नानबाई से कहते हैं, 'बेटे तुमने ऐसा कहकर बहुत बड़ी गलती की है। मैं तेरी इच्छा की पूर्ति तो करा देता हूँ पर तू बर्दाश्त नहीं कर पायेगा, तेरी मृत्यु हो जाएगी।' पर नानबाई नहीं माना, बोला - " चाहे मेरी मृत्यु हो जाये पर मेरी आन्तरिक स्थिति अपनी जैसी बना दीजियो" फ़कीर बोला, "अच्छा, जाओ तुम नहा -धोकर, अच्छे कपड़े पहनकर, छह घंटे बाद आओ। आदेशानुसार नानबाई ने स्नान किया, नए वस्त्र पहने, मन को भी साफ़ किया, और फ़कीर के पास गया और झोली फैला कर कहने लगा, "मुझे भिक्षा दो, जैसे मैंने कहा था, आपसे अनुरोध किया था, मुझे अपना जैसा बना लीजियो"। संत ने उसे कुछ घंटे अपने पास बैठाया और अपने जैसा ही उसे बना दिया। संत ने कहा - " जा, छह घंटे में तेरा शरीर रहेगा ही नहीं।" उसने कहा - " इस बात की कोई चिंता नहीं। अपने मेरे प्रति जो किया है, जो अमृतदान दिया है, जिसका मैं रसास्वादन कर रहा हूँ, हो सकता है कि मैं हज़ारों जन्मों में भी प्राप्त नहीं कर पाता।" उसका शरीर छूट गया। वह आत्मप्रसादी हज़म करना प्रत्येक मनुष्य के लिए सम्भव नहीं है।

अंग्रेजी में कहा गया है - " Slow and steady wins the race " (धीमी और स्थिर दौड़ जीतता है) इसलिए इस मार्ग में धीरे-धीरे बढ़ना चाहिए। यह बात महर्षि रमन भी कहा करते थे। उनका और कोई साधन नहीं था। वे बहुत कम बोलते थे। ईश्वर प्राप्ति का उनका केवल एक ही रास्ता (साधन) था - चुप करके बैठना। कुछ व्यक्ति मेरे जैसे तर्क करते थे और लौट आते थे। कोई एक आदमी वहाँ शान्त होकर बैठा और आत्मिक आनन्द की प्राप्ति करता। उनके जीवन में एक या दो व्यक्ति ही आत्मिक आनन्द की प्राप्ति कर सके। शेष लोगों ने और सब बातों में ही अपना समय खराब किया।

यह रास्ता बड़ा कठिन है। शरीर को शान्त करना है तो यह भी कठिन हो जाता है। योगियों ने साधन बताये हैं। आसन बताये हैं। पर इसके आगे भी एक सूक्ष्म शरीर है। गाढ़ निद्रा में जाकर इसकी कमी हो जाती है। उस समय व्यक्ति ईश्वरी आत्मा के समीप होता है, उसे सुषुप्त अवस्था कहते हैं। महापुरुष कहते हैं - सुषुप्त अवस्था में आने का प्रयास करो। जो स्थिति गाढ़ निद्रा में होती है वही अवस्था अभ्यास में भी हो। मन इतना चंचल है कि इसकी चंचलता तीन-तीन, चार-चार साल तक खत्म नहीं होती। भागवत ग्रन्थ में इस विषय पर बहुत कुछ लिखा है। फिर बुद्धि आ जाती है। तर्क और अहंकार दोनों बाधक बनते हैं आत्मिक ज्ञान प्राप्त करने में। प्रत्येक व्यक्ति अपनी बुद्धि पर बहुत विश्वास करता है। व्यक्ति जितना आगे बढ़ता है, उसके तर्क करने की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। मुझे आप लोग क्षमा करेंगे, भाई लोग, बहने कुछ तर्क करते हैं - यह कैसे होगा ? यह क्यों नहीं होगा ? उनमें बचपन है, उनका दोष नहीं है। मैं आप सबको बता दूँ - हमारे यहाँ का साधन है - मन का मौन, शरीर का मौन, बुद्धि का मौन, प्राणों का मौन और आत्मा का मौन। जब सब मौन हो जाते हैं तब आत्मा की समीपता मिलती है। यह कितनी देर साथ रहती है, मनुष्य की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के परिणामस्वरूप होती है।

यह यात्रा बड़ी कठिन है। इसका मतलब यह नहीं कि हम किसी योग्य गुरु की तालाश न करें, खोज न करें। खूब करनी चाहिए। जैसे गुरु को अधिकार है जिज्ञासु की पड़ताल करना, जाँच करना उससे अधिक अधिकार है जिज्ञासु का। ऐसा पूज्य गुरु महाराज कहा करते थे और यह सत्य भी है। इस रास्ते पर जल्दबाज़ी नहीं करनी चाहिए। कई लोग पहले ही दिन आते ही कहते हैं, 'हमें मंत्र दे दीजिये, दीक्षा दे दीजिये।' बहुत समझाते हैं, नहीं मानते। मज़बूर हो जाता हूँ। यह

दीक्षा नहीं है। न जिज्ञासु में उतना समर्पण होता है, न उसमें संवेदनशीलता ही आ पाती है। जब तक संवेदनशीलता नहीं होगी, जब करने की शक्ति नहीं होगी, साधु (गुरु) के भीतर से जो आत्मप्रसादी आ रही है, उसको ग्रहण कैसे करेंगे ? पूज्य गुरुदेव कहा करते थे कि शिक्षक को भी और जिज्ञासुओं को भी इस रास्ते पर जल्दबाज़ी नहीं करनी चाहिए।

" बिनु गुरु कीते मुक्ति न होई "

सतगुरु, सच्चे गुरु, की प्राप्ति के बिना मोक्ष किसी को प्राप्त नहीं हो सकती। मोक्ष का अर्थ है स्वतंत्रता। किसी प्रकार का कोई बन्धन नहीं। परमात्मा को क्या बन्धन, आत्मा को क्या बन्धन ? परन्तु आत्मा पर आवरण पड़े हैं - शरीर का, प्राण का, मन का, बुद्धि का, आनन्द का आवरण। गुरुदेव एक पुस्तक 'सुदर्शन' पढ़ा करते थे जिसमें छठा आवरण था आकाश का। कई लोग आकाश को ही आत्मा समझ लेते हैं, यह गलती है, यह भूल है। तब भी हम सबका धर्म है, कर्तव्य है कि प्रयास जारी रखे। "प्रयास करो, फिर प्रयास करो, फिर प्रयास करो"। (Try again, Try again, Try again) और जब भी कोई सतगुरु मिल जाये, आपका अधिकार है जाँच करने का, उसकी परीक्षा लेने का, वगैर बतलाये और कभी-कभी बतलाकर भी आप परीक्षा ले सकते हैं। जब तक आपको संतुष्टि न हो, संतुष्टि का अर्थ है तनिक सा प्रकाश तो दीखे, उसे अपना गुरु न मानें।

हमारी संस्कृति में स्त्री और पति का जो व्यवहार होता है, वही व्यवहार शिष्य और गुरु का होता है। हमारे देश में स्त्रियों का स्थान महान है। इतिहास में उनका बड़ा स्थान है। वैसे ही स्त्रियों के गुण जिज्ञासु को अपनाने पड़ते हैं। स्त्री अपना तन, मन, धन, अपना सम्मान, इज्जत, जो कुछ उसका लगाव है, राग-द्वेष, जो कुछ उसके पास है, सब कुछ अपने पति को अर्पण कर देती है। आपने देखा होगा कई महापुरुषों ने स्त्री रूप बनकर भगवान् कृष्ण की स्तुति की है, पूजा की है। इस वक्त भी वृन्दावन में कई लोग ऐसे हैं जो स्त्री जैसे कपड़े पहनते हैं, घूँघट निकालते हैं और स्त्रियों जैसी बातें करते हैं। वे पुरुष वाणी नहीं बोलते, स्त्रियों वाली वाणी बोलते हैं।

स्त्रियों में महान गुण है समर्पण का। आजकल की बात छोड़ो, जो कुछ हो रहा है संसार में। मैं इतिहास का सन्देश, आपने देश का इतिहास बता रहा हूँ। पुरुषों का उतना ऊँचा स्थान नहीं

है। पुरुष इतना समर्पण नहीं कर सकता। परन्तु जब तक स्त्री जैसा समर्पण नहीं करेगा, तब तक प्रगति नहीं होगी। हम लोग भले ही इस बात को न मानें, परन्तु जो मैं कह रहा हूँ वह वास्तव में सही है। दूर की बात नहीं, युवावस्था में मैंने देखा है कि हमारी बहनें, मातायें किस प्रकार समर्पण करती हैं। पुरुष तो ससुराल में एक या दो दिन से ज़्यादा नहीं रह सकता। कन्या आती है तथा माता-पिता लड़कियों को ज़्यादा प्यार करते हैं, लड़कों से। वह लाइली लड़की मायका छोड़कर ससुराल में आती है। मायके को बिलकुल भूल जाती है। हमारे देश की संस्कृति थी कि जब तक मायके वाले बुलाएँ नहीं, लड़की को मायके नहीं आना है। जैसे ही फेरे हुआ, लड़की ने अपने मन को फेरों के अनुसार बना लिया, भूल गयी अपने मायके को। यही बुल्लेशाह कहते हैं, - "बुल्लेशाह रब दा कि पाना इदरों पुटना उत्थे लाना " - एक पौधे को एक स्थान से उखाड़कर दूसरे स्थान पर लगा देना। ईश्वर की प्राप्ति के लिए और क्या करना है ? अपने मन को संसार से एक ओर से हटाकर परमात्मा के चरणों में लगा दो। कहना बहुत सरल है। व्यवहार में ऐसा करना कठिन है। बुल्लेशाह के गुरु सूफी थे, एक दिन नाराज़ हो गए। गुरु को गाना अच्छा लगता था। बुल्लेशाह ने सोच समझकर स्त्री का रूप धारण करके अपने गुरु के पास जाकर महफ़िल में गाना गया। गाना इतना मधुर था, उनके गुरु ने कहा, इतना मधुर गाना कौन गा रहा है ? बुल्लेशाह के अतिरिक्त और कोई नहीं गा सकता। उन्होंने बुल्लेशाह से कहा - 'घूँघट खोल दो'। तभी कहते हैं 'घूँघट के पट खोल'। उनको आत्ममग्न कर दिया।

पति परमात्मा को रिझाना है। सत्संग एक साधन बन जाता है। उसमें हमें शक्ति मिलती है और सच्चा गुरु मिल जाता है। जब सतगुरु मिल गया तो परमात्मा ही मिल गया। "गुरु परमेश्वर एको जानो "। गुरु और परमात्मा एक हैं। सब गुरु नहीं हो सकते। तब भी ज्ञान की प्रेरणा मिलती है, शान्ति मिलती है। उतावलापन नहीं करना चाहिए, जल्दी नहीं करनी चाहिए। गुरुदेव यही मानते हैं।

वास्तव में ईश्वर को ही गुरु मानते हैं। वह ईश्वर तत्व ही है जो गुरु बनता है। उस पुरुष में सूर्य का सा प्रकाश उदय होता है। प्रकाश तो सबके अन्दर होता ही है। " मन तू ज्योति स्वरूप है, अपना मूल पहचान " तू तो आत्मा है, परमात्मा है, अपने आपको पहचान। कहना तो बड़ा सरल है परन्तु प्रत्येक व्यक्ति नहीं पहचान सकता। "अहम ब्रह्मास्मि" कहने से ही नहीं हो

जाता। हो जाये पर एक क्षण में नहीं हो सकता। हमारे चित्त पर इतने संस्कार लिखे हैं, मलिनता है। दो-चार सिटिंग में नहीं हो सकता। बड़ा कठिन है।

आप सब ने गीता महाभारत पढ़ी है। अर्जुन भगवान कृष्ण के कितना समीप था, पाँचों भाई कितने समीप थे ? अन्त में पाँचों भाई परलोक के लिए गए। युधिष्ठिर सत्यवादी था, केवल उसको स्वर्ग में जाने की आज्ञा मिली। अर्जुन को गीता सुनाई गयी, उपदेश सुनाये गए। कितनी कृपा थी उनपर भगवान कृष्ण की लेकिन उनको अनुमति नहीं मिली स्वर्ग में जाने की। वह कृष्ण नहीं बना। राधाजी तो बन गयीं हैं कृष्ण रूपा मन्दिरों में जाकर देखें, राधा-कृष्ण की तस्बीर मिलेगी, अर्जुन का नाम नहीं होगा। राधा को इतना उपदेश नहीं दिया गया। इतने उपदेश की ज़रूरत नहीं होती। जिसको यह प्रसादी देनी होती है उसको इतने उपदेश की ज़रूरत नहीं होती। उसकी जाँच की जाती है कि उसमें कितनी संवेदनशीलता है, कितनी जज्बियत है, स्पंज () की तरह कितना पानी पी सकता है।

आप कहेंगे कि भगवान कृष्ण ने अर्जुन को अपने साथ नहीं लिया। कितने समीप थे, कितनी कृपा थी भगवान् की उनपर ? अर्जुन कृष्ण नहीं बन सकता। माफ़ करेंगे, मैं किसी की निन्दा नहीं करता, सबका सम्मान करता हूँ, पर कहना पड़ता है, समझना पड़ता है, इसलिए कह रहा हूँ। यह संवेदनशीलता सब व्यक्तियों में नहीं होती और सब जिज्ञासुओं में ग्रहण शक्ति नहीं होती। जब गुरु और शिष्य दोनों में यह शक्ति आ जाती है, तब अन्तर मिट जाता है। एक हो जाते हैं। फिर दुड़ नहीं रहती।

" ज्यों जल में जल आये खटाना, त्यों ज्योती संग जोत समाना !

मिट गए गमन, पाय बिसराम, नानक प्रभु सबके कुर्बान !!"

आत्मा आत्मा में मिल जाती है। !! ॐ शान्ति ॐ !!

000000000

गुरु का दामन न छोड़ें

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ०करतार सिंह जी महाराज)

एक बार गुरु गोविन्दसिंह जी दक्षिण में गोदावरी नदी के तट पर बैठे हुए एक पत्थर हाथ में लिए हुए बार-बार ऊपर फेंक रहे थे तथा उसे पुनः हाथ में पकड़ लेते थे। वह यह काम कुछ देर तक करते रहे। एक क्षण ऐसा आया कि वह पत्थर हाथ में नहीं आया तथा नदी में गिर गया। गुरु महाराज ने अपने सामने बैठे शिष्यों से पूछा कि इस पत्थर की गति क्या होगी ?" सबने यही कहा कि पत्थर हाथ से गिर गया और पानी में चला गया, नीचे कहीं बैठ गया। एक सज्जन जो उनके मुराद थे, उनसे पूछा "आप बताइये ।" वह दीन होकर कहने लगे -" आपके होते हुए मैं कुछ कहूँ, यह गुस्ताखी होगी।" उन्होंने दूसरी बार कहा। सेवक ने वही उत्तर पुनः दीनता से दिया। पुनः गुरु महाराज ने आदेश दिया - " यह हमारा आदेश है, आप प्रतिक्रिया अवश्य करें।" सेवक ने बड़ी विनम्रता से कहा - "पत्थर जब तक आपके पवित्र हाथ में था वह शोभनीय था, शोभा पा रहा था। जैसे ही वह आपके (अपने इष्टदेव के) हाथ से जुदा हुआ। वह भवसागर में गिर गया। पता नहीं कहाँ-कहाँ चला जायेगा। "

यह तो पत्थर है, उसकी गति ऐसी ही होनी थी। यदि मनुष्य भी अपने गुरु का दामन छोड़ दे, ईश्वर से या गुरु से अपना सम्बन्ध तोड़ ले, तो उसका भी परिणाम यही होता है। हमारे दुःख का कारण क्या है ? सम्पन्न लोग भी, गरीब भी, सब यही कहते हैं कि हमारा मन काबू में नहीं रहता। इसका साधन एक ही है। हम जिस परमात्मा की सन्तान हैं, हमारे मन ने, हमें उस परमात्मा से जुदा (अलग) कर दिया है। हमें उस परमपिता परमात्मा के चरण -कमलों को पकड़ लेना है। जब तक हमारा सम्बन्ध उस परमपिता परमात्मा से टूट रहेगा तब तक हमारा जीवन सुखमय, आनन्दमय रहेगा। यानी जब तक हमें प्रभु की, अपने प्यारे की, याद रहती है, तब तक जीवन का आनन्द रहता है, यानी हमारी चेतना को आत्मा की अनुभूति होती रहती है। उस आत्मिक सम्बन्ध को तोड़ने पर हमारी मृत्यु होती है। मृत्यु का मतलब है कि हम दुःख में फँस जाते हैं। दुःख क्या है ? दुःख है - जन्म मरण का दुःख। ये सँसार के दुःख-सुख तो कुछ

भी नहीं हैं, परन्तु जन्म-मरण का जो दुःख है वही महान दुःख है। व्यक्ति इस दुःख से ही छूटने के लिए व्याकुल रहता है। और इससे वह और बहुत दुःख पाता है। इस दुःख से छूटने का एक ही साधन है - गुरु का दामन न छोड़ा जाये। पर हम क्या करें ? पहले तो हम ईश्वर की तरफ बढ़ते ही नहीं और यदि हम इस रास्ते पर चलने भी लगें तो मन अनेकों बाधाएँ डालता है। भीतर की तथा बाहर की ये बाधाएँ मनुष्य को व्याकुल कर देती हैं, पागल बना देती हैं। असमंजस में हमारे भीतर का चैन खो जाता है, हमारा मानसिक सन्तुलन रहता ही नहीं।

प्रत्येक मनुष्य दुःखी है। समय-समय पर महापुरुष आये हैं और आगे भी आते रहेंगे। इन सब महापुरुषों ने ही करुणा-वश मनुष्य जाति का उद्धार करने का प्रयास किया है। परन्तु मनुष्य ने अपने संस्कारवश इन महापुरुषों की चेतावनी को नहीं सुना। अभी आप भजन सुन रहे थे कि समय व्यर्थ जा रहा है, पता नहीं किस वक्त हमारे प्राण-पखेरू उड़ जाएँ। हम जानते हैं कि मृत्यु अवश्य है और इस शरीर की मृत्यु से पहले यदि हमने अपने संस्कारों को खत्म नहीं कर लिया, अपनी वृत्तियों को, अपनी कामनाओं को, जहाँ-जहाँ हमारा मन फंसा है, वहाँ से इनको आज़ाद नहीं करा लिया तब तक हमारा दूसरा जन्म (पुनर्जन्म) अवश्य होगा और आवागमन की यह दुःखमय कहानी इसी प्रकार चलती रहेगी। हम कभी गम्भीरता से नहीं सोचते कि हमारे दुःख क्या कारण है क्या ? यह हमारा मन ही तो है हमारे दुःख का कारण। इसका स्वभाव कुत्ते की दुम की तरह है जो दस साल तक नलकी में डाल कर रखो, तब भी यह टेढ़ी ही रहती है।

सभी महापुरुष सत्संग पर विशेष महत्व देते हैं। ऐसे व्यक्ति (गुरु) के साथ बैठने से जो ईश्वर के साथ तदरूप हो, जो रास्ता चल चुका हो, उसकी सेवा में बैठो, उसके साथ बैठ कर सत्य का संग करो। एक परमात्मा ही सच्चा है या उसके भक्त जो उसके चरणों तक पहुँच चुके हैं या पहुँचने वाले हैं। उनके भीतर से प्रेम की विशेष तरंगे, किरणें, रश्मियाँ, निकलती हैं। उनके पास श्रद्धा से, विश्वास के साथ, बैठना ही काफी होता है। जैसे यदि हम पहाड़ पर जाएँ तो शीतलता अप्रयास ही मिलती है वैसे ही ऐसे महापुरुषों के पास बैठने से हमारे मन की बुराइयाँ धीरे-धीरे अपने आप छूटती चली जाती हैं और एक ऐसा क्षण आता है जबकि मन स्थिर होकर निर्मल हो जाता है। स्थिर हो जाने के पश्चात ही वह आत्मा के समीप पहुँचता है। तत्पश्चात आत्मा में लय होकर परमात्मा में विलय हो जाता है। हमारे यहाँ यही साधन है। परन्तु लोग

इस तरफ ध्यान नहीं देते। यदि ईश्वर कृपा से कोई ऐसा महापुरुष मिल जाये जो ईश्वर के तदरूप हो रहा है तो उसकी शरणागत हो जाओ। बुरे हैं, भले हैं, तेरे हैं। उसके चरणों में बैठे रहो, मन में उसका स्वागत करते रहो। कुछ और करने की ज़रूरत नहीं है। सब पाप-पुण्य कट जायेंगे। किसी प्रकार के कोई संस्कार हैं, अवगुण हैं, सब खत्म हो जायेंगे। (परन्तु आपका उस व्यक्ति से स्नेह होना चाहिए तथा वह व्यक्ति आपसे सहानुभूति रखता हो) माँ-बाप बच्चों से, यदि वे बुरा काम करें, तो क्या कभी बदले की भावना रखते हैं ? ऐसा महापुरुष, सतपुरुष, किसी से बदले की भावना नहीं रखता। प्रभु कभी किसी से ऐसी भावना नहीं रखते। यदि मनुष्य दुःखी होता है तो वह अपने मन के कारण दुःखी होता है। ईश्वर कभी किसी को दुःख नहीं देता। सतपुरुष कभी किसी को दुःख देना नहीं चाहते हैं।

इसी को 'नाम' भी कहते हैं। 'नाम' केवल राम-राम कहना नहीं है। 'नाम' सब साधनाओं का सार है। 'नाम' प्राप्त हो जाना, ईश्वर से तदरूप हो जाना है। ईश्वर की सारी शक्ति हमारे भीतर में बस जाना, या सतपुरुष के संग बैठ कर उसके साथ तदरूप हो जाना - ये सब 'नाम' का अन्तिम चरण है। अन्तिम न भी हो तो भी व्यक्ति काफी प्रगति कर जाता है परन्तु पहले मन में इतनी श्रद्धा, इतना विश्वास होता नहीं। एक उतावलापन होता है, वह तुरन्त परिणाम चाहता है। जिनके शुभ संस्कार हैं या संस्कार बनने वाले हैं या काँटा बदलने वाला है, जैसे अजामिल का बदला, तो कृपा हो जाती है। परन्तु हम सबके लिए जब तक यह सम्भव नहीं है, उनके लिए यह आवश्यक है कि प्रभु के साथ-साथ पथ-प्रदर्शक के माध्यम से सम्पर्क बनाना चाहिए। इसके लिए किसी ऐसे महापुरुष से सम्पर्क करना पड़ेगा जो परमात्मा से तदरूप हो। गुरु महाराज जी (महात्मा डॉ०श्रीकृष्ण लाल जी महाराज) ने अपने ही जीवन में अपने ही ऊपर उतार कर लिखा है कि - "हम जानते थे कि हम क्या थे और हमारे गुरुदेव ने हमारे ऊपर कितना कृपा की है।" एक नहीं ऐसे अनेकों उदाहरण हैं। ये सब 'नाम' में ही आ जाते हैं। 'नाम' केवल एक अक्षर नहीं है। यह एक प्रेम का सम्बन्ध है, आत्मा परमात्मा का सम्बन्ध है। गुरुदेव फ़रमाया करते थे कि लोग समझते नहीं हैं, गुरु वास्तव में कोशिश करता है कि वह जिज्ञासु-शिष्य के हृदय में समा जाये। वह शिष्य की पूजा करता है। वह सच्चे जिज्ञासु के लिए व्याकुल होता है। सच्चे जिज्ञासु के लाभ-हित के लिए अपना सर्वस्व निछावर करता है। स्वामी रामकृष्ण परमहंस जी अपने शिष्य नरेन्द्र (बाद में विवेकानन्द) के लिए व्याकुल रहते थे, उन्हें आवाज़ें

लगाते थे। वे पीछे-पीछे जाते थे और नरेन्द्र आगे-आगे दौड़ते थे। उन्हें अच्छा नहीं लगता था, वे कहते थे - "बाबा, तुम्हें क्या हो गया है ? तुम मेरे पीछे-पीछे क्यों आते हो?" सच्चा गुरु अपनी तरफ़ से प्रयास करता है, वह जतलाता नहीं, प्रदर्शन नहीं करता। यह सब सेवा है जो वह मौन में करता है। पता भी नहीं लगता।

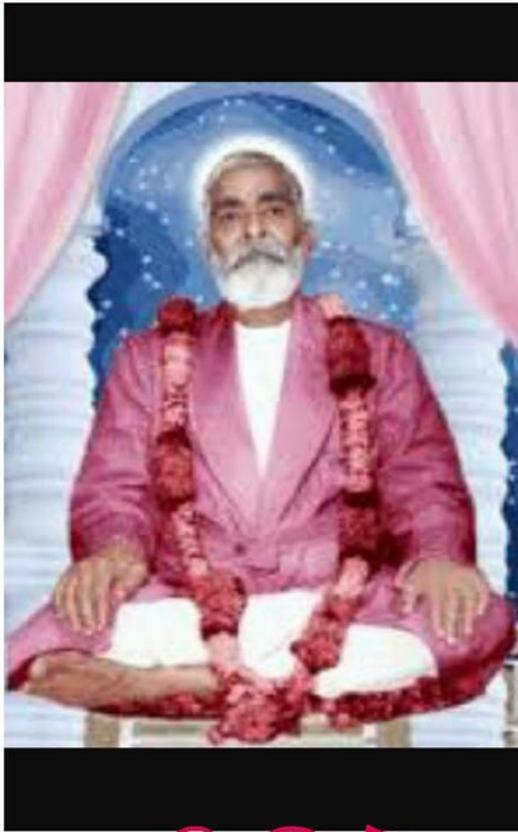
जब तक कोई सच्चा सत्पुरुष नहीं मिलता तब तक धर्म का आश्रय लेकर ही ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिए। प्रार्थना एक साधन है जिसके द्वारा हम ईश्वर से तदरूप होने के लिए अपने को पेश करते हैं। हमारा जीवन दिखावटी है। इससे हम सबको ऊपर उठना चाहिए। सच्चा सम्बन्ध अपने इष्टदेव के साथ, प्रभु के साथ स्थापित करना चाहिए। यही सबसे सरल साधन है।

विवेकानन्द जी के मन में बहुत समय तक अपने गुरु के प्रति विश्वास पैदा नहीं हुआ। वे अपने गुरुदेव की बहुत परीक्षा लिया करते थे। गुरुदेव को बुरा नहीं लगता था, वे बहुत आनन्द लेते थे परीक्षा देने में। वे चाहते थे कि विवेकानन्द का उद्धार हो जाय। वे उन्हें अपने साथ लाये थे। उनके जो साधारण संस्कार शेष थे उनसे उन्हें मुक्त कराना चाहते थे, निर्मल कराना चाहते थे। उन्हें अपने जैसा बनाना चाहते थे। उन्होंने लोक-लज्जा की भी परवाह नहीं की। इसी तरह और भी उदाहरण हैं। बुल्लेशाह जी से पूछा गया कि ईश्वर की प्राप्ति कैसे की जाये? बुल्लेशाह ने कहा - " ये तो साधारण सी बात है/ जैसे एक पौधे को एक जगह से उखाड़कर दूसरी जगह लगा देते हैं, वह दूसरी जगह उग जाता है।" उनका भाव यह था कि अपने मन को माया से हटाकर गुरु के चरणों में लगा दो। बस इतना ही करना होता है। अपने गुरु के प्रति उनका बहुत स्नेह था। एक बार उनके गुरु बुल्लेशाह से नाराज़ हो गए। बुल्लेशाह को यह बात बर्दाश्त नहीं हुई। गुरु की काफ़ी खुशामद की परन्तु गुरुदेव नहीं माने। शिष्य को मालूम था कि गुरु महाराज जी को संगीत से प्रेम है। स्त्री रूप होकर, पर्दा करके उन्होंने गाना गाया। बड़ा इश्क़ से पूर्ण गाना था। बुल्लेशाह पंजाबी के बहुत ही उच्च श्रेणी के कवि थे। पंजाब में मुसलमान, हिन्दू, सिख, आदि सभी उनका आदर करते थे। जब उन्होंने गाना गाया तो ऐसा वातावरण बन गया कि सब मौन-मस्त होकर आत्मा के देश में कूच कर गए। गुरु महाराज ने पूछा - "यह गाना किसने गाया है।" सब चुप हो गए। गुरु जी कहने लगे - "ये कोई और नहीं हो सकता, ये मेरा बुल्ला ही होगा।" उठकर उन्हें गला लगाया तथा उन्हें सब कुछ दे दिया।

बस हमें यही करना है कि गुरु का दामन न छोड़ें। जब तक वह नहीं मिलता है ईश्वर से प्रार्थना करते रहना चाहिए। वे तो सर्वज्ञ हैं, भीतर भी हैं, बाहर भी। या तो वे स्वयं कृपा कर देंगे या आपके पास किसी महापुरुष को भेज देंगे।

गुरु महाराज सबका कल्याण करें।

00000000000



सतगुरु का सहारा ज़रूर लेना पड़ेगा . बिना उसके सहारे के जीव की सामर्थ्य नहीं कि इस अभ्यास (सुरत शब्द अभ्यास)को अपनी हिम्मत के भरोसे कर सके . जब सुरत शब्द की धार पर सबारी करके चलता चला जाएगा , तो बूँद पहले सिंधु में समा जाएगी (यांनी गुरु में लय होगा जिसे सूफ़ियों में फनाफिल शेख कहते हैं) और इससे आगे चल कर स्रोत में पहुँच जाएगी (यांनी अनामी पुरुष में लय हो जाएगा जिसे सूफ़िओं में फनाफिल रसूल कहा गया है) . इसके पश्चात आदि पुरुष में लय हो जाएगा जिसे सूफ़ियों में फनाफिल अल्लाह कहते हैं . इसी का नाम सच्ची भक्ति और सच्चा उद्धार है . महात्मा डॉ . श्रीकृष्ण लाल जी महाराज

गुरु कृपा कैसे प्राप्त हो ?

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

श्रीमद्भागवत गीता में यह बात स्पष्ट रूप से कही गयी है कि निर्गुण ब्रह्म की उपासना महा कठिन है। अतः भगवान के किसी न किसी रूप को इष्ट मानकर सगुण की भक्ति और उपासना करनी चाहिये। यदि भक्ति सच्ची है, तो भगवान के जिस रूप का ध्यान किया जायेगा, उसी रूप में उनके दर्शन होंगे। भक्ति के लिए मन निर्मल होना चाहिये। किन्तु मन में दो बड़े दोष हैं - एक है 'विक्षेप ' और दूसरा 'मल '। विक्षेप कहते हैं चंचल या अस्थिर स्वभाव को और मल का अर्थ है मलीनता। जब मन निर्मल हो जाता है, तब ईश्वर कृपा करके हमें किसी रहबर या पथ -प्रदर्शक के पास भेज देता है, जिसे हम गुरु या सदगुरु कहते हैं। वास्तव में गुरु और कुछ नहीं नर रूप में नारायण हैं। जिज्ञासु के लिये गुरु की बड़ी आवश्यकता है क्योंकि मोक्ष देने का अधिकार केवल गुरु को ही है। मन का अन्धकार और अज्ञान बिना गुरु के दूर नहीं होता । यह गुरु ही हैं जो मनुष्य को आत्मा और परमात्मा का परिचय कराते हैं। जब हम उनकी शरण में शुद्ध हृदय और निर्मल मन से जाते हैं तो वे जो कुछ भी उपदेश हमें देते हैं उसकी छाप हमारे मन पर ऐसी गहरी पड़ती है कि वह धीरे - धीरे हमारे अहंकार को समाप्त कर देती है और हमें आत्मसाक्षात्कार करा देती है। किन्तु बिना गुरु की कृपा के कुछ नहीं होता ।

गुरु कृपा कैसे प्राप्त हो ? इससे पहले कि हम किसी सन्त के साथ सम्पर्क स्थापित करें, यह जान लेना आवश्यक है कि सन्त किसको कहते हैं और उसमें कौन - कौन से गुण होने चाहिये । संत वह है जिसने परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया है, जो समदर्शी है और जो परमात्मा को हर जगह और हर वस्तु में देखता है। उसके हृदय में प्रेम रूपी गंगा की पवित्र निर्मल धारा लगातार हर समय बहा करती है। वह प्रेम स्वरूप होता है, दया और क्षमा का सागर होता है और शान्ति का अनुपम भण्डार होता है। जहाँ -जहाँ उसका गमन - आगमन तथा स्थिति होती है वहाँ सदा शांति ही शांति विराजती है। उसके पास बैठने वालों को, चाहें वे निपट संसारी हों, उनको भी उस शांति का कुछ न कुछ आभास अवश्य होता है। सन्त की जितनी प्रशन्सा की जाय वह भी थोड़ी है। जितने ईश्वरीय गुण हैं, वे सब सन्त में मौजूद होते हैं।

केवल ऐसे ही सन्तों के सम्पर्क में आने से और उनकी शरण ग्रहण करने से आत्मा अज्ञान और मायाजाल से छूट सकती है। जब हम किसी सन्त के पास जायें तो हमें धूल के समान अत्यन्त नम्र बन कर जाना चाहिये। बिना नम्र बने, बिना दीनता के, कभी भी सन्तों की कृपा का लाभ मिलना सम्भव नहीं है। दीन बनेंगे तभी उनकी कृपा की गंगा में स्नान कर सकेंगे। प्रत्येक दशा में, हर समय, हमें उनकी आज्ञा पालन के लिये तत्पर रहना चाहिये। उनके सत्संग के प्रभाव से धीरे-धीरे हमारा अहंकार टूट कर गिर जायेगा और हम अपनी पाशविक तथा निचली वासनाओं से छुटकारा पा जाएँगे। जब भी सन्तों के सत्संग का सौभाग्य प्राप्त हो, उसका अधिकतम लाभ उठाओ, अहंकार के मल को धो डालो, अपने आप को निर्मल बना लो और अपनी आत्मा को स्वतंत्र बना कर आन्तरिक शांति प्राप्त करने का प्रयास करो। यदि हम दीन बने रहें तो गुरु अपनी कृपा की धार से हमें ईश्वर की ओर खेंचते हैं और किसी न किसी दिन हमारे जीवन को अपने आध्यात्मिक स्तर पर ले आते हैं। गुरु की संगत का प्रभाव ही निराला है। वे मनुष्य को स्वयं आप समान बना लेते हैं। बहुत से लोग संतों के पास जाते हैं और कुछ उनकी संगत में बहुत दिनों तक रहते भी हैं, परन्तु उन्हें कुछ आत्मिक लाभ नहीं होता। इसका कारण यह है कि अधिकतर लोग अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिये नहीं जाते। वे जाते हैं संसार और उसके भोग विलास की चीज़ें मांगने के लिए, अपने दुनियावी स्वार्थ को पूरे करने के लिए। सन्त तो दुनियाँ उजाड़ते हैं, उनके पास परमार्थ बटता है, दुनियाँ थोड़े ही मिलती है। और जो लोग वास्तव में अपने परमार्थी हित की कामना लेकर जाते हैं, वे उसका लाभ उठाते हैं। कहीं ऐसा भी देखा गया है कि जाते तो हैं परमार्थ लाभ के लिए किन्तु उनके पास जाकर उनकी दया का अनुचित लाभ उठाते हैं। परमार्थ लाभ करना तो एक तरफ़ रहा, आपस में एक दूसरे से वैमनस्य रखने लगते हैं और अशान्ति पैदा कर देते हैं। ये निचली वासनायें हैं। सन्त की सोहबत में रहने का आशय तो यह है कि पाशविक वृत्तियों से ऊपर उठो, अपनी सांसारिक इच्छाओं को वश में करो और अपने मन को मारो। यदि ऐसा न करोगे और अपनी कमज़ोरियों का शिकार बने रहोगे तो सन्तों के सत्संग का क्या लाभ होगा ? जीवन निरर्थक हो जायेगा।

जितने समय हम संत की सोहबत में रहें उसका श्रेष्ठ उपयोग यही है कि पहले हम अपनी कमज़ोरियों को दूर करें, आपस में सब भाई एक दूसरे को प्रेम करें, अपने मन को सम अवस्था

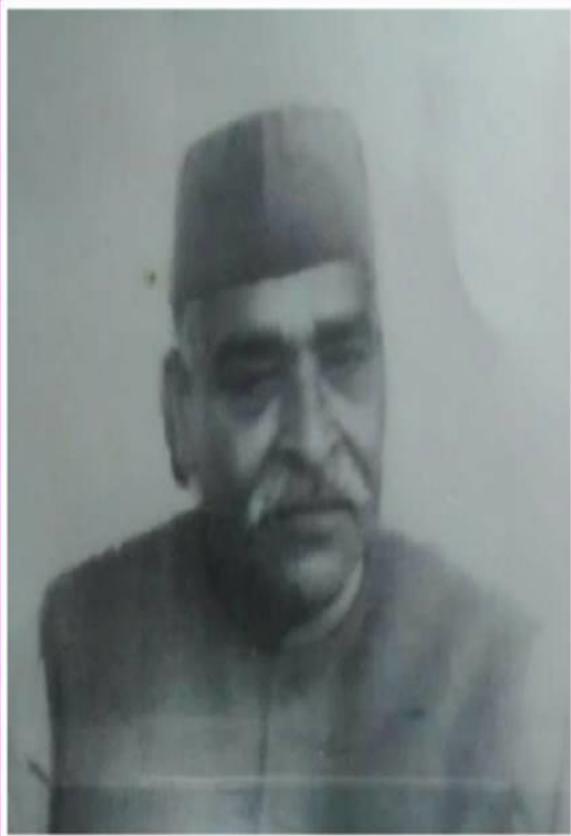
पर लाने का अभ्यास करें और शांति की खोज करें। कहते तो हम अपने आप को ' शिष्य ' हैं, किन्तु देखा जाय तो हम शिष्य नहीं, हम उनके गुरु बनते हैं। प्रभु ईसा के जीवन की बात है। उनके शिष्य आपस में झगड़ते थे कि उनमें से कौन सबसे बड़ा है। इसका समाधान प्रभु ईसा ने स्वयं इस प्रकार किया -- " तुम में से जो कोई भी शेष लोगों का सेवक है, वही तुम में सबसे बड़ा है" यदि शिष्य एक दूसरे के ऊपर हावी होने के लिए आपस में लड़ते हैं तो वे गुरु के ऊपर घोर आघात करते हैं। भला इससे भी बड़ा कष्ट वे गुरु को और क्या दे सकते हैं ?

गुरु आदर्श हैं सन्तुलन और शांति के। गुरु के बिना मनुष्य का मोक्ष सम्भव नहीं। राम और कृष्ण जैसे महान अवतारों ने भी गुरु धारण किये थे। अतः हमारे मोक्ष के लिए भी गुरु कृपा की आवश्यकता है। जब - जब गुरु के सत्संग में जाओ, अपने नुक्सों पर दृष्टि रखो और उन्हें दूर करने का प्रयास करो। दूसरों के दोषों को मत देखो और व्यर्थ अपवाद मत करो। अपने सम्पूर्ण हृदय से गुरु को और उनके आदर्श अपने सामने रख कर सर्वभूतों को समदृष्टि से प्रेम करो।

गुरु का हृदय बहुत कोमल होता है। उनकी सदा यही तीव्र इच्छा रहती है कि जिन्होंने उनका सहारा लिया है, जो उनकी शरणागत हुआ है, चाहें वह एक हो या बहुत से, सभी का कल्याण हो, सभी को सुख - शांति की प्राप्ति हो। अपनी ढेर सारी कृपा गुरु सदा अपने भक्तों पर उड़ेलते रहते हैं। सदा इस बात का मार्ग - प्रदर्शन करते रहते हैं कि परमात्मा का आन्तरिक और वाह्य दर्शन प्राप्त करने के लिये कैसा आचरण करना चाहिए और क्या अभ्यास करना चाहिए। हमें उनकी शिक्षा और उपदेश को व्यवहारिक रूप देना चाहिये। गुरु की कृपा हमारे हृदय में तभी प्रवाहित होगी जब हम उनकी आज्ञा मानेंगे और उनके उपदेशों पर अमल करेंगे। इससे वे प्रसन्न होंगे। किन्तु आजकल कुछ और ही दृष्टिगोचर होता है। जहाँ संत -सद्गुरु के एक क्षण के सत्संग से हमारे अन्दर महान गुण आ जाने चाहिये थे, वहाँ हमारे अन्दर उनकी एक किन्की मात्र भी पैदा नहीं हुई है। इसका कारण यह है कि न तो हम उनकी आज्ञा का पालन करते हैं और न उनके उपदेशों को चित्त देकर सुनते हैं, उन पर अमल करना तो दूर रहा। इसलिए हमारा पहला कर्तव्य यह है कि हम बिना चूँ -चरा किए गुरु जो कुछ आज्ञा दें , उसका तन -मन से पालन करें। ऐसा करने से मन का मल छूटने लगेगा, घट का दर्पण उजला होने लगेगा जिसमें प्रीतम का मुखड़ा झलकेगा और हमें अमर जीवन और अमिट शांति प्राप्त

हो सकेगी। गुरु अत्यन्त कृपा करके शिष्य को जो मन्त्र या उपदेश देते हैं, उस मन्त्र या उपदेश को सदा अपने मन और आत्मा से रटने या अभ्यास करने की आदत डालनी चाहिये। शिष्य का ऐसा व्यवहार गुरु की आज्ञा का पालन होगा और उसके जीवन में ईश्वरीय ज्योति, ज्ञान और आनन्द का संचार होगा। यही वह सच्चा नाता है जो शिष्य और गुरु के बीच होना चाहिये। यदि ऐसा व्यवहार नहीं है तो सन्त -सद्गुरु को चारों तरफ़ से घेर कर सिवाय उन्हें दुःख देने के और कोई भली बात नहीं होगी ।

00000000000



गुरु का कार्य क्या है ? गुरु स्वयं एक आदर्श पुरुष होता है -- वह अपने कार्य और व्यवहार से , अपने गुणों तथा अपनी योग्यता से शिष्यों पर प्रभाव डालता है . उसका मुख्य कार्य यह होता है कि जो भी उसकी शरणागत में आए , वह उसे ऐसे मार्ग पर डाल दे कि वह अपने जीवन के ध्येय की प्राप्ति कर सके . मनुष्य को जानना है कि वह कौन है , कहां से आया है तथा कहां उसको जाना है . ईश्वर क्या है ? तुम्हारा ईश्वर से क्या संबंध है . इन बातों के समाधान को ज्ञान कहते हैं . माया अज्ञान है , ईश्वर ज्ञान है . इस अज्ञान से मुक्त करना गुरु का कार्य है .



महात्मा डॉ . श्रीकृष्ण लाल जी महाराज

गुरु के आदेशों का पालन और चरित्र निर्माण से

आत्म -साक्षात्कार सम्भव है

(ब्रह्मलीन सदगुरु डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

मैं बार -बार कहता हूँ व मेरा यह निजी तजुर्बा है कि गुरु की भी कृपा हो, परिस्थितियों की भी कृपा हो परन्तु बिना चरित्र निर्माण के आध्यात्मिकता के पूर्ण शिखर पर पहुँच जावें, यह नहीं हो सकता। तब तक सफलता नहीं मिलेगी जब तक हमारा चरित्र निर्माण नहीं हो। पूज्य लाला जी महाराज का कहना था कि चरित्र निर्माण हो ही नहीं सकता जब तक कि हम माया में फँसे हैं यानी अपने शरीर , मन और इंद्रियों के आधीन हैं, बुद्धि की चंचलता में फँसे हुए हैं। शुद्ध विवेक अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। तो कोशिश करें -- गुरु का सत्संग प्राप्त करके उनके जीवन का अनुसरण करें। जिस तरह भी हो इसी जीवन में अपना आचरण ठीक करें तथा अपने चित्त पर जितने भी संस्कार - विकार पड़े हुए हैं उनसे मुक्त हों। जब तक चरित्र निर्माण नहीं होगा चित्त विकृति -शून्य नहीं होगा, तब तक साधना में प्रगति नहीं होगी।

। हमारा लक्ष्य तो यह है कि आत्मा में हमारी रसाई यानी स्थिति निरन्तर हो जाए। एक क्षण भर भी हम आत्म - स्थिति की सतत अवस्था से इधर उधार न हटें। जो आत्मा के गुण हैं, उनसे हमारे भीतर में इस प्रकार की शक्ति आ जावे कि हमारा व्यवहार ही वैसा बन जाय। प्रत्येक कर्म स्वाभाविक रूप में हो, बिना प्रयास हो। यदि प्रयास करना पड़ता है तो अभी स्थिति पूर्ण नहीं हुई है। अभी पूर्ण सफलता नहीं मिली है। पूज्य लाला जी महाराज का आदेश है कि इतनी ऊँची हालत पर पहुँच कर भी अपने ऊपर तब तक विश्वास न करें जब तक आपके भीतर आत्मा के वो गुण प्रकट नहीं होते जो शास्त्रों में लिखे हैं या हमारे गुरुजनों ने हमें बताया है। वो गुण स्वाभाविक ही, अप्रयास ही हों और हम उन गुणों का विस्तार करें , विकास करें। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक अभ्यास नहीं छोड़ना चाहिये चित्त की जो वृत्तियाँ हैं उनसे जब तक हम मुक्त नहीं होते और हमारा आचरण निर्मल नहीं होता तब तक जीवन का जो लक्ष्य है, उसमें सफलता प्राप्त नहीं होगी।

निर्लिप्त सहज सम -अवस्था

हम सब में अपना स्वरूप, आत्म - स्वरूप या ईश्वर -स्वरूप देखें। भीतर में जो भी परिस्थिति बने वह बिना प्रयास के ही हो। उसी को सहज अवस्था कहते हैं। उसमें कोशिश न करनी पड़े। जो ईश्वर के गुण हैं, वो स्वतः ही हमारे व्यवहार में प्रकट हों। जैसे ईश्वर स्वतंत्र है, वैसे ही हम हों, जैसा गुरु है अथवा ईश्वर है हमें वैसे ही बन जाना है। हम जब तक ऐसे नहीं बनते तब तक साधना अपूर्ण है। हम फिर जन्म -मरण के चक्कर में आ जायेंगे। परमार्थ के पथ पर कभी संतुष्ट नहीं होना चाहिए, कभी थकावट नहीं आना चाहिये। हाँ, दुनियाँ के पथ पर थकावट आ जानी चाहिये। 50 साल की उम्र हो

गई, अब बानप्रस्थ ले लीजिये। 75 साल की उम्र हो गई, अब संन्यास ले लीजिये। संन्यास का मतलब है - जहाँ -जहाँ मन फँसता है वहाँ -वहाँ से उसको स्वतंत्र करके ईश्वर के चरणों में लगाओ। अपने शरीर से तथा अन्य सभी चीजों से पूर्ण वैराग हो। किसी वस्तु, किसी भी चाह, किसी मनुष्य के प्रति कोई आसक्ति न हो। पूर्ण सन्यासी गुरुआ वस्त्र पहनते हैं। यानी अपना जितना मोह है, इच्छाएं और अज्ञान है, उस सबको अग्नि में जला देते हैं। सन्यासी का नाम भी बदल दिया जाता है। हमारे संत मत में दुनियाँ को भोगते हैं और साथ -साथ दुनियाँ का त्याग भी करते जाते हैं। दुनियाँ को भोगते हैं और ईश्वर की याद में रहते हैं। गुरु महाराज का आदेश था कि दुनियाँ को भोगो परन्तु ईश्वर की याद में भोगो/ सभी अवस्थाओं में उसका स्मरण करो/ अपना सब काम और व्यवहार उसकी स्मृति में करो ऐसी स्थिति में आप कोई गलत व्यवहार नहीं करेंगे ।

जानते हैं पर वैसे आचरण नहीं करते

हम जानते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ है, सर्वव्यापक है, वह हमारी सारी चाल -ढाल को देखता है, हमारे व्यवहार को देखता है। परन्तु चूँकि हमारे भीतर में ईश्वर के या गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धा नहीं है तभी तो हम बुरे काम कर बैठते हैं। हमसे ग़लत काम होते क्यों हैं ? इसलिए कि हमारे भीतर में इस विश्वास का आभास ही नहीं है कि ईश्वर देख रहा है। यह केवल एक व्यक्ति की नहीं , बहुतों की, अधिकतम लोगों की हालत है। ईश्वर का नाम ही लेते हैं। कहते हैं

- "हाँ साहब, हम तो ईश्वर की पूजा करते हैं। वास्तव में करता कोई नहीं है। यदि हम पूजा करते हैं, तो हम से बुरे कर्म कैसे और क्यों होते हैं ?

तो कोशिश करें, साधना भी करें, समाधि अवस्था में पहुँचने की भी कोशिश करें, जैसा कि हमारे गुरुजनों ने हमें आज्ञा दी है, सिखाया है। चाहें जहाँ से भी हमें दीक्षा मिली हो, आपके इष्टदेव जैसा फरमायें, उसी विश्वास के साथ, श्रद्धा से साधना करें। यह नहीं कि सत्संग में गये, दीक्षा ले ली। कुछ दिनों के बाद कोई और महात्मा आए, उनसे भी दीक्षा ले ली। ऐसा करने वाला साधक कभी भी सफल नहीं हो सकता। एक के बन कर रहो। जैसा भी वह रास्ता बताये उसका पक्के संकल्प के साथ पालन करो। तनिक भी आपको उसमें संकोच न हो, संदेह न हो। यही संतों की अमृतवाणी है। अपने इष्टदेव के आदेशों के अनुसार ही अपना जीवन बनाने की कोशिश करो। इसी में कल्याण है। आत्मसाक्षात्कार एवं परमात्मा से मिलने की सम्भावना है। अपना जीवन दावं पर लगा दो। जीवन का भी बलिदान देना पड़े, तो भी समझिए कि परमात्मा आप को सस्ते में ही मिला ।

गुरु की सेवा का सर्वोत्तम रूप

सेवा कई प्रकार की होती है। हाथ -पाँव की सेवा होती है, धन से सेवा होती है, परन्तु मन की सेवा बहुत ऊँची है। यानी जो कुछ भी आपके इष्टदेव कहें, उसमें तनिक भी सन्देह न लावें। उनकी बातों को यह समझें कि यह ईश्वर का हुक्म है, और उनकी आज्ञा का पालन करें। यदि यही बात ध्यान में रखें कि जो भी गुरु महाराज के आदेश हैं, उन्हीं का पालन करते चले जायें, तो मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ, आत्मा का साक्षात्कार दूर नहीं है। परन्तु हम ऐसा करते नहीं हैं। उनकी बातों की तरफ ध्यान नहीं देते, अपनी मनमानी करते हैं । जब हमने दीक्षा लेते वक्त अपना तन, मन, धन देने का वचन दिया तो फिर हमारा इन चीजों से मोह क्यों है ? परन्तु क्या है कोई ऐसे व्यक्ति जिसको अपने शरीर, अपनी धन सम्पत्ति या स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों के प्रति मोह न हो, या जिसने अपने विचारों को छोड़ दिया हो। आपसे बारम्बार यही अनुरोध करूँगा कि जो आपके इष्टदेव के आदेश हों उनके पालन में कभी भी संकोच नहीं करना चाहिए। उनका पूरा -पूरा पालन या अनुसरण करना चाहिये। यही सर्वोत्तम गुरु

-सेवा है। विश्वास मानिए, इस सेवा के द्वारा आप आत्म -साक्षात्कार करके अपना जीवन सफल कर लेंगे, मानव जीवन को सार्थक और धन्य कर सकेंगे।

गुरुदेव आप सबका कल्याण करें ।

000000000000



गुरुदेव (महात्मा श्रीकृष्ण लाल जी)
कहा करते थे कि ईश्वर , संतों या
गुरुओं के गुणों को सराहना और
अपनाना और वैसे ही बन जाना ही
उनकी सच्ची पूजा है . अगर वास्तव में
आप ईश्वर के दर्शन करना चाहते हैं तो
भगवान के गुणों को केवल सराहते -
सुनाते ही न रहिये बल्कि उन्हें
अपनाइये , अपने जीवन का अंग बना
लीजिये - और वह भी बिना अहंकार के
तथा अत्यन्त दीन बन कर विनम्र भाव
से .



गुरु के प्रति विश्वास

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

एक महात्मा से किसी ने सवाल किया कि ईश्वर में पूर्ण विश्वास कैसे हो ? उन्होंने उत्तर दिया -- केवल गुरु कृपा से ऐसा हो सकता है और कोई दूसरा उपाय नहीं है। ईश्वर स्वयं ही गुरु रूप में हमारे हृदय में अपने प्रति पूर्ण विश्वास पैदा कर सकता है। हमारे अपने किये से यह सम्भव नहीं। हम बस इतना कर सकते हैं कि गुरु की सेवा में जायें और अपने दिल के दरवाज़े को खोल कर उनके सामने रख दें जिससे उनकी कृपा का प्रकाश उसमें भर जाय और अन्धकार दूर हो जाय। तब हमारे मन में श्रद्धा और विश्वास जागेगा, अन्यथा नहीं। इससे पहले हमारे मन में सैंकड़ों शंकाएँ भरी होती हैं और ईश्वर के प्रति नाम- मात्र का जो विश्वास होता है वह ढिलमिल होता है। आता है और चला जाता है। पूर्ण रूप से तो वह केवल गुरु कृपा द्वारा ही आता है।

अगर गुरु की कृपा चाहते हो तो उनके पास खुले दिल से नम्रता पूर्वक जाओ, कोई सवाल तुम्हारे मन में न हो, कोई शंका न हो। शान्त होकर उनके चरणों में बैठ जाओ। उनकी कृपा तुम्हारे ऊपर होने लगेगी और तुम्हारा हृदय ईश्वर के नाम की शक्ति से भरपूर हो जायेगा। नाम के साथ नामी की शक्ति होती है। इसलिये ईश्वर के नाम का उच्चारण करो, उसी के नाम का पूरे विश्वास के साथ सहारा पकड़ो, ऐसा विश्वास हो जो अड़िग हो और तुम देखोगे कि उसकी कृपा तुम्हारे बाहर और अन्दर छाई हुई है।

विश्वास एक अदभुत वस्तु है। सैंकड़ों उदाहरण आपको ऐसे मिलेंगे कि किसी चीज़ पर पूर्ण विश्वास लाने से लोगों के जीवन पलट गये। अपने मन में शंका को स्थान मत दो। शंका तुम्हारी दुश्मन है। स्वामी रामतीर्थ कहा करते थे - " अपने हृदय में शंका रखने से तो अच्छा है कि उसमें खंजर रखो " निशंक, अड़िग और अविचल विश्वास होना चाहियो। ईश्वर तो निराकार है। उसे जो जिस रूप में भजता है, उसे वह उसी रूप में दर्शन देता है। आवश्यकता है - श्रद्धा, विश्वास और भाव की। गीता में भगवान ने कहा है - " जो मुझे जिस प्रकार से भजते हैं, उन्हें मैं उसी रूप से मिलता हूँ/ "

किसी ने एक महात्मा से प्रश्न किया कि यदि गुरु धारण करने के बाद गुरु का शरीरान्त हो जाये तो क्या उसका गुरु से पहले जैसा सम्बन्ध बना रहता है, या उसे दूसरा गुरु धारण करना चाहिये ? महात्मा ने उत्तर दिया -- गुरु कोई जिस्मानी शकल नहीं है। असली गुरु तो हकीकत है जो कभी नहीं मिटती, वही परमात्मा, परमेश्वर, सच्चिदानंद, आदि नामों से पुकारा जाता है। वह जिस मनुष्य शरीर में हमारे सामने होता है, भूल से हम उस शरीर को गुरु समझ बैठते हैं। गुरु तो केवल एक ही है और वह अनेक शरीर धारण करता है। गुरु और ईश्वर एक है। उससे अपना आत्मिक सम्बन्ध पैदा करो। इसी को सूफ़ियों में निस्बत कायम करना कहते हैं। जब ऐसा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, तुम अपने को आज़ाद महसूस करने लगते हो। उसकी मूर्ति सदा तुम्हारे हृदय में विराजती है और उसके प्रकाश से तुम्हारा हृदय उजाले से भर जाता है। गुरु की बाहरी शकल उस हकीकत की मुजस्सिम शकल है जो तुम्हारे अन्दर है। उस बाहर के दीखने वाले ज्ञान के जागृत दीपक से अन्दर का बुझा हुआ दीपक जलाओ तभी तुम अनुभव करोगे कि गुरु और ईश्वर एक है और तभी तुम अपने को उनके साथ एक होने का सौभाग्य प्राप्त कर सकोगे। जब इस तरह गुरु को धारण कर लोगे तो गुरु तुम्हारा हाथ पकड़ लेंगे। गुरु का पकड़ा हुआ हाथ कभी छूटता नहीं। शिष्य भले ही बगावत करे और एक बार को अलहदा भी हो जाय, लेकिन यह चंदरोज़ा (कुछ ही दिनों के लिये) है। गुरु कभी नहीं छोड़ता उसकी हार्दिक इच्छा यही रहती है कि शिष्य भवसागर से पार हो जाय।

गुरु का शरीर छूट जाने पर तुम किसी जिन्दा गुरु से मदद लेते हो तो यह ख्याल करो कि वह गुरु का दूसरा रूप है। ख्याल रहे कि जिस गुरु ने तुम्हें सबसे पहले नाम दिया वही तुम्हें अज्ञान और जीवन -मरण के चक्र से अज़ादी दिलायेगा और उसी के ध्यान से सच्चिदानंद की प्राप्ती होगी ।

सूफ़ियों में (हमारे यहाँ भी) गुरु के परदा कर जाने के बाद उसके गुरुमुख शिष्य को उसका दूसरा रूप मानकर रुहानी मदद लेते हैं। इस मत में वंश के महापुरुषों की दया का सहारा हमेशा लेते हैं। चूँकि ऊपर से सम्बन्ध जुड़ा हुआ होता है, जैसे जंजीर की कड़ियाँ एक दूसरे में पिरोई हुई होती हैं, इसलिए मदद हमेशा तैयार खड़ी रहती है, सिर्फ़ मुँह खोलने की ज़रूरत है। अपने सिलसिले के बुजुर्गों की उनसियत भी औरों से ज़्यादा होती है। भला गैर किसी को क्या पड़ी जो आपकी मदद करे ।

गुरु भक्ति और वास्तविक दर्शन

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

हमारी संस्कृति में यह विचारधारा रही है कि जब तक हम गुरु धारण न करें, हमारा उद्धार नहीं होगा। नारद जी के हृदय में एक उत्सुकता उत्पन्न हुई कि भगवान विष्णु से पूछें कि उनके गुरु कौन हैं ? वे भगवान के निकट रहते थे। उनसे बात करने में संकोच नहीं करते थे। भगवान से पूछते हैं कि - "आप सबसे कहते हैं कि गुरु धारण करना चाहिए। कृपा करके बतलायें कि आप के गुरु कौन हैं ?" भगवान मौन रहे। परन्तु उनकी आँखों से प्रेम के अश्रु बहने लगे। नारद जी चंचल प्रकृति के थे। उन्होंने पुनः पूछा कि - " आप बताते क्यों नहीं, संकोच क्यों करते हैं।" भगवान इतने प्रेम विभोर हो रहे थे कि चाहते हुए भी नहीं बोल पा रहे थे। बार-बार नारद जी के कहने पर कि आपके गुरु कौन हैं, भगवान विष्णु उत्तर देने की कोशिश करते हैं। एक ही अक्षर उनके मुखारविन्द से निकला है - ' गो' । वह कहना चाहते थे 'गोपी' । परन्तु 'गो' कहकर ही ध्यानमग्न हो गए। गोपियाँ उनकी गुरु हैं। सोचिये, यह कैसी बात है कि भगवान को भी गोपियों को गुरु कहना पड़ा ?

गुरु जीवन का एक आदर्श है। आप जो कुछ भी बनना चाहते हैं, उसका आदर्श ही गुरु है। किसी व्यक्ति की सहायता से आपको आदर्श की प्राप्ति हो सकती है, तो आप उसको अपना गुरु बना लेते हैं। भगवान प्रेम- स्वरूप हैं। भगवान कृष्ण गोपियों के साथ रासलीला करते हैं। प्रेमियों की रासलीला है। घर-बार के सब काम छोड़कर गोपियाँ कृष्ण के साथ रासलीला करती हैं। न तो किसी मर्यादा का पालन करती हैं, न संसार की लज्जा का ख्याल रखती हैं। भगवान के चरणों में दौड़ी-दौड़ी पहुँच जाती हैं। उनके प्राण भगवान हैं। उनका शरीर भगवान हैं। भगवान् के लिए ही जीना है। भगवान विष्णु उन्हें 'गो' कहते हैं और ध्यानमग्न हो जाते हैं।

नारद जी ने भक्ति-सूत्र में नवधा भक्ति का वर्णन किया है - अपने प्रियतम की याद में हर समय रहना, उसके गुणों को सराहना, संसार के वैभव की लालसा न करना, संसार के पदार्थों की इच्छा न रखना, यहाँ तक कि मुक्ति को भी तुच्छ समझना, आदि। सब कुछ ही

प्रेममय हो, यह प्रेम की साधना है - भक्ति है। यही कान्ताभाव है, भक्ति की सिद्धि है। जो लोग भक्ति के रूप को नहीं समझते, वे भगवान कृष्ण और राधा जी के प्रेम की आलोचना करते हैं। यहाँ तक कि पढ़े-लिखे आदमी भी ऐसा करते हैं। यह अज्ञान है, नासमझी है। मन के स्थान पर बैठा हुआ व्यक्ति कान्ताभाव को क्या समझे ? कान्ताभाव है- ईश्वर में लय हो जाना, ईश्वर बन जाना। संसार में जन्म धारण करके प्रेम की लीला द्वारा ही ऐसी उपलब्धि प्राप्त कर लेना ।

यह भक्ति कैसे की जाती है ? सूफियों में पहले ' फना ' होना यानी गुरु में लय हो जाना, बताया जाता है। 'फना' का सही मतलब है - अपने आपको खत्म कर देना, अपना अस्तित्व समाप्त करके मालिक का अस्तित्व मानना। यह अन्तिम चरण नहीं है। इसके आगे है ' बक्रा ' । हिन्दी में उसे कहते हैं 'पुनर्जीवन '। इसमें जाकर ईश्वर आज्ञा के अनुसार जीते जी पुनर्जन्म लेना। संसार के प्राणियों को अपनी ईश्वरमय जीवन लीला से ईश्वर प्राप्ति का रास्ता बताना। ऐसे व्यक्ति को गुरु या सन्त कहते हैं। सामान्य लोग यह समझते हैं कि एक -बारगी लय हो गए, बूँद सागर में मिल गयी, सागर रूप बन गयी और उसकी जीवन लीला पूरी हो गयी।

अरविन्द जी इसको पूर्ण यात्रा नहीं मानते, न हमारे यहाँ की संस्कृति यह मानती है कि यह अन्तिम चरण है। अरविन्द जी कहते हैं कि यह स्वार्थ है। एक व्यक्ति की अपनी ही मोक्ष हो जाय, यह स्वार्थ है। यदि किसी व्यक्ति को मोक्ष प्राप्त करना है तो उसे सारे संसार का उद्धार करना चाहिए। इसलिए महापुरुष ईश्वर में लय होने (फना होने) के बाद ' दूसरा जन्म ' लेते हैं तो संसार की और सेवा करते हैं। यदि किसी गुरु ने आपको अपनाया है तो यह 'गुरु-ऋण' आपको उतारना है। गुरु आपसे पैसा नहीं माँगता, मान-सम्मान नहीं माँगता, आपकी सेवा भी वह नहीं माँगता, तो उसका ऋण उतारने का साधन क्या है ? आप स्वयं पवित्र बनें, निर्मल बनें, आपका आचार -व्यवहार ऊँचा हो। संसार से मुक्त हो। आप निर्मल होकर कोशिश करें कि संसार के अन्य लोगों को भी निर्मल बनायें। आपको जो आनन्द प्राप्त हुआ है उस आनन्द की प्रसादी को जितना भी आगे बढ़ा पायें, बढ़ायें और बाँटें । इसका यह मतलब नहीं कि हमको गुरु बनना है। सेवक बनकर भी तो सेवा की जा सकती है। जो बृक्ष है उसका आधार धरती के भीतर में जल है। छोटा सा पौधा बड़ा बृक्ष बन जाता है। फूल लगने लगते हैं, फल आने लगते

हैं, सुगन्धि निकलती है। परन्तु आधार तो केवल जल ही है। बृक्ष का प्रत्येक भाग संसार की सेवा करता है। पत्तों से छाया मिलती है, पुष्प सुगन्धि देते हैं। फल को जीव-जंतु और मनुष्य सेवन करते हैं। जड़ और बड़ी-बड़ी डालों की लकड़ी से विविध सामान बनते हैं।

इसी प्रकार जीवन भी एक बृक्ष है। इसका आधार परमपिता परमात्मा है। आपके भीतर में उस परमात्मा का अंश है जो और सबके भीतर में भी है। उस अंश का विकास आपको करना है। उस आत्मा के जो गुण हैं वह आपको अपनाने हैं। गुरु के जो गुण हैं उन्हें अपना कर उनका विकास करना है। अपना भी उद्धार करना है और संसार का भी उद्धार करना है। आपके सम्पर्क में जो भी व्यक्ति आये उसको अपने व्यवहार से प्रेरणा देनी है कि वह भी अपने आदर्श के प्रति विचारशील होवे। सोचे कि यह गुरु का ऋण है, इसे मुझे उतारना है। यह ज़रूरी नहीं है कि आप गुरु बनें और शिष्य बनायें तभी गुरु-ऋण से मुक्त हो सकेंगे। आप गाँव में रहें या शहर में, अपने विकासशील गुणों से, अपने व्यवहार से संसार की सेवा करें। आपका जीवन सद्गुणों से भरा हो। संसार अज्ञान में है - अपने जीवन को आदर्शमय बना कर इसे ज्ञान का प्रकाश दें। यह है गुरु के ऋण से उऋण होना।

वास्तविक प्रभु दर्शन

प्रत्येक व्यक्ति में लालसा रहती है कि वह प्रभु के दर्शन करे। हम हरिद्वार जाते हैं, गंगा जी में स्नान करने के लिए। कई लोग बनारस जाते हैं, दर्शन करने के लिए। इसी प्रकार अन्य तीर्थों पर जाते हैं दर्शन करने के लिए। आप लोग क्यों दर्शन करते हैं ? मन्दिरों, गुरुद्वारों, गिरजों के 'दर्शन' का मतलब क्या है ? हरिद्वार जाकर स्नान किया, हरि की पौड़ी में। वहीं मेला-तमाशा देखा, सैर-तफ़री की, खाया-पिया और इसी भ्रमण-यात्रा को समझते हैं कि दर्शन हो गया। यह दर्शन नहीं है - दर्शन का वास्तविक अर्थ कुछ और ही है।

दर्शन का अर्थ है कि जो गुरु हैं, परमात्मा हैं यदि हम वैसे ही बनते जाते हैं तो समझना चाहिए कि दर्शन का लाभ प्राप्त हो गया। रस्मी तौर पर, दिखावे के तौर पर, किसी महापुरुष के दर्शन करना या किसी तीर्थ के दर्शन करना इतना अधिक लाभप्रद नहीं है। इसका इतना लाभ तो ज़रूर है कि कुछ प्रेरणा मिलती है। परन्तु वास्तविक दर्शन का मतलब तो, जैसा कबीर साहब ने कहा है, यह है कि - ईश्वर जैसा हो जाना। बूँद और सागर के जल में वहीं

गुण हैं जो उसके जल की एक बूँद में हैं। आत्मा के भी वहीं गुण हैं जो परमात्मा के हैं। लेकिन कब ? जब आत्मा पर से सब आवरण हट जाते हैं। कुछ लोग सन्यासी बन जाते हैं, अपना सर मुड़ा लेते हैं , यह प्रतीक है चित्त निर्मल होने का, कोई इच्छा नहीं रही। अग्नि या गेरुए रंग के कपडे भी रंगवा लेते हैं। व्यवहार भी अग्नि के समान हो जाता है। अग्नि सबको जला कर भस्म कर देती है, सब चीजों को जला देती है। इसलिए सन्यासी भी अपने सब संस्कारों को, सब इच्छाओं को, आशाओं को जलाकर तब सन्यासी बनता है। तब जाकर अधिकारी बनता है - ईश्वर दर्शन का ।

सब साधक भाइयों को इस तरफ गंभीरता से ध्यान देना चाहिए। यह समझ लिया कि गुरु महाराज के दर्शन हो गये, काफ़ी हो गया। ऐसा नहीं है। नए भाई निराश न हों। पुराने भाइयों से करबद्ध निवेदन है कि वह प्रयत्न करें, प्रयास करें, प्रभु-दर्शन के वास्तविक अर्थ को पाने का। अपने सारे जीवन को ईश्वरमय बना लें। जब तक हम ऐसा नहीं करेंगे, ईश्वर के गुण हममें नहीं आयेंगे। एक सुन्दर प्रसंग है। भगवान् श्रीराम हनुमान जी से पूछते हैं कि 'आपका स्वरूप क्या है ' ? हनुमान जी उत्तर देते हैं " जहाँ तक शरीर है, मेरी अवस्था सेवक की है, जब मेरी सुरति मन पर होती है, तब मैं आपका साथी हूँ, जब बुद्धि पर हो, तब ज्ञानी हूँ, जब आत्मा पर हो तब मैं और आप एक ही हैं/ "

इसी को गुरुवाणी में लिखा है कि 'अक्षुण तृप्ति ' हो जाती है नामी को भीतर में समा लिया। तभी जाकर जितनी तृष्णाएँ थीं, सभी समाप्त हो गयीं और इतनी तृप्ति है कि अब कोई चाह शेष ही नहीं रही। तो जब तक ईश्वर के वास्तविक दर्शन नहीं होते तब तक प्रत्येक व्यक्ति के भीतर में इच्छाएँ उठती रहती हैं। परन्तु लक्ष्य हम सब लोगों का यह होना चाहिए कि हमें वास्तविक दर्शन करने हैं और उन दर्शनों के लिए हम सबको हर तरह का बलिदान देने के लिए तैयार रहना चाहिए।

गुरुदेव सबका कल्याण करें।

000000000

गौतम बुद्ध जी के पाँच मराकबे

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉंकरतारसिंह जी महाराज)

महात्मा गौतम बुद्ध ने जो मराकबे (ध्यान) अपने शिष्यों को तालीम फ़रमाये हैं, वह नीचे लिखता हूँ/ उनको पढ़कर सत्संगी भाई खुलासाइन मराकबों को समझ लें/ मतलब तो नियत फैल (कर्म) और ख्यालात में अपनी और दुनियाँ की भलाई के लिए, न कि कोई खास सूरत मराकबे के ज़रिये से ऐसी ही कायम रही और वैसी करनी न बने/ बज़ अभ्यासियों को ऐसे मराकबों से सिर्फ़ एक हालत और कैफ़ियत पैदा हो जाती है और चंद दिन के लिए सिर्फ़ एक जो कि कैफ़ियत पैदा हो जाती है और जाहिरी आभा की पहलू कभी अख़्त्यार नहीं किया जाता है/ मसलन हर ज़र्रे में उसी का जलबा नज़र आता है या अपने आपको सब ज़र्रात और मखलूक को अपने में देखता है, वगैरा वगैरा/ लेकिन ये सब बातें तस्सलीबक़श नहीं हैं/ तावकते कि उस हालत के मुताबिक़, जाने या अनजाने, इरादे या बिला इरादे, कामना होने लग जाये/ मसलन आप सड़क से गुज़र रहे हैं और एक चार बरस का बच्चा सर्दी की वजह से काँप रहा है और उसके पास कपड़ा नहीं है इसलिए रो रहा है/ आपके पास दो रूपये जेब में मौजूद हैं और थोड़ी देर में आप उन रूपयों से दिवाली के दिन बाज़ार से एक तस्बीर खरीदना चाहते हैं/ अब इस मुकाम पर अगर आपकी मसनुई या जो कि कैफ़ियत इज़ाज़त दे कि बच्चे के लिए कपड़ा खरीदकर दिया जाये या तस्बीर को खरीद ही लिया जाये तो मेरे ख्याल से मराकबे से या अभ्यास से या किताबी इल्म से हासिल की हुई कैफ़ियत कोई हस्ती नहीं रखती /

(अमृत रस पृष्ठ 74-75)

प्रवचन

हम सत्संग में आकर या घर में ही बातें करते हैं, सुनते हैं, लेकिन उन बातों के कहने-सुनने से कोई असर नहीं होता जब तक कि हम महापुरुषों के अनुसार अपना जीवन न बदल लें। उदाहरण के रूप में पूज्य गुरुदेव ने फ़रमाया है कि आपके पास कुछ रूपये हैं, आप उन रूपयों से दिवाली के दिन बाजार से तस्बीर खरीदना चाहते हैं। आप रास्ते में देखते हैं कि एक

छोटा सा बच्चा ठण्ड से काँप रहा है, उसके पास कपड़े नहीं हैं। आप उन रुपयों से तस्बीर खरीदना पसन्द करेंगे या जो बच्चा ठण्ड से काँप रहा है उसको कपड़ा दिलवाएंगे। आपको दोनों में से कौन सी बात अच्छी लगेगी ? सामान्यतः हम खुदगर्ज हैं। दूसरे को दुखी देखकर हम उसका दुःख दूर करने का प्रयास नहीं करते। परिणामस्वरूप आपके भीतर में जो सद्गुण आने चाहिए वे नहीं आते। जो सद्गुण आपको आत्मा के समीप ले जाते, उनसे आप वंचित रह जाते हैं। केवल पढ़ने-लिखने से कुछ नहीं होता, हमें अपने व्यवहार और विचारों को बदलना होगा। उसके परिणामस्वरूप आपमें महापुरुषों के गुण आने चाहिए। ये गुण सहज में ही आपके जीवन में उतरने चाहिए। आपको एक भूखा व्यक्ति मिलता है। आपकी जेब में कुछ रुपये हैं, आप उसे दे दें। आप बाजार से अपने लिए कीमती चीज़ लाने के बजाय उसकी भूख मिटाएँ। तब आपको समझना चाहिए कि आपको सत्संग और सत्संग के नियमों का ज्ञान हो गया है। आपका ऐसा स्वभाव बन जाए अन्यथा जैसा होता है, आपका मन पत्थर हो जाता है। आप कितना ही बोलते चले जाइये, दूसरों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह स्थिति हम सबकी है। हम भाषण देते हैं, सुनते हैं, सत्संग में आकर महापुरुषों की कथा भी सुनते हैं पर हम उन प्रेरणादायक वचनों को अपने जीवन में उतारने का प्रयास नहीं करते।

पूज्य गुरु महाराज,(परमसन्त डॉ०कृष्णलाल जी महाराज) एक कहानी सुनाया करते थे। एक व्यक्ति अपने परिवार के पत्नी और चार बच्चों को लेकर भोजन खाने बैठा। उसी वक़्त एक साधू आया। वह साधू बोला - " मुझे बहुत भूख लगी है । मुझे खाना खिलाओ।" वह व्यक्ति बोला - "मेरे चार बच्चे हैं, मैं यदि यह खाना आपको दे दूँगा तो मेरे बच्चे भूखे रह जायेंगे। मैं और मेरी पत्नी भूखी रह जाएँगी। बच्चों को भूखा देखकर मैं सुखी नहीं रह पाऊँगा।" फ़कीर बोला -

" आपकी बात ठीक है पर मुझे भूख लगी है, मुझे खाना खिलाइये।" वह व्यक्ति राज़ी हो गया उसने अपनी पत्नी का और अपने हिस्से का खाना फ़कीर को दे दिया।और स्वयं दोनों भूखे रहे। फ़कीर वह भोजन करने के बाद बोला - " मेरी भूख तो कम नहीं हुई, इससे कुछ नहीं हुआ।" कभी-कभी ईश्वर हमारी परीक्षा लेता है। उसने सारा भोजन उस फ़कीर को दे दिया और पूरा परिवार भूखा रहा। वह साधू बोला - " आपने केवल मुझे ही खाना नहीं खिलाया है, सैकड़ों जीवों को खाना खिलाया है, आपके बच्चे कभी भूखे नहीं रहेंगे।" ईश्वर की कृपा से उस व्यक्ति

के परिवार को भरपूर भोजन मिलता रहा और वे जीवन भर सुखी रहे। यह अपने अच्छे कर्मों का परिणाम है। अच्छा काम वही कर सकता है जिसका मन अच्छा हो। हमें अपने मन को साधना है। ईश्वर में, महापुरुषों में, सबको अपने जैसा देखना तथा सब में ईश्वर के दर्शन करना - यह हृदय की विशालता है। हम सबको यही करना है। पापी व्यक्ति स्वयं दुःखी रहता ही और समाज को भी दुःखी करता रहता है।

“ यह एक मिसाल है/ इस किस्म की हज़ारों मिसालें मौजूद हैं/ खुलासा और नतीज़ा यह निकलता है कि इल्म, ज्ञान, कैफ़ियत और हालत से ऐसी आदत बन जानी चाहिए कि हर कर्म बिना इरादे उसी आदत के मुताबिक होने लग जाए//

(अमृत रस पृष्ठ -75)

हम अपना जीवन महापुरुषों के जीवन के अनुसार बनायें। जीवन की प्रगति के लिए अधिक महनत नहीं करनी चाहिए। अनुभव के सहारे हम बन जायें। हम महापुरुषों के पास जाते हैं, उनके उपदेश सुनते हैं। हमारा स्वभाव ही ऐसा बन जाए। कथा सुनने से पहले किसी योग्य पण्डित को भोजन करा दो। पण्डित भी एक घंटे देर से आते हैं। चिन्ता मत करें, प्रतीक्षा करें। जब तक पण्डित जी न आजायें खुद को या परिवार को भोजन नहीं करना चाहिए। अर्थात् पहले दूसरे को सुखी बनायें फिर अपना सुख बाद में। तब ईश्वर की कृपा से आपका ऐसा स्वभाव बन जायेगा। आप दूसरों को सुखी बनायेंगे तो ईश्वर आपको सुखी बनायेगा। यदि दूसरों को दुःखी देखकर आपके हृदय में कोमलता नहीं आती तो आपमें आत्मिक गुण नहीं आयेंगे। संक्षेप में, आपके भीतर में कोमलता आनी चाहिए। किसी को दुःखी देखकर स्वयं को भी दुःख का अनुभव हो। दूसरों के सुख के लिए भरसक प्रयास करना चाहिए। तब आपके जीवन में अभ्यास का लाभ होगा। अर्थात् खुद को स्वार्थी नहीं बनाकर अपने हित से पहले दूसरों का हित करें। किसी का दुःख निवृत्ति आपका धर्म बन जाये। यदि कोई भूखा व्यक्ति आ जाये तो पहले उसे खाना खिलायें।

भगवान बुद्ध अपने साथियों को लेकर घर से निकलते हैं। रास्ते में एक पठान के घर गए। सोचा इसके घर में काफी धन है, इसकी पत्नी हमें भोजन करा देगी। बहिर्ने क्षमा

करेंगी, स्त्रियों में हठ होता है, अहंकार भी होता है। वह स्त्री घर में बैठ कर पूजा कर रही थी। द्वार खटखटाया। स्त्री बाहर आयी और बोली - "मैं पूजा कर रही थी। अपने उसमें खलल डाला। सुबह-सुबह मेरा दिमाग खराब कर दिया, आप यहाँ से चले जाओ। यहाँ भोजन नहीं मिलेगा, कुछ नहीं मिलेगा।" महात्मा बुद्ध के साथियों को बुरा लगा। महात्मा बुद्ध ने कहा, चलो आगे, यहाँ भोजन नहीं मिलेगा। वे सारे दिन भूखे रहे और उस स्त्री द्वारा अपमानित भी हुए। दूसरे दिन फिर उस स्त्री के पास गए और उसी तरह अपमानित हुए। महात्मा बुद्ध हमें हमारा धर्म प्रेम करना सिखाते हैं। दूसरे के व्यवहार पर कोई प्रतिक्रिया नहीं करनी चाहिए।

" बुरा दां भला कर" - ये फ़रीद बाबा के शब्द हैं। मन में गुस्सा न लाओ। महात्मा बुद्ध ने भी अपने शिष्यों को यही शिक्षा दी। उन्होंने अपने शिष्यों से कहा - "आप उस स्त्री को बुरे शब्द न कहें।" शिष्यों ने कहा, - "आप यह क्या कह रहे हैं, वह हमें बुरा-भला कह रही है और हम चुप रहें।" उन्होंने कहा - " जंगल में जाकर मनन करें कि मैं जो कह रहा हूँ वह ठीक है या गलत।" यह स्थिति हम सबकी है। शिष्यों को होश आया। भूखा रहना बेहतर था। भोजन न करना बेहतर था। हम अहिंसा के पथ पर चल रहे हैं। यदि हम गालियाँ देने लगेंगे तो हम अपने गुरु का अपमान करेंगे। हम अपने गुरु की शिक्षा को नहीं सुनते।

यही बात गुरु नानक देव जी ने भी कही है। दुनियाँ दुखी है। उनका पहला उपदेश था - महापुरुषों की पवित्र वाणी को सुनो। सुनने के चार फ़ायदे लिखे हैं। चार पद हैं। इन्हें सुनना और मनन करना चाहिए। यही शिक्षा सभी महापुरुषों ने दी है। जिज्ञासु लोग, साँसारिक लोग उनकी वाणी को समझते नहीं। मनन, निध्यासन और वैसा बन जाना - जो ऐसा करता है वह व्यक्ति महान है।

हम लोग किताबें पढ़ते हैं, परन्तु मनन नहीं करते। मनन करना अति कठिन है। मनन करके वैसा बनना और भी कठिन है। संत, महात्मा और सिद्ध पुरुष वैसा बन जाते हैं, ईश्वर के चरणों में पहुँच जाते हैं। उनकी गति का, उनकी स्थिति का वर्णन नहीं किया जा सकता। हम जिज्ञासु लोग, साँसारिक लोग, एक कान से सुनते हैं, दूसरे कान से निकाल देते हैं।

सत्संग में आकर विनयी बनना है। विनय हमारे व्यवहार में, हमारे विचारों में व्यक्त होना चाहिए। अन्यथा सत्संग में आये और लौट गए, कुछ हासिल नहीं किया। तो यह सत्संग का पूर्ण लाभ नहीं हुआ। आपका ध्यान इस और गंभीरता से जाना चाहिए।

जो सत्संग में पढ़ा गया है, जो अपने सुना है, उस पर सत्संग के बाद मनन करें, उसे अपने जीवन में उतारने का प्रयास करें, उसे व्यावहारिक रूप दें। रामायण, गीता आदि धार्मिक पुस्तकों को पढ़कर उसमें से सद्गुणों को ग्रहण करना चाहिए। हम लोगों को सत्संग में आते हुए कितना समय हो गया। हमारी स्थिति क्या है ? इस पर विचार करें। सत्संग में जो सुना है उसपर विचार करें और फिर स्वनिरीक्षण करें। आप पायेंगे कि आपकी वही स्थिति है जो पहले थी। सत्संग में मन न लगने का कारण भी यही है।

आपसे मेरी विनम्र प्रार्थना है कि गंभीर बनें (be serious)। थोड़ा पढ़ें, परन्तु उस पर मनन करें, निध्यासन करें और वैसा बनने का प्रयास करें।

जीवन में सत्य बोलना किसने जाना, अकेले राजा हरिश्चंद्र जी ही थे। उन्हें कितना कष्ट उठाना पड़ा। भिखारी बन गए। पत्नी को बेचना पड़ा। उनका पुत्र राहुल मर गया और उसके लिए कफ़न भी नहीं मिला। तब भी उन्होंने अपना कर्तव्य निभाया। हम लोगों की भी परीक्षा होती है। सत्संग का यह अर्थ नहीं कि यहां आना, खाना-पीना और गप्पें मारना। यहाँ से कुछ लेकर जाना है। सत्संग में जो कुछ सुनें, उस पर मनन करें और वैसा बनने की कोशिश करें।

प्रत्येक सत्संगी जो आदर्श का पालन नहीं करता, केवल अपने स्वार्थ के लिए ही सोचता है, वह सफल नहीं हो सकता। हमारा कार्य सेवा का कार्य है। सेवा का जो फल मिलता है उसका बड़ा लाभ होता है। हम तो अपने माता-पिता की भी सेवा नहीं करते। यह भी हमारा स्वार्थ है। हम ऊँचे-ऊँचे नारे लगाते हैं कि हमारे देश कि संस्कृति महान है। हम महान नहीं हैं, हम सब स्वार्थी हैं।

“ फतेहगढ़ के मिशन के शफ़ाखाने में एक मिस साहिबा डाक्टर थीं/ उन्होंने अपने दिल और जान को दूसरों की भलाई के लिए सरासर वक्फ (न्योछावर) कर दिया था/ तमाम दिन और रात जिस्म से और अपने दिल से जनता की खिदमत किया करती थीं/ मुमकिन है

कि निष्काम कर्म इसी का नाम है/ लोग कहते हैं कि इसकी तह में उनकी कोई गरज़ शामिल थी/ अगर कोई गरज़ शामिल भी हो तो उनकी गरज़ दिल में होगी/ खिदमत तो बिला मुआवज़े के की जाती है/ क्या सरकारी दवाखानों में नौकरी और तनखाह की गरज़ नहीं है ? कैफ़ियत, हम मज़हबी वगैरा की गरज़ नहीं है/ तनखाह भी मिलती है, हर मरीज़ अपनी हैसियत के मुताबिक खिदमत भी करता है/ खुशामद भी करता है/ हम एक ही मुल्क में रहने वाले भी हैं/ लेकिन जो हमदर्दी के नज़ारे मुल्क के शफ़ाखानों में दिखलाई देते हैं, वह आपका दिल ही जानता है/”

(अमृत रस - पृष्ठ-76)

कुछ लोग निष्काम सेवा करते हैं। गुरु महाराज फ़रमा रहे हैं कि फतेहगढ़ के अस्पताल में एक नर्स थीं। वे रात-दिन लोगों की सेवा करती थीं और लोगों से कुछ नहीं लेती थीं। कुछ लोग यह समझते थे कि इनको किसी चीज़ की आशा है। गुरु महाराज कहते हैं कि हमें यह नहीं देखना चाहिए कि दूसरा क्या करता है। यह देखना हमारा काम नहीं है। हम क्या करते हैं, हम अपनी करनी को देखें, अपने विचारों को देखें। दूसरा क्या करता है, इसकी प्रतिक्रिया नहीं करना चाहिए। अपने प्रति हमारा क्या कर्तव्य है ? गुरुदेव जो कहें उसे सत्य मानकर चलना चाहिए। उस पर मनन करें, निध्यासन करें और वैसा बनने की कोशिश करें। अपने व्यवहार को अच्छा बनायें। अपने धर्म के अनुसार सेवा करके कर्म करना चाहिए। सेवा निस्वार्थ हो।

जिज्ञासु के हृदय में दया हो। ईर्ष्या के कारण हम दया नहीं कर पाते। हम सब ईश्वर की संतान हैं। वास्तव में हम सब एक हैं। सभी धर्म एक हैं। " त्वमेव माता, त्वमेव पिता " हे प्रभु ! तू ही हमारी माता है, तू ही पिता है। हम सब भाई-बहिन हैं। लेकिन व्यवहार में हम एक दूसरे का शोषण करते हैं, एक दूसरे को दुःख पहुँचाते हैं। एक दूसरे को बुरा-भला कहते हैं। एक सत्संगी के लिए ऐसा करना योग्य नहीं है।

प्रार्थना करनी चाहिए उसके बाद कुछ समय तक मौन भी रखना चाहिए। उपदेश श्रवण के बाद मनन करना चाहिए। मनन करते-करते हमें अपने जीवन को उसके अनुसार बनाना चाहिए। तभी जीवन का उद्धार होगा, सुधार होगा।

सच्चे साधक को पहले व्यवहारिक साधना करनी चाहिए। इस पर अधिक ध्यान देना चाहिए। सत्संग में जैसा सुनते हैं वैसा बनने की कोशिश करें। ऐसा करने पर व्यक्ति के हृदय में कोमलता आजाती है।

' अब आप महात्मा बुद्ध के पाँच मराकबे (अभ्यास) और उनके फतूहात (अनुभव कर लेना) की तरफ़ गौर कीजिये/ भगवान बुद्ध का कौल है कि जो शख्स खुद बीनी में फँसा रहता है और मराकबे में मशगूल नहीं होता वह दुनियाँ के असल मंशा को भूल गया है/ ये मराकबे उन्होंने अपने शिष्यों को तालीम फरमाए हैं / वह नीचे लिखता हूँ/ (अमृत रस पृष्ठ 76-77)

(1) **पहला मराकबा** - मोहब्बत और प्रेम का ध्यान : इस ध्यान में अभ्यासी अपने दिल को इस तरह साधता है कि मैं तमाम मखलूकात (जीव मात्र) की बहबूदी (भलाई) यहाँ तक कि अपने दुश्मनों की भी भलाई चाहता हूँ। इसको सर्वमैत्री कहते हैं। इसमें यह प्रार्थना की जाती है कि ईश्वर सबका भला करे।

भगवान बुद्ध समझा रहे हैं कि सबसे प्रेम करें और सबकी भलाई करें। दूसरों की सेवा करें और उन्हें प्रसन्न रखें। दूसरों की सेवा का आनन्द, आत्मा का आनन्द, अंतर -प्रसादी वितरित करें और ऐसा करके अपने आपको भाग्यवान समझें। इन बातों को अपने जीवन में उतारें।

हमें दूसरों के कष्ट निवारण के लिए काम करना चाहिए। जिस प्रकार हम सत्संग की सेवा करते हैं, अपने मित्र की सेवा करते हैं, उसी प्रकार से शत्रु की भी सेवा करनी चाहिए। जीव-मात्र की सेवा करनी चाहिए। यह है सर्व मैत्री भाव।

(2) **दूसरा मराकबा** - रहम का ध्यान : इसमें यह ख्याल किया जाता है कि तमाम मखलूकात (जीवमात्र) मुसीबत में हैं। अपनी खयाली वाकत (इच्छाशक्ति) के जरिये से उनके रंज और ग़म की तस्बीर अपने दिल के सफ़े पर खेंची जाती है। यह इसलिए कि हमारी रुह को मखलूक की हालते-ज़ात पर बहुत कुछ रहम और तरस आवे।

गांधीजी ने देश में जाति-पाँति का रूप देखा। ऊँची जाति के लोग खुशहाल हैं, परन्तु नीची जाति के लोग दुःखी हैं जिनमें हरिजन, चर्मकार आदि हैं। गांधीजी रोज सत्संग किया करते थे। वहाँ पास में झोपड़ियाँ थीं। गांधीजी के प्रवचन होते थे कि उनके साथ बैठकर सत्संग करें, खाना खायें, उनका सम्मान करें। वह प्रत्येक दिन भाषण दिया करते थे। उनके साथ कुछ नेता भी बैठते थे जो कांग्रेस के लिए काम भी करते थे। परन्तु गरीबों की दशा देखने वाले लोग, महात्मा गांधीजी की इन बातों को, उनके प्रवचनों को गंभीरता से सुनने वाले लोग कम थे।

(3) तीसरा मराकबा - खुशी का ध्यान : इसमें हम दूसरों की भलाई का ध्यान करते हैं और उनकी खुशी में खुशी मनाते हैं।

साधारणतः हम दूसरों को खुश देखकर उनसे ईर्ष्या करते हैं, दिखावटी खुशी व्यक्त करते हैं। हमारे भीतर में ईर्ष्या होती है। भाई-भाई में ईर्ष्या, बाप-बेटे में ईर्ष्या, हर जगह ईर्ष्या ही ईर्ष्या। बहुत ही कम लोग हैं जो सत्संग समझते हैं। परमात्मा की कृपा से सब कुछ है उनके पास, पर शांति नहीं है, संतोष नहीं है। वे आशा करते हैं कि दुनिया भर का धन उनके पास आ जाये। यह हम सबका हाल है जो गलत बात है। आत्मा व्यक्ति के हृदय में है। सबकी आत्मा एक जैसी है। आत्मिक एकता को अपनाना चाहिए। शरीर की चमड़ी को मत देखो, मन की भावनाओं को मत देखो।

“ सब में रमि रहो प्रभू एको, पेखि पेखि नानक विगसाई ”

वह परमात्मा सबमें है, उसके दर्शन सब में करो। मन में से ये बातें जाती रहेंगी कि यह हिन्दू है, यह मुस्लिम है, यह सिख है। बसुधैव कुटुम्बकम का भाव आ जायेगा। महात्मा गाँधी जी ने अफ्रीका में यही किया और वहाँ से लौटने पर भी यही साधन किया और दूसरे लोगों को भी ऐसा करने की प्रेरणा दी। अपने पैसों की, अपनी बुद्धि की, अपने गुणों की प्रशंसा मत करो।

सत्संग में आकर हम महापुरुषों के प्रवचन सुनते हैं। यदि हम उनकी बातों पर मनन नहीं करेंगे, उन्हें नहीं समझेंगे तो निध्यासन क्या करेंगे ? हम कैसे कैसे बन पाएंगे ? नित्य

साधन, श्रवण, मनन और निध्यासन करना और वैसा बनने का प्रयास करना - ये चार चीज़ें प्रत्येक व्यक्ति को रोज़ करनी चाहिए।

गांधीजी ने सरल भाषा में, छोटी सी पुस्तक गीता पर लिखी। और भी कई लोगों ने गीता पर पुस्तक लिखी हैं परन्तु गांधीजी के मुकाबले में कोई ठहर नहीं सकता। गीता के बारहवें अध्याय में बीस श्लोक हैं। पहले बारह श्लोक जिज्ञासु दार्शनिक तौर पर लिखे गए हैं और शेष 8 श्लोकों में गुण बताये गए हैं। ये गुण सच्चे जिज्ञासु में होने चाहिए। गांधीजी की इतनी सरल भाषा में लिखी पुस्तक जब मैं पढ़ता हूँ तो मेरी समझ में नहीं आती। आठ श्लोकों में जो गुण बताये गए हैं वे आज तक मेरे जीवन में नहीं उतरे। मैं उन्हें पढ़ने, समझने की कोशिश करता हूँ परन्तु उन्हें अपने जीवन में उतारना अति कठिन है। हो सकता है कि आपमें से कुछ लोग ऐसे हों जिनमें वे गुण हों।

हम लोगों में गंभीरता नहीं है। सही तरीके से भजन करने का अभ्यास नहीं है। जल्दी-जल्दी में पाठ किया, ईश्वर को याद किया और बस पूजा-पाठ कर लिया। पूजा-पाठ बेशक थोड़ी देर करें पर मनन अवश्य करें। पढ़ो, सुनो और मनन करो। मनन पर ज़्यादा ध्यान दें। श्रवण, पठन के साथ-साथ उस पर मनन करने के लिए सौ गुना अधिक समय होना चाहिए। वैसा बन जाने के लिए चाहे पूरी ज़िंदगी लग जाये परन्तु प्रयास नहीं छोड़ें।

सच्चाई यह है कि आठ श्लोकों में जो गुण बताये गए हैं, मैं अपनी बात कह रहा हूँ, मेरे में एक भी गुण की पूर्णता अभी तक नहीं आयी है। बारहवाँ अध्याय गांधीजी को भी अच्छा लगता था। वे प्रेरणा दिया करते थे कि यह रोज़ पढ़ना चाहिए। गांधीजी के आश्रम में जो लोग रहते थे उनके लिए इस अध्याय को पढ़ना अनिवार्य था।

आप उन आठ श्लोकों को पढ़ लें, उन पर मनन करें, निध्यासन करें, उन्हें अपने जीवन में उतारने का प्रयास करें और वैसा बन जाएँ तो आप ईश्वर रूप हो जायेंगे। बीस-पच्चीस गुण हैं, ज़्यादा नहीं हैं। उन आठ श्लोकों में सत्य बोलना, पूजा करना, सहानुभूति रखना, सेवा करना, दूसरों के दुःख बाँटना आदि-आदि ऐसे गुण हैं जो पढ़ने में तो बड़े सरल लगते हैं परन्तु उन्हें जीवन में उतारने में कठिनाई आती है। आप यदि उन श्लोकों के अनुकूल अपना जीवन बना लेंगे तो आप अनुभव करेंगे कि आप धरती पर नहीं बैठे हैं, आप स्वर्गलोक में बैठे हैं। आपको

वह आनन्द मिलेगा जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। पर हमारा मन ऐसा नहीं करने देता। हमारे मन की अतीत की करना हमारा स्वभाव बन गया है जो जल्दी नहीं बदलता।

सच्ची साधना यही है कि ईश्वर के गुणों को अपनाना और वैसा बन जाना। आप ईश्वर रूप बन जायेंगे। इसमें जो आनन्द मिलता है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

“ आनन्द भया मेरी माँय, सतगुरु में पायो ”

सत को जानते है तो आत्मिक आनन्द की प्राप्ति हो जाती है। हम रोज़ पढ़ते हैं परन्तु उनके अर्थ की और ध्यान नहीं देते, नहीं तो इतने वर्ष हो गए, हमारे जीवन में परिवर्तन क्यों नहीं आया ? मनन करें, समझें और उन्हें अपने जीवन में उतारने की कोशिश करें। केवल पढ़ने से यह चीज़ लागू नहीं होती। हमें वैसा बनना है। यही आत्मा का सच्चा आनन्द है जो वर्णनातीत है। वह आनन्द तभी मिलेगा जब हम आत्मा के गुणों को अपनाएंगे। आत्मा के गुण और परमात्मा के गुण एक ही हैं।

(4) चौथा मराकबा - कसाफ़त या नापाकी (अपवित्रता) का ध्यान - इसमें हम बुराई के बुरे नतीजे और गुनाह (पाप) और बीमारियाँ के अंजामों पर गौर करते हैं। अक्सर खुशी आरज़ी (थोड़ी देर की) होती हैं और उसके नतीजे कैसे खतरनाक होते हैं।

हमारे जीवन में कई ऐसी बुराईयां, कई ऐसी बातें आती हैं जैसे झूठ बोलना, रिश्वत देना, रिश्वत खाना और मनुष्यों का शोषण करना आदि। साधारण मनुष्य जानता है कि वह क्या कर रहा है। वह यह भी जानता है कि इसमें बुराई क्या है। पर फिर भी जाने-अनजाने में उससे बुराई हो जाती है।

भगवान राम की रावण से लड़ाई हुई। भगवान राम अपने छोटे भाई लक्ष्मण को लेकर गए, रावण के चरणों में खड़े हुए, लक्ष्मण से कहा इनसे क्षमा माँगो। लक्ष्मण बोले क्यों ? वह हमारा शत्रु है। भगवान राम ने लक्ष्मण के माध्यम से सारे सँसार को उपदेश दिया। वह जानते थे कि रावण उच्च कोटि का ब्राह्मण है। साक्षात् भगवान राम ने रावण से ज्ञान की भिक्षा मांगी। परन्तु हम ऐसा नहीं कर सकते।

हमारा साहित्य हमें प्रेरणा देता है कि हम उसमें वर्णित दर्शन को, उच्च व्यवहार को प्राप्त करें, अपने मन को जाग्रत करें। पर हम ऐसा नहीं कर पाते। मनुष्य का स्वभाव है कि वह उच्च विचारों को ग्रहण नहीं करता। जब तक मनुष्य की वृत्ति अंतर्मुखी नहीं बनेगी, आत्ममय नहीं बनेगी। तब तक व्यक्ति को वास्तविक सुख नहीं मिलेगा, उसको मुक्ति नहीं होगी। भगवान राम से प्रेरणा लेनी चाहिए। रावण ने कितने भी बुरे व्यवहार किये, भगवान राम ने बुरा नहीं माना। भगवान कहते हैं " श्रेष्ठ रावण इससे (लक्ष्मण से) गलती हो गयी है, इसे क्षमा करदें। इसे दण्ड नहीं दें।"

(5) पाँचवा मराकवा - अमल, आसूदगी यानी शांति का ध्यान : इसमें हम मौहब्बत और नफ़रत, जुल्म और ज़ब्र, दौलत और कंगाली, किसी चीज़ की परवाह नहीं करते ओर अपनी हालत पर हर तरह से शाकिर (कृतज्ञ) होकर हर हालत में ईश्वर का शुक्रिया अदा करते हैं।

शान्ति, शान्ति सारे संसार में शान्ति बनी रहनी चाहिए। हममें अहंकार नहीं आना चाहिए। अहंकार से शान्ति खत्म हो जाती है। मन में आत्म-स्थिति लानी चाहिए। दुःख, सुख कुछ भी नहीं रहे।

" दुःख सुख दोनों समकर जानो "

मन में समता लायें। खुश रहना चाहिए, दुःख में भी खुश। जीवन को एक खेल बनाना चाहिए। इसे क्रीड़ा बनाना चाहिए। एक खिलाडी की तरह, हम विजय प्राप्त करें या हारें - दोनों स्थितियों में खुश रहें। यही जीवन की प्रेरणा है।

" दुःख सुख दोनों समकर जानो, यह गुरु ज्ञान बताई

कहु नानक बिन आपा चीन्हे, मिटे न भरम की काई "

अहंकार को दूर करें, दीनता अपनायें। ईश्वर प्राप्ति के लिए, दीनता ही सच्ची साधना है। जीवन को क्रीड़ा बनायें। दुःख में विचलित न हों, सुख में सम रहें। गुरु के चरणों में हमारा ध्यान रहे। हम भीतर में आत्ममय रहें। उनकी प्रेरणा को भूलें नहीं।

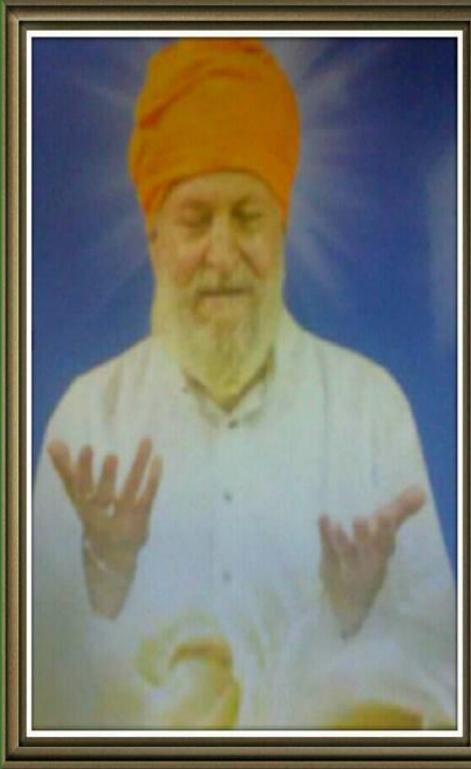
जीवन एक क्रीड़ा है, अच्छी तरह खेलें। सफलता मिले तो अहंकार न हो, असफलता मिले तो विचलित न हों - कोई चिंता नहीं। अपने भीतर में सुख-दुःख, विजय -पराजय, मान-अपमान सबको एक सा मानें। शत्रु को भी अपना जैसा मानें। पाप की कमाई से बचें। जीवन की कला है कि पवित्रता में कमी नहीं आनी चाहिए। सच्चा आनन्द पायें।

तम, रज और सत में हर आदमी फंसा है। हमारा अपना धर्म है उसके अनुसार अपना जीवन व्यतीत करने का भरसक प्रयास करें। सबका भला करें।

आपके चरणों में निवेदन है कि इन बातों पर मनन करें। आपके जीवन में विशेष प्रगति आ जाये। आपके चारों ओर तथा भीतर में शान्ति ही शान्ति हो। आपको सुख ही सुख मिले।

प्रभु आप पर कृपा करें।

00000000000000



सद्गुणों को अपनाए बिना ईश्वर भक्ति या ईश्वर ज्ञान उत्पन्न नहीं होता . बिना सच्ची भक्ति या सच्चे ज्ञान के ईश्वर के दर्शन नहीं होते . सच्चा सुःख और सच्चा आनंद इसी में है कि प्रभु के गुणों को अपनाएं . उनकी सेवा यही है. वास्तविक साधना तो हमारा व्यवहार है . हम अपने व्यवहार को शुद्ध और पवित्र करें . अपने व्यवहार को ही पूजा का रूप बनाएं , संसार को मँगलमय बनायें और इस प्रसन्नता के द्वारा प्रभु चरणों में पहुंचने का प्रयास करें .



(ब्रह्मलीन सद्गुरु डॉ . करतारसिंह जी

चुनरी में लगा दाग

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉकरतारसिंह जी महाराज)

"लागा चुनरी में दाग, छुपाऊँ कैसे, घर जाऊँ कैसे

अब जाके बाबुल से नज़रें मिलाऊँ कैसे, घर जाऊँ कैसे ।

इस भजन में हमारे जीवन की सत्यता का बड़ी सुन्दरता से वर्णन किया गया है। जब प्रभु कृपा से जीव इस लोक में आया अर्थात् आत्मा ससुराल में आई तो यह विश्वास माता - पिता को दिया गया कि उसकी चित्त रूपी चुनरी पर जितने दाग अर्थात् संस्कार हैं उनको मैं साफ़ करूँगी। जीवन का लक्ष्य है, निर्मल होना। गंगनीर की तरह निर्मल होना। जीव को गंगनीर की तरह पवित्र होना है। माया के कितने ही थपेड़े लगें, उतेजना मिले, प्रतिकूल -अनुकूल परिस्थितियाँ आयें, परन्तु हमारा चित्त अडोल एवं निर्मल रहे। हमारे जीवन में रस रहे, आनन्द रहे। हमारे व्यवहार से सबको सुःख पहुँचे। जीवन में गंगनीर की तरह निरन्तर प्रवाह रहे। अतीत के लिए कोई खेद नहीं, भविष्य की कोई चिन्ता नहीं। प्रभु के, भगवान शिव के, एकरस समता - स्वरूप का सुःख निरन्तर जीव माँगता रहे। उसी सुःख, शान्ति में निरन्तर रहे। जो हमारे भीतर होगा वही बाहर निकलेगा। हमें संसार के सब पदार्थ उपलब्ध हैं, परन्तु हमारे भीतर में आनन्द नहीं है, शान्ति नहीं है क्योंकि हममें गंगा -जल जैसी पवित्रता नहीं है। हमारे भीतर में दाग है, हमारे संस्कार हैं, हमारी वृत्तियाँ हैं, इच्छाएँ हैं। जब हमारी इच्छाओं की पूर्ति नहीं होती तो हमें निराशा होती है। निराशा ही सब दुखों का बीज है। इससे ही क्रोध आता है, ईर्ष्या उत्पन्न होती है। इसी के कारण सब लड़ाई -झगड़े होते हैं। हमारा चित्त हमेशा क्षुब्ध, असन्तुष्ट, अतृप्त, अशान्त रहता है। यह दाग कैसे मिटे ? चित्त कैसे निर्मल हो ?

प्रश्न है कि जीव इन दागों से, इन संस्कारों से, इस मलीनता से कैसे मुक्त हो ? वह किस प्रकार से मोक्ष को, निर्वाण को, कैवल्य को, स्वतंत्रता को, प्रेम को, आनन्द को प्राप्त हो ? यह सब एक ही बात है। केवल नाम ही भिन्न -भिन्न हैं। हमारी आत्मा को परमात्मा में लय हो जाना है। यदि परमात्मा की इच्छा होगी तो वह आपको सन्त बनाकर संसार के उद्धार के

लिए भेज देगा। यह लय अवस्था, सदगति, आत्मगति है। दूसरा पुनर्जन्म है। इसका सूफ़ियों में कहते हैं 'फ़ना के बाद बक्का'। फ़ना में तो अपने आप को ख़त्म कर देना है और लय हो जाना है। यदि प्रभु की यही इच्छा है तो उसी में समाये रहना है। यदि प्रभु की इच्छा है कि संसार की सेवा करनी है तो वक्का (पुनर्जन्म) में सन्त या गुरु के रूप में परमात्मा नर देह में आता है। वो मोक्ष पद को प्राप्त किए होता है, स्वतंत्रता को, ईश्वर से तदरूपता को, प्राप्त किये होता है। वो ही महान व्यक्ति गुरु कहलाने लायक़ होता है, वो ही संसार का भला करता है, सेवा करता है।

तो इस वक़्त प्रश्न यह है कि ये दाग़ मिटें कैसे ? इसकी प्रेरणा हमें स्त्री जाति से लेनी है। स्त्री जाति का जीवन तपस्या का जीवन है, साधना का जीवन है। विवाह होने पर एक कन्या अपने माँ-बाप का घर छोड़ कर नये घर (पति के घर) चली जाती है। वह अपने नये घर में इस तरह हो जाती है जैसे वह वर्षों से इसी घर में रह रही हो। माता-पिता के घर से अब उसका उतना मोह नहीं रहता जितना पहले था कितना त्याग है, कितना सन्यास है ? ऐसा पुरुष नहीं कर पाता। वह नहीं कर सकता, असमर्थ हैं। कहते हैं मोह का त्याग करो, परन्तु पुरुष नहीं कर पाता। स्त्री जाति में वह शक्ति है। इसीलिये स्त्री को माँ का रूप, शक्ति का रूप मानते हैं। वह दृढ़ संकल्पी होती है, तुरन्त ही मोह का त्याग कर देती है। माँ-बाप, भाई-बहिन सब का मोह त्याग कर अपने आपको नए घर में समर्पण कर दिया। तन-मन-धन अपना जो कुछ भी था सब कुछ समर्पण कर दिया। पुरुष ऐसा नहीं कर सकता। एक तरफ़ त्याग, दूसरे तरफ़ समर्पण। इस चुनरी में जो दाग़ लगे हैं उनको साफ़ करने के लिए, ईश्वर प्राप्ति के लिए त्याग और समर्पण - ये ही साधन हैं।

जहाँ- जहाँ यह मन फँसा हुआ है, हमारा चित्त फँसा हुआ है, वहाँ से इस मन को स्वतंत्र कराना है। वहाँ से मोह-मुक्त कराना है। यह जहाँ चिपका हुआ है, वहाँ से इसको मुक्त कराना है और प्रभु चरणों में लगाना है। यह कहने से ही नहीं लग जायेगा इसके लिए सदगुणों को अपनाना होगा। बिना सदगुणों को अपनाये हुए हमारी मुक्ति नहीं हो सकती। हमारे यहां कन्या की, स्त्री-शक्ति की पूजा होती है क्योंकि उसमें सदगुण हैं, प्रेम, करुणा, दया, कोमलता, सहनशीलता, सेवा के सदगुण हैं। यही भक्ति का साधन है कि प्रभु के चरणों में अनुराग हो, परन्तु आशा-अपेक्षा कुछ न हो। केवल एक ही आशा हो कि किसी प्रकार हमारा

प्रियतम- परमात्मा प्रसन्न हो। हम जब तक इन सदगुणों को नहीं अपनायेंगे हमारी चित्त की चुंदरी के दाग, यानी हमारे चित्त की मलीनता, अवगुण व संस्कार, कभी नहीं मिट सकते

दुःख की बात है कि कई वर्ष हो गये हमें साधना करते परन्तु हमारे में परिवर्तन नहीं आया। यह क्या बात है? बात बड़ी स्पष्ट है। हम जानते हैं कि हमारे में जो ईश्वरीय गुण छिपे हैं, हम उनका विकास नहीं करते। स्त्री और पुरुष दोनों को चाहिये कि वे अपने गुणों का विकास और विस्तार करें। साधना करते हुए हमें इतना समय हो गया परन्तु हमारे में परिवर्तन आ ही नहीं रहा। चित्त में जो दाग हैं वे और गहरे होते जा रहे हैं। ईर्ष्या बढ़ती चली जा रही है। हमें यह भी पता है कि मृत्यु नज़दीक है, पता नहीं कि किस समय मृत्यु आ जाया

हम साधना कर रहे हैं, हमें कुछ - कुछ अनुभूति भी होती है। परन्तु हमारे चित्त की मलीनता दूर नहीं होती। इसका क्या कारण है ? हम लोग दो प्रकार के रास्ते चलते हैं। एक तो यह कि पहले प्रभु की कृपा, गुरु की प्रसन्नता, प्राप्त कर लें। तब चित्त को निर्मल करने का प्रयास करते हैं। दूसरा रास्ता है कि पहले चित्त को निर्मल करते हैं फिर ईश्वर की कृपा के भिखारी बनते हैं। दोनों में कोई अन्तर नहीं है। आप सब जाने - अनजाने में दोनों ही रास्ते अपना रहे हैं। परन्तु स्थिति वहीं की वहीं है। हमारे ये दाग कब और कैसे मिटें, हमें इसकी चिन्ता करनी चाहिये।

लोग -बाग कहते हैं कि हमारा मन स्थिर नहीं होता, एकाग्र नहीं होता इसकी कुछ चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं है। प्रभु से प्रेम करें और देखें कि उसमें प्रगति हो रही है या नहीं। मैं देखता हूँ कि उसमें प्रगति के बजाय हम उलटे रास्ते पर जा रहे हैं। हमसे त्रुटियाँ हो रहीं हैं, हमारे प्रेम में कमी आती जा रही है। जिसके भीतर में प्रेम उत्पन्न हो गया, प्रेम प्रविष्ट हो गया उसको कुछ करने -धरने की ज़रूरत नहीं। सब राग -द्वेष मिट जायेंगे। फिर मन अप्रयास ही स्थिर हो जायेगा, एकाग्र हो जायेगा। इसके लिए रोड़ये, इसके लिए साधना करिए। हमें अपनी कन्याओं, देवियों, स्त्री -शक्ति के गुणों को अपनाकर ईश्वर की प्रसन्नता प्राप्त करनी है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता नहीं है अपनी चुनरी के दाग मिटाने का।

एक बीच का रास्ता भी है, उसको भी अपनाना चाहिये। कभी -कभी, सप्ताह या महिने में एक बार, बैठकर सोचना चाहिये कि मैं कहाँ हूँ ? मेरे चित्त में जितने गुण -अवगुण (दाग

) थे उनमें कुछ कमी आई है या उनमें कुछ बढ़ोतरी हुई है। यह लेखा -जोखा लेना चाहिए, विचार करना चाहिये, स्व -निरीक्षण करना चाहिये। ऐसा हीन भावना से न करें। प्रभु का आसरा लेकर करें -- हम भले हैं या बुरे हैं, प्रभु तेरे हैं। सुमति, सदबुद्धि, विवेक, वैराग्य दृढ़- संकल्प के लिए प्रभु से प्रार्थना करें। स्व -निरीक्षण करते हुए जो बुराइयाँ हममें दिखें, उनको दूर करने के लिए हम प्रयत्न करें। उन त्रुटियों को प्रेम रूपी यज्ञ में अर्पण कर दें। इधर से हमारा दृढ़ संकल्प हो उधर से प्रभु का अशीर्वाद मिले, यह प्रयत्न करो। अपनी शक्ति भी लगाओ और प्रभु की कृपा के लिए प्रार्थना भी करो। दोनों को अपनाना चाहिये। केवल एक को अपनाने से प्रमाद आ जाता है। यदि केवल कृपा प्रसादी के लिए प्रार्थना करेंगे तो प्रमाद आ जायेगा और यदि केवल अपना दृढ़ संकल्प ही लेंगे, ईश्वर की कृपा नहीं लेंगे तो अहंकार आ जाएगा। इसलिए दोनों को अपनाना चाहिये।

हम जानते हैं कि हममें ये बुराइयाँ हैं। हमारे भीतर से भी आवाज़ आती है कि भले मानस यह क्या कर रहे हो ? फिर भी अपने अहंकार के कारण हम कहते हैं कि देख लेंगे, फिर नहीं करेंगे, सारा संसार ऐसा करता है, मैं क्यों न करूँ ? किन्तु ईश्वर प्राप्ति के लिए इस प्रकार के तर्कों से काम नहीं चलेगा। हमें सदगुणों को तो अपनाना ही पड़ेगा। प्रेम ही ईश्वर है, ईश्वर ही प्रेम है। हमें इन सदगुणों को अपनाते हुए इस प्रेम- सागर में स्नान करना है। प्रेम रूप हो जाना है जहाँ किसी प्रकार का विभाजन नहीं है। जहाँ 'मैं ' और 'तू ' है वहीं झगड़े होते हैं। यह 'मैं ' और 'तू ' खत्म हो जाएँ तो सारा विश्व प्रभु में लय हो जाये, सतयुग बन जाय, किसी प्रकार का झगड़ा, ईर्ष्या -द्वेष न रहे। तो हमें सदगुणों को अपनाते हुए इस प्रेम रूपी सागर में स्नान करना है।

यह एक क्षण में नहीं होता। हम बार -बार इस आयाम में प्रवेश करेंगे, बार -बार हमारे संस्कार हमें बाहर खींच लायेंगे। हम बार -बार भीतर स्नान करने के लिए जायें। इसलिए भगवान कहते हैं कि वैराग्य अपनायें, पहले विवेक बुद्धि अपनायें। इससे वैराग्य सध जायेगा। इसका बार -बार अभ्यास करें एवं ईश्वर के साथ अनुराग करें। अनुराग निरन्तर नहीं होता और उसमें भी हम गिरते हैं। उसके लिए भी बार -बार अभ्यास करें। गिरेंगे, फिर उठेंगे, फिर गिरेंगे, फिर उठेंगे। हमारा मन प्रभु के चरणों में से उचटता है लेकिन उसे फिर प्रभु के चरणों में लगाओ। प्रभु के चरणों में बैठकर रोओ। मन का स्वभाव है, इसकी आदत है, यह फिर हटेगा,

फिर प्रभु के चरणों में लगाओ। बार -बार लगाओ। इसी का नाम अभ्यास है। खाते -पीते, सोते - जागते, बातें करते हुए, यहाँ तक कि किसी से झगड़ा करते हुए भी, प्रभु की याद हो। प्रभु की याद होगी, तो लड़ाई -झगडा होगा ही नहीं। तो प्रभु के स्वरूप की, उसके गुणों की स्मृति होनी चाहिये। हम प्रभु की, अपने इष्टदेव की, स्मृति तो करते हैं, उनके गुणों की स्मृति नहीं करते। यह हममें कमी है। हम जितना प्रभु का गुण- गान करेंगे, उतनी ही सरलता हममें आयेगी। वो गुण धीरे -धीरे हममें समा जायेंगे।

प्रभु करुणासागर है, दयानिधि है, सबका पालन पोषण करता है। हम प्रभु की उपासना करते हैं और प्रभु के गुणों को नहीं अपनाते। यह कैसी पूजा है ? यह कैसी साधना है ? हम जड़ समाधि पर ज़्यादा ज़ोर देते हैं कि मन स्थिर हो जाये। केवल इतने से कुछ नहीं होगा। यह देखिए कि प्रभु के गुण हमारे में विकसित हो रहे हैं या नहीं। हमारे व्यवहार में विकसित हो रहे हैं या नहीं ? हमारी जिह्वा में, वाणी में, मधुरता आ रही है या नहीं। क्या हमारी वाणी, हमारे शब्दों के कारण दूसरों को दुःख पहुँचता है ? यदि पहुँचता है तो हम प्रभु से कोसों दूर हैं। प्रभु तो मधुरता के सागर हैं।

लोग बाग पूछते हैं कि साधना कैसे करना है ? साधना यही है कि हमें अपने जीवन को ही साधना का रूप देना है। केवल आँख बंद करके बैठना ही साधना नहीं है। साधना का अन्तिम रूप कैसा होता है इसको स्वामी रामदास जी इस प्रकार समझाते हैं कि जैसे अगरबत्ती या मौमबत्ती होती है, वह स्वयं जलती है और संसार को सुगन्धि और प्रकाश देती है। इसी प्रकार से साधना का अन्तिम लक्ष्य अच्छा व्यवहार करते हुए अपने आप को खत्म कर देना है, जीवन रूपी साधना करते हुए यह हमारा सहज स्वभाव यानी सहज स्थिति बन जानी चाहिये। समाधी भी मन का रूप है, यानी समाधी में गुण नहीं हैं। यह तो एक ऐसा पुष्प है जिसमें सुगंधि नहीं है। समाधि भी एक वृत्ति है। हम रोज़ प्रगाढ़ निद्रा में सोते हैं। क्या वह समाधि नहीं है ? क्या उस समाधि से हमारे में कोई परिवर्तन आ जाता है ? सिवाय इसके कि शरीर कुछ हल्का हो जाता है। डाक्टरी उसूल से सोना उचित है परन्तु उससे भगवान तो नहीं मिलते। चेतन समाधि, गुणों से पूरित समाधि, प्रेम से पूर्ण समाधि, ज्ञान समाधि - इनसे ईश्वर मिलता है। गुरुदेव आप सबका कल्याण करें - आप सबका जीवन मंगलमय हो ।

जैसा अन्न वैसा मन

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ०करतारसिंह जी महाराज)

हमारे अन्दर दीनता आनी चाहिए। हमें अहंकार का परित्याग करना चाहिए। महापुरुषों के जीवन का अनुसरण करना चाहिए। इस पर ध्यान देना चाहिए। ऐसे ही संसार के साथ न लगे रहें। बचपन से बुढ़ापे तक की हमारी सारी आयु परख-पूर्ण और तर्क-पूर्ण होनी चाहिए। सत्य को अपनाना और असत्य का परित्याग करना, सच्चे ज्ञान को अपनाना और अज्ञान का परित्याग करना - यह साधन हमें चौबीसों घंटे बड़ी सच्चाई के साथ करना चाहिए।

श्रीगुरु महाराज का कथन था कि एक कॉपी लेलें और अपने में जो अवगुण देखें, उसमें लिखते जायें। एक-एक अवगुण को छोड़ने का धीरे-धीरे प्रयास करें। कहते हैं कि हमारे यहाँ के ऋषि-मुनि जंगल में चले जाना, धूप में बैठना, चारों ओर आग जला कर तप करना और शरीर को जलाना, आदि साधन करते थे। यह गलत नहीं है। पर आज के युग में यह सम्भव नहीं है। पर आज के युग में भी यह सम्भव है कि आप संकल्प लेकर अपने एक-एक अवगुण को छोड़ने का प्रयास करें। यही सच्चा साधन है। यही सच्चा सत्संग है।

भन को साधे सब सधै ' - हमें अपने को साधना है।

इसको ईश्वर जैसा बना देना है। आपके भीतर में ईश्वर है, फिर भी कितनी विचित्र बात है कि हम उस ईश्वर के समान नहीं हैं। आत्मा भीतर भी है और बाहर भी। परमात्मा आत्मा के रूप में आता है। किन्तु हम उससे प्रेरणा नहीं लेते। किसी ने उसके प्रकाश को नहीं देखा। हम उस प्रकाश से अपनी आत्मा को प्रकाशित नहीं करते। हम गलती करते हैं। गुरु महाराज कहते थे कि मनुष्य अपनी गलती को स्वयं नहीं देखता। किसी को अपना मित्र बना लेना चाहिए और उसको कहना चाहिए कि तुम मेरे गुणों को मत देखो, मेरी बुराइयों को देखो। वही सच्चा मित्र है जो हमारी बुराइयाँ हमें बताता है। परन्तु हममें इतना साहस नहीं है। पत्नी में भी इतना साहस नहीं है कि वह अपने पति को कह दे कि तुममें यह दोष है। कोई भी एक दूसरे की बात नहीं सुनता।

गुरु की बात मानने की बात तो दूर रही, अपने हित की बात भी नहीं सुनता। आजकल क्या हो रहा है ? अच्छे-अच्छे महापुरुष भी इससे नहीं बचे हैं।

भोजन बहुत ही महत्वपूर्ण साधन है। जैसा अन्न वैसा मना। यदि हमने अपने भोजन पर ध्यान नहीं दिया तो समझ लीजिये कि हमने अपने मार्ग में रुकावट डाल दी। हमारा खाना-पीना खराब होता जा रहा है। माँस, मछली, अंडा आदि खाते हैं। जहाँ भोजन तामसिक होगा वहाँ सात्विकता कैसे आएगी ? तामसिकता भोजन में होगी तो भीतर में भी तामसिकता ही आएगी। शाम को अकेले में बैठ कर शराब भी पीते हैं। बुरी-बुरी बातें करते हैं। जुआ आदि खेलते हैं। देखिये सब जगह यही हो रहा है। मनुष्य कीचड़ में फँसा है। हमारे देश में यह स्थिति कुछ कम है। मगर सारे संसार में यही स्थिति हो रही है। सभी देश के लोग बहुत शोर मचाते हैं कि हमारे देश में बहुत प्रगति हो रही है। यह ठीक है, परन्तु सब लोग राजनीति की बातें करते हैं और जितने भी राजनीतिज्ञ हैं उन सबका आचरण गिरा हुआ है।

“ मन को दुनियावी खयालों से हटाकर संतों की वानी, शास्त्रों के उपदेश और परमात्मा के नाम में लगाओ। ”

पूज्य गुरुमहाराज ने सत्संगी-साधकों को प्रेरणा दी है कि मन की जगह बुद्धि को लगाओ। पहले मन पर थे अब बुद्धि पर आ जाओ। निरपेक्ष बुद्धि होनी चाहिए। नहीं तो बुद्धि और मन में कोई अंतर नहीं होगा। प्रबुद्ध बुद्धि से देखो मन में विचारों को। यदि बुद्धि शुद्ध हो गयी है तो उससे प्रेरणा लेकर उसे सत मार्ग पर लाओ। ये ज्ञान की कोटियाँ हैं। यह ज्ञान संतों के ज्ञान के संग लेकर चलें। अपने व्यक्तित्व पर ध्यान दें, भोजन पर ध्यान दें। आपका भोजन सात्विक हो, बुद्धि सात्विक हो। बुद्धि पर तो बाद में ध्यान देंगे, हम सत पर ध्यान नहीं देते। भोजन चटकीला खाते हैं। केसा अन्न खाना चाहिए इस पर कोई ध्यान नहीं देता। हमारा खाना-पीना खराब होता जा रहा है। माँस, मछली, अंडा आदि खाते हैं। जहाँ भोजन तामसिक होगा, वहाँ सात्विकता कैसे आएगी ? तामसिकता भोजन में होगी तो भीतर में तामसिकता ही आएगी। कोई ध्यान नहीं देता। भोजन बनाने वाले का कैसा स्वभाव हो, यह भी देखना चाहिए। यदि आप खराब भाव से बना खाना खायेंगे तो आपका स्वभाव भी खराब होगा। यह साधना का प्रारम्भिक रूप है। यहीं से साधना शुरू होती है। मन को साधना है। मन को

साधने के लिए पहला कदम - अन्न सात्विक हो। 'जैसा अन्न वैसा मन'। गुरु महाराज ने कहा भी है। इस पर और मनन करना चाहिए। पुरुष स्त्री से कहता है वैसा तुमको करना पड़ेगा। वह सोचता है कि वह मना कर देगी, इसीलिए उसे दबाने की कोशिश करता है। स्त्री भी जब पति काम पर जाता है तो घर की समस्याएं कहती है। गैस खत्म हो गयी, खाद्य सामग्री खत्म हो गयी। पुरुषों को घर के काम से कोई मतलब नहीं, उन्हें तो बीएस पैसा कमाना है। सभी घरों में ऐसी ही स्थिति हो रही है। हम सब गाँव की संस्कृति छोड़कर शहर की आडम्बर-युक्त संस्कृति अपनाते जा रहे हैं। आजकल ऐसे लोगों की गिनती बहुत बढ़ गयी है। कोई घर खाली नहीं है जहाँ यह बात नहीं होती।

भीतर में इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं जिसके मन में इच्छाएँ उत्पन्न नहीं होती हो। इच्छाएँ दिन- प्रति- दिन बढ़ती जा रही है। अधिक इच्छाएँ होंगी तो अनुचित भाव भी अवश्य उत्पन्न होंगे। इच्छाओं की पूर्ति हेतु हम दूसरों का शोषण करेंगे और दूसरे हमारा शोषण अवश्य करेंगे। अतः संकल्प करें कि हम इस वर्ष कम से कम इच्छाएँ पैदा करेंगे। हमारी इच्छाएँ बहुत कम हों। दाल-रोटी में मस्त रहें। जो करोड़पति होता है वह भूखा रहता है, उसकी इच्छा कभी पूरी नहीं होती। देखिये सभी करोड़पति दुखी हैं। किसी को शुगर है, किसी को हृदय की बीमारी है, कोई किसी अन्य प्रकार से दुखी है। लोग सोचते हैं कि हमारे पास पैसा आ जायेगा तो हम सुखी हो जायेंगे। यह सोचना गलत है। आपकी इच्छा मर जाएगी तो आपके सब पाप मर जायेंगे। इच्छा ही मूल कारण है सब पापों का। अतः इच्छा-रहित बनो। जो ईश्वर दे रहा है, वही ठीक है।

महापुरुषों के आदेशानुसार काम करने से सुख प्राप्त होता है। जो काम ईश्वर के नाम में किया जाय, वही पूजा है। काम के समय अपने को ईश्वर के चरणों में समर्पित कर दो। कौन करता है ? हम भूल जाते हैं। सुबह थोड़ी देर पूजा में बैठ जाना काफ़ी नहीं है। थोड़ा पढ़िए, मनन अधिक कीजिए, निध्यासन कीजिये और अपना जीवन लगा दीजिये।

“ मन की ख्वाहिशात पर काबू पाओ और उसको गुरु के ध्यान में लगाओ/ इन्द्रियों का आचार ठीक करो।” इच्छाओं को कम करो - सब धर्म के लोग कहते हैं। अपनी इन्द्रियों को पवित्र रखें और उन पर काबू पाने की कोशिश करें। इन्द्रियाँ मन के अधीन हों, मन बुद्धि के

अधीन हो और बुद्धि आत्मा के अधीन हो। आत्मा गुरु के अधीन हो तब आपका जीवन अति कुशलतापूर्ण होगा। प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि उसे आनन्द मिले परन्तु वह वैसा विचार नहीं कर पाता।

" कोशिश करो कि इन्द्रियाँ दुनियावी गिलाजत (गन्दगी) देखने का बजाये हर जगह ईश्वर को देखें/ यही रहनी-सहनी का ठीक करना है।"

यही आपका स्वभाव बन जाना चाहिए। एक बाहर के चक्षु हैं और एक भीतर के चक्षु हैं। पूजा-पाठ करने का यही अर्थ है कि चौबीस घंटे ये चक्षु ईश्वर की अनुभूति करते रहें। " झिम-झिम बरसे अमृतधारा।" आत्मा की वृष्टि चौबीस घंटे प्रत्येक व्यक्ति पर बरस रही है। दोष हमारा है। हम देखते हुए भी ध्यान नहीं देते। ईश्वर चौबीस घंटे आपकी सेवा करता है। वह आपका सच्चा पिता है। " त्वमेव माता व त्वमेव पिता।" वह सब कुछ करता है। अपना प्रभाव सब पर डालता रहता है। परन्तु हमारा ध्यान माया की तरफ है, ज्ञान की तरफ नहीं है। ये चक्षु संतों के दर्शन नहीं करते, परमात्मा के दर्शन नहीं करते। हम सच्चे ग्रन्थ न पढ़कर उपन्यास पढ़ते हैं, गिरा हुआ साहित्य पढ़ते हैं। अपना अमूल्य समय गवां रहे हैं। ईश्वर की कृपा बरस रही है, उसे ग्रहण करें। क्यों हम अपनी पीठ दिखाते हैं? अपना मुख दिखाइए। ईश्वर की कृपा हर वक्त बरसती रहती है। उस प्रसादी से हम अपने अंतःकरण को पवित्र बनायें। ईश्वर जैसा बनना है तो मन को पवित्र करें। सिर्फ कहने से नहीं होगा। अभ्यास करना होगा। हम गिरेंगे, फिर उठेंगे। बार-बार गिरेंगे, बार-बार उठेंगे। कोशिश तो करें। प्रभु की जो कृपा बरस रही है, हम उसे ग्रहण करें और ईश्वर का आभार व्यक्त करें। उसकी कितनी कृपा है ? यह बात सही है, सत्संग में आप देखिये इस कृपा की सब पर अनुभूति होती है। बाहर भी इस अनुभूति को जारी रखिये। एक क्षण भी इसके बिना जीवन व्यतीत न करें।

"दूसरों के कथित अवगुणों की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए।"

यह बहुत कठिन काम है। पूज्य गुरु महाराज हमें प्रेरणा दे रहे हैं, मन को पवित्र करने के लिए। श्री सत्यनारायण की कथा का भाव भी यही है। इसमें कोई बुराई नहीं। किसी की भलाई करें, पर उसे पता नहीं चलना चाहिए। हमें बहुत सावधान रहना चाहिए। जो परमात्मा की कृपा बरस रही है वह गम्भीर भाव से, आदर भाव से ग्रहण करनी चाहिए और परमात्मा के प्रति

आभारी होना चाहिए। तेरा शुक्र है, तेरी बड़ी कृपा है। तू ही मेरा पिता है, तू ही मेरी सच्ची माता है। तू ही तू।

अपनी गलतियाँ अपने को नज़र नहीं आतीं। इसीलिए गुरु किया जाता है कि गुरु हमारी गलतियों को बताने का प्रयास करे। यह बड़ा कठिन काम है। बताने वाला कहता है। तुममें यह दोष है। कोई नहीं चाहता कि कोई मुझमें दोष देखे और मुझे नीचा दिखाए। यह मनुष्य का स्वभाव है। हम कुछ नहीं कर पाते। हम सब चोर हैं। हम अपनी गलतियाँ नहीं देखते। हम अपनी गलतियाँ नहीं मानते। हम अपना मन कोमल नहीं बनाते। हमको ऐसे काम नहीं करना चाहिए। हमको बुरा नहीं मानना चाहिए। हमारी सच्ची साधना यही है कि हम स्वयं अपने अवगुणों से मुक्त होने का प्रयत्न करें।

"अपनी त्रुटियाँ देखनी चाहिए और उनका सुधार करना चाहिए/ इससे दीनता आती है।"

अपनी त्रुटियाँ, अपनी कमज़ोरियाँ देखनी चाहिए। प्रातः साधना करने के बाद 5-10 मिनट अपनी कमज़ोरियाँ देखनी चाहिए। मन को देखें। आप स्वयं भी देखें, परमात्मा तो देखता ही है। अपनी गलतियों को सुधारना चाहिए। एक-एक गलती को धीरे-धीरे सुधारना चाहिए। यही हमारी साधना है। जब तक हम इनसे मुक्त नहीं होते, इस साधना का प्रयास जारी रखें। जब तक यह साधना पूरी नहीं होगी, तब तक प्रभु कृपा नहीं मिलेगी।

" अहं को दीनता में बदल दो।"

अहंकार सबसे बड़ा अवगुण है जो सब में है, आप में है, मुझ में है। एक विस्तार का अहंकार है। एक सूक्ष्म का अहंकार है। किसी को अपने ज्ञान का, किसी को अपने शरीर का, किसी को धन का, सबको कोई न कोई अहंकार है। हमें सबसे पहले अपने मन पर अधिकार करना है। पहले सरल अवगुणों को लें, बाद में कठिन अवगुणों को लें। पहले सरल अवगुणों को छोड़ने में सफलता आ जाएगी तो फिर कठिन अवगुणों पर भी आसानी से विजय प्राप्त कर सकेंगे।

"अहं को दीनता में बदल दो / इससे मन का मान घटता ही और ईश्वर-प्रेम बढ़ता है।"

गुरुदेव हमें प्रेरणा दे रहे हैं कि अहंकार का परित्याग करें। दीनता को अपनायें। अहंकार का परित्याग करना अति कठिन है। परन्तु यदि गुरु महाराज के आदेशों का पालन करना है तो हमारा यही धर्म है। यदि हम यह नहीं करते तो हमारे सत्संग का उल्लंघन है। गुरु के कहे अनुसार कार्य करें।

अहंकार हटता है या नहीं हटता परन्तु हम प्रयास करें। किससे कैसा व्यवहार करें ? ऊँचा नहीं बोलेन, अपशब्द नहीं बोलें, किसी के मन को दुःख पहुँचे ऐसे शब्द नहीं बोलें। हम सब अहंकारी हैं, कोई व्यक्ति ऐसा नहीं जो इससे मुक्त हो। किसी में कम, किसी में अधिक। अहंकार के कारण हम गिरते हैं। यदि इस अहंकार को दीनता में बदल दें तो सम्भव है कि हम इस अवगुण से बच जायें। गुरु महाराज के इस कथन को अच्छी तरह पढ़ें, मनन करें और अपने जीवन को वैसा बनाने की कोशिश करें। ।

"अपने आपको दुनियाँ का सेवक समझो, सबमें ईश्वर का रूप देखो/ इससे दीनता आती है/ "

गुरु महाराज के इस कथन पर अच्छी तरह से मनन करें और अपने जीवन को वैसा बनाने की कोशिश करें। हम सँसार के मालिक नहीं, सेवक हैं। आप परिवार के मुखिया हैं। आपको यह ध्यान रहे कि मेरे परिवार में कोई व्यक्ति दुखी न हो। वह परमात्मा का रूप है। आपके घर में वातावरण इतना कोमल, इतना शुद्ध हो जाये, पवित्र हो जाये, कि सब आपकी तारीफ़ करें। आजकल घर-घर में लड़ाई है। भाई-भाई में, बाप-बेटे में। वे सब भूल जाते हैं कि हम सब एक पिता की संतान हैं।

" एकै पिता एक सै बारक तेरे "

एक पिता का मतलब है एक परमात्मा की संतान हैं। हम सब एक है। यदि हम आपस में प्रेम नहीं करते तो हम परमात्मा की आज्ञा का पालन नहीं करते। मैं बार-बार कह रहा हूँ, प्रतिक्षण परमात्मा के प्रेम की बरसात हो रही है। उसको ग्रहण करें। परमात्मा का संग, गुरु का संग, छोड़ें नहीं। आपकी साधना यही है। परमात्मा के रूप और उनके गुणों को ग्रहण करें। हम ईश्वर को ही बेवकूफ बनाने की कोशिश करते हैं। ऐसा नहीं करना चाहिए। अपनी गलतियों को स्वीकार करना महान गुण है। प्रत्येक व्यक्ति में, प्रत्येक वस्तु में ईश्वर की लीला देखो। यह

आपका स्वभाव बन जाये। आप ईश्वर के सिवाय और कुछ न चाहें। आप देखेंगे कि आपके स्वभाव में कितनी कोमलता और मधुरता आती है। आपका जो दुश्मन होगा वह भी आपका मित्र बन जायेगा। आपके व्यवहार में मधुरता टपकनी चाहिए। महापुरुष कहते हैं - "बुरे दा भलाकर गुस्सा मन न लाय" / फरीद जी की पूरी वाणी में बड़ी मधुरता है। उसी तरह हमारा व्यवहार होना चाहिए। कोई हमारे साथ बुराई करे तो भी हमें उसके प्रति नेकी का भाव रखना चाहिए।

" फरीद बुरे दा भला करे // परे तिन्हा दे चूम" बुरे के साथ बुराई मत करो। हज़रत ईसा कहते हैं कि यदि कोई तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे तो अपना दूसरा गाल आगे कर दो ।

संक्षेप में, हृदय में कोमलता आनी चाहिए, दीनता आनी चाहिए। गरीबी आनी चाहिए। जब तक ये गुण नहीं आयेंगे, साधना में तरक्की नहीं होगी। इसका अभ्यास करना चाहिए।

"सबमें ईश्वर का रूप देखो/ इससे दीनता आती है।"

गुरु महाराज प्रेरणा दे रहे हैं कि कोई चाहे हमारा मित्र हो या शत्रुता करता हो, उसमें ईश्वर के दर्शन करें। जो हमसे शत्रुता करे, हम उससे प्रेम करें। उसके आगे झुक जायें। वह जो कुछ बात करे, हम चुप रहें, झुक जायें। उसकी शत्रुता निश्चित ही कम हो जाएगी।

" मन की हालत को देखते चलो।"

सबसे बड़ा साधन है अपने मन को देखना और सच्चाई के साथ देखना। गुरु महाराज बता रहे हैं कि एक नोटबुक बना लें। उसमें अपनी बुराइयों को लिखें। और यदि गुण दिखाई दें तो उनके लिए अहंकारी मत बनें। अपने अवगुणों को देखें और धीरे-धीरे उन अवगुणों से मुक्त होने की कोशिश करें। हमारे यहाँ की यही साधना है। इससे जो स्थिति बनती है, वर्णन नहीं की जा सकती। आप यदि दुश्मन में भी ईश्वर को देखेंगे तो सात्विकता अत्यधिक बढ़ जाएगी। इतना बल आ जायेगा जैसा भगवन राम में था। वे रावण के चरणों में प्रार्थना करते हैं कि मेरे छोटे भाई को क्षमा कर दें, उससे गलती हो गयी है। क्या आप ऐसा कर सकते हैं ? भगवान राम के जीवन से हमें प्रेरणा लेनी चाहिए। तभी मन में सूक्ष्मता आएगी। सूक्ष्मता, सरलता तथा

कोमलता और दीनता आएगी। जब तक ऐसे गुण नहीं आयेंगे, हमारी साधना में प्रगति नहीं हो पायेगी।

"मन की हालत को देखते चलो/ गुरु की कृपा,उनकी फ़ैज़ (प्रकाश) अपने ऊपर अनुभव करते रहो///"

ईश्वर कृपा और गुरु कृपा दोनों आवश्यक हैं। हमारे यहाँ का मुख्य साधन यही है कि गुरु की कृपा हम पर बरसती रहे और हम उसे ग्रहण करते रहें। यह एक महान प्रसाद है। पर हम इसकी परवाह नहीं करते। इस प्रसादी को ग्रहण नहीं करते, उससे वंचित रहते हैं। ईश्वर की कृपा तो बरसती ही है प्रत्येक व्यक्ति पर। गुरु की कृपा भी बरसती रहती है अपने शिष्यों पर। वे अपना सारा जीवन इसी काम में लगा देते हैं। अपने शिष्यों को याद करते हैं और अपनी कृपा की वृष्टि उन पर बरसाते हैं। हमने गुरु महाराज को ऐसा करते देखा और स्वयं अनुभव किया। अगर मुझ पर कोई तकलीफ़ आती तो वे सिकन्दराबाद से दौड़कर दिल्ली पहुँच जाते थे।

गुरु की कृपा का वर्णन नहीं किया जा सकता। यह जो गुरु-कृपा की विशेष वृष्टि है, इस पर हम ध्यान नहीं देते। इस पर ध्यान देना चाहिए। यह वृष्टि हर वक्त होती रहती है। इसे सबको ग्रहण करना चाहिए। गुरुकृपा के साथ ईश्वर की कृपा भी ग्रहण करनी चाहिए। बहुत से लोगों में विश्वास कम होता है, केवल दिखावटी ही होता है। अपने मतलब के लिए, अपने कष्टों के लिए वे गुरु के इर्द-गिर्द घूमते रहते हैं। ऐसा कोई नहीं आता जो कहे कि, " मुझे ईश्वर-भक्ति चाहिए, गुरु-भक्ति चाहिए " - कोई नहीं कहता। "मेरा यह काम हो जाय, वह काम हो जाया।" इसके बावजूद भी गुरु आपकी सहायता सदैव करते रहते हैं। यह हमारा दोष है। हम श्रेष्ठ व्यक्ति के नीचे बैठकर आत्म-चिन्तन नहीं करते। हमारे यहाँ का मुख्य साधन ही यही है। गुरु दूर नहीं, पास ही है। गुरु की कृपा सत्संग में बैठे सभी लोगों पर पहुँचती है पर हम इसका अनुभव नहीं करते।

काम करते हुए, खाना खाते हुए, बात करते हुए, किसी भी समय, इस वृष्टि को नहीं भूलिए। जब कोई काम न हो तब इस वृष्टि को गम्भीरता से लें। ईश्वर की वृष्टि के साथ गुरु की वृष्टि भी हो रही है मैं गुरु महाराज की सेवा में काफी समय तक रहा। उन्होंने यह बात

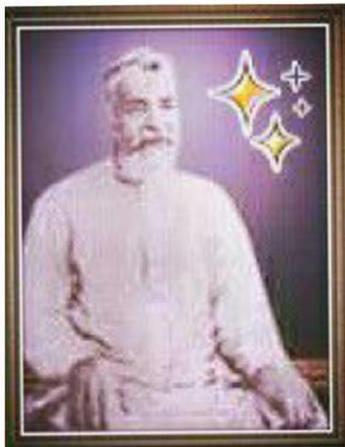
मुझे समझाई थी। गुरु की ओर से आत्म वृष्टि होती रहती है, सब पर होती है, चाहे वह कितना ही बुरा व्यक्ति क्यों हो। ध्येय तो गुरु का भी यही है कि सबका उद्धार हो।

जो व्यक्ति अति गिरा है उसकी ओर अधिक ध्यान देते हैं। वे बुराई का बदला बुराई में नहीं देते। वे बुराई का बदला नेकी में देते हैं। उसे ईश्वर जैसा बनाने के लिए, उसने जो गन्दगी पकड़ ली है, उसे धोने का प्रयास करते हैं। वह निर्मल बन जाये, सुन्दर बन जाये। वह ईश्वर के, गुरु के, काबिल बन जाये।

मेरी यही प्रार्थना है कि आप अपने लक्ष्य के प्रति गम्भीर बनें। आप अपने दोषों को खुद देखें। अपने किसी मित्र को नियुक्त कर लें (उससे सहायता लें) जो आपको आपके दोषों को खुलकर बताये। महीने में उस मित्र से मिलना चाहिए और उससे अनुरोध करना चाहिए कि मेरी बुराइयाँ बताओ। सच्ची मित्रता यही है। मेरे गुण मत बताओ। मेरे अवगुण बताओ।

गुरुदेव आप सब पर कृपा करें।

000000000



गुरु के नूरानी रूप का (प्रकाश रूप का) ध्यान किया जाता है . चाहे ध्यान में पहले उसका स्थूल शरीर दिखता हो मगर वह नूरानी (प्रकाश) रूप है . अगर गुरु की तस्बीर का ध्यान करते हो तो यह तो मूर्ति पूजा हो गई . जिसका ध्यान करोगे वही मिलेगा . अगर तस्बीर या मूर्ति का ध्यान करते हो तो मरने के बाद वही मिलेगी . इज़्ज़त के तौर पर घर में तस्बीर का रख लेना और बात है . सामने बैठ कर जो ध्यान किया जाता है वह उसके नूरानी रूप का किया जाता है . वह प्रकाश बराबर सूक्ष्म होता जाता है और आगे जाकर सतपुरुष से मिला देता है . (सवाने - उमरी -पृष्ठ ९७)

जैसा हम कर्म करते हैं वैसा उसका फल मिलता है -

यह कर्मों का चक्र कब खतम होगा?

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ०करतारसिंह जी महाराज)

जैसा हम कर्म करते हैं वैसा उसका फल मिलता है परन्तु यह कर्मों का चक्र कब खतम होगा ? संतों - गुरुजनों ने इसके लिए कुछ साधन बताए हैं जिन पर चल कर मनुष्य कर्म -फल या कर्म -चक्र के प्रभाव से मुक्त हो सकता है। सारी मानसिक बीमारियों का कारण मनुष्य खुद ही है। उसमे जो कर्ताभाव है वही सब मानसिक बीमारियों का कारण है। हम जो कुछ करते हैं उसमें सोचते हैं कि " मैं ही कर्ता हूँ "। यदि किसी काम का फल अच्छा हो जाता है तो बड़े ही प्रफुल्लित होते और बखानते हैं - देखिए साहब ,यह काम मैंने किया है, मेरी बुद्धि कितनी तीव्र है, मैं कितना चतुर हूँ, मेरे ही किए यह सब हुआ है। और यदि किसी काम का फल बुरा हो जाए तो मनुष्य चिन्तित हो जाता है, मन में दुःख मानता है। दोनों तरफ से मनुष्य अपने चित्त को मलिन कर लेता है।

तो हमारे मन में जब तक कर्ताभाव रहेगा, भोक्ता -भाव रहेगा तब तक कर्मों का चक्र चलता ही रहेगा और हम भवसागर से कभी भी पार नहीं उतर पाएंगे। मुक्त नहीं होंगे, स्वतंत्र नहीं होंगे। मनुष्य की पाँच इंद्रियां और छठा मन, ये सब ही बड़े प्रबल होते हैं। सारे मिलकर उसे इस प्रकार जकड़ लेते हैं कि वह युग- युगांतर से कोशिश करता है, अभ्यास करता है कि किसी तरह वह इन इंद्रियों से मुक्त हो जाए, उनके वशीभूत न हो। परन्तु यह सहज हो नहीं पाता। आप सब भीतर में स्वनिरीक्षण करिये और विचार करिए कि आप अपनी इंद्रियों से कितने मुक्त हैं ? आपकी इंद्रियां और मन आपके कितने वश में हैं। गीता के अंत में भगवान अर्जुन से कहते हैं कि कर्मयोग छोड़ो, ज्ञानयोग छोड़ो, भक्तियोग भी छोड़ो, सब तरह की साधनाएँ छोड़ो। केवल तू अपने आप को मेरे समर्पण कर दे । समर्पण बड़ा कठिन है। जो दीन होते हैं, जो संत होते हैं, जो भक्त होते हैं, उनका हृदय बड़ा कोमल होता है। वे प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु ! हमें अपने चरणों में ले लो। हमारे पास कोई भी बल नहीं है, हम तो निर्बल हैं। यही

दीनता है। इन्सान के पास सब कुछ होते हुए भी यदि वह निर्बल रहता है यानी सिबाय ईश्वर के अपने किसी भी प्रकार के बल पर भरोसा नहीं करता, वही सबसे बलवान है। जो इस प्रकार निर्बल हो कर भगवान के चरणों में गिरते हैं, गिड़गिड़ाते हैं और प्रार्थना करते हैं, भगवान उन्हीं की प्रार्थना सुनते हैं। यही उनका विरद है। यह सरल साधन है। यदि हम अपने चित्त को निर्मल करना चाहते हैं तो मानसिक तौर पर भगवान के चरणों में बैठ कर रोयें, उनको पुकारें कि - हे भगवान ! हमें अपना दामन पकड़ा दीजिये, हम इस भवसागर में डूब रहे हैं।

एक सामान्य व्यक्ति को क्या करना चाहिए ? उसको कौन सी जीवन की कला अपनानी चाहिए ? हमारी मानसिक बीमारियों का कारण हमारा मन यानी उसका कर्तापन है। उससे कैसे मुक्त हों? **महर्षि वशिष्ठ जी** ने अपने **वशिष्ठ योग** में 4 मुख्य बातें बतलाई हैं (1) सत (2) संतोष (3) विचार ,और (4) शांति। हमें इन्हें केवल पढ़ना ही नहीं चाहिये, उन पर मनन करके उन्हें अपने जीवन में उतारने की कोशिश करनी चाहिये।

(1) **सत** -- ईश्वर सत स्वरूप है। मनुष्य के भीतर भी जो आत्मा बैठी हुई है वह भी सत स्वरूप है। उसको पहचानो और अपने आप को पहचानो। यह मत समझो कि तुम शरीर हो। आत्मा के ऊपर अन्य चार आवरण हैं, वह तुम नहीं हो। तुम तो सत् स्वरूप हो। तुम्हारा जीवन सत्यता का होना चाहिए। जो आत्मा के गुण हैं, परमात्मा के गुण हैं, वे गुण हमारे व्यवहार में होने चाहिये। साधन तो यही है कि हम आत्मा हैं। इस आत्मा को पहचान कर संसार में रहें और अपना नित्य का व्यवहार करें। आत्मस्थित हो कर जो कार्य हमारे द्वारा होगा उसका प्रभाव हमारे चित्त पर नहीं पड़ेगा। हमारा चित्त निर्मल रहेगा और कर्मफल नहीं बनेगा। हमारा व्यवहार सत्यता का होना चाहिये। परमार्थ के रास्ते में चलने वाले को निरन्तर सत्य ही बोलना होगा चाहे कितनी ही हानि क्यों न हो जाए। जब तक हमारा ऐसा स्वभाव नहीं बन जाता, तब तक हम अपने रास्ते पर सफल नहीं होंगे।

(2) **संतोष** -- संतोष वही कर सकता है जिसके भीतर में सहनशीलता और ज्ञान है। हमारी यह धारणा बन जाए कि जो आत्मा हमारे अन्दर है, वही आत्मा अन्य मनुष्यों में है और सारे संसार के जीव - जंतु, स्थावर जंगम, सब में है। तब यदि कोई हमसे दुर्व्यवहार करता है, हमें उत्तेजना देता है, तो वह कौन करता है ? वह तो प्रभु की लीला है, ऐसा हमें समझना

चाहिए। जब हमारा ज्ञान दृढ़ हो जाता है तो सहनशीलता स्वतः ही आजाती है और संतोष अप्रयास ही बनने लगता है। शुरु में संतोष का मतलब यह लिया जाता है कि हमें भगवान ने जो कुछ दिया है, हम उसमें संतुष्ट रहें। परन्तु सन्तोष का विस्तार करना चाहिये। कैसे भी परिस्थिति आजाए उसमें हमारा मन विचलित न हो।

(3-4) **विचार और शांति** - तीसरा उपदेश जो दिया वह विचार का है -- आत्मविचार। यह पहचानो कि किसको वैराग हो रहा है, कौन वैराग कर रहा है ? उत्तर होगा कि मेरे मन में वैराग हो रहा है। परन्तु तुम तो मन नहीं हो। मन से मुक्त होकर ज्ञान को अपनाओ। तुम तो आत्मा हो - ज्ञान और अज्ञान, वैराग और अनुराग दोनों से मुक्त। जब यह स्थिति आ जाती है तो उसका परिणाम क्या होता है ? परम शांति, तृप्ति, आत्मशांति। ऐसी शांति जिसके साथ पूर्ण तृप्ति हो, कोई इच्छा न हो, कोई आशा न हो। जिस परिस्थिति में रहें शांत हैं। यह आत्मा का स्वरूप है। मन की शांति अस्थायी है। आत्मा की शान्ति तो निरन्तर रहती है गंगा के प्रवाह की तरह। यह चार बातें महर्षि वशिष्ठ ने भगवान राम को बतलाईं तब भगवान ने अपने असली (आत्मा के) शरीर को पहचान कर अपनी लीलाएं कीं। इसी तरह परमार्थ के रास्ते पर चलने वाले साधक जिज्ञासु को भी कुछ साधना ज्ञान की करनी पड़ेगी। जो भी कर्म हम करें उसमें हमारा ममत्व न हो। गीता में भगवान कृष्ण ने भी अर्जुन को यही सिखाया था कि जो कुछ भी कर्म तू करे उसके साथ तेरा कोई बन्धन न हो। यदि बन्धन हुआ, अज्ञान अहंकार हुआ, तो कर्मफल मिलेगा, उन कर्मों की छाया चित्त पर पड़ेगी जिसके परिणामस्वरूप जन्म मरण के चक्कर में पड़ोगे। अर्जुन चाहता है की वह कर्म बँधन से मुक्त हो जाए, स्वतंत्र हो जाए। जितनी इंद्रियां हैं, मन है वे बुद्धि के आधीन हो जाएँ और बुद्धि आत्मा से प्रकाश ले। चित्त में एक सन्तुलन हो, ध्वनि हो, संगति हो। ऐसी परिस्थिति में जो भी कर्म किया जाएगा, वह इस ज्ञान के साथ किया जाएगा कि मैं तो कर्ता नहीं हूँ, मैं तो निर्लेप आत्मा हूँ। ईश्वर ही कर्ता है। ऐसा दृढ़ विचार जब बन जाएगा तो कर्मों की छाया चित्त पर नहीं पड़ेगी और हम स्वतंत्र हो जाएंगे।

हम जितनी भी साधना करते हैं, चाहे ब्रह्म रन्ध्र पर करें, आज्ञा चक्र पर करें, हृदय चक्र पर करें या नाभि चक्र पर करें, यह एक technique (अभ्यास) है मन को शांत करने का। यह जीवन का अन्तिम लक्ष्य नहीं है। हम लोग आँखें बन्द करके आंतरिक साधना पर

ज़्यादा जोर देते हैं। साधना जरूर करनी चाहिये, इसका अपना परिणाम है। परन्तु जब तक हमारा व्यवहार शुद्ध नहीं होता, ईश्वरमयी नहीं होता तब तक यह एक technique, साधन या अभ्यास ही है। हमें देखना है कि अभ्यास करते -करते एकाग्रता होने लगी, मन ठहरने लगा परन्तु उसके नाम और स्वरूप का ध्यान करने से हमारा चित्त भी शुद्ध हुआ या नहीं। हमारा मन निर्मल होना चाहिए । क्या हमारा चित्त निर्मल और विचारशून्य है? हमारी साधना का परिणाम यह होना चाहिए कि हमारा चित्त पूर्ण निर्मल हो जाए उस पर एक भी दाग न रहे। कर्म तो हमें करना ही है परन्तु कर्म करने की यह कला होनी चाहिए कि उसके साथ हमारा बन्धन न रहे।

अपना आत्म - निरीक्षण करते रहना चाहिए कि कौन -कौन सी त्रुटियाँ हम में हैं। यदि साधना करते -करते हमारा चित्त शुद्ध और निर्मल नहीं होता तो समझिए कि साधना में बड़ी कमी है। हम कितने ही पढ़ जाँ, कितने ही आत्म - प्रगत हो जाँ, हमें हमेशा दीन रहना चाहिए । संत भीतर से प्रकाश रूप, आनंद स्वरूप , जीवन स्वरूप होते हैं, परन्तु ईश्वर के,अपने इष्टदेव के, चरणों में हमेशा अपने आप को छोटा नन्हा तृण समझते हैं। छोटे बालक जैसी सरलता तब आती है जब हम राग - द्वेष से रहित हो जाँ। **कबीर साहब** कहते हैं -- "*मरने से ही पाईये, पूरण परमानन्द* "। मरने का मतलब यह है कि भीतर में तनिक भी अहंकार न रहे - मेरापन न रहे । ' तू ही तू ' रटते हुए उस परमोच्च स्थिति में पहुँच जाँ जहाँ के वर्णन करने के लिए शब्द नहीं होते। वह स्थिति हमारे रोम - रोम में बस जाए । वो राम हमारे जीवन में प्रकट हों, विकसित हों, प्रकाशित हों, तो समझें कि साधना में कुछ प्राप्ति हुई है। हमेशा स्वनिरीक्षण करते रहना चाहिए। जो भी त्रुटियाँ आप देखें, उनसे निवृत्त होना चाहिए, उन्हें दूर करना चाहिए। यदि आपसे स्वयँ ऐसा नहीं हो पाता तो जिससे आपने दीक्षा ली है, जिसको गुरु बनाया है, उनके चरणों में जाकर प्रार्थना करनी चाहिए, उनसे सहायता के लिए निवेदन करना चाहिए। अपने आप को भीतर से साफ करते चले जाँ निर्मल - निर्मल से भी निर्मल हो जाँ।

0000000000

तीन प्रकार के चरण

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ०करतारसिंह जी महाराज)

संतों ने सतगुरु के चरणों की महिमा खूब गायी है। सतगुरु के चरण क्या हैं ? ईश्वर सर्वव्यापक है और उसकी कृपा की धार प्रतिक्षण, प्रत्येक समय सब प्राणियों पर एक जैसी बरस रही है। इस बारिश को सूफियों ने "फैज़ " संतों ने "अमृत " तथा ईसाईयों ने "ग्रेस " (grace) कहा है। अरविंदु जी ने इसी को " भगवत प्रसादी " कहा है। इसी को " प्रभु के चरण " कहा गया है। इन चरणों को पकड़ कर, इन चरणों की सेवा करके हम प्रभु तक पहुँच सकते हैं। यह फैज़, यह अमृत क्या है ? जैसे सूर्य और सूर्य का प्रकाश है, उस प्रकाश को पकड़ कर हम सूर्य तक पहुँच सकते हैं, उस प्रकाश में वे ही गुण हैं जो सूर्य में हैं , उसी प्रकार से प्रभु के जो गुण हैं वे इस धार, इस अमृत में हैं। इस फैज़ को, इस भगवत प्रसादी को कैसे प्राप्त करें ? तुलसीदास जी ने रामायण के शुरु में ही श्रद्धा और विश्वास पर बल दिया है। श्रद्धा और विश्वास तभी आता है जब व्यक्ति को कुछ थोड़ी सी अनुभूति हो जाती है। केवल बातों पर से श्रद्धा और विश्वास पुख्ता नहीं होते। सम्मान और आदर तो आयेगा परन्तु श्रद्धा और विश्वास बिना कुछ जाने हुए नहीं आते।

सतगुरु के चरणों को कैसे पकड़ें ? मन को पहले निर्मल कर लें, वातावरण को भी कुछ योग्य (शुद्ध) बना लें। साधना में जिस वक़्त बैठें, प्रभु का गुणगान करें, स्तुति करें और हृदय की झोली को फैला कर बैठ जायें, शरीर को ढीला छोड़ दें। बिल्कुल ढीला, पुर्णतः relaxed। ईश्वर से प्रार्थना करें कि - हे प्रभु ! हमें अपना प्रेम प्रदान करें, हमें अपनी शरण में ले लें, हमें अपनी कृपा - प्रसादी प्रदान करें और मन ही मन उसका नाम लेते रहें। दो या तीन मिनिट बाद आप अनुभव करेंगे, बरसों की प्रतीक्षा की आवश्यकता नहीं है, उसी वक़्त तुरन्त आपको इसकी अनुभूति हो सकती है। आप देखेंगे कि दो तीन मिनिट बाद आपके शरीर में अन्दर और बाहर कुछ छू रहा है। यदि आप इसी प्रकार बैठे रहेंगे तो आप इस प्रसादी से, इस अमृत से, इस फैज़ से, भीग जायेंगे। आप जितना इस शरीर को ढीला छोड़ेंगे, समर्पण भाव से

बैठेंगे और यदि आपका मन भी शान्त होगा तो आपको गुरु चरणों की अनुभूति तुरन्त ही हो सकती है, और यदि व्यक्ति यही अभ्यास करता रहे, (गुरु महाराज महात्मा श्रीकृष्ण लाल जी ने कहा था कि यदि व्यक्ति यही अभ्यास छः महिने लगातार चौबीसों घंटे करता रहे) तो उसको पूर्णतः लय अवस्था प्राप्त हो सकती है एवं वह भीतर और बाहर दोनों ही ईश्वर - मय हो जायेगा परन्तु हमारा मन हमें यह करने नहीं देता। इसीलिये मन को शान्त करने के लिए पहला चरण है - सदाचार का, सदविचार और सदव्यवहार का । जब तक सतगति नहीं आती तब तक मन स्थिर और एकाग्र नहीं होगा। जब तक शरीर में तनाव रहेगा तब तक इस अमृत प्रसादी, भगवत प्रसादी का पूर्ण अनुभव नहीं हो सकता। हमें अपने आप को पूर्णतः समर्पण कर देना है।

व्यवहार में जिस स्थिति में भी आप रहते हैं सन्तुष्ट रहें। जो व्यक्ति इस सन्तोष का अभ्यास करता है वह व्यक्ति इस प्रसादी को तुरन्त ग्रहण कर लेता है। भीतर मन में व शरीर में किसी प्रकार का तनाव न हो। जैसे प्रगाढ़ निन्द्रा में व्यक्ति की अवस्था होती है, वैसी ही अवस्था जागृत अवस्था में भी होनी चाहिये। यह प्रसादी लेने का तरीका स्त्री - बच्चे, सब कर सकते हैं। दूसरी जो भी साधना करते हों उसके साथ इसको करके व्यक्ति लाभ उठा सकता है। कोई मूर्ति पूजा करता है, मन्दिर जाता है, उसको भी ऐसा ही सोचना चाहिये कि भगवान सामने बैठे हैं। वैसे तो ईश्वर की ओर से कृपा आती है पर मन्दिर में स्थापित मूर्ति तथा गुरु के द्वारा भी यह कृपा ली जा सकती है। हम जब मन्दिर में जाते हैं तो मन्दिर में भी पहले आराधना करते हैं, प्रार्थना करते हैं, अपने इष्टदेव की मूर्ति के सम्मुख बैठ जाते हैं। उस समय यह ख्याल करें कि उनकी कृपा प्रसादी उनके हृदय या मस्तिष्क में से निकलकर हमारे सारे शरीर में फैल रही है। जिस स्थान पर यह कृपा वृष्टि अधिक होगी, समझ लेना चाहिये कि वह स्थान अधिक पवित्र है। तो यह कृपा प्रसादी मूर्ति के माध्यम से, गुरु से, किसी पुस्तक में श्रद्धा है तो उसके माध्यम से भी प्राप्त की जा सकती है, क्योंकि ईश्वर तो सर्वज्ञ है, सर्वव्यापक हैं। कृपा तो प्रभु की है, आप इसे मूर्ति द्वारा, गुरु द्वारा या सीधे प्रभु से लीजिए। सूफ़ी लोग। संत लोग बहुधा यहीं साधन करते हैं।

दूसरा चरण यह है कि महापुरुष जो आदेश -उपदेश दें उनको श्रद्धा से सुनें और उनके अनुसार अपने जीवन को बनाने का प्रयास करें। उनके आदेश -उपदेश ही उनके

चरण हैं। उनकी, उनके चरणों की सेवा क्या है ? उनके आदेशों -उपदेशों का पालन करना। उनके आदेश या उपदेश क्या होते हैं ? अपने आप को बनाओ। अपने शरीर को स्वस्थ रखो, मन को स्वस्थ रखो यानी मन को विकारों से मुक्त रखो। उसको सदगुणों का भोजन दीजिये। बुद्धि को स्वस्थ रखिये यानी इसके भीतर जो संशय हैं, जो भय की वृत्तियाँ हैं या और किसी प्रकार के अवगुण हैं, उनसे मुक्त होकर शुद्ध बुद्धि, स्थितिप्रज्ञ अवस्था, आ जाए यानी किसी भी अवस्था या स्थिति में आप तुरन्त सही निर्णय ले सकें। बुद्धि में हँस -गति आ जाए यानी वह यह समझ सके कि सार क्या है और असार क्या है, आत्मा, अनात्मिकता क्या है, ईश्वर क्या है और ईश्वर का अस्तित्व क्या है ? जो बात आपके हित में है उसे पकड़ लें और अहित में है उसे छोड़ दे। गुरुजन यही कहते हैं और कुछ नहीं कहते। महर्षि रमन ने तो यहाँ तक कहा है कि यदि आपको किसी से प्रेम करने में संकोच होता है तो अपने आप से प्रेम करें, अपनी सेवा करें। अपनी सेवा ही संसार की सेवा है। सभी कहते हैं कि किसी के साथ हिंसा नहीं करना चाहिये। यदि आप किसी पर क्रोध करते हैं तो इसका प्रभाव किस पर पड़ेगा ? क्रोध करने वाले पर। उसका मन चंचल हो जायेगा, चित्त दुःखी हो जायेगा, मन में अशान्ति आ जायेगी। आप किसी से घृणा करते हैं या झूठ बोलते हैं तो किसी दूसरे को हानि पहुँचने से पहले आपकी हानि होगी।

एक स्त्री सन्त ने लिखा है कि जो सत्यता की साधना करता है वह भला कैसे झूठ बोल सकता है ? यदि वह झूठ बोलता है तो वह अपने प्रति बड़ा पाप करता है। इस पाप से इतनी मलीनता भीतर में हो जाती है कि उसको निर्मल करने में बरसों लग जाते हैं। तो पहले अपनी सेवा करो। इसके बाद और आगे बढ़ो। ईश्वर या आत्मा आपके भीतर में है। बाहर कहाँ दूढ़ते हो। अपनी आत्मा की अनुभूति करें, आत्मा का दर्शन करें। यह कोई आसान बात नहीं है। अपने आपको शुद्ध, निर्मल करते चले जाइए। धीरे -धीरे अनुभूति हो जायेगी। अपनी सेवा करते जाइए, अपने आपको धोते चले जाइए। ज्ञान से या भक्ति से, जैसी आपकी वृत्ति हो, अपनी सेवा करें। ये गुरु के चरण हैं।

तीसरा जो चरणों का अर्थ लिया जाता है, वह शारीरिक चरण हैं। जैसा व्यक्ति होता है वैसी ही तरंगें उसके भीतर से निकलती हैं। यदि हमारे भीतर में बुरे विचार उठते हैं तो हम अपनी बुरी तरंगों (vibrations) से वायुमण्डल को दूषित करते रहते हैं। यह महान पाप है। सन्त

के भीतर में प्रेम होता है, सत्यता होती है, आनन्द होता है, शान्ति होती है। उसके भीतर में से इन गुणों की रश्मियाँ अप्रयास ही निकलती रहती हैं। जो प्रयास से होता है उसमें नेकी भी हो सकती है, बुराई भी। महापुरुष कभी भी मन से इन तरंगों को नहीं निकालते। वह स्वतः ही, अप्रयास ही आत्मिक रश्मियाँ प्रदान करते हैं। उनका शरीर इन तरंगों से, इन रश्मियों से पूरित होता है। उनका पूर्ण शरीर इन गुणों के कारण पवित्र होता है। कबीर साहब चरणों द्वारा दीक्षा दिया करते थे। अपने पाँव का अँगूठा मस्तक पर छूते थे। कहने का मतलब यह है कि सन्तों के चरणों से आत्मिक शक्ति निकलती है, आत्मा की तरंगें निकलती हैं। यदि सन्त हमें आज्ञा दें और हम उनके चरण छुयें और उनकी सेवा करें तो हम उनके चरणों द्वारा वह प्राप्त कर सकते हैं जो कुछ उन सन्त के भीतर है। परन्तु सन्त किसी से सेवा लेते नहीं हैं। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि जो सेवा करने वाला है वह पवित्र आत्मा है भी या नहीं। यदि वह अपवित्र है तो वह भी अपना कुछ न कुछ प्रसाद संत को दे जायेगा। दूसरा यह कि इससे अभिमान हो जाता है। बच्चों को इजाज़त दे देते हैं, परन्तु बड़ों से सेवा नहीं कराते।

ये तीन प्रकार के चरण हैं। इन गुणों की महिमा शास्त्रों में और सन्तों की वाणी में बताई गई है। इन तीन चरणों में से जो भी चरण जिन्हें मिल सकें, वे भाग्यशाली होंगे। प्रभु की कृपा और महापुरुषों का उपदेश और तीसरा उनकी आत्मिक प्रसादी। यह आत्मिक प्रसादी उनके पास बैठकर प्राप्त होती है। इसी को सत्संग कहते हैं यानी ऐसे व्यक्ति का संग करना जो पूर्णतया सत्यता का रूप बन गया है। उसी को सन्त कहते हैं और उसी का संग सत्संग कहलाता है। दो -चार भजन पढ़ लिए, कीर्तन कर लिया - यह सत्संग नहीं है। सत्य का संग, चाहें सन्त का हो या ईश्वर का, वही उत्तम है। ईश्वर का भी संग हो सकता है। ईश्वर के संग का मतलब है उनके समीप होना और उनके चरणों को पकड़ कर उन तक पहुँचना एवं उनके चरणों की रज बन जाना। मतलब यह है कि अहंकार से मुक्त होकर अपनी आत्मा को उनकी आत्मा में मिला देना - यही वास्तविक सत्संग है।

0000000000000000

तुम्हारा कर्तव्य है कि अपने आपको पोशीदा करके उसको जाहिर कर दो

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ०करतारसिंह जी महाराज)

इशतहार बाज़ी मत करो। अपने को छिपाओ और अपने कर्मों में, अपनी वाणी में, अपने व्यवहार में ईश्वर को व्यक्त होने दो। जो भी कर्म करें, आपके हाथ-पाँव नहीं करें, आपका मन नहीं करे, बल्कि ईश्वर करे। इतनी ऊँची जगह यदि नहीं पहुँच सकते तो कम से कम इतना तो करो कि कोई काम करने से पहले अपने अन्दर बैठे हुए अपने इष्टदेव परमात्मा से पूछो, " मैं यह काम करूँ या न करूँ ?" भीतर की आवाज़ सुनने का अभ्यास करो।

ईश्वर सर्वव्यापक है। भगवान् राम ने एकता स्थापित की, परन्तु हमने एकता में अहंकार की दीवार खड़ी कर दी। प्रत्येक कर्म, प्रत्येक विचार, करने से पहले अपने भीतर में प्रश्न करें। एक दो दफ़े ग़लती होगी, किन्तु अभ्यास करने पर आपके अन्दर से सच्चाई की आवाज़ आएगी। मन बेईमान होता है। वह जानता है कि जो मैं कर रहा हूँ वह ग़लत है, लेकिन फिर भी नहीं हटता।

" मन जीते जग जीत "

जिसने अपने मन पर विजय प्राप्त कर ली, समझिये उसने सारे विश्व पर विजय प्राप्त कर ली। साधना मन की है। मन को साधना है तथा इस पर विजय प्राप्त करनी है। यह फँसा हुआ है - मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार में। चित्त पर अतीत के संस्कार अंकित हैं परिणामस्वरूप हमारा व्यवहार भी पिछले कर्मों के अनुसार होता है। मन, बुद्धि सब मलीन हो जाते हैं। चित्त तो मलीन है ही, उस पर इसके अतिरिक्त अहंकार तो हमसे और भी दुष्कर्म कराता है। रावण रूपी अहंकार खुद तो जलता ही है, दूसरों को भी जला देता है। जितनी भी साधना है, इस मन को साधने की साधना है। इसके भीतर में भगवान् बैठे हैं, गुरु बैठे हैं।

कुछ रीति-रिवाज़ों को पूरा करना ही कुछ लोगों ने धर्म या मज़हब समझ रखा है। पूज्य लाला जी कहते हैं - " इन छोटी-छोटी बातों को कोई विशेष महत्व नहीं देना चाहिए। " मैं ऐसे धर्म को चाहे वह किसी भी पंथ का हो, धर्म या मज़हब नहीं मानता। "

जब हम अपने इष्टदेव के अनुरूप अपना-अपना जीवन नहीं बना पाये तो दोष हमारा है या हमारे धर्म का। अधिकाँश दोष धार्मिक लोगों का है। वह अपना जीवन ठीक से नहीं चलाते। अतः अपने अनुयायियों को सच्ची प्रेरणा नहीं देते। धर्म में भले ही दोष न हो, क्षमा चाहता हूँ, आज जो धार्मिक शिक्षा दे रहे हैं और अपने को धार्मिक नेता कहते हैं, उनका दोष है। वे अपने पूर्वजों को भूल चुके हैं, उनके जीवन को भूल चुके हैं, उनकी बातों को भूल चुके हैं, तथा उनके साहित्य को भूल चुके हैं। उनके साहित्य का गलत अर्थ निकालते हैं।

हम राम और कृष्ण के अनुयायी हैं परन्तु हम भूल गए हैं कि राम का जीवन कैसा था, उन्होंने कितना बलिदान दिया था। हम भगवान् कृष्ण का जीवन भूल गए हैं। भगवान् कृष्ण ने कितना बलिदान दिया था। जरासंध से लड़ाई होती थी। वह हर साल मथुरा आता था और मथुरा पर आक्रमण करता था। लोगों को कष्ट होता था। कृष्ण मथुरा छोड़कर द्वारिका चले गए। उन्होंने यह नहीं सोचा कि सन्सार उन्हें कायर कहेगा। वह इसलिए गए कि वहाँ के लोगों को दुःख होता था। हज़ारों लोग लड़ाई में मारे जाते थे। कृष्ण दूसरों का सुख अपना सुख समझते थे।

मज़हब वास्तव में विशाल हृदयता सिखाता है, अच्छी आदतें, सदाचार, सहानुभूति, एक विचार, आत्मानुभव और प्राणीमात्र के साथ एकता का विचार सिखाता है।

महापुरुषों के जो गुण होते हैं उन्हें अपनाना साधना है। छोटी-छोटी बातों पर लड़ाई करना - यह साधना नहीं है। जिज्ञासु का हृदय विशाल होना चाहिए। यदि कोई एक गाल पर थप्पड़ मारे तो दूसरा गाल भी आगे कर देना चाहिए -इधर भी मारो। सहनशीलता को अपनाना चाहिए।

अच्छी आदतें आपका स्वरूप बन जायें। भगवान् कृष्ण की गीता पढ़ते हैं तो आप गीता का रूप बन जायें। यदि रामायण पढ़ते हैं, तो रामायण का रूप बन जायें, और महापुरुषों की पवित्र वाणी पढ़ते हैं, तो वे आपके गुण बन जायें। वे गुण आपके द्वारा विकसित हों। हमारे आचार-

विचार शुभ होने चाहिए। हमारे कर्म दूसरों के हित के लिए होने चाहिए, केवल अपने हित में ही नहीं होने चाहिए। हमें स्वार्थी नहीं बनना है।

सहानुभूति

सबके साथ हमारी सहानुभूति हो। दुश्मन भी हो, उसके साथ भी सहानुभूति हो। मैं आपको बता चुका हूँ कि गुरु गोविन्द सिंह जी के एक भक्त ने उनसे कहा, "औरंगज़ेब के सिपाही जो घायल हो जाते थे उनकी सेना के ही भाई घनईया जी उनकी सेवा करते हैं, उनकी मरहम-पट्टी करते हैं। हमारे एक सैनिक ने देखा कि हम शत्रुओं को मरते हैं, वे उनको जिन्दा कर देते हैं। उसने गुरुदेव से शिकायत की। उन्होंने कहा, " ठीक है, उन्हें बुलाओ।" उन्हें बुलाया गया। उनसे पूछा गया तो उन्होंने कहा - " मैं तो आपके आदेशों का पालन करता हूँ। आपकी पूजा करता हूँ। मुझे मुसलमान नहीं दीखते हैं, आप ही दीखते हैं, मैं तो आपकी मरहम-पट्टी कर रहा हूँ।"

गुरुदेव बहुत खुश हुए और उनको 'पण्डित' की उपाधि प्रदान कर दी। उनसे कहा, " आप अलग 'सेवा पंथ' चलायें "। आज भी उनका मुख्यालय जगाधरी (पँजाब) में है। उस पंथ का नाम सेवा-पंथ है। यह घटना हमें स्मरण कराती है कि संतों के हृदय में कितनी विशालता होती है। संतों के हृदय में ऐसी विशालता होनी चाहिए। उनसे कह दिया - "जाओ भक्तों की सेवा करो।" सैंकड़ों वर्षों में कोई ऐसा महापुरुष आता है। कड़ियों को तो ये बातें सच्ची ही नहीं लगती। कहते हैं कि ये तो किस्से-कहानियाँ हैं। ऐसा कैसे हो सकता है ? परन्तु महापुरुषों का जीवन ऐसा ही विचित्र होता है। इसीलिए वे महापुरुष कहलाते हैं। उनकी आत्मकथा पढ़नी चाहिए जिससे हमको भी प्रेरणा मिले और हम भी उच्च-कोटि का जीवन व्यतीत कर सकें।

प्रत्येक प्राणी-मात्र के साथ प्रेम और एकसा व्यवहार करना चाहिए। उनके प्रति एक विचार हो। ॐ राम ॐ राम - यही विचार हो। आत्मानुभूति के लिए सारा बल लगा देना चाहिए। चाहे कोई मित्र हो चाहे शत्रु, सबके साथ एक जैसा व्यवहार करना चाहिए। सबमें ईश्वर व्यापक है। ईश्वर समझ कर सबकी सेवा करें।

गीता का बारहवाँ अध्याय पढ़िए और द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अध्याय भी पढ़िए।
आपका व्यवहार कैसा होना चाहिए - ये सब बातें आपको वहाँ मिल जाएँगी।

फ़कीरों जैसे कपड़े पहन लेना, अपने को फ़कीर कहना, इससे आप फ़कीर नहीं बन सकते।
फ़कीर को तो फक्कड़ बनना होता है। जीना स्वभाव है - बुरा या अच्छा, राग-द्वेष सबका
परित्याग करना होता है।

" ब्रह्मज्ञानी निर्मल से निर्मला "

आपको ब्रह्मज्ञानी बनना है। पूर्णरूपेण निर्मल बनना है। आदि रूप परमात्मा बनना है। हमारा
जीवन ही हमारी साधना है। हमें यह सब करना है।

मेरा आपके चरणों में अनुरोध है कि महापुरुषों की जीवनी पढ़ें। उनके चरणों में बैठें और
अपना जीवन उन जैसा बनाने का प्रयास करें। केवल नाम ले लेने टी।वी आदि देखने से हमारे
जीवन में सफलता आ जाएगी, ऐसा नहीं है। इसके लिए तो बलिदान देना पड़ेगा। बलिदान
किसका ? बलिदान अहंकार का, मेरा और मेरेपन का। हम सब अहंकारी हैं। कोई छोटी सी बात
कह दे तो हम क्रोध में जल उठते हैं। यह अहंकार का प्रतीक है। हम सभी चोर हैं। हमारा
आचरण उतना ऊँचा नहीं जितना होना चाहिए। शुद्ध आचरण ही वास्तविक साधना है। जो
साधना हम बताते हैं वो सहायक तो है परन्तु अपने आचार-विचार को आदर्श बनाना सच्चा
अभ्यास है, सच्ची साधना है। इसीलिए हमारे यहाँ व्रत रखने का रिवाज़ है। एकादशी का व्रत,
पूर्णिमा का व्रत रखते हैं। जबान पर नियंत्रण रखना चाहिए। महापुरुषों ने रीति-रिवाज़ बनाये हैं,
परन्तु हम सब भूल गए हैं। आज सब खाने-पीने में लगे रहते हैं, टी।वी आदि देखते रहते हैं।
राग-द्वेष में फंसे रहते हैं और चाहते हैं कि ईश्वर की प्राप्ति हो जाये।

देश की हालत

आज देश की हालत इतनी ख़राब हो गयी है कि नम्बर -2 वाला व्यापारी और नौकरी पेशा
(गलत ढंग से, बेईमानी से, काम करने वाला) तो खुश है, बाकी लोग मर रहे हैं। जो नम्बर -2
का काम करते हैं उनको समाज में सम्मान मिलता है, उनकी इज़ज़त होती है, वे मंत्री भी बन

जाते हैं। जो शुद्ध जीवन व्यतीत करते हैं उनपर आरोप लग जाते हैं, नौकरी से निकाल दिए जाते हैं। यह आज कुछ आदमियों का जीवन नहीं, हम सबका जीवन है।

आध्यात्मिक सफलता में सद्व्यवहार का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। हम कर्म-योग गीता में पढ़ते हैं जो अति महत्वपूर्ण है। लेकिन कोई भी व्यक्ति भगवान कृष्ण की गीता के दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवे अध्यायों का पालन नहीं कर पाता। बेईमानी बढ़ती जा रही है। कहने को तो हम कहते हैं कि हम पूजा-पाठ करते हैं, हमारा देश संसार में सबसे ऊँचा है। लेकिन वास्तविकता क्या है ? आप सब देख रहे हैं। धर्म में, समाज में जो स्थिति है हम देख रहे हैं। वह प्रति-क्षण गिरती जा रही है। बहुत सुधार की आवश्यकता है।

प्रभु के चरणों में प्रार्थना करें कि भगवान राम जैसा महापुरुष, भगवान् कृष्णा जैसा महापुरुष भारत में पुनः आये और भारत की स्थिति जैसी पहले थी वैसी बनादे। यह कलयुग तो साँपों के बीच में रहने का युग है।

प्रभु आपको शक्ति दें। आप प्रभु जैसे बन सकें। यही सच्ची साधना है।

00000000000000



आदमी की उन्नति और पतन उसके विचारों पर आधारित है . आदमी को चाहिए कि अपने विचारों की परख अच्छी तरह हमेशा करता रहे . इसी से आगे की ज़िन्दगी बनेगी . जैसे खयाल होंगे वैसी आदत बनेगी , जैसी आदत होगी वैसे ही कर्म किए जाएंगे . जैसा कर्म करेगा वह वैसे ही बन जाएगा . आदमी अपनी तकदीर का बनाने बिगाड़ने वाला स्वयं है . भक्त -जन जिन्होंने अपनी इंद्रियों , मन , बुद्धि को शुद्ध कर लिया है , उनके जिस्म से आत्मा का प्रकाश यानी परमात्मा का प्रेम झलकता है .

महात्मा डॉ . श्रीकृष्ण लाल जी महाराज

राम संदेश : मई -जून ,2009

" तू साहिब में बन्दा तेरा "

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

हमें अपने कर्तव्य के प्रति सदैव सजग रहकर सोचते रहना चाहिये। ईश्वर की याद निरन्तर बनी रहे, एक क्षण भर भी ईश्वर से पृथक नहीं होना चाहिये। महापुरुष कहते हैं " आँखा जीवा, बिसरे मर जावा /" यानी स्मृति मेरा जीवन है तथा विस्मृति मेरी मृत्यु है । " तू तू करता तू भया , मुझ में रही न हूँ आपा पिरका मिट गया, जित देखां तत तू " इस स्मृति का, इस याद का, इस साधना का परिणाम क्या है ? उसको (परमात्मा को) निरन्तर याद करें, उसके स्वरूप को, उसके गुणों को याद करें। उसकी जो कृपा हम पर बरस रही है, आनन्द की वृष्टि हो रही है, उसका स्मरण करें। यही हमारे जीवन का लक्ष्य है।

आप परमात्मा के अंश हैं। परन्तु हम भूले हुए हैं। इस भूल से हमें मुक्ति प्राप्त करनी है तथा साधना करते हुए, उसको याद करते हुए, " तू - तू " करते हुए, हमें वही बनना है जो परमपिता परमात्मा है। वह आपका सहज स्वरूप ही है, परन्तु हम भूले हुए हैं। हमारा वास्तविक रूप है कि हम परमपिता परमात्मा के अंश हैं, परमात्मा ही हैं ।

" तत्त्वमसि " तुम तो वो ही हो । क्यों भूले हुए हो कि तुम ब्रह्म हो, परमात्मा हो ? इस भूल को मिटाना है। परन्तु यह भूल कहाँ है ? हम माया में, संसार के आकर्षण में फँस गये हैं।

हमारा शरीर भी फँसा है, मन और बुद्धि भी फँसे हैं। हमारा पूर्ण अस्तित्व आत्ममय होते हुए भी अनात्मिकता में जीवन व्यतीत करता है। इस कारण हम दुःखी हैं। सत्संग में आकर हमें अपने आप को पहिचानना है। अपने कर्तव्य को देखना है। इस शरीर को छोड़ने से पहले हमें अपनी पहिचान करनी है। इसके लिए साधना की आवश्यकता है।

साधना में हम आँख बंद करके, जो तरीका हमें बताया गया है उसके अनुसार, अभ्यास करते हैं, ठीक है, शुभ है। परन्तु हमें साधना के साथ -साथ अपने जीवन में भी सुधार

लाना है। हमारा अंतःकरण हमारे पापों, हमारे कुकर्मों के कारण इतना मलीन हो चुका है। इसको धोना है, गंगा स्नान करना है, बाहर का नहीं भीतर का स्नान करना है

हमारी संस्कृति के महान मार्गदर्शक भगवान कृष्ण ने गीता के 12- वें अध्याय में 13- वें से लेकर 20- वें श्लोकों में सच्चे भक्त के गुणों का वर्णन किया है। मैं बारम्बार आपसे निवेदन किया करता हूँ कि हमें स्वनिरीक्षण करके अपने दोषों, अपनी कमियों को सच्चाई के साथ देखना चाहिये। संसार के साथ हम बेशक झूठ बोलते हैं, बोलते रहेंगे, उसका विशेष महत्व नहीं है। परन्तु हम तो स्वयं अपने साथ भी झूठ बोलते हैं ? हम स्वनिरीक्षण कर, सत्यता के साथ, अपने आपको देखें कि मेरे भीतर में कौन सी कमियाँ हैं। कोई तीसरा आदमी नहीं देख सकता। गुरु महरज फरमाया करते थे कि अपने अवगुणों को देखिये, प्रभु -चरणों में बैठकर रोड़ये, उन प्रेम अश्रुओं से जो गंगा - स्नान होगा उसके द्वारा आपके दोषों की निवृत्ति होगी।

गुणों का पहला श्लोक है - अद्वेष्ट मैत्री संसार में जितने भी लोग हैं - मनुष्य, पशु , बनस्पति, पत्ते - सबके साथ मैत्री । किसी के साथ भी द्वेष- भाव नहीं रखना। चाहें कोई व्यक्ति आपको कितना भी प्रकोप दे, आपके मन में उसके प्रति द्वेष न हो। शेख फरीद जी कहते हैं कि जो तुम्हारे साथ अत्याचार करे, मार - पीट करे, तुम उसके घर जाओ और उसके पाँव दबाओ। क्या हम ऐसा कर सकते हैं ? द्वेष भावना खत्म करने के लिए हमें बड़ी तपस्या करनी पड़ेगी। हम मित्रों के साथ प्रेम कर सकते हैं, परन्तु शत्रु के साथ मित्रता करना बड़ा कठिन है। हमारे मन से एक क्षण क्या, पूरे जीवन भर द्वेष नहीं निकलता। हम तो सांसारिक व्यक्ति हैं, मेरा बड़ा अनुभव है कि अच्छे - अच्छे योगियों के मन से भी द्वेष भावना नहीं निकलती। हृदय में जब तक निर्मलता, स्वच्छता, कोमलता नहीं आयेगी, ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस हृदय में तो ईश्वर को रहना है। मलिन हृदय में ईश्वर की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

हज़रत ईसा भी यही कहते हैं - क्षमा करो, क्षमा करो, अपने मित्रों को, पति अपनी पत्नि को, पत्नि अपने पति को, बाप बेटे को क्षमा करें। यही नहीं, जो तुम्हें दुःख दें, उतेजना दें, तुमसे शत्रुता करें, उनको क्षमा कर दो, उनसे प्रेम करो, उनकी सेवा करो। Love thy neighbour (अपने पड़ोसी से प्यार करो) अपना चित्त निर्मल रखो । क्षमाशीलता, प्रेम तथा सेवा - इन सद्गुणों को अपने जीवन एवं व्यवहार में अपनायें।

दीनता

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

दीन सबन को लखत है, दीनहि लखे न कोय !

भली विचारी दीनता, नरहु देवता होय !!

कबीर नवै सो आपको, परकों नवै न कोय !

थोरि तराजू तौलिये, नवै सो भारी होय !!

संतमत में 'दीनता' का प्रमुख स्थान है। हम गुरुजनों के कृपा-पात्र तभी हो सकते हैं जब हम दीन बन कर उनके श्री चरणों में जाते हैं। परमात्मा-स्वरूप, संत शिरोमणि डॉ०श्रीकृष्ण लाल जी साहब, दीनता की साक्षात् मूर्ति थे। उनके पावन शब्दों में, "संत सदा उसके (परमात्मा के) दरबार में हजूरी के साथ हाज़िर रहते हैं, इसलिए वह परमात्मा सदा संतों में मूर्तिमान रहता है/ संतों के चरणों में बैठने से दीनता और दीनबन्धु दोनों मिलते हैं।"

दीनता एक अद्भुत भाव है जिसको शब्दों में व्यक्त करना असम्भव है। दीनता के मायने यह नहीं की आप धन-सम्पत्ति से हीन हो जाएँ। सच्चे अर्थों में इसका मतलब यह है कि हम अपनी खुदी या अहम भाव को मिटा कर अपने आपको गुरु में लय कर दें। यदि हम अपने आप को दीन समझ लें तो अपना अनादर या बेइज़्जती हमारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती। इसे थोड़े में इस प्रकार समझ सकते हैं कि जब माता-पिता बच्चे को डाँटते हैं तो क्या इसमें बच्चे की बेइज़्जती या निरादर होता है? नहीं, कदापि नहीं, क्योंकि बच्चा माता-पिता को प्रिय है, उनके प्रति आश्रित है। आश्रित होना दीनता है। यदि हम दीन होना चाहते हैं तो अपने आपको सेवक समझें और सबकी सच्चे दिल से सेवा करें। कहने को तो यह बहुत आसान है कि 'साहब, हम तो आपके सेवक हैं' लेकिन ऐसा होना बहुत कठिन है। यह सब साधन और अभ्यास से ही सम्भव है।

यह बिलकुल सही है कि संतों के चरणों में बैठने से दीनता मिलती है लेकिन जब तक हम संत के पास खुद को दीन बना कर नहीं जायेंगे, तब तक वह चीज़ नहीं मिल सकती जो मिलनी चाहिए। पहले 'निज-कृपा', फिर 'गुरु-कृपा'। पूर्ण दीनता आ जाने पर सारे सद्गुण खुद-ब-खुद आने लगते हैं। विनम्रता दीनता का ही अंग है। समर्पण का भाव दीनता में छुपा हुआ है। जहाँ पूर्ण समर्पणता आयी, फिर विलय और तब आत्म-साक्षात्कार में देर कहाँ ? दूसरी बात, दीनता आ जाने पर क्रोध स्वतः चला जाता है। क्रोध आध्यात्म के मार्ग में एक बहुत बड़ी रुकावट है। यदि हमारे अन्तर में क्रोध है तो फिर दीनता कैसी ? हम सेवक कहलाने लायक कहाँ रहे ?

जहाँ दीनता है वहाँ क्षमा करने का भाव भी साथ है। जिन महापुरुषों के अन्तर में दीनता भरी है वे कभी किसी के ऊपर क्रोध नहीं करेंगे। उनके अन्तर में क्षमा का भाव रहता है। संतों का हृदय बड़ा ही कोमल होता है। वे दूसरों के दुखों को देखकर पिघल उठते हैं, द्रवित हो पड़ते हैं। संतों को जब कोई कष्ट पहुँचाता है तो वे विनम्रतापूर्वक उनके लिए यही प्रार्थना करते हैं - " हे प्रभु ! ये भूले हुए हैं, ये नहीं जानते कि हम क्या कर रहे हैं। दयामय प्रभु ! इन्हें क्षमा करो। इन्हें किसी भी सुख से वंचित मत करना। इन्होंने तो मेरी मन्ज़िल को आसान कर दिया है।" यह है उनकी महिमा।

दक्षिण भारत के एक महान संत एकनाथ जी प्रतिदिन स्नान करने गोदावरी नदी पर जाया करते थे। रास्ते में एक सराय पड़ती थी जिसमें एक पठान रहता था। एकनाथ जी स्नान करते और फिर जब वापस आते तो वह पठान फिर उन पर कुल्ला कर देता था। एकनाथ जी फिर स्नान करते, वापस आते, पठान फिर कुल्ला कर देता। कभी-कभी यह काण्ड चार-पाँच बार भी होता। पठान एक दिन ज़िद्द पर आ गया। संत एकनाथ जी स्नान करके वापस लौटते, तो वह कुल्ला कर देता। पठान ऐसे ही बार-बार कुल्ला करता रहा और वे महापुरुष हर बार स्नान करके लौट जाते। अन्त में पठान अपने कार्य पर शर्मिन्दा हुआ। बोला, " आप मुझे माफ़ कर दें, मैं तोबा करता हूँ अब किसी को तंग नहीं करूँगा। आप खुदा के सच्चे बन्दे हैं। मुझे माफ़ कर दें।" लेकिन एकनाथ जी की विनम्रता, दीनता और क्षमाशीलता का यह हाल कि वे पठान को सान्त्वना दे रहे हैं - " इसमें क्षमा करने की क्या बात है ? आपकी कृपा से मुझे आज एक सौ आठ (108) बार स्नान करने का सुअवसर मिला है।"

दीनता में त्याग की भावना दृष्टिगोचर होती है। दीनता में 'मैं' और 'मेरापन' नहीं होता। जो कुछ मेरे पास है वो सब तेरा है। यह भोग विलास के जो कुछ सामान मेरे पास हैं वो तेरे हैं, यह शरीर तेरा, यह मन तेरा, जो कुछ है सब तेरा, तेरा, तेरा। त्याग के मायने केवल बाह्य चीजों के ही छोड़ देने से नहीं हैं, जैसे कि अक्सर लोग कहते हैं कि साहब, मैंने सिगरेट पीना छोड़ दिया, मैं चाय नहीं पिऊँगा, आदि आदि। सच्चे अर्थों में हमें हमारे अन्तर में जो कलुषित भावनाएँ - राग -द्वेष, लोभ, मोह, क्रोध, कामना आदि, भरी पड़ी हैं, हमें उनका त्याग करना है। इसकी अतिरिक्त साँसारिक वस्तुओं में हमारी आसक्ति न हो।

जितने भी महान संत हुए हैं उन सबने दीनता रूपी आभूषण धारण किया है। जो दीन होगा, वह संवेदनशील अवश्य होगा। उसे मतलब नहीं कि मेरे बारे में लोग क्या कहते हैं। सही बात तो यह है कि जिसमें दीनता पूर्णरूप से आ गयी, उसने अपना 'दीन' (परलोक) बना लिया, दीनबन्धु को प्राप्त कर लिया।

सिखों के तीसरे गुरुदेव, श्री अमरदेव जी, दीनता की मूर्ति थे। वे अपने गुरु महाराज श्री अंगददेव जी के समधी थे और रिश्ते में भी बड़े थे। लेकिन उनकी दीनता का यह हाल था कि जाते वक्त अपनी पीठ गुरु की तरफ नहीं होने देते थे। इसे बेअदबी समझते थे। श्री अमरदेव जी बुढ़े थे, लेकिन दीनता की वजह से श्री अंगददेव जी की सेवा करते थे। एक दिन सुबह होने में कुछ देर थी। श्री अमरदेव जी बरसते पानी में ही नदी पर गए। जब गुरुद्वारे के पास पहुँचे, वे गिर पड़े, लेकिन उन्होंने घड़े के पानी को नहीं गिरने दिया। धमाके की आवाज़ हुई। पास ही एक जुलाहे का घर था। वह बोला - 'कोई शख्स गिरा है या कोई कुत्ता कूदा है' उसकी पत्नी बोली, 'इस अँधेरी रात में अमरु बेचारे के सिवाय और कौन उठा होगा? वही गरीब दुखिया पानी लेने जाता है, वही गिरा होगा।' ये बातें किसी तरह गुरु अंगददेव जी ने सुन लीं।

अमरदास जी घड़ा लेकर पहुँचे, गुरु को स्नान कराया। सुबह हुई, दरबार लगा। गुरुजी ने हुक्म दिया - 'जुलहिन को ले आओ।' वह डरती हुई आयी। गुरुजी ने पूछा - 'माई, आज तूने क्या कहा था ?' वह कहने लगी, 'भगवन् मैंने तो कुछ नहीं कहा, धमाके की आवाज़ हुई जैसे कोई गिरा हो। मेरे पतिदेव के पूछने पर मैंने कहा कि "ऐसे अँधेरे में अमरु बेचारे के सिवाय और कौन हो सकता है। वही गरीब पानी लेने गया होगा।" ऐसा कहकर वह चली गयी। गुरुदेव

का हुक्म हुआ कि अमरदास जी को हाज़िर करो। वे दूसरी जगह बैठे भजन गा रहे थे। आये, गुरु साहब उठे और अपने दरबारियों से कहने लगे, "यह अमरु बेचारा या गरीब दुखिया नहीं है, राजाओं का राजा अमरदास है।" यह कहकर उन्होंने अमरदास जी को अपनी छाती से लगा लिया और अपनी गद्दी पर बिठाकर निहाल कर दिया ।

लेने को सतनाम है, देने को अन्नदान !

तरने को है दीनता, डूबन को अभिमान !!

गुरु रामदास जी कहते हैं - " जिसने अपने अहम और खुदी को मिटा दिया है तो फिर गुरुदेव की कोई भी सेवा क्यों न हो, उसमें किसी प्रकार की भावना आने का प्रश्न ही नहीं है।" हीन रामदास जी के बूढ़े गुरुदेव ने परीक्षा के तौर पर एक दिन अपने सारे शिष्यों को अलग-अलग चबूतरा बनाने को दिया। सबने बनाये। गुरुदेव ने सबको तुड़वा दिया और फिर बनाने का आदेश दिया। कई बार चबूतरे बने और बिगड़े। लोग उकता गए और कहने लगे - ' गुरुदेव चबूतरा बनवाते हैं और बार-बार तुड़वा देते हैं।' यह सोचकर उन्होंने उनकी आज्ञा नहीं मानी। परन्तु रामदास जी बार-बार आदेशों का पालन करते रहे, क्योंकि उनके अन्तर में दीनता कूट-कूट कर भरी थी। वे सेवक थे और सेवक को सिर्फ सेवा करने से मतलब है। उसे इससे कोई वास्ता नहीं कि मालिक मुझसे क्या सेवा करवा रहा है, या लोग मेरे बारे में क्या सोचेंगे ? आखिर गुरुदेव ने पूछा - "क्यों रामदास, और सब तो भाग गए, तुम क्यों चबूतरे बनाते और बिगाड़ते हो। क्या तुमको कोई तकलीफ नहीं होती ?" रामदास जी नम्रतापूर्वक बोले - " भगवन, मैं तो सेवक हूँ, मेरा काम तो सेवा करना है। चबूतरा बने या बिगड़े, मुझे इससे क्या मतलब ? मुझे तो आज्ञा पालन से काम है। अगर मेरी तमाम ज़िन्दगी इसी में निकल जाये तो भी मैं नहीं घबराऊँगा।" गुरुदेव प्रेम से गदगद हो गए, आपको सीने से लगा लिया, और उन्हें अपना उत्तराधिकारी बनाया।

कबीर नन्हे हो रहो, जैसो नन्ही दूब !

सभी घास जल जायेंगे, दूब खूब की खूब !!

जब दीनता का समावेश होता है तभी हमें अपने अवगुण दीख पड़ते हैं। हमें दूसरों के जो नुक़स दीख पड़ते हैं वे हमारे अन्तर में पहले से ही मौजूद होते हैं। इसकी साधक को ख़बर तक नहीं होती ।

औरों पै मुअतरज थे लेकिन नज़र जो डाली !

अपने ही दिल को हमने गंजे अयूब देखा !!

* * * * *

बुरा जो देखन में चला, बुरा न दिखा कोय !

जो घट ढूँढ़ा आपना, मुझसे बुरा न कोय !!

जब हमें अपने अन्तर में बुराइयाँ दीखती हैं हम उनसे घृणा करते हैं और दीनतापूर्वक अपने गुरुदेव के श्रीचरणों में गिड़गिड़ाते हैं, रोते हैं, तो हमें उन बुराइयों से छुटकारा मिल जाता है। यही वास्तविक स्वाध्याय है।

दीन पुरुष ही संतों की पवित्र दृष्टि में सबसे अधिक कृपा के अधिकारी होते हैं। ऐसे ही शिष्यों के लिए गुरुजनों की यह स्थिति होती है -

दास दुखी तो मैं दुखी, आदि अंत तिहुँ काल !

पलक एक में प्रकट हो, छिन में करूँ निहाल !!

हमें दीन भाव केवल मानव जाति विशेष के साथ ही नहीं बल्कि परमात्मा की तमाम श्रष्टि के साथ बरतना है। फिर यह भी आवश्यक है कि हम व्यसनी न बनें। मांस, मदिरा, आदि तामसिक वस्तुओं का सेवन भूल कर भी न करें क्योंकि इनसे हृदय कठोर होता है। अतः दीनता लाने के लिए यह ज़रूरी है कि हम हज़ूरी में रहें, यानी यह सोचते रहें कि श्री गुरुदेव हमारे अन्तर में विराजमान हैं, हमारे साथ हैं, हमारे हर कार्य को देख रहे हैं। ऐसा सोचते रहने से हम बुरे कार्यों से बच सकते हैं।

पूज्य लालाजी साहब (समर्थ गुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज, फतेहगढ़ी) अपने काल के सुविख्यात परमसन्त थे। सूफियों की भाषा में वे 'पीर कामिल' थे। उन्होंने भी परमेश्वर के श्री चरणों में विनम्रतापूर्वक एक जगह क्या खूब लिखा है ?

" हे परमपिता परमेश्वर ! यह सेवक जैसा है तैसा आपकी शरण में मौजूद है / इसको खबर नहीं कि आपके गुण कैसे गाये जावें ? कभी-कभी बाखबरी पर नाज़ हो जाता है, लेकिन जब काम का वक्त आता है तब धरे का धरा रह जाता है/ अब तक छान-बीन करने का यह नतीज़ा निकला और यह जान पाया कि कुछ नहीं जाना।"

ज़ाहिर है कि आध्यात्मिक मार्ग को सुगम बनाने के लिए दीनता की परम आवश्यकता है। पूर्ण दीनता के आते ही विनम्रता, क्षमाशीलता, राग-द्वेष से मुक्ति, क्रोध और अहंकार का नाश, पूर्ण आत्मसमर्पण आदि अद्वितीय गुण साधक के अन्तर में स्वतः ही झलकने लगते हैं। इस पारलौकिक गुण 'दीनता' को पाना निहायत ही मुश्किल है। परन्तु गुरु के चरणों का, संतों के चरणों का, सहारा लेने से दीनता सुगमता से आ जाती है।

0000000000



सुरत को सारी इच्छाओं से पाक साफ करना होगा . उसे निर्मल बनाना होगा . परमात्मा से मिलने के सिवाय और कोई ख्वाहिश दिल में बाकी न रहे . यही मन को शान्त करना है . लेकिन यह एक दम और ऐसी आसानी से नहीं हो जाता . इसका तरीका है गुरु का सत्संग करना और गुरु की दया प्राप्त करना . वैराग्य सत्संग से पैदा होता है और आत्मा को शक्ति मिलती है . गुरु दर्शन से , उनके चरणों में बैठने से , उनके वचन सुनने और उनपर अमल करने से मन का घाट बदल ने लगता है . गुरु से प्रीति करने से आहिस्ता - आहिस्ता वह ईश्वर की प्रीति में तब्दील हो जाती है . |



दीनता और सद्गुणों को अपनायें - गुरुजनों की वाणी पर मनन करें

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

हम जो भी प्रार्थना या आराधना थोड़े समय के लिए करते हैं, वह अपने जीवन को कुशलता से बिताने की तैयारी के लिए करते हैं। यह एक process (तरीका) है। संसार या परिवार में रहते हुए हमारा जीवन सम्बन्धों (रिलेशनशिप्स) का जीवन है। कहीं हमें ठोकरें मिलती हैं, गालियाँ मिलती हैं, कहीं हमें सराहा जाता है। हमें शत्रु - मित्र सब मिलते हैं। परन्तु हमारी तैयारी यही हो कि प्रतिकूल या अनुकूल - जैसी भी परिस्थितियाँ आयें, हम भीतर में सन्तुष्ट रहें, प्रसन्न -चित रहें, आनन्दमय रहें। ईश्वर से हम क्या भिक्षा माँगते हैं ? हम उसका प्रेम माँगते हैं। हम जब सुबह स्नान करते हैं शरीर में चुस्ती आ जाती है। इसी प्रकार ईश्वर से हम ईश्वर के गुणों के लिए प्रार्थना करते हैं ताकि उनको अपना कर हम अपना जीवन मंगल- मय बना सके ।

संसार में जो इस रास्ते पर (आध्यात्म के रास्ते पर) आगे बढ़ता है, उसको बड़ी उत्तेजनार्थ मिलती हैं कई लोग जब मुसीबतें आती हैं तो घबरा कर रास्ता ही छोड़ देते हैं। कहते हैं कि हम नहीं जानते कि गुरु कौन है, परमात्मा कौन है ? इस दुःखमय अवस्था में इतनी परीक्षा होती है कि हम गुरु और ईश्वर दोनों को छोड़ देते हैं। ऐसे लोग कहते हैं कि वही लोग सुखी हैं जो संसार का शोषण करते हैं, पाप करते हैं। यह कैसा विधि का विधान है कि हम सात्त्विक जीवन व्यतीत करते हैं और हमें कष्ट मिलते हैं ? केवल साधारण व्यक्ति ही ऐसी बातें नहीं करते, परीक्षा की घड़ी में पुराने अभ्यासी भी डाँवाडोल हो जाते हैं।

संसार में रहते हुए हमारा व्यवहार कैसा होना चाहिये ? अधिकाँश लोगों में रजोगुण प्रधान रहता है। तामसिक वृत्ति तथा सात्त्विक वृत्ति के लोग बहुत कम होते हैं। जो व्यक्ति सत्संग में है उसका जीवन कुछ विशेष होना चाहिये। कोई उसे उत्तेजना देता है तो उसे क्या करना चाहिये ? इसका उत्तर भगवान कृष्ण ने अर्जुन को गीता में दिया है कि हम अज्ञान को

छोड़ें। अज्ञान को छोड़ने का मतलब है कि आप समझें कि मैं शरीर, मन, प्राण आदि नहीं हूँ मैं तो आत्मा हूँ। मोह को छोड़ें। मेरे -तेरे -पन को छोड़ें। अहंकार को छोड़ें। सब कुछ परमात्मा का ही तो है।

ये दुःख -सुख किसको महसूस होते हैं, चोट किसको लगती है ? हमारे अहंकार को। भगवान ने अर्जुन को तीन बातों से मुक्त कराने की कोशिश की है। ज्ञान को अपना कर, आत्मस्थित होकर, आत्मा के गुणों को समझकर, अहंकार और मोह छोड़ने के लिये प्रेरणा दी है अर्जुन समझता है, परन्तु उसके भीतर में जो राजसिक वृत्ति के संस्कार हैं, वे अभी निकले नहीं हैं। यही हालत हमारी है। हम रोज सत्संग में सुनते हैं कि यदि कोई आपके प्रति बुराई करता है तो उसको क्षमा कर देना चाहिये। परन्तु हमसे ऐसा होता नहीं है। दार्शनिक बातें कर लेना आसान है, परन्तु जब वास्तविकता सामने आती है तब हम क्या करें ?

अर्जुन की राजसिक वृत्ति युद्ध के समय खतम नहीं हुई थी। युद्ध -स्थल में रथ खड़ा है, युद्ध की सब तैयारियाँ हैं फिर भी वह भगवान से प्रश्न पर प्रश्न किये चला जा रहा है। भगवान कहते हैं कि व्यक्तिगत रूप में उतेजनाओं को सहन कर लेना वीरता है। इस धरती पर सहनशीलता एक महान गुण है (सत्संगी का यह श्रृंगार है) परन्तु छः प्रकार के व्यक्ति हैं, उनका मुकाबला करने में , उनका बध करने में कोई पाप नहीं है। समाज को कायम रखने के लिए यह ज़रूरी है कि जो तत्व समाज को बिगाड़ते हैं उनको समाज से निकालना या उनका बध करना या उनको किसी प्रकार से शारीरिक हानि पहुँचाना कोई पाप नहीं है। जैसे यदि कोई किसी की स्त्री का अपहरण कर लेता है, या राज्य पर कोई आपत्ति आ जाती है, या धर्म संकट आ जाता है - इस प्रकार की छः बातों पर भगवान ने छूट दी है।

दूसरी तरफ़ भगवान महावीर हैं। एक राजा उनकी सेवा में आता है और कहता है कि मेरा पड़ोसी राजा मुझ से अकारण लड़ता है, मुझ से ईर्ष्या करता है क्योंकि उसकी तुलना में मेरे पास सम्पत्ति कुछ अधिक है। भगवान कहते हैं इसमें कौन सी कठिनाई है ? तुम अपना सारा राज्य उसको देकर मेरे पास आ जाओ और भिक्षु बन जाओ। उस राजा के समझ में आ जाता है और वह अपना राज्य दूसरे राजा को दे देता है स्वयं भी प्रसन्न चित और दूसरा राजा भी प्रसन्न हो गया। ईर्ष्या खत्म हो गई। वह राजा सात्विक वृत्ति का था। उसके संस्कार सात्विक थे।

पर अर्जुन जो हमारा प्रतीक है और हम जो राजसिक वृत्ति लिये हुए हैं, क्या करें ? जिनको इस अध्यात्म के रास्ते पर चलना है उनको तो भगवान महावीर का रास्ता अपनाना ही होगा। सब कुछ बलिदान करना होगा। जिनको संसार का रास्ता चलना है, उनको अर्जुन का रास्ता अपनाना है। वो भी कोई साधारण या सरल रास्ता नहीं है, बहुत कठिन है।

संतों ने बीच का रास्ता बताया है। जो भगवान करते हैं वो हमारे हित के लिये है - इसकी गहराई में जाइए। यदि कोई तुम्हारा अपमान करता है और गुरुदेव कहते हैं कि यह तुम्हारे हित के लिये है तो उसे ठीक मान लो। दार्शनिक रूप में ये बातें अच्छी लगती हैं परन्तु जब कोई हमारा अपमान करता है तो हमारा मन बड़ा खराब होता है। ऐसा क्यों होता है ? अधिकतर तो हम महापुरुषों के उपदेश का पालन नहीं करते। यह बात हमारे मन और बुद्धि में समाई ही नहीं है कि जो कुछ होता है हमारे हित के लिये होता है। इसका अभ्यास करना होगा। पूज्य लाला जी महाराज की पुस्तक " अमृतरस " में लिखा है कि यह हमारे यहाँ का तप है। लानत, मलामत, अपमान, आदि प्रतिकूल भावों को स्वीकार करना - ये हमारे हित में है। हमारे यहाँ का तप है। जो इसको स्वीकार कर लेता है वह आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है। किन्तु यह बड़ा कठिन तप है।

संसार में जितनी बुराइयाँ होती हैं वे सब संस्कारों के परिणाम स्वरूप होती हैं। जो व्यक्ति यह साधना करता है और इस पर विश्वास करता है कि हे प्रभु ! जो आप करते हैं हमारे हित के लिये है, उसको कभी दुःख का भान नहीं होता। यही 'राज़ी -ब -रज़ा ' (यथा - लाभ- सन्तोष) की स्थिति है। अपनी गति को ईश्वर की गति में मिला देना। परन्तु यह बड़ा कठिन है। यही भगवान कृष्ण की रास लीला है।

लक्ष्य तो हमारा है उसकी (ईश्वर की) गति में अपनी गति को मिला देना। इसके प्रयास में हम समय -समय पर असफल भी होंगे लेकिन हमें घबराने की ज़रूरत नहीं है। इसके अभ्यास में हमें अज्ञान का त्याग करना होगा, इस ज्ञान को अपनाना होगा कि हर प्राणी में एक ही आत्मा काम कर रही है। जब यह सिद्धि प्राप्त हो जायेगी तब भीतर में से मेरा -तेरा -पन छूट जायेगा। इसका फल यह होगा कि यदि आपके साथ कोई बुराई करता है तो आप तुरन्त उसे क्षमा कर देंगे। अभी हमारा स्वभाव क्षमा करने का नहीं हुआ है क्योंकि अभी हम

अज्ञान की स्थिति में हैं ज्ञान के विकास के बाद परमात्मा के गुणों की सुगंधि फैलने लगती है। पहला गुण है क्षमा का। हमें दोनों बातों का ध्यान रखना होगा। जहाँ समाज का प्रश्न आता है, वहाँ भगवान के उपदेश का पालन करना होगा। जहाँ व्यक्तिगत प्रश्न है वहाँ संतों की बात माननी होगी। जैसा व्यक्ति है, उसका व्यवहार भी वैसा होना चाहिये। यदि आप सन्त बनते हैं तो पहले आपको सन्त -गति को अपनाना होगा। परन्तु जहाँ समाज का सबाल आ जाता है वहाँ दीनता के उपदेश को नहीं मानना होगा। यदि समाज को कायम रखने के लिये कोई लड़ाई लड़नी पड़ती है, हिंसा का प्रयोग करना पड़ता है, तो वो पाप नहीं पुण्य है। यह धर्म संकट सबको आता है कि हम क्या करें ? यदि आपके गुरु आपके समीप हैं तो ऐसी परिस्थितियों में उनका परामर्श, उनका आदेश ले लेना चाहिये। जहाँ तक हो व्यक्तिगत हित के लिये हमें सहनशीलता तथा क्षमा का गुण अपनाना चाहिये। दया और करुणा का गुण अपनाना चाहिये। हमें अपने अहंकार को काबू में रखना चाहिये।

दीनता का दूसरा रूप यह है कि जो ईश्वर करे उसमें हम तृप्त रहें, सन्तुष्ट रहें और यह स्वीकार करने का अभ्यास करें कि जो कुछ हो रहा है हमारे हित के लिए हो रहा है। यह कहने को तो बड़ा सरल लगता है लेकिन व्यवहार में बड़ा कठिन है। जो इस परीक्षा में सफल नहीं हुआ वो आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता।

जो पुराने अभ्यासी हैं उन्हें दीनता का, ईश्वर की गति में अपनी गति मिलाने का, अभ्यास करना चाहिये। यह तभी होगा जब हम गुरुदेव के उपदेशों पर मनन करेंगे और उनका पालन करेंगे। गुरु नानक देव जी ने लिखा है कि व्यक्ति को मनन का अभ्यास करते रहना चाहिये। उन्होंने लिखा है 'सुण्यक ' यानी गुरु का, महापुरुषों का उपदेश सुनना, सत्संग में उपदेश सुनना। सुनने से साधक को परमगति मिल सकती है। साधक जब सुन कर मनन करता है तो उसका उद्धार हो जाता है। कोई साधना करने की, आँखें बन्द करने की ज़रूरत ही नहीं होती। ठीक है कि आँखें बन्द करके अभ्यास करने से अनुभूति होती है, परन्तु जैसा कि गुरुदेव कहा करते थे, यह ईश्वर की पूजा है। मन एकाग्र हो जाता है। मन की एकाग्रता से आप आत्मा का भी साक्षात्कार कर सकते हैं, मानसिक और शारीरिक शक्ति प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु जब तक इस पर मनन का रंग नहीं चढ़ेगा उस शक्ति का दुरुपयोग भी हो सकता है।

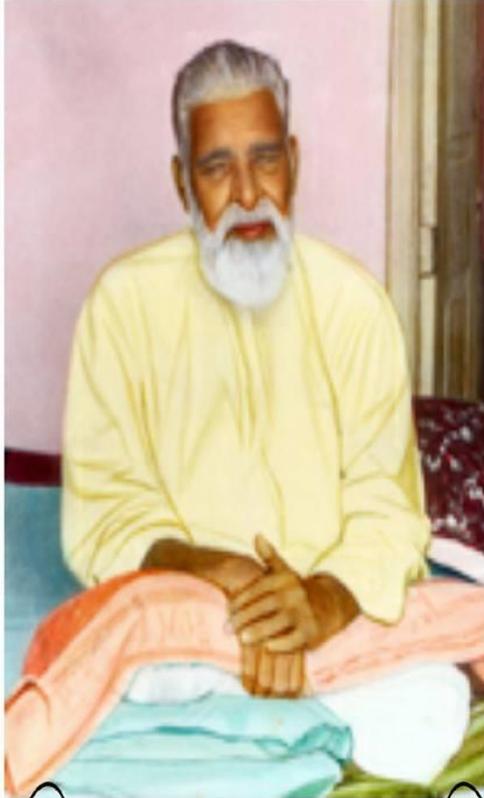
सहनशीलता महान तप है। लोगों की बातें, अपमान, सहन करना, दुःख सुःख सहन करना - ये हमारे यहाँ का तप है और यही दीनता है। मेरे साथ इसी तरह एक घटना हुई। हम गुरु महाराज के साथ सत्संग में फ़तेहगढ़ गये हुए थे। उस सत्संग में कुछ ऐसे लोग थे, तत्व थे, जिन्होंने गुरु महाराज के प्रति कटु शब्द, अप शब्द और जो कुछ भी कह सकते थे, उन्होंने कहा, कहते गये। गुरु महाराज के साथ मैं ही अकेला सत्संगी था। गुरुदेव नहीं बोले, मौन रहे। परन्तु मुझसे बर्दाश्त नहीं हुआ। कुछ देर सुनता रहा, परन्तु मेरे खून में जोश आता गया। आखिर मुझसे नहीं बरदाश्त हुआ। मैंने बोलना शुरू कर दिया। काफी उपद्रव हुआ। जब सब खत्म हो गया तब मैंने गुरु महाराज से पूछा कि मैंने ऐसा किया, कहीं गलती तो नहीं हो गई। उन्होंने कहा - " सरदारजी, आपके लिये यही योग्य था। भरी मजलिस में लोग आपके गुरु का अपमान करें और शिष्य उसको सहन करें, यह पाप है"। गुरुदेव की हालत यह थी कि उन्होंने एक शब्द भी अपने मुख से नहीं निकाला। आगे चलकर मुझे भी वही करना है जो कुछ गुरुदेव ने किया। वह भी अपने लिये चिन्ता नहीं करते थे परन्तु सत्संग के लिये यदि कोई भला - बुरा कहता था तो वह अनुशासन को पहले रखते थे। अनुशासन के लिये वे जो भी योग्य कदम होता था, उठाते थे। ऐसा कदम उठाना भी दीनता का रूप है क्योंकि सत्संग को बचाना है। व्यक्तिगत हानि की कोई चिन्ता नहीं है, परन्तु जहाँ समाज की हानि होती है वहाँ धर्म, अनुशासन पहले है। जहाँ तक हो सके दीनता को अपनायें, संसार के दुःख -सुःख हज़म करें। यही हमारे यहाँ का तप है और यही दीनता है। जब तक ये बातें हमारे व्यवहार में नहीं उतरतीं, तब तक हमारे भीतर में सच्ची शान्ति नहीं उपजती। ईश्वर का मिलना क्या है ? वो तो हमेशा आपके साथ ही है। भीतर में जैसे ही दीनता होगी, शान्ति होगी, आप ईश्वर के बड़े ही समीप होंगे। जैसे ही मन में संकल्प -विकल्प उठें, क्रोध आया, अहंकार आया, या दूसरे अवगुण आये, आप ईश्वर से कोसों दूर हो जाते हैं।

यह 'नाम' क्या है। नाम का मतलब है - ईश्वर से प्रेम करना। नाम का दूसरा रूप है -प्रेम। प्रेम कहाँ ठहरेगा ? जहाँ कोई अवगुण नहीं होंगे। अवगुण दीवारें हैं। इन दीवारों को प्रेम से, 'नाम' से तोड़ना है। भगवान कृष्ण ने अर्जुन की मोह की दीवारें तोड़ने का प्रयास किया। गीता के जितना उपदेश हैं, वे मोह और आसक्ति को तोड़ने के लिये हैं। आसक्ति टूट जाने पर ईश्वर और आपमें क्या अन्तर रह जाता है ?

हमें मन को एकाग्र करने के साथ-साथ मनन द्वारा सदगुणों को अपनाने का प्रयास भी करना चाहिये। जब तक हमारे भीतर में सदगुण नहीं आयेंगे, सदव्यवहार और सदवृत्ति नहीं बनेगी, साधन से मन एकाग्र तो हो जायेगा परन्तु हमारे भीतर में सात्विकता और सत्यता न होने के कारण आत्मा का साक्षात्कार नहीं होगा। हमें सच्चा सुख नहीं मिलेगा। वो सुख जिसकी प्राप्ति हो जाने पर संसार, असार मालुम होता है, हमें तभी मिलेगा जब भीतर की दीवारें टूट जायेंगी। दीवारें तोड़ने का सरल उपाय है-दीनता। तो दीनता अपनायें, सदगुणों को अपनायें, अपने गुरुजनों की वाणी पर मनन करें और उसके अनुसार अपना जीवन बनायें।

ईश्वर आप सबका भला करें।

0000000000



बिना रहबर (पथ प्रदर्शक) को साथ लिए, बिना गुरु किए रास्ता तय नहीं होता. निर्गुण का ध्यान कैसे हो सकता है? इसलिए उस महापुरुष की शरण लो जिसने ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया है. उसका स्थूल शरीर मंदिर है जिसमें निर्गुण परमात्मा विराजता है. उससे प्रेम करने से, उसका ध्यान करने से तुम्हें भी आत्मदर्शन होगा. इसलिए हमारे यहाँ के तरीके में गुरु धारण करते हैं. गुरु की पूजा को ही मुख्यता देते हैं. गुरु और ईश्वर को दो नहीं मानते.

महात्मा डॉ. श्रीकृष्ण लाल जी महाराज

दीनता, उदारता और सहनशीलता - इन तीन सद्गुणों को अपनायें

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

सत्संग में आकर सतगुण उत्पन्न होने चाहिए। सत्संग में आकर या घर में बैठे हुए हमने आराधना-साधना की किन्तु हममें दिव्य गुण उत्पन्न नहीं हुए तो, क्षमा कीजिये, ऐसी साधना का कोई विशेष लाभ नहीं होगा। पूज्य गुरु महाराज फ़रमा रहे हैं कि अपने बलबूते कुछ नहीं होता। जिन पर ईश्वर की कृपा होती है उनमें सेवा की भावना उत्पन्न हो जाती है। पहला गुण है - नदी की तरह। नदी का जल बहता रहता है, धरती को पानी देता है, उसमें खेती उपजती है, संसार को लाभ पहुँचता है, लेकिन कुछ नहीं माँगती धरती। गंगा का जल बहता है, बह रहा है, लोग आते हैं, स्नान करते हैं, पवित्र होते हैं। अमृत जल लेते हैं और और घर भी लौटते हैं तो गंगा जल लेकर आते हैं। ऐसा गुण साधक में होना चाहिए कि वो अपना मन, अपना धन, अपना सब कुछ ऐसे ही संसार की सेवा में अप्रयास ही लगाता रहे। अर्थात् संसार को बिना किसी आशा के सब सुख पहुँचाता रहे। नदी की तरह यह उसका सहज स्वभाव हो जाये। तब उसे समझना चाहिए कि वह सच्चा जिज्ञासु है। जब तक वह दूसरों को सुख न पहुँचा सके, उसे नींद नहीं आवे। उसकी ऐसी सहज स्थिति हो जाये।

दूसरा गुण पूज्य गुरु महाराज ने बताया है - सूर्य की तरह। गुरुवाणी में भी आया है - 'ब्रह्मज्ञानी ते कछु बुरा न भया , ' अर्थात् उससे किसी का बुरा नहीं होता। अपितु उससे दूसरे का भला ही भला होता है। उसके मस्तिष्क में, उसके हृदय में, किसी के बुरे की बात आती ही नहीं। उसको सभी परमात्मा-स्वरूप दिखते हैं और परमात्मा स्वरूप देखकर वो सबकी सेवा करता है। दूसरा गुण है सूर्य की तरह उदारता। सूरज सबको दर्शन देता है। सब पर अपना प्रकाश डालता है। अपनी रौशनी प्रदान कर रहा है, सब पर गरिमा डाल रहा है। परन्तु वह किसी से कुछ नहीं माँग रहा। कोई पापी है, कोई पलीत है, सूर्य सब पर एक जैसी गरिमा बाँट रहा है, देता रहता है और देता रहेगा। गंगा नदी भी ऐसी ही बहती है। सूर्य भगवन भी ऐसे ही प्रकाश देते हैं, गरमी प्रदान करते हैं। सूर्य की गर्मी न हो तो संसार का विनाश हो जाये। संसार कायम

है तो सूर्य की गर्मी के कारण। इसी तरह सच्चे जिज्ञासु में भी उदारता होनी चाहिए। बिना प्रयास के उदारता, ऐसा उसका सहज स्वभाव होना चाहिए।

शेख फ़रीद जी कहते हैं जो तुम्हें गाली दे तुम उसके घर जाओ, उसके घर जाकर उसके पाँव दबाओ। साधना केवल आँख बन्द करना नहीं है। आँख बन्द करना तो पहली कक्षा है। हम लोग काफ़ी आगे बढ़ चुके हैं। हमें सोचना चाहिए, स्वनिरीक्षण करना चाहिए, कि अब तक हममें क्या परिवर्तन आया है ? क्या हमारा स्वभाव नदी की तरह हो गया है ? क्या हम जीवदानी सूर्य भगवान जैसे बन गए हैं ? अभी कुछ भी नहीं हुआ है। मन्ज़िल बहुत दूर है। भाई लोग कहते हैं, मेरा मन नहीं लगता, मेरा मन नहीं लगता। सच कहते हैं, वे झूठ नहीं बोलते। हमने अभी तक ईश्वर के गुणों को नहीं अपनाया है। पूज्य गुरुदेव बेशक जिज्ञासुओं के गुणों का वर्णन कर रहे हैं, वास्तव में ये परमात्मा ही के गुण हैं और परमात्मा की ही कृपा से जबतक ये गुण जिज्ञासु में नहीं आते, तब तक वो अधिकारी नहीं बनता। "ब्रह्मज्ञानी पर-उपकार" - उसके भीतर में उमंग होती है कि वह किस तरह दूसरे का भला करे। यह उसका सहज स्वभाव होता है। वो ऐसा बन कर नहीं करता, वो उसकी वृत्ति में है। जैसे नदी की वृत्ति है, इसी तरह की सहज-स्थिति जिज्ञासु की बन जाये।

तीसरा गुण बताया है धरती का। जिज्ञासु में धरती के समान सहनशीलता होनी चाहिए। ब्रह्मज्ञानी के प्रति लिखा है कि ब्रह्मज्ञानी का भी ऐसा स्वभाव होता है जैसा धरती का। बड़ी सहनशीलता है धरती में। हम धरती पर किसी भी प्रकार के जूते पहन कर चलते हैं, धरती कुछ नहीं कहती। हम गन्दगी डालते हैं, धरती रोती नहीं, पाँव डालते हैं, धरती रोती नहीं। धरती का जो यह स्वभाव है वो महान, ऊँचे से ऊँचे जानियों का स्वभाव है। धरती और अग्नि का सहज स्वभाव है। बड़ा कठिन है। हमें कोई ज़रा सी बात कह देता है तो हमें आग लग जाती है। तो यह साधना नहीं है। हमें ये अभ्यास करना होगा। कोई हमारे पर पत्थर फेंकता है, हमें गाली देता है, हमसे लड़ाई करता है - हमारे में सहनशीलता होनी चाहिए। हमारे देश में स्त्री और धरती दोनों की पूजा होती है, क्योंकि दोनों में ही सहनशीलता का गुण है। वर्तमान में, बहनें क्षमा करेंगी, वो अपना यह गुण भूलती जा रही हैं और पश्चिम की जो नई संस्कृति आ रही है उससे प्रभावित होती जा रही हैं। स्त्री का हमारा जो रूप था, ईश्वरीय रूप था। हमें माता कहा जाता था हमारे गुणों के कारण। माँ के रूप में हमारी पूजा होती थी। और वो माँ आज

कहती है - 'मेरा भी समाज में कोई स्थान है' ? बहनें अपने महान गुण को छोड़कर छोटी सी संकीर्णता (narrow mindedness) की ओर बढ़ रही हैं। बुरा मत मानिये। हमारे यहां प्रत्येक स्त्री माँ की पूजा होती थी। मन्दिरों में, गुरुद्वारों में, सब जगह, घर में तो होती ही थी। पर यह उनका दोष नहीं है। ये सभ्यता का प्रभाव इतने ज़ोर से, इतने वेग से आ रहा है। हम अपने ईश्वरीय गुणों को भूलते जा रहे हैं। ईश्वर की समीपता है हमारे में, हम उसको कूड़े करकट में फेंक रहे हैं।

तो पूज्य गुरुदेव कह रहे हैं कि सच्चे जिज्ञासु के भीतर तीन गुण होने चाहिए, नदी की तरह दूसरों की सेवा करें, सूर्य की तरह दूसरों को लाभ पहुँचायें, उनको जीवन दान देना। और धरती की तरह सहनशीलता। बिना गुणों के भक्ति नहीं होती। चाहे ज्ञान की साधना करें, चाहे प्रेम की साधना करें, बिना गुणों के कोई भी, किसी भी प्रकार की साधना सफल नहीं हो सकती। यहाँ भक्ति का अर्थ है - साधना। " बिन गुण भक्ति न होई " - इतने ऊँचे गुण होने चाहिए तब हम भक्ति के अधिकारी बनते हैं। आज सुबह किताब खोली, मेरी आँख चौंधियाने लगी कि ये क्या लिखा है ? अपने आपका स्वनिरीक्षण करके देखा, ये तो बिलकुल कोरा है, कोरा ही कोरा। कहाँ वो गुण हैं धरती जैसा, कौन गुण है नदी जैसा, कौन गुण है सूर्य जैसा ?

भगवान् श्रीकृष्ण भी गीता में अर्जुन को सूर्य का ही उदाहरण देते हैं। तू कर्म कर जैसे सूर्य भगवान् कर्म करते हैं, मैं भी कर्म करता हूँ, मुझे कर्म का फल नहीं लगता। सूर्य भगवान् भी इतनी सेवा करते हैं, इतने कर्म करते हैं, उनको भी कर्म का फल नहीं मिलता। तू भी कर्म कर लेकिन कर्म के फल की आशा मत रखा आशा- कर्म का प्रभाव तुम्हारे ऊपर नहीं पड़ना चाहिए। बुरा हो चाहे भला हो। ये जीवन की एक साधना है। हम जो भी कर्म करते हैं, आशा रखके करते हैं। किसी ने अच्छी बात कह दी, प्रसन्न हो जाते हैं, किसी ने गलत बात कह दी, अयोग्य बात कह दी, हमें तुरन्त गुस्सा आ जाता है। ये तो साधना नहीं है। हमारी मन्ज़िल अभी बहुत दूर है। घबरायें नहीं। चलते जाइये, चलते जाइये। परन्तु आदर्श हमको यही रखना होगा। ये स्थिति जब ईश्वर के पास से आ जाती है, तब परमात्मा का मिलन, सच्चे पति का मिलन सच्चे माँ के दर्शन तुरन्त हो जाते हैं। हमारे चित्त में अभी भी बड़ी मलिनता है, बड़ी कठोरता है। मुलायमियत नहीं है, दृढ़ता नहीं है। लोग-बाग़ समझते हैं आँखें बन्द कर लीं, यही काफ़ी है। मैं बार-बार कहता हूँ, सतगुणों को अपनाएं। जब तक सतगुणों को नहीं अपनायेंगे, सतगति नहीं आएगी,

मन में कोमलता नहीं आएगी। कोमल मन स्थिर हो सकता है, स्थूल मन स्थिर नहीं होता। ये कोमल होकर ही आत्मदेश में प्रवेश पा सकता है उससे पहले नहीं। ये अधिकारी तभी हो सकता है जब इसमें कोमलता आती है। पुष्प की तरह इसको खिलना चाहिए। अप्रयास सबको ही सुगन्धि प्रदान करनी चाहिए। जिप्सा में, वाणी में, कठोरता नहीं आनी चाहिए, कठोरता तो होनी ही नहीं चाहिए हमारे व्यवहार में। जैसे पूज्य गुरु महाराज ने फ़रमाया है - नदी की तरह दीनता, सबकी सेवा करना, सूर्य की तरह सबको गर्मी, सबको जीवन प्रदान करना और संसार में रहकर दुःख-सुख, दूसरों की बातें, सबको सहन करना यानी सहनशीलता - ये गुण हमारे भीतर में हमारे व्यवहार में आने चाहिए।

आज इन तीन बातों पर ही मनन करें घर जाके और आगे के लिए प्रयास करें। मुझे आशा है, विश्वास है। आप लोग भूलेंगे नहीं इन तीन बातों को, इनमें परिपक्वता आएगी। देर लगेगी। चिन्ता मत कीजिये। आपसे कोई बुला-भरा नहीं कहेगा। परन्तु अभ्यास आज से ही शुरू कर दीजिये। मैं पिछले कई महीनों से बार-बार कहता आ रहा हूँ, कि परिवार में एक दूसरे से सहयोग होना चाहिए। जो व्यक्ति परिवार में सफल हो जाता है वो संसार में भी सफल हो जाता है। पूज्य गुरु महाराज ने ये जो तीन गुण लिखे हैं प्रेमी भाइयों के लिए, विशेषकर जो पारिवारिक जीवन व्यतीत करते हैं उनके लिए लिखे हैं। मुझे आशा है कि आपलोग इन गुणों को अपनाकर मुझे आभारी बनायेंगे।

गुरुदेव आप सबका कल्याण करें।

000000000000

पूज्य गुरुदेव परमसंत डॉंकरतारसिंह जी द्वारा द्वारा लिखित पुस्तक - 'प्रेम का सूर्य' से साभार।

ध्यान

(ब्रह्मलीन परमसंत डॉंश्रीकृष्ण लाल जी महाराज)

जो व्यक्ति (गुरु) परमात्मा की तरफ ध्यान लगाए हुए है, उससे मिलकर दूसरा व्यक्ति (शिष्य) भी उतना ही तेजस्वी हो जाता है, ऐसे चमकने लगता है जैसे असली सूरज चमक रहा हो। (जो एक वक्त में मन के स्थान पर रहता है उनके सम्पर्क में आकर अब आत्मा के स्थान पर आ गया) अगर हमारा सम्बन्ध भण्डार (परमात्मा) से हो जाये तो हम बहुत शक्तिशाली हो जायेंगे। जो शक्ति से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, वह गुरु है। जिन लोगों का विश्वास ईश्वर पर है वह सत्संगी हैं और वही इस हल्के (दायरे) में बैठने के अधिकारी हैं। जो व्यक्ति मन या माया के साथ पर है उनकी सत्संग में बैठने से हानि होने की आशंका रहती है। साधन मन का है, आत्मा एक है और सब जगह एक ही काम कर रही है। एक सूरज है लेकिन उसका रौशनी सब पर पड़ती है। परमात्मा का माइन्ड (धार) एक है। जब सब माइन्ड (धार) मिल जाते हैं तो सब पर उसका असर पड़ता है। आगे चलकर सब mind (धार) एक हो जाते हैं। जिस तरह दो विरोधी लक्ष्यों के साथ व्यक्ति ऊपर नहीं चढ़ सकता उसी तरह हल्के (दायरे) में एक के चरित्र का दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। हल्का ऐसी तरह बांधते हैं जो स्थान सबसे अन्दर हो, जहाँ शोर न हो। उसके बाद उन लोगों को बैठने की इजाज़त देते हैं जो परमात्मा को मानते हैं। इसको हुजूरी कहते हैं। हुजूरी का मतलब है कि हम सब परमात्मा को सब जगह देख रहे हैं। गुरु सबको हल्के के अन्दर कराता है। मॉनिटर्स (monitors) मदद करते हैं। मानीटर्स का काम है कि सब आदमियों के खांसी, खकार, खुजली को अपने ख्याल से रोक दें। सब लोग अपने ख्याल को गुरु में लगाते हैं और गुरु अपना ख्याल परमात्मा में। इस तरह bliss यानी परमात्मा का प्रेम गुरु अपने गुरु यानी परमात्मा के ध्यान में लगा कर नीचे की ओर फेंकता है। अभ्यासी सत्संग में ध्यान करते हैं। मन की हालत को देखते हैं, गुरु को देखते हैं। वाज़ यह सोचते हैं कि प्रकाश आ रहा है। इससे दुगना फायदा होता है। यह सत्संग है। अगर किसी को ख्यालात सताने लगे और ध्यान न जमता हो तो उसको उठकर हल्के से बाहर चला जाना

चाहिए। यह उस चीज़ का नाज़ुक सिलसिला है। यह सत्संग है। गुरु ऊपर से फ़ैज़ लाकर आपके ऊपर व हृदय में डालते हैं। अभ्यास में यह फ़ैज़ गुरु के द्वारा लिया जाता है। भक्त अपनी शक्ति गुरु में अनुभव करता है। इसीलिए भक्त में अभिमान नहीं होता। भक्त चाहे परमात्मा बन जाये परन्तु वह गुरु को नहीं छोड़ता। वह 'मैं' नहीं कहता और जो कहता है वह मन का गुलाम है। मन का साधन मुशिकल है। योग क्रिया करनी पड़ती है। सात पर्दे चीर कर आत्मा के नज़दीक आते हैं। लेकिन भक्तों (मुरीद या विशेष शिष्य) को केवल दो ही पर्दे चीरने पड़ते हैं। एक मन का दूसरा आत्मा का। गुरु में जिस्म व आत्मा है, प्रकाश आवेगा तो जिस्मानी गुरु का ध्यान जाता रहेगा। भक्त (मुरीद) को पर्दे भी नहीं चीरने पड़ते अगर उसको पूरा विश्वास अपने गुरु में है तो गुरु छः महीने में दर्शन करा देगा। बाकी उम्र में पुख्तगी ओर सैर होती है। गुरु फ़िदायी हो ओर मुरीद शैदाई हो। मुर्दे ओर मुरीद में सिवा जान के और कोई फ़र्क नहीं होता। जो मुरीद अपने को गुरु के हाथों पूर्ण समर्पण कर देता है उसका काम बहुत जल्दी बन जाता है।

सत्संग में द्रष्टा बन कर देखते रहते हैं कि मन की क्या हालत है। अगर हम दुनिया के काम द्रष्टा बन कर देखें, तो हम शीघ्र मोक्ष गति को प्राप्त होंगे। जो आत्मा का अनुभव कर लेते हैं वह अपने को मन या बुद्धि नहीं समझते बल्कि आत्मा (द्रष्टा) समझते हैं। वह दुनिया के सारे काम ऐसे करता है जैसे ड्रामा कर रहा हो। क्योंकि वह अपनी हस्ती को जानता है। यही ज्ञान है। यही ज्ञान यदि पुख्ता हो जाये तो इसे पूर्ण ज्ञान कहते हैं। यही सारे मज़हबों व धर्मों का सार है। इस तरह बैठ कर बिठाल कर जो साधन कराया जाता है उसे संतमत में ' सत्संग ' और सूफियों में हल्का कहते हैं। पहले सब तरह के आदमी सत्संग में आते हैं। फिर बाद में सब नियम (rule) में बंध जाते हैं। कुछ ख़ास लोगों की ओर इंगित करके आपने फ़रमाया अब मेरा आखिरी वक्त है ओर तुमको सम्भालना है इसलिए सख्ती करना है, इतने आदमियों में से यदि एक या दो आदमी भी बन गए तो बहुत काम हो गया। जहाँ अधिक आदमी होते हैं वहाँ व्यक्तिगत ध्यान नहीं दिया जा सकता। गुरु को मेहनत करनी पड़ती है। सोते वक्त वह अपने शिष्यों को तव्वजह देता है। इसमें फासले का सबाल नहीं होता। जो मुरीद जहाँ हैं उनको इससे फायदा होता है। सामने बिठाल कर तवज्जह देने से फायदा होता है। लेकिन इस तरह सोते समय जो तवज्जह दी जाती है उससे बहुत फायदा होता है। शमा जल रही है और यह निमंत्रण है कि आओ और फ़िदा हो जाओ। किन्तु दुनियादार दुनिया में फंसे हैं। जो उसके फ़िदायी हैं वे

खिंचकर चले आते हैं। वह प्रेम में मस्त हो जाता है तो शिष्य लोग उससे फ़ैज़ छीन लेते हैं, इससे मन का घाट बदलता है। यह हमारे यहाँ का फ़ैज़ का तरीका है। बाज़ लोग सामने बैठकर असर ग्रहण नहीं करते, वाज़ लोग करते हैं। जब तव्वजो आती है तब मन अन्दर की तरफ खिंच जाता है और उस वक्त आँख बंद करके उस तवज्जह को ग्रहण करना चाहिए। इससे फ़ैज़याबी होती है। जमात ज़्यादा होने पर यह नहीं हो सकता। अपने विश्वास से आपको फायदा हो जाये तो हो जाए मगर गुरु से फ़ैज़ नहीं आता। हमारे यहाँ का तरीका प्रेम का है। मुराद या फिदायी को अभ्यास नहीं करना पड़ता, बाकी लोगों को करना पड़ता है। फिदायी गुरु के हुक्म पर ही चलता है। ये फिदायी पैदायशी होते हैं। फिदाईयत और फनाईत कर्मों-ज़्यादा भी होती है। गलत society (समाज) में बैठने-उठने या वर्जित काम करने से कम हो जाती है। हमने जरा सा देख लिया कि अगर गुरुदेव ने जरा भी किसी चीज़ से ध्यान हटा लिया तो फिर उसका ख्याल भी नहीं आता। गुरु शुरू में आपका मन रखता है और आपके जैसी बातें करता है, लेकिन उसे आपके मन को ठीक करना है इसीलिए वह आपके मन को तोड़ता है। चाचाजी महाराज ने तहसीलदार साहब को सख्त लफ़्ज़ में कह दिया कि अगर मैं नौकरी में नहीं रह सकता तो आप भी इस कुर्सी पर नहीं बैठ सकते हैं। जब-जब तहसीलदार साहब ने आकर कुर्सी पर बैठना चाहा तब-तब कभी लड़के की बीमारी, कभी खुद बुखार आदि से पीड़ित होने के कारण कुर्सी पर नहीं बैठ सके। चाचा जी की बात सच हो गयी। तहसीलदार साहब को चाचाजी से माफ़ी माँगनी पड़ी। मगर जब गुरुदेव लालाजी महाराज को मालूम हुआ तो वह बहुत नाराज़ हुए और चाचाजी को सख्त सजा दी। कहा पानी लाओ और रात भर दरवाज़े पर खड़ा रखा और कहा अलीगढ़ चले जाओ। चाचाजी फतेहगढ़ से अलीगढ़ पैदल गए और जब लौट कर आये तो पूछा - लौट आये ? चाचाजी ने कहा - "जी" । गुरुदेव खामोश हो गए। इतनी सज़ा काफी न थी। एक दिन चाचाजी साहब को ज़ोर से जूता मारा और बोले - " फिर इस तरह जबान से बोलेगा ?" चाचाजी ने माफ़ी माँगी और फिर कभी ऐसी भूल नहीं की।

मुझे लालाजी व चाचाजी ने इज़ाज़त दे दी परन्तु तसदीक (पुष्टी) के लिए मौलवी अब्दुल ग़नी साहब के पास भेजा। मौलवी साहब तसदीक को टालते रहे। फिर मौलवी साहब ने कहा कि मैं इज़ाज़त तब दूँगा जब देख लूँगा और इसके चार साल बाद इज़ाज़त दूँगा। इसी तरह चिशितया खानदान में एक फ़कीर थे निजामुद्दीन उन्होंने ने एक मुरीद की इज़ाज़त तसदीक

करने के लिए मुइनुद्दीन चिश्ती के पास अजमेर भेजा। मुरीद साहब ने तसदीक के लिए जल्दी की तो मुइनुद्दीन चिश्ती ने इज़ाज़त देने से मना कर दिया।

“ गया शैतान मारा एक सज़दे के न कर ने में

अगर लाखों बरस सज़दे में सर मारा तो क्या हुआ ”

अभ्यास क्या है, क्यों कराया जाता है ? अभ्यास इसलिए किया जाता है कि गुरु से जो चीज़ मिले वह पुख्ता (स्थायी) हो जाये/ बद ऐतकादी इस चीज़ को दबाती है/ कस्व और अभ्यास से गुरु से मिली चीज़ बढ़ती है/ अभ्यास का मतलब यह है कि तुम अपने को तम से रज और रज से सत पर लाओ/ गुरु की मोहब्बत से आत्मा को शक्ति मिलती है/ अभ्यास से कोशिश करके मन को उस जगह पहुँचा दो जहाँ आत्मा नृत्य करती है/ मन को नीची जगह से उस जगह लाना अभ्यास है/ हमख्यालों (एकविचार वालों) के साथ बैठो/ सत्संग में आकर अगर ध्यान न लगे तो ख्याल करो कि गुरु सामने बैठा है और उससे फ़ैज़ की धारें निकल रही हैं/ आपके हृदय और शरीर को वह धारें प्रकाशित कर रहीं हैं/ इससे एक और अच्छी तरकीब ध्यान लगाने की यह है कि सोते समय अपना सर गुरु के कदमों में रखकर सो जाओ/ इस थोड़े से **concentration** (एकाग्रता) से रात भर फायदा होगा/ आपने सर गुरु के चरणों में रखा और गुरु ने आँख खोली तो वह चीज़ जिसकी आपको तलाश है बहुत जल्दी हासिल हो जाती है/ दुनिया मन को बार-बार खींचती है/ लेकिन अगर दुनिया के कामों के साथ-साथ अभ्यास रखोगे, सोते वक्त और सुबह उठकर गुरु का ख्याल करोगे तो बहुत जल्द फायदा होगा/ सुबह उठकर आँखों पर हाथ रखकर गुरु का ख्याल करने का तरीका बहुत पुराना है/

0000000

नाभि में छिपी कस्तूरी से अनजान मृग के समान भटको मत

(ब्रह्मलीन परमसंत डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

परमात्मा ने मनुष्य को अपने जैसा बनाया है। फ़ारसी में इसको कहते हैं ' अर्शख उल मुरक्का ' यानी सब से अर्शख (सब से बढ़िया)। परमात्मा ने सँसार पैदा किया परन्तु मनुष्य को अर्शख (सर्वोत्तम) रखा है। उसे अपने जैसा ही बनाया है। प्रभु तो सत, चित, आनन्द स्वरूप हैं। उन्होंने मनुष्य को भी अपने जैसा - सत, चित, आनन्द स्वरूप बनाया है। वास्तव में यही मनुष्य का वास्तविक रूप है। परन्तु आज प्रत्येक मनुष्य पागल जैसा हो रहा है। कोई ऐसा मनुष्य नहीं मिलेगा जो भगवान शिव की तरह शान्त हो, भगवान विष्णु की तरह शान्त हो - जो नाग शैया पर विराजमान हैं, परन्तु शांत हैं। यह है प्रभु का स्वरूप। और हमारी स्थिति यह है कि हम भीतर से जल रहे हैं। बहुत कम लोग हैं जो भीतर में शांत हैं। अधिकाँश मानव व्याकुल हैं, पागल हो रहे हैं।

भगवान ने जीव तो और भी उत्पन्न किये हैं परन्तु मनुष्य को सबसे अधिक बुद्धि दी है। किन्तु फिर भी मनुष्य उतना ही अधिक विचलित हो रहा है, पागल हो रहा है। ऐसा नहीं है कि मनुष्य को पता नहीं है कि उसका कर्तव्य क्या है, किस प्रकार से वह अपने निज-स्वरूप में, सत, चित, आनंद स्वरूप में, रह सकता है। परमात्मा ने तो प्रत्येक व्यक्ति को बुद्धि दी है, वह ऐसा कर सकता है परन्तु कर नहीं पाता। परमात्मा सब के भीतर में हिरण की नाभि में कस्तूरी की भाँति है परन्तु मनुष्य उसको पहिचान नहीं पाता। आपको कहीं दूर नहीं जाना है, वह तो आपके पास ही है, चौबीस घंटे हमारे पास ही रहता है। किन्तु परमात्मा की विचित्र लीला है कि वह आत्मा के रूप में निरन्तर हमारे भीतर में बैठा हुआ है पर हम उसकी अनुभूति नहीं कर पाते।

वे लोग भाग्यशाली हैं जिन के मन में यह समझने की भावना उत्पन्न होती है। जिनके हृदय में विरह के विचार उठते हैं, अज्ञान को दूर करके ज्ञान की तरफ बढ़ने का साहस होता है, वे भाग्यशाली हैं। परन्तु सब समस्याओं में उलझे हुए हैं। रोज़ ही पत्र आते हैं। भाई लोग बाहर से भी आते रहते हैं, यहाँ के लोग भी हैं। मुख्य तौर पर सबका एक ही कहना होता है कि - ' कब तक इस कीचड़ में फँसे रहेंगे हम ? हम प्रयास भी करते हैं परन्तु इस कीचड़

से निकल नहीं पा रहे हैं।' यह प्रायः सभी की समस्या है - मैं हूँ, आप हों, या अन्य कोई पुरुष हो। यह समस्या आज की ही नहीं है, आदिकाल से है।

जिन साधकों के भीतर में यह उत्कंठा लग गयी है, समझ लो कि वे परमार्थ के रास्ते के लिए अधिकारी बन रहे हैं। नहीं तो लोगबाग सुबह उठे, खाया-पिया, काम किया, रात को टीवी। देखा-सुना और सो गए। यही सबकी दिनचर्या बन चुकी है। ऐसे लोग कींचड़ से कैसे निकल सकते हैं? जिन के मन में यह चाहत आ गयी है कि - ' प्रभु, मोय कब गले लगाओगे ' - वे भाग्यवान हैं। परन्तु यह भाव केवल पढ़ें या सुनें ही नहीं, इसके लिए कुछ करें भी। ये शब्द स्वाभाविक और सहज रूप में हमारे हृदय से निकलें तो ठीक है।

महापुरुषों की वाणी बड़ी पवित्र वाणी होती है, उसके पढ़ने से भी प्रेरणा मिलती है। फ़रीद साहब फ़रमाते हैं कि,

" जिसके हृदय में विरह उत्पन्न नहीं होता उसकी गरदन काट देना चाहिए।" यह बहुत हद तक सही है, ग़लत नहीं है। हमारे मन में विरह उत्पन्न होता ही नहीं। फ़रीद जी का यह वचन या अन्य महापुरुषों के प्रवचन पढ़ लिए या कोई भजन या पवित्र वाणी पढ़ ली, इससे काम नहीं चलेगा। प्रत्येक मनुष्य के सामने एक चुनौती है कि तुम्हारी मृत्यु किसी भी समय हो सकती है। हमें मृत्यु से पहले अपने आपको निर्मल करना है, असली गंगा स्नान करना है - अर्थात् आत्मा का साक्षात्कार करना है। जब तक आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता, ईश्वर के दर्शन नहीं होते, तब तक हमारे मन की वृत्तियाँ (tendencies) भी खत्म नहीं हो सकतीं। हाँ, धीरे-धीरे कम हो सकती हैं।

परन्तु व्यक्ति चाहता है कि आज ही उसके संस्कार या वृत्तियाँ सब खत्म हो जाएँ। पर ऐसा हो नहीं पाता और वह निराश हो जाता है - कहता है- "हमें सत्संग में जाते-जाते पच्चीस-तीस साल हो गए पर उन्नति के आसार नज़र नहीं आते। " ठीक है, सत्संग का भी दोष हो सकता है, जो सत्संग कराता है उसका भी दोष हो सकता है। परन्तु हम स्वयं भी तो ज़िम्मेदार हैं। " मैं कौन हूँ, मेरा मन, मेरा अतीत क्या है ?" इसे अच्छी तरह समझियो। यह अतीत एक दिन का नहीं है। जन्म-जन्मांतरों के संस्कार हमारे चित्त पर अंकित होते रहे हैं और उन अंकित संस्कारों के परिणामस्वरूप हमारी वृत्तियाँ, स्वभाव, व्यवहार, इच्छाएं, राग-द्वेष

आदि पैदा होते हैं। इसलिए एक दिन में चित्त का निर्मल हो जाना असम्भव है। तब भी हमको अपनी विवेक बुद्धि से, जो परमात्मा ने हमें दी है, प्रयास जारी रखना चाहिए। कब शिखर पर पहुँचेंगे, इसकी चिन्ता न करें - चढ़ना तो जारी रखें। गुरु महाराज का कहना था कि इस रास्ते पर चले चलो, थकान नहीं आनी चाहिए। मंजिल कब हासिल होगी - एक जन्म में, दो जन्म में या दस जन्म में - इसकी चिन्ता मत करो। चले चलो और संजीदगी (गंभीरता) के साथ चलो। लगन के साथ, होश सम्हाले हुए, संत समान महापुरुषों की सोहबत करो और चलते चलो। एक कवि के शब्दों में -

" मंजिल मिले मिले, न मिले, इसका डर नहीं

मंजिल की जुस्तजू में, मेरा कारवां तो है ।"

सँसार के प्रति जितनी जल्दी थकावट आ जाये अर्थात् वास्तविक रूप से मन में विवेक और वैराग्य उत्पन्न हो जाये, उतना ही अच्छा है क्योंकि बिना वैराग्य और सतत अभ्यास के वह सूरज दिखाई नहीं देगा यानी आत्मिक ज्ञान उत्पन्न नहीं होगा। वह हमारे भीतर में है परन्तु विकसित नहीं हो रहा है। अर्जुन भगवान कृष्ण से यही प्रश्न तो करता है कि, " हे प्रभु ! मेरा मन मेरे क़ाबू में नहीं है, इसे कैसे वश में किया जाये?" यह प्रश्न केवल एक ही व्यक्ति या साधक का नहीं है। अर्जुन ने सारे विश्व का प्रतीक होकर भगवान से पूँछा था कि -"मेरा मन मेरे क़ाबू में नहीं आता, मैं क्या करूँ ।" गीता के दूसरे अध्याय में भगवान बता चुके हैं कि स्थितप्रज्ञ दशा में कैसे रहना चाहिए। वह क्या अवस्था है, उसके लिए क्या कुछ करना है? यह उपदेश अर्जुन सुन चुका था। तब भी यह उपदेश उसके भीतर में बसा नहीं है। वह आगे चलकर पूँछता है कि - भगवान, मैं करूँ क्या ? मैं अपने अतीत से मुक्त नहीं हो पा रहा हूँ। मेरे भीतर में राग-द्वेष तथा अन्य कमज़ोरियाँ हैं, मेरी इन्द्रियाँ भी कामनाओं में फंसी हुई हैं। मन इन्द्रियों का साथ देता है तथा बुद्धि की आवाज़ नहीं सुनता। यह सब बातें मुझसे नहीं हो पा रहीं हैं।"

अर्जुन सारा उपदेश तो सुन चुका है और उस समय उसे कुछ संतुष्टि भी हो चुकी है। जब भगवान ने ललकारा है और कहा है कि वह अपना कर्तव्य-कर्म करे, फिर भी वह यही बात करता है। अभी यह बातें उसके हृदय में जमी नहीं हैं। जमती कैसे ? उस प्रकार का आचरण

करके उसका स्वाभाव बने तभी तो जमें। बुद्धि के स्तर तक बात समझ में आ जाये, तो भी शुक्र है। परन्तु वह हमारे व्यवहार में भी आ जाये ऐसा हमसे नहीं होता। कितने दिन हो गए हमको पूजा-पाठ करते हुए, साधना करते हुए ? एक अक्षर भी तो नहीं बसा हमारे जीवन में, हमारे व्यवहार में।

इसी दशा को व्यक्त करते हुए अर्जुन भगवान से पूछ रहा है - क्या करूँ ? भगवान कितनी सरलता से कहते हैं, जैसे माता-पिता अपने बच्चे को समझाते हैं, उन्होंने उसे डांटा नहीं है। बड़ी ही वात्सलयमयी सरलता से भगवान अर्जुन को फिर समझाते हैं। महापुरुष डांटते नहीं हैं, वे संसारी लोगों को जानते हैं। वह भी इन बातों से, इन कमज़ोरियों से गुज़र चुके होते हैं। इसलिए वह हम पर नाराज़ नहीं होते, बड़े प्रेम से समझाते रहते हैं। भगवान भी उतनी ही सरलता से अर्जुन को कहते हैं - " प्रिय पार्थ, वायु तो मुठ्ठी में आ सकती है परन्तु यह मन वश में नहीं आ सकता। मन ऐसी वस्तु नहीं है जो जल्दी से वश में आ जाये। मन तो सारे अतीत का प्रतीक है, सारी इच्छाओं का भण्डार है। सारे राग-द्वेषों का, दोष-अवगुणों तथा चंचलता का प्रतीक है। जितनी बुरी या अच्छी आदतें हैं वे सब मिलाकर एक 'मन' शब्द में आ जाती हैं। तामसिक, राजसिक और सात्विक इन तीनों प्रकार के गुणों की मिलौनी माया कहलाती है। उसको चलाने वाला, उसका संवाहक, मन है। यह मन ही इन तीनों गुणों को विकसित या पोषित करता रहता है। इसी से मनुष्य तंग आ जाता है, पागल सा हो जाता है। अतएव, सबसे पहले कर्तव्य-कर्म करके इस मायावी मन को साधना अति आवश्यक है।

आप देखते हैं कि यदि अधिक विचार आवें तो रात को नींद नहीं आती और दिन में तो अनगिनत विचार आते ही रहते हैं। पूज्य गुरु महाराज कहा करते थे कि सड़क पर खड़े होकर देखो, प्रत्येक मनुष्य कुछ न कुछ बोल रहा है। उसके होंठ हिल रहे हैं। सब पागलों की तरह चले जा रहे हैं। यह सब मन ही की मनमानी चाल है। ऐसे मन को यदि चाहो कि तुम एक बार में ही काबू में कर लो, यह तो असंभव है। यह समस्या कोई नई नहीं है। यह आदि काल से है। जिन युगों की हम बहुत चर्चा करते हैं - सतयुग, द्वापर, त्रेता आदि - ये सब बातें तब भी थीं। राक्षस और देवता उन कालों में भी थे। भगवान राम और कृष्ण के समय भी ये बातें थीं और अब भी हैं। थोड़ा सा अन्तर हो सकता है कि सतयुग, द्वापर, त्रेता आदि में लोग अधिक सात्विक थे। परन्तु यह कहना कि तब तामसिक या रजोगुण नहीं थे - ऐसी बात नहीं

है। हाँ, आजकल कलयुग में तामसिक वृत्ति अधिक है। परन्तु साथ-साथ रजोगुण और सात्विक वृत्ति भी विद्यमान है। आभाव किसी का नहीं है।

हम सब अर्जुन की सन्तान हैं और यह चाहते हैं कि हमारा यह मन जो सारे अतीत के तीन गुणों का प्रतीक है, जैसा अर्जुन चाहता था, एक क्षण में क्राबू में हो जाए। इस मन को ही क्राबू में करने के लिए ही तो हम साधना करते हैं। भाई लोग बड़ी सरलता से स्पष्ट लिखते हैं कि साधना में केवल सुबह शाम दस-बीस मिनट बैठें या न बैठें या किसी दिन मन नहीं करता तो साधना नहीं भी करी। कई-कई दिन हो जाते हैं साधना नहीं करते। यह तो साधना नहीं है। कोई बताते हैं कि उनका काम ही ऐसा है कि वे साधना नहीं कर पाते। खास कर बहनें कहती हैं कि उन्हें समय ही नहीं मिलता। जो लोग इतना भी कर लेते हैं उनके लिए यह भी ईश्वर की कृपा है कि कुछ तो कर लेते हैं। जब तक मन नहीं सधता हम आत्मा के आयाम में प्रवेश नहीं कर सकते। किन्तु घबराने की कोई ज़रूरत नहीं है क्योंकि जब हम दीक्षा लेते हैं तब हम शपथ लेते हैं कि हम प्रयास करेंगे - धर्म का जीवन जीने का अधिकाधिक प्रयास करेंगे। ऐसा एक दम नहीं होगा यह गुरुजन भी जानते हैं इसलिए वे वही शपथ दिलाते हैं जो हम पूरी कर सकें यानी यथाशक्ति प्रयास करने की।

साधक के लिए पहला क़दम जो होना चाहिए वह है - अपने जीवन के लक्ष्य के प्रति सचेत रहना। उस ध्येय का ध्वज कभी नीचा नहीं होना चाहिए। हमारा आदर्श प्रति क्षण हमारे सन्मुख रहना चाहिए। किन्तु होता यह है कि हम बोलते समय, खाते-पीते समय, सारे दिन काम करते हुए उस आदर्श को भूल जाते हैं। हम उस आदर्श को अपने व्यवहार में, निजी बर्ताव में, परिवार या समाज के साथ व्यवहार में भूल जाते हैं। किसी को याद नहीं रहता उस आदर्श का मतलब कि हम परमात्मा को - या परमात्मा को जिस रूप में भी हम पूजा करते हैं, उस इष्ट को सदा याद रखें। हो सके तो उस रूप के साथ तदरूप होकर रहें। साथ-साथ वैराग्य और अभ्यास सतत चलता रहे जिसका उपदेश भगवान कृष्ण ने अर्जुन को दिया है।

जैसा कि पहले भी कहा गया है, वैराग्य शुरू होता है विवेक से। जब तक कि विवेक पक्का नहीं होगा, वैराग्य कभी दृढ नहीं हो सकता। महापुरुष थोड़े से शब्दों में बहुत कुछ कह जाते हैं। इसलिए उन्होंने 'पहले वैराग्य और अभ्यास' ही बताया है सारी ज्ञान-साधना नहीं

बताई है। विवेक, वैराग्य, ज्ञान और मोक्ष - इन सब का भेद नहीं बताया है। वैराग्य शब्द में बड़ा कुछ छिपा है। वैराग्य का मतलब यह नहीं कि दुनिया से, या घर से नाराज़ हों तो इसे त्याग कर कहीं निकल जाएँ। यह तो वैराग्य नहीं, क्रोध है। यह अपने प्रति आघात है। अपने आप फांसी पर चढ़ने की बात है। क्रोध नहीं आना चाहिए। दूसरे पर भी क्रोध नहीं आना चाहिए। क्रोध जब भी आये अपने आप पर ही आये। 'अपने आप' का मतलब है कि यह सोचें कि आखिर मेरा संतुलन क्यों बिगड़ गया। क्रोध का मतलब यह नहीं कि दीवारों के साथ माथा पीटें। होश में आएं और सोचें कि मैंने संतुलन क्यों खो दिया ? उसका कारण ढूँढ़ें और स्वयं को संतुलन में ले आएं। यह विवेक है - हँस गति है।

हँस क्या करता है ? वह दूध पी लेता है, पानी छोड़ देता है। मोती चुन लेता है, सीप को छोड़ देता है। मनुष्य को हँस-गति पाने की प्रेरणा दी जाती है। परन्तु मनुष्य का स्वभाव प्रायः यही है कि वह दूध को छोड़ देता है, पानी पी लेता है। नेकी को छोड़ देता है, बुराई को जल्दी सीखता है। आप कहीं बैठ जाइये और देखिये कि चार आदमी बैठे हुए क्या बातें कर रहे हैं - निन्दा ही निन्दा, सब एक दूसरे की आलोचना, प्रतिक्रिया कर रहे हैं। यह पार्टी खराब है, वह लीडर बुरा है, यह संत खराब है, यह मेरे परिवार के लोग खराब हैं, आदि-आदि। जब तक ऐसा करते रहेंगे तब तक वे अपने मन को अशुद्ध करते रहेंगे। जितनी कमाई की हुई होती है सब चली जाती है। ऐसा करने से गर्क हो जाती है।

आपको यदि आलोचना करनी है तो अपनी करो। दूसरों की निन्दा मत करो। जो आपकी निन्दा करता है वह आपको सतर्क करता है ताकि सतर्क होकर आप अपनी बुराइयों को दूर कर सकें। कबीर साहब इसलिए कहते हैं कि निन्दक को अपने आँगन में बिठाओ। " निंदो, निंदो, मोको निंदो " जितनी मेरी प्रतिक्रिया होगी, जितना मेरा अपमान होगा उतना ही मैं अपने आपको जानने की कोशिश करूँगा और मैं सत्यता की ओर बढ़ूँगा। अपनी बुराइयों से मुक्त होने के लिए बहुत कुछ करना होगा, केवल सिद्धांतों से कुछ नहीं होगा।

संक्षिप्त रूप में, जैसा भगवान् ने कहा है निवेदन करता हूँ - विवेक धारण करो, बोलने में, खाने में, देखने में, सब बातों में विवेक धरो। कुछ भाई कहते हैं कि - "हमारी परिस्थितियां ऐसी हैं कि हम मज़बूर हो जाते हैं। विवेक कैसे धारण करें। मैं व्यापारी हूँ, व्यापार

करता हूँ, जिसमें बहुत सारी बुराइयाँ करनी पड़ती हैं। कहाँ जायेगा मेरा विवेक। सत्यता को अपना नहीं सकता, उसके लिए हिम्मत चाहिए। हिम्मत मेरे में है नहीं। यह डर लगता है कि मैं रोटी कहाँ से खाऊंगा।" वास्तव में हमें ईश्वर में विश्वास नहीं है। विवेक धारण करना मुश्किल तो बड़ा है। विवेक का मतलब है सत को धारण करना, असत को छोड़ना। हमारा भोजन, खान-पान यदि बुरी कमाई को है, बुरे विचारों और ग़लत काम करके मिला है तो हमारा हृदय निर्मल कैसे होगा ? यह दो -चार-दस मिनिट बैठना तो ठीक है - परमात्मा कुछ तो कृपा करते हैं [परन्तु इससे कुछ होने को नहीं है।] मैं जब आपको कह रहा हूँ तो पहले स्वयं अपने आपको कह रहा हूँ। मुश्किल तो बहुत है, इससे मैं आपसे सहमत हूँ। मेरी सहानुभूति है आपके साथ। बड़ा समय चाहिए विवेक पर कहने के लिए।

जब विवेक सध जाता है तो वैराग्य अपने आप सधने लगता है। अर्थात् विवेक द्वारा हम उन बातों को अपनाये जो साधना में हमें सहयोग देती हैं और शेष को छोड़ते चलें। तो हम सन्यास आश्रम में प्रवेश कर सकते हैं। सन्यास आश्रम का मतलब सर मुंडा लेना या गेरुए रंग के कपड़े पहन लेना नहीं है। सर को मूँड़ने का मतलब है कि एक भी इच्छा नहीं रहे। सँसार के साथ हमारा मोह टूट जाये, निर्मलता आ जाये। गेरुवा रंग आत्मा का प्रतीक है, परन्तु हमें सचमुच आत्मरत होना है, भीतर में भी - केवल बाहर में ही नहीं। मगर हममें अभी भी परिपक्वता नहीं आयी है। ज्ञान तो तब शुरू होगा जब आत्मा की समीपता मिलेगी। अभी भी मन धोखा दे सकता है। आत्मा के स्थान में स्थिर रहना, निरन्तर स्थिर रहकर प्रयास करते जाना है तब एक दिन ऐसा आएगा कि हमारा मोह छूट जायेगा। इस मोह को छोड़ने के लिए गीता में बहुत समझाया गया है। अहंकार छूट गया, इच्छाएं छूट गयीं, राग-द्वेष छूट गया - परन्तु सब से ज़्यादा मुश्किल आती है - 'मेरापन तेरापन' छोड़ने में।

अब उस सूरज रूपी सन्यासी को सिवाय अपनी आत्मा के, परमात्मा के, अन्य कुछ दीखता ही नहीं। विचार भी नहीं आते। सब जगह अपना ही रूप है, सब जगह आत्म-प्रकाश ही आत्म-प्रकाश है। उसके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, उसमें और परमात्मा में कुछ अन्तर है ही नहीं। बीच में जो 'मैं' थी वह भी खत्म हो गयी। वह सोचता नहीं है कि मैं और परमात्मा अलहदा हैं। 'मैं' है ही नहीं तो सोचेगा कौन ? परमात्मा ही परमात्मा रह जाता है। इसके आगे एक और स्थिति आती है, वह सबके साथ नहीं आती। जिनसे कुछ काम लेना होता है, प्रभु

उनको दुबारा संसार में भेज देते हैं और फिर सोद्देश्य जीवन-यात्रा संसार में दोबारा करवाते हैं। एक मार्ग-दर्शक बनना होता है। उनको ड्यूटी (उत्तरदायित्व) दिया जाता है कि वे दूसरों का भी उद्धार करें। यह परमात्मा का, प्रकृति का तरीका है।

कितना दयालु हैं परमात्मा ? आप तो स्वयं कर नहीं रहे परन्तु ऐसी महान आत्माओं के द्वारा करवाते हैं जो हमारे जैसे सामान्य व्यक्ति लगें, जो हमारी भाषा समझते हों, बोलते हों। हमारे यहाँ इन विभूतियों को अवतारी पुरुष कहते हैं, सुफ़ियों में कहते हैं 'हम-अज़-ओस्त' पहले 'हमओस्त' हो जाते हैं। 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं वही हूँ) जो यहाँ कहा नहीं जाता, केवल मौन में ही व्यक्त हो जाता है। प्रभु से एकता केवल मौन में ही व्यक्त होती है। एकता भी एकांगी स्वार्थ है। लोक कल्याण हेतु तो सेवा भी करनी चाहिए। ऐसा बन कर दूसरों को भी बनाने की कोशिश करनी चाहिए। वह 'हम-अज़-ओस्त' (मैं हूँ) ठीक है। जैसे लार्ड क्राइस्ट कहते हैं - "मैं और मेरे पिता एक हैं" ठीक है। वह प्रभु के बेटे बन कर या सेवक बन कर संसार की सेवा करते हैं।

पूज्य गुरु महाराज का उपदेश था कि यह यात्रा बड़ी लम्बी है परन्तु घबराएं नहीं। अपने लक्ष्य के ध्वज को उठाये चलें, बढ़ते रहें। छोटे-छोटे तथा प्रति दिन के कार्य करते समय भी कुछ बातों का ध्यान रखना चाहिए। सबसे प्रमुख खाना खाने की बात लें। जब हम खाना खाने बैठते हैं, कम से कम उस वक्त तो बातचीत न करें। स्वच्छ होकर, पूर्णतः शांत मन से, प्रभु के ध्यान में, शुद्ध कमाई का भोजन करें। यथासम्भव शाकाहारी, कम तला हुआ, और कम मिर्च-मसाले वाला आहार साधकों के लिए उपयोगी है। हमारा पुराना तरीका था कि प्रत्येक व्यक्ति अपना भोजन स्वयं बनाता था। नहा धोकर, स्वच्छ स्थान पर, स्वयं अपने हाथों से भोजन बनाना और ईश्वर की याद के साथ भोजन करना, बहुत सुन्दर रिवाज़ था।

अब आजकल जो हमारे घरों में हो रहा है वह बहुत हानिकारक है। जब हम भोजन बनाते हैं, उसके साथ जो कुछ हमारी आँखें देखती हैं, जो हमारे कान सुनते हैं, जो मन में भाव-भावनाएं होती हैं - वह सब भी हमारे भीतर में साथ जाता है, बल्कि उसका प्रभाव अधिक होता है। वह हमारी भीतर की शुद्धि नहीं होने देता। भोजन भी साधना का एक मुख्य अंग है।

ताकि हम अपने अन्तर को शुद्ध कर सकें। कहा जाता है कि : "जैसा होगा अन्न वैसा होगा मन "।

पुनः निवेदन कर रहा हूँ कि यह यात्रा लम्बी है - घबराएँ नहीं, चलते चलें, रुकें नहीं। पूज्य गुरु महाराज के शब्दों को भूलें नहीं। हमारी ये वृत्तियाँ एक दिन में खत्म नहीं होंगी। अपनी वृत्तियों से परेशान न हों। वह तो धीरे-धीरे ही खत्म होंगी। हाँ कोशिश करते रहें, कोशिश करते हुए आपका रोना भी ठीक है। ये रोना भी आपकी सहायता करेगा। भगवान के चरणों में बैठकर खूब रोना चाहिए। जब भी घबराहट आये उस वक्त खूब रोना चाहिए। पश्चाताप और विरह की पवित्र अग्नि में जलना चाहिए। इससे हमारा चित्त निर्मल होता है। इससे सुलभ कोई और तरीका नहीं है।

महापुरुषों की विरह की वाणी पढ़नी चाहिए। सभी भक्तों-संतों ने अपनी रचनाओं का सृजन प्रभु प्रेम की पीड़ा में निकलती हुई अश्रुधारा से किया है, जिसका पठन-पाठन, श्रवण-गायन आज भी हमें आत्मविभोर करने मंल सक्षम है। हमें भी पश्चाताप और प्रार्थना के आँसुओं से अपनी वृत्तियों को धोना है। फिर निर्मल होकर हिरण की नाभि में छिपी हुई कस्तूरी वाले सत्य को (अपने भीतर में समाये 'आत्मतत्व' को पहचान कर और भटकना छोड़कर परमार्थ पथ की साधना में लगे रहना है। 'सत्य' को जानकर इस मार्ग पर बिना निराशा या घबराहट के अटल विश्वासपूर्वक चलते रहें। 'मंज़िल' कभी न कभी तो मिलेगी ही।

गुरुदेव आपका कल्याण करें।

0000000000000000

नियमित साधना का महत्व

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

प्रत्येक व्यक्ति के समीप भगवान रहते हैं। कहते हैं, हृदय में भगवान हैं। शरीर के प्रत्येक अंग में जहाँ आत्मा की अनुभूति होती है, विश्व के कण -कण में परमात्मा विराजमान हैं। ऋषियों - महापुरुषों ने साधना करके शरीर के कुछ ऐसे हिस्से बताये हैं जो बाकी हिस्सों से अधिक संवेदनशील हैं। उनमें अधिक संवेदना है। वहाँ मन को एकाग्र करके प्रभु की अनुभूति सरलता से हो जाती है। प्रभु इतने समीप होते हुए भी हमें क्यों नहीं दीखते ? पूज्य गुरु महाराज (महात्मा श्रीकृष्ण लाल जी महाराज) को 5-6 वर्ष की आयु में कृष्ण भगवान के साकार रूप में दर्शन होते थे। हमें क्यों नहीं होते हैं?

हमारे भीतर में निर्मलता नहीं है। हम पिछले जन्मों के सँस्कारों का कूड़ा करकट भीतर में डालते रहते हैं। आँखों से बुरे दृश्य देखते हैं, कानों से बुराई सुनते हैं, निन्दा सुनते हैं, मुख से कटु वचन बोलते हैं। ये तीन मुख्य इन्द्रियाँ हैं जिनसे हम भीतर में और अधिक कूड़ा करकट इकठ्ठा करते हैं। पिछले सँस्कार तो हैं ही और भी नये पैदा होते रहते हैं। ये आत्मा पर आवरण हो जाते हैं। हम मन्दिर में जाते हैं। भगवान की मूर्ति के आगे परदा लगा होता है तो हम पुजारी जी से प्रार्थना करते हैं कि वह परदा हटा कर हमें भगवान के दर्शन करा दें। इसी तरह भगवान की मूर्ति तो हमारे भीतर में है, परदा हमने स्वयं लगा रखा है। हम इस परदे को क्षण - प्रतिक्षण और मज़बूत बनाते चले जाते हैं ।

यह परदा कैसे टूटे ? मनुष्य के हाथ में दो ही साधन हैं - एक प्रेमा भक्ति का, दूसरा ज्ञान का । ज्ञान के भी दो रूप हैं - एक बुद्धि से समझना व दूसरा अनुभूति से अनुभव करना । कुछ वेदान्ती ऐसे हैं जो कहते हैं कि सर्वभूतों में परमात्मा सर्वव्यापक है, कण - कण में है, भीतर में भी वही है, बाहर भी वही है। यह शरीर, मन , बुद्धि सब कुछ उसी का है। यही उसका विराट रूप है।

जो लोग इस तरह समझते हैं उनका कहना है कि अन्य कोई साधना करने की आवश्यकता नहीं है। यह कुछ हद तक ठीक है। यदि उपरोक्त बात समझ में आ जाती है, मन स्थिर हो जाता है, कुछ सोचता नहीं है, संकल्प -बिकल्प नहीं उठता और इस बात की समझ आ जाती है कि सब कुछ वही है, तो उनको कुछ नहीं करना है। प्रमाद, अच्छे या बुरे विचार मन में तरंगे उठाकर हमारी दृष्टि में दोष उत्पन्न कर देते हैं। दृष्टि इन स्थूल आँखों की (बाहर की) व दृष्टि मन की भी। इसीलिये हम भेदभाव देखते हैं, अच्छाई -बुराई, पाप - पुण्य देखते हैं। उनका कहना है कि यही माया है व माया को उत्पन्न करने वाला अज्ञान है।

इस अज्ञान के कारण ही हमें भेदभाव, द्वाेष, मेरा -तेरा -पन, दीखता है। यह गलत नहीं है। परन्तु प्रत्येक व्यक्ति न तो इसको भली -भाँति समझ पाता है और न ही उस बात को पकड़ कर अभ्यास में, अपने व्यवहार में उतार सकता है। इसीलिये ज्ञानियों ने, खास कर महर्षि रमण ने ऐसे वेदान्तियों को सावधान किया है कि जब तक हमारे भीतर में अनुभूति न हो तब तक साधन करते रहना चाहिये। यह नहीं है कि हमने समझ लिया कि " मैं ही ब्रह्म हूँ /" मुझसे ही इस श्रष्टि की उत्पत्ति है। यह तमाम धन -दौलत, सामान मेरा ही है और उधर उसी समझ -बूझ में सबका शोषण भी करते जाते हैं। तो यह तो सच्ची समझ - बूझ नहीं आई। अभी तक 'मैं ' यानी अहँकार काम कर रहा है। इसीलिये महर्षि रमण ने सावधान किया है कि जब तक अनुभूति न हो अर्थात् आत्मा के ऊपर के आवरण दूर न हों तथा यह स्थिति निरन्तर न रहे, सहज अवस्था न हो, यानी प्रतिक्षण भगवान के दर्शन न होते हों, तब तक साधना का त्याग नहीं करना चाहिये वे तो यहां तक कह जाते हैं कि यदि संन्यासी के हृदय में एक भी संकल्प उठता है तो वह संन्यासी नहीं है क्योंकि संकल्प उठने से आत्मा और माया के बीच परदा आ जाता है। यह साधन जो ज्ञानी, बुद्धिजीवी लोग हैं जिनकी बहुत ही तीव्र बुद्धि होती है, वे ही कर पाते हैं। इसके लिए नींव जो है वह शुद्ध चरित्र की है ।

दूसरा रास्ता 'प्रेमा भक्ति' का है। भक्ति। मुख्यतः नौ प्रकार की है परन्तु इसका और विस्तार किया गया है। उस विस्तार में हमें नहीं पड़ना है। ईश्वर -कृपा से यदि किसी महापुरुष का संग मिल जाता है और वे हमें अपना लेते हैं, तो यदि हम उनकी सेवा करें, उनके साथ प्रेम करें, जैसा कि भगवान कृष्ण ने गोपियों के साथ किया था। उसी प्रकार का व्यवहार यदि हम करें, तो हमें सफलता सरलता से मिल सकती है। इससे सरल साधना और कोई नहीं है।

विचार में भी भगवान हैं , वाणी में भी भगवान हैं , आँखों में भी भगवान बसते हैं , कानों में उनकी मधुर बांसुरी की ध्वनि सुनाई देती है । बुद्धि में भगवान हैं , हृदय में भगवान हैं , रोम -रोम में भगवान हैं । ये कैसे डोलते हैं ? जैसे **सूरदास** जी ने बसाया है। भगवान उँगली छोड़कर तनिक दूर होते हैं तो सूरदास जी क्या कहते हैं -- कहाँ भागोगे ? यह शारीरिक प्रेम नहीं, बहुत उच्च कोटि का प्रेम है । भगवान मैंने आपको आपने हृदय में बसा लिया है। हृदय से निकल कर कहाँ जाओगे ? आप तो मेरे अंग - अंग में ही समाये हुए हैं। ऐसी प्रीति है जो तोड़े न टूटे, छोड़ी न छूटे। क्या है यह आपकी लीला? पर आप कहाँ जायेंगे ? इस साधना के लिए नारद जी के भक्ति - सूत्र में जो मुख्य बातें बतलाई हैं वे हैं -- अपना सर्वस्व निछावर कर देना, अपनी कोई इच्छा और कोई आशा न रखना।

कोई व्यक्ति ऐसा नहीं है जिसके भीतर में कोई इच्छा न हो। कहने में बड़ा सरल लगता है परन्तु इच्छा रहित बनना तो भगवान बुद्ध बनना है। आशा रहित होना है, अमर बनना है । " *राज न चाहूँ मुक्ति न चाहूँ, मन प्रीति चरण कमला रे* " मुझे राज नहीं चाहिये, संसार की वस्तुएँ नहीं चाहिये । हम सबसे उत्तम वस्तु मुक्ति भी नहीं माँगते। भगवान इस धरती की रज चाहिये। मोह न हो, संसार की वस्तुओं के साथ प्रेम न ह , चिपकाव न हो। त्याग की भावना हो, भगवान के चरणों के साथ प्रेम हो । सिवाय प्रभु के चरणों के अन्य किसी के साथ लगाव नहीं । मेरा मुझ में कुछ नहीं -- यह शरीर तेरा , मन तेरा, धन तेरा, संतान तेरी, सब कुछ तेरा । यहाँ तक कि मेरा जो भाव है, आचरण, बुराई -भलाई , प्रभु, ये सब तेरी ही हैं, मेरा कुछ नहीं है। वह यह भी अभिमान नहीं करता कि मैं शुद्ध कर्म करता हूँ कुछ नहीं, केवल प्रभु के द्वार का कुत्ता बना रहूँ । वह धनी का द्वार नहीं छोड़ता। ऐसी भक्ति चाहता है कि यह द्वार न छूटे। उसे अभिमान नहीं , सिर्फ मान है कि प्रभु मेरा है, मेरा वह पति है, मेरा वह पिता है, मेरा वह सर्वस्व है।

अधिकारी बनने के लिए और भी कई बातें आवश्यक हैं, जैसे कुसंग का त्याग करना, बुरे वतावरण का त्याग करना, आदि। यह अभी तक अपरा भक्ति है, संसार की भक्ति है। हम देखते हैं ब्रज में लोग भगवान का नाम कम लेते हैं, राधा, राधा का नाम ही सबकी जिह्वा पर रहता है। राधा का नाम इतना क्यों फैला है ? राधा भगवान में लय होकर भक्ति का अन्तिम रूप हैं, पराभक्ति का रूप है । कान्ता - भाव, राधा -भाव जीवन का लक्ष्य है -भगवान से एक

होकर। सूफी इसको 'हमाओस्त' कहते हैं । ' अहम् ब्रह्मास्मि ' में भी वही है । इससे भी ऊपर जाना है 'हमाअज़ोस्त' अर्थात मैं उसी से हूँ । किसी भी जिज्ञासु की साधना पूर्ण नहीं होती जब तक वह स्वयं पूर्ण होकर औरों को भी पूर्ण नहीं बनाता है ।

वृन्दावन में जहाँ भी जाएँ सब राधा जी का नाम लेते हैं। वहाँ सब कहते हैं "राधे, राधे "। हम सबको ही राधा जी से प्रेरणा लेनी होगी। लेकिन इस स्थिति तक पहुँचने के लिए नियमित तौर से - और जहाँ तक हो सके निरन्तर ही - साधना तो करनी ही होगी ।

000000000000



हमारे दुःखों का कारण ही यह है कि हम अपनी आत्मा को नहीं पहचानते , हम परमात्मा से बिछुड़ गये हैं . जब तक हमारा योग परमात्मा से नहीं होगा , हमारी आत्मा का योग उसके सच्चे पति परमात्मा के साथ नहीं होगा , तब तक संसार के चाहें कितने ही पदार्थ प्राप्त हो जायें, व्यक्ति को कभी भी सच्चा सुःख नहीं मिल सकता . सच्चा सुःख तो प्रभु के मिलने में ही है . वही हमारे जीवन का लक्ष्य है . यही मनुष्य चोले का ध्येय है कि इसी जीवन में हम आत्मा का साक्षात्कार करलें , भगवान के दर्शन कर लें .

-सद्गुरु डॉ . करतारसिंह जी महाराज



पर दोष दर्शन मत करो - मत सुनो

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

पूज्य गुरु महाराज महात्मा श्रीकृष्ण लाल जी कहा करते थे कि अपनी त्रुटियों को देखो, स्वनिरीक्षण करो, भीतर में झांको और अपनी कमज़ोरियों को देखो। दूसरों की कमज़ोरियों की तरफ़ आपकी नज़र नहीं जानी चाहिये। इसके साथ उनका यह आदेश था कि यदि आज कोई व्यक्ति आपके किसी मित्र या अन्य की बुराई करता है तो कल वो दूसरी जगह जा कर आपकी भी निन्दा कर सकता है। जो साधक है यदि वह किसी की निन्दा सुनने में आनन्द लेता है तो उसका चित्त दूषित हो जाता है जिससे उसकी साधना में विघ्न पड़ जाता है। भूल कर भी ऐसा नहीं करना चाहिये। कोई ऐसा करता है तो वहाँ से उठ जाना चाहिये या अपने मनोबल से अपना ध्यान उन आरोपों से अलग कर लेना चाहिये। आप उसमें आनन्द मत लीजिये।

भूल कर भी किसी के दोष नहीं देखने चाहिये। यदि देखते भी हैं तो ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिये कि हे प्रभु ! इस पर कृपा करें ताकि यह अपने दोषों से मुक्त हो जावे। हम दूसरे की स्तुति नहीं सुन सकते परन्तु निन्दा सुनने में बड़ा आनन्द आता है। साधक को सावधान रहना चाहिये। न किसी की निन्दा करनी चाहिये, न सुननी चाहिये। किसी की निन्दा सुनने से अपने भीतर में एक नया संस्कार बन जाता है, हमारा चित्त दूषित हो जाता है, अशान्त हो जाता है। साधना का यह अर्थ नहीं कि सुबह 5-10 मिनिट बैठ गए, नहीं तो नहीं बैठे। यदि हमारा सारे दिन का व्यवहार उस साधना के अनुसार नहीं है तो समझ लीजिये वो साधना भी एक वृत्ति है, आपने अपना उद्धार करने का कोई विशेष कदम नहीं उठाया है।

हमारी साधना और हमारी दिनचर्या में समानता होनी चाहिए। साधना और सारा दिन हम जो दिनचर्या करते हैं उसमें आनन्द आना चाहिये। हमारी इच्छा के प्रतिकूल किसी ने कोई बात कह दी तो बस हमारी कई महीनों की साधना खत्म हो गयी एक क्षण में। इस भीतर के आनन्द की रक्षा करनी पड़ती है।

इंद्रियों के जो विषय हैं उन पर संयम लाना चाहिये। मन को बुद्धि के आधीन करना चाहिए। बुद्धि को आत्मा से प्रेरणा लेनी चाहिये। हमारे जितने भी कर्म, विचार, शब्द हों, वे सब आत्ममय हों। इतना करते हुए भी ये हमारी आत्मिक कमाई खत्म कर देते हैं। हमारी इच्छाओं की पूर्ति नहीं होती, क्रोध आता है, सब कुछ खत्म हो जाता है। तो साधक को बड़ा सतर्क रहना चाहिये, अनुशासन में रहना चाहिये, संयम में रहना चाहिये। गुरु इसीलिए किया जाता है कि वह आपकी देख भाल करता रहे। किन्तु वह आपकी देख भाल तभी करेगा जब आप उसके आदेशों का पालन करेंगे।

सन्त सतपुरुष होना चाहिये। सत्पुरुष का अर्थ है जो सत से तदरूप हुआ हो। भीतर - बाहर वो सत ही हो। वो जहाँ बैठे उसके भीतर से सत की रश्मियां चारों ओर फैलें और जो भी व्यक्ति उस महापुरुष - सिद्धपुरुष सन्त के पास आवे उसके हृदय की मलीनता धीरे - धीरे शुद्ध होती चली जाये, साफ़ होती चली जाये। ऐसे उच्च कोटि के सन्त बहुत कम हैं। गुरु महाराज फ़रमाया करते थे कि सच्चा सन्त हजार वर्ष के बाद कोई एक आता है, परन्तु गुरुमुख अनेक आते हैं। तो सच्चा सन्त न मिले तो गुरुमुख के पैर पकड़ने चाहिये। जहाँ सन्त कम हैं वहाँ सच्चे जिज्ञासु भी कम हैं। वास्तव में जैसे लोग-बाग सिनेमा या क्लबों में जाते हैं इसी तरह वह कहते हैं कि सत्संग में भी ५-१० मिनिट चले आए, दो - चार भजन सुने, मन थोड़ी देर के लिये स्थिर हुआ शांति मिली, तो यही सत्संग है। यह सत्संग नहीं है। सत्संग का अर्थ वही सोच सकता है जिसके भीतर में सच्ची जिज्ञासा है।

जिसको महान पुरुष का संग मिल गया है, वही सत्संग जानता है। उस सन्त में वही गुण होते हैं जो परमात्मा के गुण शास्त्रों में लिखे हैं। उसमें और ईश्वर में कोई अन्तर नहीं है। ऐसा व्यक्ति यदि मिल जाये तो कुछ करने की ज़रूरत नहीं है। श्रद्धा के साथ उनके चरणों में बैठना चाहिये, उनसे प्रेम करना चाहिये, उनका आशीर्वाद अर्थात् गुरु - प्रसादी लेनी चाहिये। बस इतना ही करना है, और कुछ नहीं करना। परन्तु इतना होता नहीं है। मनुष्य के भीतर में जन्म-जन्मान्तर के संस्कार हैं। उन संस्कारों के कारण मनुष्य के भीतर इतनी इच्छाएँ हैं कि वह चाहते हुए भी सच्चा सत्संग नहीं कर पाता।

महात्मा बुद्ध ने कहा था कि मोक्ष का एक ही उपाय है कि इच्छाओं को त्याग दें। भगवान कृष्ण भी दूसरे अध्याय के अन्तिम दो श्लोकों में सिद्ध पुरुष का वर्णन करते हुए कहते हैं कि सच्चे जिज्ञासु के भीतर में कोई इच्छा न रहे। उसके भीतर की कैसी अवस्था हो ? उसके भीतर "में और "मेरेपन " का तनिक भी भान न हो। पर किसके अन्दर होगा ऐसा ? क्या आपके अन्दर कभी ऐसा क्षण आया है जब आपके भीतर में " में और मेरापन " का ख्याल न हो, भान न हो। जब वह स्थिति आ जाती है तो आप तो स्वयं भगवान बन गये ।

सन्त के पास जाकर कैसा व्यवहार करना चाहिये ? जो मनुष्य सन्तों के पास जाकर कुछ नहीं चाहता, दुनिया की कोई चीज़ नहीं चाहता, सिर्फ अपने उद्धार के लिये उनकी शरण ग्रहण करता है, ऐसा आदमी अधिकारी है। ऐसे संत के पास जाकर कुछ नहीं माँगना चाहिये। ऐसे संत के पास जाकर किसी प्रकार की इच्छा नहीं रखनी चाहिये। भगवान गीता में कहते हैं कि भक्ति निष्काम होनी चाहिये। अपने उद्धार की भी चिन्ता मत करिए। व्यक्तिगत मोक्ष स्वार्थ है। यह गीता का सार है। विवेकानन्द इसी आधार पर कहते हैं कि, - "हे भगवान ! मुझे मुक्ति नहीं चाहिये, हजार जन्म और दे परन्तु मुझे शक्ति दे कि मैं तेरे रूप की सेवा करता रहूँ।"

माँ को, परमात्मा को, गुरु को सरलता प्रिय है। अपने मन की जो होशियारी है, दूसरे शब्दों में अपने मन को, एक तरफ़ रख देना चाहिये। संत जो कहे, जिसमें उसकी प्रसन्नता हो, वह काम करना चाहिये। यही मन का समर्पण है। यह बड़ा कठिन है। संत बैठा है या नहीं बैठा। हम साधना में मन को नहीं दे पाते। हम तो मन की साधना करते हैं। गुरुदेव कह रहे हैं मन दे दो। शेष क्या रह जाता है। ऐसे व्यक्ति के भीतर जो गुरु प्रसादी मिलेगी वो हज़म हो जायेगी। " माई में धन पायो हरनाम, मन मेरा धाम में छूटे वो कर बैठो किसराम।" जब ये संत प्रसादी मिलती है, जिसको 'नाम' कहते हैं, आशीर्वाद कहते हैं, प्रेम कहते हैं, तब मन की चंचलता खत्म हो जाती है। अब शांति है। उस प्रसादी में आत्मिक प्रसादी है, परमात्मा का रूप है, परमात्मा का आनन्द है। उस प्रसादी से मन का जो अतीत है, संस्कार हैं वो धीरे-धीरे उनके चरणों में बैठ कर, उनकी चरण रज लेकर घुलते जाते हैं। इससे सरल साधन कोई और नहीं है - अपने अतीत को भूलना और अपने भीतर से मुक्त होना। तो खोज में रहें कि ऐसा महापुरुष मिल जाये।

संत आत्मा के स्थान पर होते हैं। सूरज की तरह उसके भीतर से आत्मा की रश्मियां चारों ओर अप्रयास ही फैलती रहती हैं। उस सूर्य रूपी प्रकाश की अनुभूति, प्रकाश का आनन्द व प्रकाश की प्रसादी वही लेगा जो अपने चित्त को निर्मल करके जायेगा। किसी महापुरुष के पास जाएँ तो भीतर में निर्मल हो कर जायें। तब ऐसा नहीं हो सकता कि वह अपनी कृपा प्रसादी न दे। ईश्वर अपनी कृपा आप सबको न दे, ऐसा हो ही नहीं सकता। उसका तथा संत का भी, तो यह सहज स्वभाव है, विरद है कि वहाँ से कोई खाली हाथ नहीं जा सकता।

कोई गंगा जी जाये और उसमें स्नान न करे तो इसमें गंगा जी का क्या दोष ? इसी तरह संतों में भगवान शिव के सिर से जो गंगा निकलती है वह क्या है ? वो आत्मिक गंगा बहती है। अब दोष किस का । जो उस गंगा में स्नान नहीं करता, दोष उसका है। जो दीवार खड़ी करके आता है उसको क्या प्रसादी मिलेगी ? इसलिए ऐसे महापुरुष के पास जायें तो निर्मल चित्त होकर जायें। और कुछ करने की ज़रूरत नहीं है। जहाँ हम प्रयास करते हैं बाधा पड़ती है। तो अपने आप को समर्पण कर दें। जब भी ऐसे महापुरुष के पास जाएँ तो क्या ले जायें ? श्रद्धा, कोमलता, आदर, सम्मान ले जायें। रूखापन छोड़ दें। भगवान तो परिपूर्ण हैं, सभी कुछ तो भगवान का है। भगवान के पास हम क्या ले जायें ? ईश्वर के पास बेशक सब कुछ है। परन्तु उसे जिज्ञासुओं की दीनता प्रिय है। दीनता लेकर जाओ, रूखापन लेकर मत जाओ। ऐसे संतों के पास बैठ कर भाव उत्पन्न होता है, एक प्रकार की उत्सुकता उत्पन्न होती है, श्रद्धा, दीनता तथा गरीबी उत्पन्न होती है। बिना भाव के, बिना कोमलता के, ईश्वर की भक्ति नहीं हो सकती। भगवान भाव का भूखा है। ईश्वर को भाव चाहिये। जिज्ञासु के हृदय में भाव होने चाहिये।

" संत दुनिया में उतना तो देते हैं जिससे पेट भर जाये परन्तु जो उससे ज़्यादा प्रेम करते हैं उनका घर उजाड़ देते हैं कि गरूर अभिमान चला जाये ।" आप कहेंगे कि यह कैसा नियम है ? गुरु नानक देव जी ने कहा है कि बिना बेईमानी के पैसा या माया एकत्र नहीं हो सकती। तो जो बेईमानी से पैसा कमायेगा उसका मन कैसे शान्त रह सकता है ? उसका मन कैसे अधिकारी बन सकता है ? इसलिए इस रास्ते पर आने वाले के लिए दो चीज़ें बहुत आवश्यक हैं - एक गरीबी, आर्थिक गरीबी भी और मन की गरीबी भी। गरीबी के साथ मुलायमियत हो, अख्खड़पन नहीं। उस गरीब व्यक्ति के मन में एक प्रकार की व्याकुलता हो,

विरह हो, परमात्मा को पाने के लिए और इसके लिये उसमें सेवा भाव हो। सेवा वही कर सकेगा जो स्वयं सादगी अपनाता है। इस रास्ते में आकर व्यक्ति को सेवा करनी चाहिये -- अपनी सेवा, समाज की सेवा, परिवार की सेवा। बिना सेवा के इस रास्ते में सफलता नहीं मिलती।

इस रास्ते में कुछ माँगना नहीं चाहिये - " राज न चाहूँ मुकुट न चाहूँ मन प्रीत चरण कमला की चाहूँ / हे प्रभु! मुझे कुछ नहीं चाहिये । राज यानी संसार का बैभव, शोहरत यहाँ तक कि मुझे मुक्ति भी नहीं चाहिये। मुझे तो आपके चरणों की रज चाहिये। " उनकी शरण में तो वह आये जो अपनी दुनियाँ को आग लगा दे। यज्ञ करते हैं उसमें आहुति देते हैं ये आहुति क्या है ? जो हमारे पास है वोह सब कुछ तुम्हारे चरणों में अर्पण। अग्नि को परमात्मा का रूप माना गया है। सब कुछ अर्पण कर देते हैं। इसलिए सन्त यदि किसी पर मेहरबानी करते हैं, कृपा करते हैं तो उसका सांसारिक चीजों से मोह धीरे-धीरे कम करते चले जाते हैं। इसलिए सन्त से दुनिया मत मांगो। सिर्फ उतना ही मांगो जितने में निर्वाह हो जाये। बाकी ईश्वर का प्रेम मांगो। परम ज्ञानी वही है जो अपने मन को सबसे नीचा समझता है। सब कुछ उसके पास है परन्तु व्यवहार में वह बड़ी दीनता के साथ चलता है।

000000000000



संतमत करनी का मत है, कथनी का नहीं . यह उस सत्पुरुष जो अनादि , अगम, अलख, तथा अगोचर है की पूजा है . किसी समर्थ सतगुरु की शरण लेकर अंतर में चाल चलना ही उसकी पूजा है . केवल बाहरी पूजा पाठ से जीव के बँधन नहीं कटेंगे . इसके लिए तो अंतर की चाल चलनी ही पड़ेगी तभी जीव इस माया के बंधन से मुक्त हो सकता है और उस परम सु:ख का अनुभव कर सकता है .

महात्मा डॉ . श्रीकृष्ण लाल जी महाराज



राम सन्देश: जुलाई-सितम्बर, 2015

परमात्मा आत्मा के भीतर में है, कहीं दूर नहीं।

(ब्रह्मलीन महात्मा डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

प्रत्येक मनुष्य दुविधा में रहता है। परमात्मा का रास्ता इतना सरल नहीं है जितना हम समझते हैं। तब भी जैसे माँ अपने बच्चों को खिलौने से खिलाती है ऐसे ही महापुरुष जिज्ञासु को प्रेरणा देते रहते हैं।

परमात्मा कहीं दूर नहीं, वह आपके भीतर और बाहर है। जहाँ जाओगे वहीं परमात्मा मिलेगा। बात तो सत्य है। परन्तु वास्तव में यदि हम स्वनिरीक्षण करके देखें तो हमने इस वाक्य को जो सब ग्रंथों में है और जिसे सब महापुरुषों ने अपनाया है कि परमात्मा सर्वव्यापक है, भीतर भी और बाहर भी उसकी अनुभूति नहीं की है। जीवन का लक्ष्य है - हमें अपना मूल पहचानना है। मनुष्यों को कहते हैं - " हे जीव ! अपनी वास्तविकता को पहचान।" उसके लिए प्रेरणा देते हैं कि हम अपना जीवन पवित्र करें, अपने व्यवहार में शुद्धता लायें, अपने मन को अति कोमल बनाएँ। हमारा जीवन शुद्ध प्रेम का होना चाहिए। हमारा जीवन महापुरुषों के से प्रेम का जीवन होना चाहिए। अपने जीवन को 'अहं ब्रह्मास्मि' के अनुसार बनाना होगा।

परमात्मा हमारी आत्मा के भीतर है, वह कहीं दूर नहीं है। जिज्ञासु जो सुनता है, पढ़ता है और समझता है कि " तू आत्मस्वरूप है, परमात्मा तेरे भीतर में है, अति समीप है, तू उसे पहचान।" इसकी लिए ऊँची पहाड़ियों पर जाने की ज़रूरत नहीं है। किसी महापुरुष को ढूँढ़िये जो स्वयं ईश्वर-स्वरूप है और जिसने परमात्मा को पहचान लिया है, अनुभव कर लिया है। वह महापुरुष आपको भी इसका अनुभव करा देगा। ईश्वर 'सत' है, सत का संग करो। ईश्वर-रूप महापुरुष के पास बैठने से सत की, आत्मा की, अनुभूति जल्दी होगी। अपने भीतर में देखिये। अपने जीवन को दूसरों के जीवन में देखिये। इस वक्त प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे का शोषण कर रहा है और अपने आपको सत्संगी कहलाता है।

साधना करनी होगी। साधना किसकी करनी है ? अपने मन की। "मन के साधे सब सधे " मन तामसिक विचारों में फँसा है, सत्यता से कहीं दूर है। हमारे मन में सात्विक विचार आने

चाहिए। इसके साथ-साथ कोमलता आनी चाहिए, दीनता आनी चाहिए, सरलता आनी चाहिए। अहंकार-रहित स्थिति बननी चाहिए।

महापुरुष के पास बैठकर वैराग्य हो जाये या वैराग की स्थिति बन जाये, सहज हो जाएँ, बल न लगाना पड़े। परमात्मा के गुण आ जाएँ।

“तू तू करता तू भया, मुझमें रही न हूँ !

आपा फिरका मिट गया, जित देखूँ तित तू!”

सत्संग का यही महत्व है, सत्य का संग हो। महापुरुष के पास सत्य ही सत्य है, आत्मा ही आत्मा है, ऐसे महापुरुष के पास बैठने से ही हमारे हृदय में सत्यता जाग्रत हो जाती है।

जो विज्ञान के विद्यार्थी हैं वे जानते हैं कि शक्ति बिना प्रयास के विकसित होती रहती है। प्रभु का सत्य भी अपने आप विकसित होता रहता है। तनिक सा भी उस ओर ध्यान देंगे, उसकी रश्मि सूर्य की रश्मियों की तरह आप पर बिना मेहनत के वृष्टि करेंगी, और आप अंतर बाहर जैसा ईश्वर है वैसे बन जायेंगे। संत के पास बैठना सत पुरुष के पास बैठने के समान है। जो सत्संग कराता है, साधना कराता है, वह स्वयं ईश्वर का भण्डार है। उसके भीतर से जो रश्मियाँ निकलती हैं वे सत्संगी में परिवर्तन ला देती हैं। सत्संगी को गुरु जैसा बना देती हैं।

सत्संग ही सर्वश्रेष्ठ साधना है, ईश्वर की प्राप्ति के लिए, अहंकार से मुक्त होने के लिए, संसार की कीचड़ से निकलने के लिए। उससे व्यक्ति में कोमलता आ जाती है, निर्मलता आ जाती है, दीनता आ जाती है, मधुरता आ जाती है, ऐसा आनन्द आता है कि वहाँ से उठकर कहीं जाने का मन नहीं करता। यही सच्चा सत्संग है।

गुरु महाराज में यह गुण था और विशेष रूप से इसी गुण ने मुझे उनके चरणों में आने का अवसर दिया। अधिकांशतः मैं उनके साथ बाहर जाया करता था। हम लोग गोरखपुर पहुँचे हुए थे, तभी एक दिन आदेश हुआ कि - "सारा दिन हो गया बैठे-बैठे, चलो घूम आये।" मुझे उस स्थान से परिचय नहीं था, किसी ने मुझसे कहा कि यहाँ पर गुरु गोरखनाथ जी का मन्दिर है जो बहुत सुन्दर है। मुझसे गुरुदेव ने कहा, "जाइये। आप अन्दर जाइये, दर्शन कर आइये।" मैं गुरुदेव के आदेशानुसार अन्दर गया, वहाँ पता चला कि यहाँ एक महान ऋषि रहते हैं जिनका

नाम बैनर्जी साहब था। मैंने कहा चलो दर्शन कर लेते हैं, हाँलाकि सभी सत्संगियों, शिष्यों को बिना आज्ञा किसी के यहाँ भेजते नहीं हैं। मेरे मन में भी यह बात आयी कि 'गुरुदेव क्या कहेंगे ?' तब भी मैं उनके आदेशों का पालन न करते हुए बैनर्जी साहब के दर्शनों के लिए उनके चरणों में पहुँच गया। मैं वहाँ बैठा, ऐसा आकर्षित हो गया कि शाम हो गयी, सूर्य अस्त होने को था। मेरा साथी कहने लगा कि बहुत देर हो गयी है। मैं उनके समीप बैठा हुआ था। गुरुदेव ने बताया हुआ था कि महापुरुषों का आदर कैसे करना चाहिए। अब बिना पूछे मैं हट नहीं सकता था। वे आँखें बन्द करके बैठे थे, मेरे मन में उत्सुकता हुई कि ये आँखें खोल दें तो मैं आज्ञा ले लूँ। गुरुदेव की कृपा हुई। उन्होंने आँखें खोलीं, मेरी ओर मुखातिब होकर कहा - " शाम हो गयी है, आपको दूर जाना है, अब आप जाँँ" मैंने वापस पहुँच कर गुरुदेव को सारी बात बताई, वे बहुत प्रसन्न हुए और बोले - "कल शाम को हम भी चलेंगे।" दूसरे दिन आकर हम सब बैनर्जी साहब के पास बैठे। जहाँ दो विभूतियाँ बैठी हों वहाँ की स्थिति बड़ी ऊँची होती है। जिसने इसका अनुभव किया हो वही वर्णन कर सकता है, दूसरा नहीं। बड़ा आनन्द था। कुछ देर बाद बैनर्जी साहब ने कहा कि मैं अब आराम करूँगा, आप अब जाइये। गुरुदेव ने फिर आज्ञा ली, मैंने भी आज्ञा ली। रास्ते में गुरुदेव ने फ़रमाया - " यह महान अवस्था थी । पिछले जन्म में ये कोई महान संत थे या देवता थे। हम लोग गुरु महाराज के साथ एक महीना गोरखपुर में रहे। गुरु महाराज मेरे साथ रोज़ वहाँ बैनर्जी साहब के पास जाया करते थे। ऐसे लोग हमारे देश में हैं। यदि ऐसे लोगों का सत्संग मिल जाए ओर जैसा आपने गुरुबानी में सुना है, ऐसे व्यक्ति के मिलने पर कुछ करने की ज़रूरत नहीं है। केवल उनके पास बैठना है। उनके जीवन का अनुसरण करना है ओर उनके आदेशों का पालन करना है।

बाद में कुछ परिस्थितियों वश गुरु महाराज ने गोरखपुर जाना बन्द कर दिया। मुझे अकेला भेजते थे। कहते थे, - " जाओ कुछ दिन बैनर्जी साहब की सेवा में रहो।" बहुत प्रेम प्रदान करते थे ओर ऐसी प्रेरणा देते थे कि मनुष्य उनसे दूर होना नहीं चाहते थे।

सत्संग का अर्थ है - सत का संग/ ईश्वर सत्यम, शिवम, सुन्दरम है/ जो व्यक्ति पवित्र मन का होगा, उसके पास बैठने का मन करता है और इच्छा करती है कि बैठे ही रहें/ जो अच्छे संत होते हैं वे ईश्वर के समान होते हैं/ उनके हृदय से आत्मा की रश्मियाँ निकलती हैं/ यह आत्म प्रसादी है/

गुरु नानक साहब ने यहीं से शुरू किया था अपना उपदेश। ईश्वर का नाम लिख दिया 'ओंकार'। 'ओंकार' में गुरु नानक साहब ने एक शब्द और लिख दिया "सत"। सतगुरु तेरी कृपा से ओंकार की प्राप्ति हुई है। सत स्वरूप आत्मपूर्ण संत मिल जाना चाहिए। मिल गया प्रभु।

'सत पुरुष तिन जानया सत गुरु नाम '

सतपुरुष की जिसने अनुभूति कर ली हो वह सतगुरु है। संत कहने वाले को दीन बन कर सेवा करनी चाहिए। इतना ऊँचा स्थान कम ही प्राप्त होता है।

एक बार हम डलहौज़ी गए, गुरुदेव के साथ और भी बहुत से सत्संगी गए थे, मुझसे बोले "जाओ, घूम आओ"। घूमते-घूमते हम एक जगह पहुँचे जहाँ एक गुफा में एक बंगाली संत रहते थे। हम लोग उनके दर्शनों के लिए अन्दर गए और उनके पास जाकर बैठ गए। उनके पास बैठने से वही स्थिति हुई जो बैनर्जी साहब के पास बैठने से हुई थी। डॉ०श्याम लाल जी के सुपुत्र अभी दीक्षित नहीं हुए थे, उनके दोनों पुत्र हमारे साथ दो घंटा बैठे। वापस लौट कर गुरु महाराज को बताया, उन्होंने कहा - 'चलो हम भी चलेंगे'। वे उन संत के पास गए, पहला दिन था, वहाँ गुरु महाराज ने आदेश दिया "डॉ साहब के दोनों बच्चों को आप अपने पास बिठाएँ और तवज़्जो दिया करें"। गुरु महाराज की बड़ी कृपा थी, उन्होंने कोई कसर नहीं छोड़ी, हमें अपना जैसा बनाया, अकेले मुझे ही नहीं और भी कई लोगों को।

ईश्वर से प्रार्थना है कि आपको सच्चे संतों का मिलाप हो जाये। गंगा स्नान, तीर्थों की यात्रा, इसीलिए किये जाते हैं। वहाँ पुराने ज़माने के उच्च कोटि के संत महात्मा मिलते हैं। वे संसार का परित्याग करके ऊँचे स्थानों पर चले जाते हैं ताकि सच्चा एकांत मिल सके। प्रयास करें अपने जीवन को पवित्र बनाने का, आत्मा जैसा बनाने का, परमात्मा जैसा बनाने का। इसके लिए सरल रास्ता यही है कि जिस महापुरुष ने अपने आपको ऐसा बना लिया हो, उसका संग करें। यही सत्संग है। सत्य का संग, ईश्वर का संग है। ईश्वर के भक्त भी सच्चे ईश्वर-स्वरूप हैं। हमारे सत्संग का भी यही तरीका है। यही सबसे सरल और कल्याणकारी रास्ता है।

जीवन में क्या करना चाहिये ? सभी महापुरुष प्रेरणा देते हैं कि सच्चे संतों का संग करना चाहिए। उनके शरीर छोड़ने के बाद में जो स्थान उनकी याद में बनाये जाते हैं, जैसे अमरनाथ

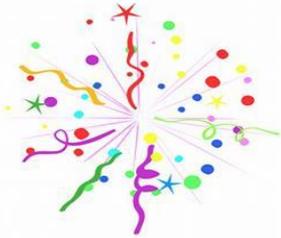
जी आदि, बहुत अच्छी बात है कि वहाँ शुद्ध वातावरण होता है, वहाँ हमेशा आत्मिक वृष्टि होती रहती है। जितने उच्च कोटि के संत होते हैं वे उच्च स्थानों पर जाते हैं। बद्रीनाथ जी बहुत ऊँचे स्थान पर है।

आपसे निवेदन है कि कृपा करके अपने आपको सद्गुणों से अलंकृत करें। प्रेम के रंग में रंगियो। अपने पाँचों शरीरों को आत्मिक ज्ञान से रंगें। और सच्चा साधन यानी संतों का सत्संग करें।

हम इतने क्रूर करते हैं जिनकी गिनती नहीं है। कृपा करो। कुछ उपाय करो। भगवान् राम ने पत्थरों को भी पानी में तैरा दिया था। महापुरुष क्या नहीं कर सकते ? सरलता, दीनता, कोमलता, मधुरता, आत्मिकता आदि ऐसे गुण मनुष्यों को अपनाने चाहिए।

पूज्य गुरुदेव आप सब पर कृपा करें।

00000000000



प्रार्थना एक साधन है जिसके द्वारा हम ईश्वर से तदरूप होने के लिये अपने को पेश करते हैं . बस करना यही है कि अपने इष्टदेव का दामन न छोड़ें . जब तक वह नहीं मिलता है ईश्वर से प्रार्थना करते रहना चाहिये . ईश्वर सर्वत्र है - भीतर भी बाहर भी . या तो वे स्वयं कृपा करेंगे या आपके पास किसी महापुरुष को भेज देंगे . पूरे जीवन को ही साधना का रूप बनाना है . सारे दिन की दिनचर्या को ही ईश्वरमय बनाना है . प्रमाद को त्याग करके पुरुषार्थ को अपनाना चाहिये . जीवन का एक ही लक्ष्य है -परमात्मा की प्राप्ति या जीवन मुक्ति या संस्कारों के बन्धन से मुक्त होना .
सद्गुरु डॉ . करतारसिंह जी महाराज

परमात्मा की दयालुता

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

ईश्वर की कृपा तथा अपने संस्कार वश ही मनुष्य सत्संग में प्रवेश करता है सत्संग में आकर बहुत से भाई यह चाहते हैं कि परमात्मा (श्री गुरुदेव) क्यों नहीं अपनी कृपा शक्ति द्वारा हम लोगों का शीघ्र उद्धार कर देते ? मन और माया के बन्धन से आत्मा को शीघ्र क्यों नहीं निकाल देते ? यह एक सामान्य प्रश्न है जो अक्सर सत्संगी भाईयों के हृदय में उठा करता है। सत्संग में प्रवेश करने पर जीव के हृदय में जगत और परमात्मा के बीच अन्तर्द्वन्द होने लगता है। जन्मोजन्म से वह जगत के बन्धनों , माया - मोह के जालों में फँसा है। सत्संग में आने के बाद प्रभु - प्रेम का आस्वादन उसे अच्छा लगने लगता है, किन्तु जगत के आकर्षण शीघ्र अपना प्रभाव नहीं छोड़ते। इस बीच की स्थिति में उसका हृदय मन्थन करता रहता है। धर्म और अधर्म, प्रेम और मोह, सत और असत का राम - रावण युद्ध निरन्तर चलता रहता है। सत्संगी अपने व्यवहार के प्रति जागरूक रहता है, किन्तु पुराने संस्कार एवं माया - मोह के आकर्षण उसे अपनी ओर भरपूर खींचते रहते हैं। उसे मालूम होता है कि अमुक जगह वह अधर्म और असत व्यवहार में फँस गया है। ऐसी दशा में वह चाहता है कि क्यों नहीं परमात्मा -रूप श्री गुरुदेव हमारी सम्भाल कर लेते हैं और हमेशा - हमेशा के लिए हमें इस भव - बन्धन तथा माया मोह से मुक्त कर देते ?

बहुत से लोग जो सत्संगी नहीं हैं, दुनियादार हैं, वे भी ऐसी ही बातें करते हैं कि जब परमात्मा चाहेगा हमसे दुनियाँ छुड़ा देगा। मुझे अपनी ओर से इसकी कुछ चिन्ता नहीं करनी चाहिये ऐसे लोगों का अहं बहुत ही पुष्ट होता है। माया - मोह का आकर्षण इन्हें कसकर घेरे रहता है। संतों की बातें उनके लिए बंजर भूमि में बीज डालने के समान है। फिर भी ईश्वर कृपा से उनके भी कभी न कभी शुभ संस्कार उत्पन्न होंगे। ऐसे सज्जनों और सत्संगी भाइयों के लिए यह बता देना आवश्यक है कि परमात्मा परम दयालु है। दयालुता का अर्थ है कि जिससे जीव का सबसे उत्तम लाभ हो, सबसे अधिक कल्याण हो, वही परमात्मा दया- वश उसके लिये करते हैं। वैसे परमात्मा तो सर्वशक्तिमान हैं ही और वह जब चाहें आत्मा को क्षण भर में मन और माया के जाल से मुक्त करा सकते हैं। लेकिन जीव इसे बर्दाश्त नहीं कर सकेगा। जब तक

मन सतदेश का वासी नहीं होगा अर्थात् सतोगुणी नहीं होगा, तब तक आत्मा को उससे ज़बरदस्ती हटाने में तन और मन व्याकुल हो उठेंगे और उस पीड़ा को जीव कभी भी बर्दाश्त नहीं कर सकेगा। इसलिए परमात्मा की यह असीम दयालुता है कि वह किसी के साथ ज़ोर जुल्म नहीं करता। अपनी शक्ति का प्रदर्शन नहीं करता। आत्मा को ज़बरदस्ती ऊपर खींचने में जीव बेहोश हो जायेगा या उसे भारी बीमारी लग जायेगी। ऊँचे घाट का हल्का सा रस पाकर मन उसी में मस्त हो जावेगा और उसी मस्ती में पड़ा रहेगा। ऊपर का कार्य परमात्मा रूप है। इस स्थिति में मन पूर्णतः शांत होकर आत्मा के आधीन हो जाता है। मन की यह दशा आत्मा को ज़बरदस्ती ऊपर खींचने से कदापि नहीं हो सकती। इसके अलावा परमात्मा का यह अटल नियम है कि जीव को अपने कर्मों का फल भोगना ही पड़ेगा। यदि ऐसा विधान नहीं होता तो पाप - पुण्य की परख ही नहीं रह जाती। जीव को बुरे कर्मों से रोकने का कोई साधन ही नहीं रह जाता। बुरे कर्मों द्वारा जीव का स्वप्न में भी उद्धार नहीं हो सकता था। वह और नीचे ही गिरता जाता है। इसलिए ईश्वर - कृपा से यदि कोई सत्संग में प्रवेश करता है तो उसके पिछले बुरे संस्कार भी साथ रहते हैं। इसी कारण वह जाने - अनजाने नीचे की ओर गिरता रहता है। संत सतगुरु की शरण पकड़ने पर उसके पिछले संस्कारों के वेग में कमी आ जाती है तथा उन्हीं की दया से उन संस्कारों के भोगने में उसे आसानी हो जाती है। अतः सच्चे भाव से संत - सदगुरु की शरण लेनी चाहिये। उन्हीं की कृपा से बुरे संस्कारों के फल आसानी से भोगे जा सकते हैं। और भविष्य में चढ़ना साधकों के लिए स्वाभाविक है। इससे उन्हें घबराना नहीं चाहिये। जो गिरता नहीं है वह ऊपर चढ़ने की सोचता कहाँ है ? लेकिन हर हालत में उसे श्री गुरुदेव में अपनी श्रद्धा अधिक मज़बूत करते जाना चाहिये और भविष्य के लिए बुरे कर्मों पर सच्चे दिल से पश्चात्ताप करना चाहिये तथा मन ही मन उन दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त करने के लिए अपने श्री गुरुदेव से प्रार्थना करते रहना चाहिये। संत सदगुरु परमात्मा रूप होते हैं। वे जीव के अधिकार के अनुसार उसकी आत्मा को विषयों से खींचते हैं। सुरत के साथ यदि मन को भी नहीं खींचा गया या उसे जगत के विषयों से उपराम नहीं कर लिया गया तो केवल आत्मा के खिंचने से वह पुनः शीघ्र ही नीचे गिर जायेगी। इसलिए परमात्मा या सतगुरु शीघ्रता नहीं करते हैं।

परमात्मा का काम मारना नहीं, जिलाना है। काल मारता है, परमात्मा जिलाते हैं। शरीर के नाश होने पर आत्मा के साथ मन मिला रहता है। मन जब तक अपनी इच्छाओं को नहीं भोग लेता तब तक वह आत्मा को नहीं छोड़ता। इच्छाओं को भोगने के लिए मनुष्य जीवन ही एकमात्र साधन है जिसे परमात्मा कृपा करके हमें प्रदान करते हैं। काल इसे पसन्द नहीं करता। इसलिए वह मृत्यु के द्वारा जीव को मारता रहता है जिससे जीव अपनी समस्त इच्छाओं को भोग कर काल के चंगुल से हमेशा - हमेशा के लिये निकल जावे। अतः जीव का यह धर्म है कि वह सत्संग में आकर इच्छाओं से उपराम हो जाये।

संत भी मन को मारने की बात बतलाते हैं, किन्तु उनका मारना काल की मौत से भिन्न है। सन्तों के मारने का मतलब यह है कि तन और मन से आसक्ति समाप्त हो जाये जिससे आत्मा स्वतः असली रूप का परिचय प्राप्त कर ले। इस प्रकार की शिक्षा दी जाती है कि वह इस शरीर में रहते हुए इससे अलग हो जाये। इसके अलावा मन जिन - जिन वासनाओं में लिप्त है उनकी असारता का अनुभव कर ले और उनसे उपराम हो जाये। जगत तथा जगत की वस्तुओं की असारता के स्वयं अनुभव कर लेने पर वह पुनः उनमें न फँसेगा तथा उनसे उपरति ग्रहण कर लेगा। इस प्रकार वह अपने कर्मों के फल से वंचित हो जायेगा जब उसकी यह दशा हो जायेगी तब वह आत्मा को जगत के भोग के लिए नहीं खींचेगा। इसके विपरीत वह शांत हो जायेगा और ऊपर के अभ्यास में जहाँ तक उसकी पहुँच है उस सीमा तक आत्मा का साथ देगा। यही परमात्मा द्वारा तन और मन का मारना है। फिर आत्मा स्वतः अपने आनंद का अनुभव करने लगेगी और उसे प्रभु - प्रेम का पान कराते रहते हैं। इसलिए परमार्थ शीघ्रता का कार्य नहीं है। इसमें जल्दबाजी नहीं की जा सकती। परमात्मा का यही वरदान है कि वह जीव को अधिकार भेद एवं संस्कार अनुसार परमात्मा प्राप्ति का अवसर देते हैं। इसी में जीव का सच्चा उद्धार है। यही परमात्मा की दयालुता है।

000000000000

परमात्मा कैसे मिलें ?

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

नव वैराग की तुलना कन्याओं से की गयी है। विवाह के बाद बहुधा उनका जीवन शुरु - शुरु में सुःखद नहीं होता। माता पिता के घर में बड़े लाड़ -प्यार से उनका पालन पोषण किया जाता है। जब वह ससुराल जाती हैं तो उनको नया जीवन मिलता है। सास कुछ आशा रखती है, पति कुछ आशा रखता है। परिवार के लोग भिन्न -भिन्न प्रकार से व्यवहार करते हैं। उसका जीवन एक उलझन सा होता है। इसी प्रकार की अवस्था जिज्ञासुओं की होती है। प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि ईश्वर, जो उसका सच्चा पति है, तुरन्त मिल जाय और उसका जीवन सुखमय बन जाय, उसे किसी प्रकार का कष्ट न रहे, किसी प्रकार का दुःख न रहे, किसी प्रकार की मानसिक या शारीरिक पीड़ा न रहे। यह आन्तरिक इच्छा -आशा प्रत्येक व्यक्ति की होती है।

जिज्ञासु के रूप में गुरुदेव स्वयं ही प्रश्न करते हैं कि " सौं " (पति) यानी परमात्मा कैसे मिलें ? प्रभु कृपा से कन्याओं में सहनशक्ति, सहयोग की शक्ति बचपन से ही होती है। ससुराल में जाती हैं तो मायके को भूल जाती हैं। नये वातावरण को तुरन्त अपना लेती हैं। अनेकों उत्तेजनार्यें मिलती हैं। कठिनाइयाँ आती हैं। इस परिस्थिति में वह कन्या जिसे अभी जीवन का ज़्यादा ज्ञान नहीं है, वह अज्ञान है, वह क्या करे ? गुरुदेव स्वयं ही उत्तर देते हैं - " आप गवैए ,ता सौं पाइये /" यानी अपना आपा खो दें, अहंकार को खत्म कर दें, दीनता, ताल -मेल, सहयोग - इन गुणों को अपनायें तो ईश्वर की प्राप्ति तुरन्त हो सकती है। यही बात जिज्ञासुओं को करनी है। अहंकार को त्यागें और दीनता व ईश्वर के साथ सहयोग (राज़ी - व - रज़ा) को अपनायें। आंखें बन्द करके अभ्यास करने से शक्ति मिल सकती है, तनिक सा आन्तरिक सुःख भी मिल जाय, परन्तु यह काफी नहीं है। हमारे भीतर में जो त्रुटियाँ , बुराइयाँ, अहंकार, भरा पड़ा है वो दूर होना चाहिए। जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक हम प्रभु रूपी आनन्द सागर में अपने आप को कैसे लय कर पायेंगे ? आपको निरन्तर आनन्द, निरन्तर सुःख की प्राप्ति नहीं हो पायेगी। यही पहला और आखिरी कदम है।

जो पुरुष हैं उनको स्त्री वर्ग से, बहिनों से सीखना है। लड़कियों में, बहिनों में, दीनता का गुण स्वाभाविक रूप से होता है। जब तक हम करुणा, दया, सहानुभूति, सेवा - इन गुणों को नहीं अपनायेंगे तब तक हमें ईश्वर या गुरु की सामीप्यता प्राप्त नहीं हो सकती है। इन गुणों के होते हुए भी जिज्ञासुओं में अहंकार रह जाता है और यह भिन्न -भिन्न रूप धारण करके आता है। जैसे रावण के सिर पर गधे का सिर रखा है, ग्यारह सिर लगाये हैं, ये सब अहंकार के भिन्न -भिन्न रूप हैं। यह गधे का सिर केवल रावण के शरीर पर ही नहीं था, हमारे और आपके सबके शरीरों पर है। हम रावण के सिर को तो हर साल दशहरे पर जलाते हैं, लेकिन हमारे शरीर के ऊपर जो रावण का सिर (अहंकार) है उसको हमने कभी नहीं जलाया है। जब तक हम उस सिर को नहीं जलायेंगे, अहंकार का खात्मा नहीं नहीं करेंगे। तब तक हमें परमात्मा की प्रसन्नता प्राप्त नहीं हो सकती।

जिज्ञासु एक अज्ञान बाला की तरह क्या करे ? पति (परमात्मा) तो तुम्हारे भीतर में बैठा है । तुम किस अज्ञान में पड़े हो ? शंकराचार्य जी कहते हैं ' तत्त्वमसि ' । ईसा मसीह कहते हैं " *Know thyself / That thou art!* " (अपने आप को पहिचानो -तुम वही हो -हे भोले- भाले मनुष्य ! तुम तो स्वयं वही हो)। परमात्मा, सच्चा पति, तो तुम्हारे भीतर ही है। उसी बात का गुरुदेव पुनः हमें विश्वास दिला रहे हैं कि तुम परमात्मा का अपने अन्तर में दर्शन करके प्रेम की अनुभूति क्यों नहीं करते हो ? हे अनजान बाला ! वो धन, वो पति, वो परमात्मा, तो इतना नज़दीक है जितना तू सोच भी नहीं सकती।

परमात्मा को बाहर क्यों ढूँढ़ रहे हो ? वह तो तुम्हारे भीतर है। महर्षि रमण ने भी कहा है कि लोग -बाग़ ईश्वर को बाहर से बुलाते हैं, परन्तु वो भूल जाते हैं कि ईश्वर तो उनके भीतर बैठा है, उसको क्यों नहीं देखते ? वो नज़दीक से नज़दीक, समीप से समीप है। उसकी अनुभूति क्यों नहीं करते ? उसके दर्शन क्यों नहीं करते ? बाहर ढूँढ़ने से क्या फ़ायदा ? जंगल में जाने से क्या फ़ायदा? हम अज्ञानवश यह समझते हैं कि हम तो यह शरीर हैं और हमारे भीतर में जो संकल्प - विकल्प उठते रहते हैं, यही हमारा असल है। पर हमारा असली रूप तो हमारी आत्मा है जिसका अज्ञानवश हम सुमिरन नहीं करते। मृग की नाभि में सुगन्धि है पर वह उसकी खोज में मारा -मारा फिरता है। वह कस्तूरी रूपी आत्मा हमारे भीतर में है, परन्तु हम उसे ढूँढ़ते बाहर हैं।

गुरुदेव कह रहे हैं कि आपके भीतर में ही आत्मा, परमात्मा, आपका सच्चा पति बैठा है। अज्ञान और अहंकार को छोड़ो और उसके चरण कमलों को पकड़ लो। भीतर कैसे चलें, पति को कैसे प्रसन्न करें ? पति के प्रति लज्जा रखें, प्रेम भाव रखें। अपनी आँखों में क्षमा का काजल डालें ताकि ये आँखें पति के दर्शन कर सकें। आपका श्रंगार किस प्रकार का हो ? वह भाव का हो, प्रेम और श्रद्धा का हो। भय और भाव को अपनायें, श्रद्धा और दीनता को अपनायें। जब हम इन गुणों को अपनाते हैं, ऐसा श्रंगार, ऐसा काजल और ऐसे वस्त्र पहिनते हैं तो हम अधिकारी हो जाते हैं। पति हमारा प्रसन्न हो जाता है। " तां सुहागिन जानिये लागी जो सौं भरे पियार/" स्त्री तभी सुहागिन है यदि पति के साथ उसका प्रेम है। नहीं तो पति के होते हुए भी वह दुहागिन है।

हम भी जिज्ञासु या ईश्वर -प्रेमी तभी कहला सकते हैं जब हमारा ईश्वर के साथ सच्चा प्रेम हो। किस प्रकार का प्रेम ? मछली को पानी से निकाल देने पर उसकी क्या अवस्था होती है ? वह जल के बिना नहीं रह सकत , अपनी जान दे देती है। सच्ची स्त्री का ऐसा प्रेम होना चाहिये कि वह पति के बिना रह ही न सक । जिज्ञासु परमात्मा के वगैर रह ही न सके। वह प्राण दे दे जब तक उसका पति परमात्मा न मिले। वो जिज्ञासु दुहागिन है, वह सत्संगी नहीं है, जो अपने इष्टदेव के लिये, परमात्मा के लिये, सच्चे पति के लिये व्याकुल नहीं होता। " तुझे रो रो के याद करना, अजिज की जिन्दगी है।"

स्वामी रामतीर्थ के पास स्वामी विवेकानन्द गये। शाम को उन्होंने प्रवचन दिया घर लौटे तो स्वामी रामतीर्थ से पूँछा - आज आपने मेरा प्रवचन सुना, कैसा लगा ? स्वामी जी ने उत्तर दिया --"एक बात कहूँ , बुरा तो नहीं मानोगे ?" विवेकानन्द जी ने कहा " नहीं " । रामतीर्थ जी ने कहा कि भक्ति पर प्रवचन हो और आपकी आँखों से एक अश्रु भी न गिरे, यह कैसा भक्ति पर प्रवचन हैं ?

भक्ति की हमारी साधना हो और हमारे भीतर में व्याकुलता न हो, तो ये कैसी हमारी साधना है ? गुरुदेव कहते हैं कि सुहागिन वही है जो अपने पति से प्रेम करती है। अपना सब कुछ न्यौछावर कर देती है, अपनी कोई इच्छा नहीं रखती। उसका रूप, श्रृंगार, व्यवहार - सब कुछ पति की प्रसन्नता के लिये होते हैं। इसी प्रकार सच्चे जिज्ञासु की साधना यह होती है कि

उसके प्रत्येक व्यवहार का अंग साधना का रूप लिये हुए हो और उसका परिणाम इष्टदेव की प्रसन्नता हो उसे और कुछ नहीं चाहिये । "राज न चाहों, मुक्ति न चाहों , प्रीत चरण कमला रे "। प्रेम में कुछ माँगना नहीं होता, कोई आशा नहीं होती, बलिदान होता है। सब कुछ न्यौछावर कर देते हैं। हम यह भी नहीं जानते कि हम अपने पति के साथ प्रेम क्यों करते हैं ? ।

गुरुदेव ने प्रेम के लक्षण बताये हैं। हम यह जाने ही नहीं कि हम क्यों प्रेम करते हैं ? इस प्रेम में कोई आशा न रखें। यदि हम प्रेम में कोई आशा या आकाँक्षा रखते हैं, तो हमारी प्रेम की भावना सच्ची नहीं है। यदि हम चाहते हैं कि हमारा यह साँसारिक काम हो जाय, वह काम हो जाय, तो यह तो स्वार्थ है, परमार्थ नहीं। पति उस पर प्रसन्न होता है जो अपने जीवन की आहुति दे देता है। कुछ नहीं चाहिये, यहाँ तक कि मुक्ति भी नहीं चाहिये।

हम में सच्ची जिज्ञासा उत्पन्न ही नहीं हुई है। हम अभी अनजान बाला हैं, हमें पता ही नहीं है कि हम प्यार कैसे करें ? हम अनजान हैं, हमने रास्ता नहीं देखा है। गुरु हमारा मार्गदर्शन करता है । हम -आप बड़ी कोशिश करते हैं परन्तु परमात्मा के चरणों की प्राप्ति नहीं होती। गुरुदेव कहते हैं कि हमारी व्याकुलता उसे (परमात्मा को) अच्छी लगती है, हमारा रोना उसको अच्छा लगता है। हमारे प्रेमाश्रु उसके चरण कमल धो डालें, यह उसको अच्छा लगता है। जब तक हम ऐसा नहीं करेंगे, आराम से बैठेंगे और सबेरे उठते ही वगैर संध्या पूजा किये दफ़्तर को चले जायेंगे तो काम नहीं चलेगा।

अपने भीतर में परमात्मा, अपने इष्ट के प्रति व्याकुलता अपनायें। उससे मिलने की ऐसी तड़प हो जैसे मछली को जल की होती है। आपमें दीनता हो , 'राज़ी -व -रज़ा' हो। जिस हाल में परमेश्वर आपको रखें, आप खुश रहें। तभी हम सच्चे जिज्ञासु कहलाने योग्य होंगे अहंकार का त्याग करें, दीनता अपनायें। अपने इष्ट के प्रति व्याकुलता उत्पन्न करें। कोई काम ऐसा न करें जिसमें हमारे इष्ट की अप्रसन्नता हो। कोई पल उसकी याद से खाली न जाय। जब ऐसा होगा तब हम अन्तर में उस परमात्मा के दर्शन और उसके प्यार की अनुभूति कर सकेंगे ।

0000000000

राम सन्देश : जुलाई-अगस्त, 2009

परमात्मा प्राप्ति में विनम्रता का योगदान

(ब्रह्मलीन महात्मा डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

सारा देश वसन्त का त्यौहार अति प्रसन्नता के साथ मना रहा है। वसन्त ऋतु में न तो अधिक सर्दी होती है और न अधिक गर्मी होती है। जैसे अभी आप रामायण का पाठ श्रवण कर रहे थे, संतों का प्रभाव होता है, शांति का प्रभाव होता है, और आनन्द का प्रभाव होता है। चंचलता नहीं होती। महान संत तुलसीदास जी ने प्रेरणा देते हुए संसार को जागरूक करने की कोशिश की है। महापुरुषों के गुण और पापियों के अवगुणों को बताने का यत्न किया है। साधना का भाव मन को साधना है। सबका मन चंचल होता है, सबके मन अतीत के संस्कारों से रंगे हुए होते हैं। अपने चित्त पर जो संस्कार अंकित हैं उनके अनुसार व्यक्ति संसार में रहते हुए व्यवहार करता है। तुलसीदास जी ने भगवान् राम के जीवन से हमें प्रेरणा दी है कि हम बुराइयों पर विजय प्राप्त करने की कोशिश करें। सावधान भी किया है कि यह रास्ता अति कठिन है। भगवान राम तो विजय प्राप्त कर सकते हैं पर अन्य सभी मनुष्य ऐसा नहीं कर पाते। साधना का मतलब है - कोशिश करो, कोशिश करो, कोशिश करो, बराबर कोशिश करते रहो। Try again, Try again मन एक दिन में काबू में नहीं आएगा, एक दिन में पवित्र, निर्मल नहीं होगा। साधना में इसके लिए 'अभ्यास' शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रयास करो, प्रयास करो।

हमारे जीवन का लक्ष्य यह होना चाहिए कि जैसा परमात्मा का रूप है, जैसे परमात्मा के गुण हैं, वैसे हमें बनना है, इससे कम नहीं। खेद की बात है कि पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी मन की कमजोरियों में व्यस्त हो जाता है। वह जानता है, उसकी आँखें खुली रहती हैं - भीतर की भी और बाहर की भी - परन्तु अपने पिछले व्यवहार और संस्कारों के कारण, स्वभाव के कारण, वो बुराइयों पर विजय प्राप्त नहीं कर पाता। दोषी वह स्वयं है लेकिन दूसरों को दोषी बनाता है। ये मनुष्य का व्यवहार है। उर्दू में इसे 'फितरत' कहते हैं। ये मनुष्य की फितरत है। आँखें बन्द करके बैठ जाना, माला आदि का जाप कर लेना काफी नहीं रहेगा। अपने जीवन को ईश्वरमय

बनाने के लिए इतना काफी नहीं रहेगा। यहां तो सत्य के यज्ञ में अपने संस्कार को, अपनी असत्यता को, अपनी बुराइयों को, भस्म कर देना है। ईश्वर का स्मरण करना है, स्मरण करने का मतलब ये नहीं है कि राम-राम, राम-राम करते गए। हमें भगवान राम के जीवन का अध्ययन करना है और उनके गुणों को अपने जीवन में उतारना है। पूजा तभी ठीक होगी जब हम अपने इष्टदेव के स्वरूप को, उनके गुणों को, धीरे-धीरे अपने जीवन में उतारें। तब क्या होगा -

" तू तू करता तू भया, मुझमें रही न हूँ !

आपा फिरका मिट गया, जत देखां तत तू !! "

ईश्वर के स्वरूप को और ईश्वर के गुणों को धीरे-धीरे अपनाते जायेंगे तो हम भी ईश्वर हो जायेंगे। इसमें किसी भी धर्म के साथ कोई मतभेद नहीं है। दोष मनुष्य के मन का है। मनुष्य अपनी कमजोरियों के कारण गढ़े में गिरता है, दुःख भोगता है, परन्तु तब भी सचेत नहीं होता और परमात्मा के शुभ-गुणों को नहीं अपनाता। क्रिश्चियनिटी (Christianity) में परमात्मा को Father (पिता) कहा गया है और जीव को Son (बेटा) कहा गया है। जीव को पिता के, परमात्मा के, गुणों को अपनाना है। जब तक आप ऐसा नहीं करेंगे, आपको अधिकार नहीं है कि आप ऐसा कहें कि " I and my Father are one " मैं और मेरा पिता एक हैं"। ऐसा हम नहीं कह पायेंगे। परन्तु ऐसा किये बिना जीवन में सुख नहीं मिलेगा, जीवन का कल्याण नहीं होगा। आप दुखी रहेंगे। सुख, शान्ति और आनन्द - ये स्थिति आपकी नहीं आ सकती है। महापुरुष कहते हैं कि ' बिन गुण कीते भक्ति न होई।' भक्ति का मतलब है साधन, पूजा। आप जब तक ईश्वर के गुणों को अपने जीवन में नहीं उतारेंगे तब तक आपके साधन में, पूजा में, सफलता नहीं आयेगी।

इस वक्त क्या हो रहा है संसार में, विशेषकर अपने देश में ? चारों ओर बुराई ही बुराई है। हमने अपने पूर्वजों के जीवन को भुला दिया है, उनके गुणों को भुला दिया है और ऐसी स्थिति हो गयी है देश की कि व्यक्ति विवश हो जाता है बुराई करने के लिए। न चाहते हुए भी वह बुराई करने पर विवश हो जाता है। यह स्थिति हो रही है, साधारण व्यक्ति की नहीं, जो आध्यात्मिक पथ पर चल रहे हैं, वे विवश हो जाते हैं। बड़ी कठिन स्थिति से गुजर रहे हैं हम।

जिस देश को सोने की चिड़िया कहा जाता था, जिस देश से बाहर के लोग प्रेरणा लेते थे, आज उस देश की हालत इतनी गिर गयी है कि मैं क्या कहूँ। और हम उस देश के वासी हैं। मुझे दुःख होता है कि हम सब की स्थिति इतनी गिरी हुई है। आप सोचेंगे कि हम बहुत अच्छे हैं, सत्संग में आ गए हैं। ऐसा नहीं है। स्व-निरीक्षण करके देखें तो आप पायेंगे कि हम सबसे बुरे हैं ;

" बुरा जो देखन मैं गया, बुरा न दिखा कोय !

जो दिल खोजा अपना, मुझसे बुरा न कोय !! "

यह स्थिति प्रत्येक व्यक्ति की है हमारे देश में, वो चाहे जो काम करता हो। वो बिना बुराई के सँसार में चल नहीं पाता। वातावरण ऐसा प्रतिकूल हो गया है कि यदि कोई सच्चाई का जीवन व्यतीत करने का प्रयास करता है तो उसको सफलता नहीं मिलती। वो भूखा मरता है। तुलसीदास जी ने हमें प्रेरणा दी है कि हम भगवान् राम के जीवन का अनुसरण करें।

" तू- तू करता तू भया मुझमें रही न हूँ !"

भगवान राम के जीवन का अनुसरण करें। इतना अनुसरण करें कि भगवान राम और आपमें कोई अन्तर न रहे। परन्तु परिस्थितियाँ विवश कर रही हैं, हम ऐसा नहीं कर पा रहे हैं। भले ही हम सत्संगी अपने आपको सत्संगी कहलायें, परन्तु हमारा वास्तविक जीवन। जैसा एक सत्संगी को होना चाहिए वैसा नहीं है। इसका कारण यही है कि जिस कमाई से हम भोजन खाते हैं वो हमारी कमाई पवित्र नहीं है। जिस वातावरण में हम रह रहे हैं और जो विचार हम उठाते रहते हैं वो पवित्र नहीं हैं। परमात्मा के आयाम में पवित्रता ही पवित्रता है। वहाँ अपवित्रता नहीं जा सकती। मैं फ़रीद जी की जीवनी पढ़ रहा था तो उसमें लिखा था कि औरंगज़ेब बहुत अत्याचारी था। वह सवा मन जनेऊ रोज़ जलाता था तब भोजन करता था। भाइयों को उसने क़त्ल किया, फ़कीरों को क़त्ल किया और भी बहुत से क़त्ल किये। उस पुस्तक के लेखक ने लिखा है कि औरंगज़ेब इतने हिन्दुओं को मुसलमान नहीं बना पाया जितना फ़रीद जी ने अपनी पवित्र वाणी द्वारा, सरल वाणी द्वारा, हिन्दुओं को मुसलमान बनाया। यह बात मुझे पहले मालूम नहीं थी। उन्होंने मधुर व्यवहार के द्वारा लोगों का धर्म परिवर्तन किया और उनको बुरी बात

करना नहीं सिखाया। अच्छी बातें सिखाईं, इतनी अच्छी बातें सिखाईं कि सिक्खों के ग्रन्थ साहिब में फ़रीद जी की वाणी सम्मिलित है। प्रत्येक सिख फ़रीद जी की पूजा करता है। प्रत्येक हिन्दू फ़रीद जी की पूजा करता है। ऐसी बात किसी ग्रन्थ में नहीं है। तो नेकी ही हमें सीधे रास्ते पर ले जा सकती है। यदि हमें तुलसीदास जी से प्रेरणा लेना है तो हमें नेकी को अपना पड़ेगा। हमारा व्यवहार बहुत गन्दा है। फ़रीद जी क्या कहते हैं -

" फ़रीदा बुरे दा भलाकर, गुस्सा मन न हंडाये !"

तेरा व्यवहार ऐसा होना चाहिए कि जो बुरा व्यक्ति है और जो तुमसे बुरा व्यवहार करता है, तो तुम उससे नेकी करो। कबीर साहब की तरह उन्होंने नेकी की प्रेरणा दी। केवल मुसलमानों को नहीं, सारे भारत को। वो कहते हैं कि जो तुम्हें मुक्के मारे उसे तुम और ज़ोर से मत पीटो, तो क्या करें - " घर तिना के जाये के, पैर तिनांके चुम्मा !"

उनके घर जाओ जिन्होंने तुम पर अत्याचार किये हैं, उनके पैर चूमो। अत्याचार करने वालों के साथ अत्याचार नहीं करो अपितु उनके पैर पकड़ो। पाँव चूमो। उन्हीं बड़े सरल शब्दों में अपनी वाणी उच्चरण की है। बहुत सरल, सामान्य व्यक्ति भी उनकी वाणी समझ सकता है।

आज का दिन हम दादागुरु, पूज्य लालाजी महाराज, के निमित्त मनाते हैं। आपको ताज्जुब होगा कि उनके गुरु भी एक मुसलमान संत थे। कुछ साल वे उनके चरणों में रहे। लाला जी के मन में विचार आया कि मैं भी अपने गुरु के धर्म को अपना लूँ। मैं भी उनकी जैसी शकल बना लूँ। उन्होंने अपने गुरुदेव से निवेदन किया कि मुझे आज्ञा दें कि मैं भी मुसलमान हो जाऊँ।

लालाजी महाराज के गुरुदेव उत्तर देते हैं - " आगे से ऐसे शब्द नहीं बोलना"। बाहर की वेशभूषा से व्यक्ति आत्मा का ज्ञान प्राप्त नहीं करता, गुरु का सच्चा सेवक नहीं बनता। गुरु का सच्चा सेवक वो बनेगा जो आत्मा के गुणों को अपनाएगा। अपना जीवन ऐसा बनाएगा जैसा ईश्वर का है। बाहर के धर्मों में, बाहर के कर्मों में कुछ नहीं रखा है। ये तो दिखावटी हैं। आन्तरिक जीवन का सुधार करना चाहिए। परमात्मा के चरणों में पहुँचना है तो परमात्मा जैसा बनना पड़ेगा। चाहे उसका नाम खुदा रखो, चाहे उसका नाम 'राम' रखो, कोई फ़र्क नहीं पड़ता। ये वेबकूफ़ लोग आपस में लड़ते-झगड़ते हैं। पूज्य लालाजी महाराज एक बहुत ही अमीर परिवार में

पैदा हुए। आपकी माता जी बहुधा रामायण पढ़ा करती थीं। पिताजी, जैसे कायस्थ लोग होते हैं, बड़े ऊँचे, बड़े अमीर, ज़मींदार थे। वो घर में न रहकर, अपना पृथक मकान बनाया हुआ था, उसमें बैठक करते थे, वहाँ रहा करते थे और ऐशो-इशरत में अपना समय व्यतीत करते थे। बेटा राम (लालाजी) भी माँ के पास रहता था। वास्तव में महात्मा रामचन्द्र जी, राम का ही रूप थे। वहाँ उन्होंने अपनी माता जी से रामायण सुनी, जब अपने होश में आये तब मुख्यतः रामायण का ही पाठ करते थे।

भगवान राम का जीवन लालाजी का आदर्श था और वास्तव में उन्होंने राम बन कर दिखाया। ईश्वर की कुछ ऐसी लीला हुई, पिताजी का एक मुक़दमा बाहर के एक ज़मींदार के साथ चल रहा था, पिता जी वो मुक़दमा हार गए। उस वक्त की कीमत के अनुसार करोड़ों की सम्पत्ति का नाश हो गया। उस वक्त के करोड़ों रुपये की आज कितनी कीमत होगी, आप जान सकते हैं। उस वक्त के एक रुपये की कीमत आज 1000 रुपये है। पूज्य लालाजी महाराज अति ही गरीबी की अवस्था में आ गए। भोजन भी ठीक से करना कठिन हो गया। पिताजी का स्वर्गवास हो गया। जहाँ अमीरी में रहते थे, दो घोड़ों वाली बग्गी में सवारी करते थे, वहाँ अब नंगे पाँव चलने लगे। इतनी गरीबी आ गयी। 10 रुपये महीने पर आपने नौकरी करी। परन्तु आपके चेहरे पर उदासीनता नहीं आयी। ये संत की निशानी है।

" दुःख -सुख दोनों सम कर जानो, ये गुरु ज्ञान बताई !"

समय गुजरता गया। आप घर पहुँचे, उस वक्त बारिश हो रही थी, उनके घर के पहले एक मकान था जिसमें एक मुसलमान फ़कीर रहते थे। परिचय हो चुका था। पहले तो उस दिन लालाजी महाराज को आते हुए देखकर चिन्तित हुए, उन्हें पुकार कर आपने पास बुलाया - " तुम भीग गए हो, सर्दी लग रही है, पहले अग्नि के पास बैठ जाओ।" और कुछ समय बाद कहा कि "जाओ वस्त्र बदल कर मेरे पास आ जाओ।" बिस्तर बिछा था। लौटने पर देखा अग्नि जल रही थी। उस महापुरुष ने ऐसी आवाज़ में प्यार के साथ कहा, यहाँ लेट जाओ, आज रात यहीं सो जाओ।" ये प्रथम दिन था जब आपको उस महापुरुष से आत्म-प्रसादी प्राप्त हुई। पूज्य लालाजी कहा करते थे कि जो आनन्द उनको उस रात को मिला, वो वह शब्दों में वर्णन करने में असमर्थ हैं। उनका प्रेम का सम्बन्ध बन गया। धीरे -धीरे पूज्य लालाजी महाराज उनके हो

गए। उस फ़कीर ने लालाजी महाराज को अपना बना लिया। अपने जैसा ही बना दिया। यहाँ आकर बाहर की पोशाक का कोई मतलब नहीं है। हृदय पवित्र होना चाहिए। आत्मा न हिन्दू है, न मुसलमान, न सिक्ख, न ईसाई। ये सब बातें मनुष्य की बनाई हुई हैं। धीरे-धीरे समय गुज़रता गया। आत्मिक रास्ते पर गुरुदेव की प्रगति बढ़ती गयी। समय कम है, विस्तार से कहना उचित नहीं होगा। उनके जीवन की कुछ घटनायें निम्नलिखित हैं।

" मैं आपके वास्ते मुनासिब हाल यह समझता हूँ कि चाहत का अभ्यास बहालत मौजूदा आपके लिए काफी हो गया। इस वक्त ज़्यादा ज़रूरत नहीं मालूम होती लेकिन तवक्को की इन्द्रियाँ, मन और जिगर तत्व मगरूर होकर तरतीब न हो जायें, उस वक्त तक लताफ़त नहीं आती और न असली शान्ति मिलती है।"

पूज्य लालाजी महाराज अपने प्रिय सेवक से कह रहे हैं कि आपने साधना कर ली है, काफी समय हो गया है, वो तो ठीक ढंग से हो गयी है। परन्तु भीतर का जो अस्तित्व है वो आत्मिक गुणों से अभी तक रंगा नहीं है। वो आत्मस्वरूप नहीं बना है। मन अपनी मर्जी कर रहा है, वो बुद्धि के अधीन नहीं है। बुद्धि गुरु, आत्मा, के अधीन नहीं है।

इन्द्रियाँ उछलती हैं, व्यक्ति उसमें फँस जाता है। पूज्य लालाजी महाराज फ़रमा रहे हैं जब तक इन्द्रियाँ और इच्छाओं को, राग-द्वेष को अपने वश में नहीं करोगे, आप सच्चे जिज्ञासु कहलाने के अधिकारी नहीं होंगे। आत्मपथ पर चलने के अधिकारी नहीं होंगे। भीतर में पवित्रता आणी चाहिए। पवित्रता के साथ-साथ सम-अवस्था आनी चाहिए। पवित्र हैं, लेकिन मन चंचल है। बहुत ऊँचा बोलता है, दुःख देता है, वृत्तियों में फँसा हुआ है। ऐसा मन नहीं चाहिए। मन पवित्र हो परन्तु चंचलता से रहित हो, राग-द्वेष से रहित हो। सबमें परमात्मा के दर्शन करता हो। कोई भेदभाव न हो कि ये हिन्दू है, ये मुसलमान है, सिक्ख है, ईसाई है - ये शत्रु है, ये मित्र है - ये कुछ नहीं है। ये सभी परमात्मा के रूप हैं। एक प्रकार की कोमलता आनी चाहिए। उदाहरण दिया करते थे, जैसे स्पंज है, दो-चार बूँद पानी की दाल दीजिये। देखिये स्पंज कैसे मुलायम हो जाता है। अंग्रेजी में कहते हैं softness, मुलायम।

पूज्य लालाजी महाराज कहते हैं कि सच्चा जिज्ञासु अपने व्यवहार में सबको प्रेम बाटे। उसके मन में दूसरे का शोषण करने का साहस ही न उठे। सब गन जो हैं वे natural हों,

स्वाभाविक हों, सहज हों। उसका स्वभाव ही बन जाये " ब्रह्मज्ञानी पर उपकार"। उसके भीतर में उमंग उठती है। सहज में पर-उपकार करके। वो कोशिश नहीं करता, उससे पर-उपकार अपने आप सहज में ही होता है। गंगाजल बह रहा है, वो अपने आप बह रहा है। गंगा जोर नहीं लगा रही। ये वृत्ति, सात्विक वृत्ति वाले मनुष्य की होनी चाहिए। ये बिना तप किये हासिल नहीं होता। आपके वास्ते जो तप लाज़िम है वो ये है कि तसकिये नफ़स हो जायें। हमारा अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण (control) हो, सहज कन्ट्रोल हो। मन से बल लगाकर करना वह सहज वृत्ति नहीं है। ठीक है वो भी, करते-करते वो वृत्ति सहज हो जाय, ये आपका स्वभाव हो जाना चाहिए। 'ब्रह्मज्ञानी से कछु बुरा न भया। ब्रह्मज्ञानी चाहे भी कि किसी की बुराई कर दे, उससे नहीं होती।

"आपका अभ्यास और शगल ये होना चाहिए कि आप अपने हर बेजा उभार और जज्बे को रोककर मौकिकल हालत पैदा करें/ एक जज्बा और एक हालत को जिसके मगनून हो रहे हैं उसको आप अक्वल मराकबा में अपने सामने रखें और खुदा से खलूसे-क्लब के साथ रोज़ाना इस तरह दुआ कीजिए कि हालते रिक्कत तारी हो जाये और उससे मदद चाहें कि ये आदत मगलूक हो जाये/ "

अपने सद्गुणों को अपने जीवन में उतारने का स्वभाव परिपक्व बन जाये। उससे पहले आपको कोई न कोई अभ्यास करना पड़ेगा। वो अभ्यास यही है कि अपनी इन्द्रियों को वश में लायें। मन बुद्धि के अधीन हो और बुद्धि गुरु या आत्मा के अधीन। यह सहज स्थिति आ जाये। जब ऐसी स्थिति आ जाती है तो आपसे दुनियाँ का उद्धार अपने-आप होने लगता है। आप ईश्वर-रूप बन जाते हैं। जैसा परमात्मा करता है, जैसे परमात्मा के गुण हैं, वही गुण आप में हो जाते हैं। अधिक न कहते हुए आपसे करबद्ध होकर अनुरोध करूँगा कि केवल दस मिनट, पन्द्रह मिनट आँखे बन्द करके बैठ जाना, इसको काफी न समझें। पूज्य लालाजी महाराज की जीवनी ध्यान से पढ़ें और उनके जीवन पर भी ध्यान दें कि उन्होंने दुःख में भी कैसे आत्मिक जीवन जीने की कोशिश की और अन्त में वैसे ही बन गए। कठिनाइयाँ जो आती हैं वो व्यक्ति को पागल कर देती हैं। सुख तो अपनाने की दूर की बात है, वो व्यक्ति दुःख में और दुखी हो जाता है। परमात्मा किसी की परीक्षा न ले, बहुत कठिन है ये रास्ता। केवल बातों से ही काम में सफलता नहीं आएगी, घोर तपस्या करनी पड़ेगी। आत्मप्रसादी ग्रहण करने के लिए अति कोमल

चित्त बनाना पड़ेगा। पर आपका व्यवहार सात्विक हो और अप्रयास ही आपकी वृत्ति ऐसी बन जाये कि आप कुछ बुरा कर ही न पाएं। आप यह चाहेंगे कि दूसरे की चरण रज लें, दूसरे की सेवा करें, दूसरे को सुख पहुँचायें, दूसरे को आत्मिक आनन्द की अनुभूति करायें, दूसरे को परमात्मा की ओर ले जाने का साहस करें। पूज्य लालाजी महाराज ने इन्हीं बातों की प्रेरणा दी है। जब तक व्यक्ति इन बातों को नहीं अपनाता, वो उसका स्वभाव नहीं बनती, second nature नहीं बनती, तब तक भीतर में कोमलता नहीं आएगी, सच्ची दीनता नहीं आएगी, सच्चा प्रेम नहीं उत्पन्न नहीं होगा। सच्चा प्रेम ईश्वर का रूप है। Love is God, God is love -प्रेम ही ईश्वर है, ईश्वर ही प्रेम है।

" अब आप महात्मा गौतम बुद्ध के पाँच मराकबों और उनके फतुहात की ओर गौर कीजिये। "

पूज्य लालाजी महाराज महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं को अपने जीवन में उतारते रहे हैं। वो महात्मा बुद्ध की प्रशंसा करते हैं तथा उनके पाँच साधनों (मराकबों) का वर्णन करते हैं जो निम्नलिखित है।

(1) पहला मराकबा, मौहब्बत और प्रेम का ध्यान

" पहला मराकबा मौहब्बत और प्रेम का ध्यान है। इस ध्यान में अभ्यासी अपने दिल को इस तरह साधता है कि मैं तमाम मखलूक़ात की वैवूदी यानि भलाई, यहाँ तक कि अपने दुश्मनों की भी भलाई चाहता हूँ। "

इसको सर्वमैत्री कहते हैं। सर्वमैत्री भाव का अभ्यास करना, अभ्यास की इतनी गहराई में चला जाना कि सबके साथ प्रेम करना, यहाँ तक कि जो हमसे घृणा करते हैं, जो हमसे दुश्मनी करते हैं, उनके साथ भी प्रेम करना।

यह बात सब महापुरुषों ने कही है। परन्तु महात्मा बुद्ध इसको व्यावहारिक रूप में practical way लाये हैं। केवल दार्शनिक बात नहीं कही। उन्होंने अपने जीवन के द्वारा करके दिखाया और उनके जो मित्र थे उनके द्वारा ऐसा कराके दिखाया। मैत्री भाव, सभी हमारे मित्र हैं, हम सभी के सेवक है।

" न कोय वैरी, ना ही बेगाना, सगल संग हमको बन आई । "

ये केवल दार्शनिक बातें नहीं हैं, ये जरा ध्यान से सुनिए। दार्शनिक बातें सुन तो सब लेते हैं। परन्तु दार्शनिक बातों के जो परिणाम हैं वो हमारे जीवन में उतरने चाहिए, वो हमारा स्वभाव बनना चाहिए। अप्रयास ही हम नेकी करें। अप्रयास ही दुश्मनों के पाँव चूमें। अभी तो हम सोचते रहते हैं कि इसने ऐसा किया, मैं तो इसे ऐसा करके दिखाऊँगा कि ये याद करेगा। ये हम सब करते हैं। पूज्य लालाजी महाराज हमें जहाँ ले जाना चाहते हैं वहाँ करोड़ों में से कोई एक आदमी का स्वभाव ऐसा होता है। क्या कोई किसी दूसरे का भला सोचता है ? आप व्यवहारिक रूप में देखिये। क्या कोई ऐसा दुकानदार मिलेगा जो नुकसान बर्दाश्त कर ले और आपको सौदा दे दे। 100 रुपये की चीज़ आपको 90 रुपये में दे

दे ? वो कोशिश करेगा कि 100 रुपये की चीज़ के आपसे 200 रुपये ले ले। इसके लिए वो कई झूठ बोलेगा और क्वालिटी भी गलत देगा।

आजकल जो हो रहा है वो हर दुकानदार कर रहा है। ऐसा करना फैशन बन गया है। बुराई करके व्यक्ति बुराई अनुभव नहीं करता। बल्कि खुश होता है कि मैंने उसका शोषण किया, इसमें मुझको सफलता मिली। ये स्थिति सरकारी दफ्तरों में, प्राइवेट दफ्तरों में, राजनीति में, औरों के यहाँ तो क्या कहना संतों के आश्रम में, मुझे कहना तो नहीं चाहिए, जिस जगह मैं बैठा हूँ वहाँ, हर जगह यह स्थिति हो रही है। यह वास्तविकता है। इस समय देश की बहुत ही बुरी हालत है। तो नेकी करनी चाहिए, कि कोई हमसे बुराई करे तो भी हमें नेकी करनी चाहिए।

हम विचार से, व्यवहार से दूसरे से प्रेम करें, दूसरों से घृणा नहीं करें। अपने आपको बहुत ऊँचा नहीं समझें, सबका सेवक समझें। पंजाबी में कहते हैं 'दास'। मैं तो सबका दास हूँ।

(2) दूसरा मराकबा रहम का ध्यान

“ इसमें यह ख्याल किया जाता है कि तमाम मखयूकात यानी जीव-मात्र मुसीबत में हैं और अपनी ख्याली ताकत यानी इच्छा-शक्ति के ज़रिये उनके रंज और गम की तस्बीर अपने दिल के सांचे पर खेंची जाती है। “

दूसरा मार्ग यानी दूसरा साधन है 'रहम', करुणा। हम बाज़ार से गुज़रते हैं दखते हैं फ़कीर बैठा है जख्मी, सारे शरीर पर उसके ज़ख्म/घाव हो रहे हैं। हमारा हाथ जेब में नहीं

जाता कि उसको कुछ दे दें। वो भूखा है, कुछ खाना खा ले, ऐसा नहीं करते। बड़े कड़वे शब्द कहेंगे कि रास्ते से दूर हो जा, कहाँ बैठा है ? लोगों को दुःख पहुँचा रहा है। जिन व्यक्तियों को चर्म रोग है, माता-पिता भी उन लोगों को बाहर फेंक आते हैं। गाँधी जी ने इस काम में अपना योगदान दिया। अब वो बात नहीं है। सरकार भी कोशिश कर रही है कि जिनको ऐसा रोग हो उनसे अच्छा बर्ताव किया जाये। लोग-बाग पहले बहुत घृणा से देखते थे ऐसे व्यक्तियों को।

पूज्य लालाजी महाराज महात्मा बुद्ध के शब्दों को दोहरा रहे हैं कि साधक के मन में करुणा उत्पन्न होनी चाहिए। किसी को दुखी देखकर उसके दुःख को अपना दुःख समझना चाहिए। जब तक भीतर में करुणा नहीं होगी, कोमलता नहीं होगी, आप साधना क्या करेंगे ? आप ग्रन्थ पढ़ लीजिये क्या होगा, कुछ नहीं होगा।

अपने इस छोटे से हृदय को अति कोमल बनाना पड़ेगा और ये कोमलता का व्यवहार सहज में, अपने आप आये। व्यक्ति अपनी जेब खाली कर दे, दूसरे के दुःख की निवृत्ति करने में। और ऐसा अपने आप सहज ही हो जाये। उसे यह न सोचना पड़े कि मुझे देना चाहिए था या नहीं देना चाहिए था या कि ये व्यक्ति कहीं मुझे धोखा तो नहीं दे रहा है। ये बात भी सत्य है, हम रोज़ देखते हैं कि आजकल सड़कों पर कुछ नकली लोग ऐसा करते हैं कि मुझे शरीर का अमुक रोग है, आदि-आदि ऐसी बातें करते हैं। महापुरुष कहते हैं कि हमें ऐसी बातों की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। कोई सच्चा है या झूठा, वो अपने आप भोगेगा अपने दुःख-सुख को। परन्तु आपके हृदय में करुणा के भाव निरन्तर उदय होते रहने चाहिए। चाहे कोई झूठा दिखा रहा है या सच्चा दिखा रहा है, उसकी शकल को देखकर आपसे रहा न जाय। आप उस व्यक्ति की सहायता करें, उसके प्रति करुणा दिखाएँ। करुणा में अति कोमलता है, अति कोमलता है। इस कोमलता को पत्थर -हृदय नहीं समझ सकते। पत्थर दिल परमात्मा के चरणों तक नहीं जा सकते।

(3) खुशी का ध्यान

“ तीसरा मराकबा खुशी का ध्यान है / इसमें हम दूसरों की भलाई का ध्यान करते हैं और उनकी खुशी में खुशी मनाते हैं ”

तीसरे मराकबे में वो दूसरों को प्रसन्नचित्त देखना चाहते हैं, और उनको प्रसन्नचित्त देखकर स्वयं प्रसन्न होते हैं। दूसरे को दुखी देख हम सुखी हों, ये स्वभाव नहीं होना चाहिए। दूसरे के दुःख को दूर करने की चेष्टा करनी चाहिए, उसमें हमारी प्रसन्नता होनी चाहिए। हम कह देते हैं कि है ही ऐसा, आदमी का स्वभाव ही ऐसा है। उसकी तो वृत्ति बन गयी है। वो तो ऐसा ही करता है। हम आँख बंद कर लेते हैं या दूसरे रास्ते से चले जाते हैं। ऐसा नहीं हो। व्यक्ति कितना ही पापी हो, कितना बुरा हो, सच्चे साधक को उसे बदलना है, उसके स्वभाव को बदलना है। तो शुरू-शुरू में उसकी सहायता करनी होगी चाहे वह हमारा शोषण ही कर रहा हो। मगर एक दिन ऐसा आएगा कि उसको पता लग जायेगा कि यह व्यक्ति मेरी कितना सहायता कर रहा है। उसके हृदय में भी करुणा उत्पन्न हो जाएगी। वो भी करबद्ध होकर खड़ा हो जायेगा। प्रभु, मैंने बहुत धोखा दिया है आपको। अब मैं अपने पाँव पर खुद खड़ा हूँ जहाँ बुराई की इति होती है वहाँ नेकी की उससे ज़्यादा अति होनी चाहिए। तभी तो फ़रीद जी कहते हैं - "बुरे दा भला कर " नहीं तो आपका चित्त भी खराब हो जायेगा।

(4) कसाफंत या नापाकी का ध्यान

" इसमें बुराई के बुरे नतीजों और गुनाह और बीमारियों के अन्जामों पर गौर करते हैं। "

ये साधन विवेक का है, शुद्ध बुद्धि का है, आँखें खोलकर चलने का रास्ता है, मनन करने का रास्ता है। ये घटना, ये व्यवहार, ये कवायद, ये आचरण, इसमें मुझे तथा अन्य लोगों को कुछ लाभ होगा या हानि। सद्गुणों को अपनाना है, अवगुणों का परित्याग करना है। धीरे-धीरे ये गुण आत्मगुण हो जाना चाहिए। उससे आपमें कोमलता आ जाएगी। और जब तक हृदय में कोमलता नहीं आएगी, आप परमात्मा की भक्ति नहीं कर ही नहीं सकती। सड़क पर भिखारी बैठे हैं, अंगहीन हैं। जब तक परमात्मा के उन रूपों की सेवा नहीं करेंगे, परमात्मा को कैसे प्राप्त करेंगे ? क्या परमात्मा को कभी आदमियों की शकल में देखेंगे? वो तो पाप है। क्योंकि उनकी कमाई पाप से बनी है। उनकी सेवा करने से तो पाप और बढ़ जाता है। Have nots । जिनके पास कुछ नहीं है, जिनके पास न गुण हैं, न पैसा है, न शरीर, न बुद्धि है, हम ऐसे लोगों से घृणा करते हैं। ऐसे लोगों से प्रेम करना है। वे ईश्वर-रूप हैं, ईश्वर की पूजा करनी है। अमृतसर में एक आश्रम है, उसे पिंगलवाड़ा कहते हैं। सरदारजी हैं, बूढ़े थे, अब शायद गुज़र गए हों,

एमाण थे। उन्होंने यह रास्ता अपनाया। उन गांवों की मवेशियों को जो अंगहीन थे, उनके द्वारा न तो आय होती थी, जो न दूध देते थे, ऐसे मवेशियों को लोग घर-बार से बाहर निकाल देते थे, सड़कों पर छोड़ देते थे। ये तो रोज़ पाँच-सात रूपये रोज़ का अनाज खा जाते हैं। इनको रखने का क्या लाभ है ? तो वो महापुरुष एक साल नहीं, काफी सालों से यह काम करते आ रहे थे। इसी को उन्होंने पूजा समझा, इसी को पाठ समझा। लोगों के घरों से ऐसे पशुओं को ले आते थे। अपनी जेब से उन पशुओं को खाना खिलाना, उनकी सेवा करना। उनके शरीर पर घाव वगैरा होते थे, उनका उपचार करते थे। गौशाला तो बहुत हैं पर इस तरह की पिंगलबाड़ा कम हैं। कहीं-कहीं हैं। साधारणतः मनुष्य अपना लाभ देखता है कि इतना काम करूँगा, इससे मुझे क्या लाभ होगा। पर ईश्वर-प्रेमी कहता है, लाभ-हानि की कोई बात ही नहीं, मुझे तो सुअवसर मिलना चाहिए कि किसी की योग्य सेवा कर सकूँ।

(5) अमल, असूदगी, यानी शान्ति का ध्यान

ये साधना क्या है जिससे भीतर में, हृदय में शान्ति नहीं होगी, संतोष नहीं होगा। आपने छोटा सा मकान बनाया, दूसरों का मकान देखते हैं, सोचते हैं ऐसा मकान मैं भी बनवाऊँगा। आजकल बैंक से लोन मिल जाता है, वो बनवाया, छै महीने बाद किसी और का मकान देखा कि मेरे वाला अच्छा नहीं है, मेरा मकान भी ऐसा होना चाहिए। इस तरह से अपनी इच्छाओं को और आशाओं को बढ़ाते चले जाते हैं। सन्तुष्टता नहीं होती। अहंकारी जीव होते हैं, कोमलता नहीं होती। जब व्यक्ति असंतुष्ट होता है तो उसको शान्ति नहीं मिलेगी। तो पाँचवा पग जो है, रास्ता जो है, वह है - भीतर में संतोष होना चाहिए, सन्तुष्टता होनी चाहिए और शान्ति होनी चाहिए। दूसरा कोई गाली दे गया, ठीक है, उसका कसूर नहीं है, उसको गलतफहमी हो गयी, उसने गलत समझा है। इसीलिए उसको क्रोध आ गया। कोई बात नहीं। उसके भीतर भी परमात्मा बैठा है। प्रभु उस पर कृपा करें। तो हर तरीके से अपने भीतर में शान्ति रखें। Mental peace मानसिक शान्ति और अपने व्यवहार से दूसरों को शान्ति प्रदान करते रहें। जब तक मन में शान्ति नहीं है, चाहे वह मन्दिर में बैठा है, मस्जिद में बैठा है, गुरुद्वारे में बैठा है, क्या मतलब है, कोई लाभ नहीं। हृदय रूपी भवन में शान्ति होनी चाहिए। भगवान राम जैसे शांत व्यक्ति की छाया हमारे हृदय में होनी चाहिए। महर्षि वशिष्ठ की मूर्ति हृदय में अंकित होनी

चाहिए। विश्वामित्र ने वशिष्ठ जी के सौ पुत्रों का कत्ल किया। विश्वामित्र क्रोध में जल रहे हैं, वशिष्ठ जी शान्त हैं। क्या हम कर सकते हैं ऐसा ?

ये पाँच मराकबे जो पूज्य लालाजी ने गौतम बुद्ध के लिखे हैं इनको बार-बार पढ़ना चाहिए और अपने जीवन को इन मराकबों के अनुसार बनाने का प्रयास करना चाहिए। ये प्रयास ही हमारा अभ्यास है। गुणों को अपनाना ही हमारा अभ्यास है। गुणों को नहीं अपनाएंगे, बाहर का रूप दिखायेंगे, कोई लाभ नहीं होगा। ईश्वर के चरणों में जाने के लिए आप सबको ईश्वर बनाना पड़ेगा। To seek God is to become God इससे कम नहीं। महात्मा जी की जीवनी के बारे में जितना कहा जाये, कम है। हम सबको उनकी जीवनी पर जो साहित्य हमारे पास है, वो पढ़ना चाहिए, उस पर मनन करना चाहिए और पढ़कर वैसा बनने की कोशिश करनी चाहिए। तब तो हमें उनका दिन मनाना उचित होगा। अन्यथा यहाँ आये, सैर करी, खाया-पिया, और फिर चले गए। यदि गंगा-स्नान करके व्यक्ति के हृदय में शांति उत्पन्न नहीं होती, और भण्डारे आदि सत्संग में आकर भी आपके हृदय में शांति उत्पन्न नहीं हुई, सद्गुणों की प्रेरणा आपने नहीं सुनी, तो मैं हाथ जोड़ के आपसे क्षमा चाहता हूँ, कुछ नहीं होगा। सत्संग से फारिग होकर इन पाँच मराकबों की जिसको भी किताब यहाँ मिल जाए वह उसे यहीं पढ़कर जावे। घर पहुँचने तक आपके स्वभाव में परिवर्तन हो जाये। जब वहाँ पहुँचें तो घर वाले आपके स्वभाव को देखकर इतने प्रभावित हो जाएँ और वह भी कहें कि हमें भी ले चलना भण्डारे पर। आपने प्रसाद चढ़ाया ठीक है, मिठाई का प्रसाद तो घर ले जायेंगे, परन्तु आपने चित्त का, चित्त के निर्माण का, प्रसाद सबको देना है अपने व्यवहार के द्वारा, अपनी वाणी के द्वारा। ये सब बातें मौन में होती हैं, ढिंढोरा पीटकर नहीं होतीं। मोहे अपनी शरण में ले लो राम।

गुरुदेव आप सबका कल्याण करें।

0000000000

परमार्थ साधना में साध्य और साधन - संत-सद्गुरु एवं उनकी संत-प्रसादी

(ब्रह्मलीन परमसंत डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

परमपूज्य गुरुदेव महात्मा डॉ०श्रीकृष्ण लाल जी महाराज की वाणी में, " संत की पहिचान है कि उनके पास बैठने से आपकी भीतर की कमियाँ उभर आयें/ अपनी कमज़ोरियों की जानकारी मिलने लगे और उन कमज़ोरियों को दूर करने की भावना पैदा हो/ ईश्वर सम्बन्धी तरह-तरह के सवाल पैदा होने लगें, मन में बार-बार उसी से जुड़ी भावनाओं को उत्साह मिलने लगे, तो आप इससे अनुभव करेंगे की यहाँ से (संत के सत्संग से) आपको शांति मिल सकती है।"

संत कौन है ?

हमारे शास्त्रों ने और सब महापुरुषों ने संतो की स्तुति का गायन किया है। संत वह व्यक्ति है जो सत्य की मूर्ति है। परमात्मा सत्य है और संत ऐसा व्यक्ति है जो सत्य से परमात्मा में तदरूप है। उसके भीतर और बाहर परमात्मा ही परमात्मा है। परमात्मा सूर्यो का सूरज है। इसी तरह संत भी सूर्य के समान है। सूर्य की रश्मियों की तरह परमात्मा की कृपा भी प्रत्येक पर एक जैसी पड़ रही है।

ईश्वर व संत में क्या अन्तर है ? ईश्वर की कृपा सबके लिए समान है। सूरज का प्रकाश सारे सँसार के लिए एक जैसा है। जैसे सूरज के सामने काला कपड़ा रख दें और बीच में आतशी शीशा (magnifying glass) रख दें तो काला कपड़ा जलने लगता है। यही अन्तर परमात्मा व संत में है। परमात्मा की कृपा तो सब पर एक जैसी ही पड़ रही है। संत के हृदय से जो प्रकाश मिलता है, वह आतशी शीशे की तरह मलीन मल को जलाकर निर्मल कर देता है।

गंगा माई से पूछा गया कि आप इतनी पवित्र कैसे हैं ? उन्होंने उत्तर दिया कि -" मैं इसलिए निर्मल हूँ, इसलिए सबको शांति और सुःख प्रदान करती हूँ, क्योंकि मेरे जल में संत स्नान करते हैं/ मैं तो उन संतों के स्पर्श से, उनके गुणों को धारण करके सँसार की सेवा

करती हूँ/ “ ऐसे संतों के दर्शन तब प्राप्त होते हैं जब हमारे पिछले जन्म के संस्कार अच्छे हों।
पूर्व जन्मों के शुभ कर्मों की कमाई साथ तो संतों की समीपता प्राप्त होती है।

संत सद्गुरु की समीपता का लाभ

पूज्य गुरुदेव फ़रमाते रहें हैं कि संसार में ईश्वर प्राप्ति की सहस्रों पद्धतियाँ और साधन हैं। वो सभी सही हैं। कोई सच्चा संत मिल जाये तो उसके पास बैठने से भी हमारा उद्धार हो सकता है। उसके शरीर से आत्मिक रश्मियाँ प्रतिक्षण निकलती रहती हैं। जैसे यज्ञ का प्रकाश, ध्वनि, सुगन्धि, चारों ओर फैल जाती है उसी तरह संत जहाँ भी बैठते हैं वो स्थान तीरथ हो जाता है। उनके शरीर से निकलने वाली आत्मिक रश्मियाँ चारों ओर फैलती हैं। यदि उनके समीप श्रद्धा से अर्पण करके बैठें तो सच्चे साधक को अपनी त्रुटियाँ, अपनी कमियाँ देखने लगेंगी।

संत बोलते नहीं हैं। शब्दों की जो भाषाएं हैं वो मौन की भाषाओं से किसी क़दर कमज़ोर हैं। महर्षि रमण से लोग कहते थे कि आप बोलते क्यों नहीं ? मँच पर आकर आप लोगों को उपदेश क्यों नहीं करते ? महर्षि रमण फ़रमाया थे कि मौन की वाणी में कई गुना अधिक शक्ति होती है। सच्चे संत अधिक नहीं बोलते। वो मौन में ही कृपा-दृष्टि करते हैं, हमारा उद्धार करते हैं। ऐसे संत के पास बैठने पर प्रेरणा मिलती है जिससे मन भीतर में सोचने लगता है- ' अरे मैं इस महापुरुष के पास बैठा हूँ पर मेरे भीतर में इतनी मलीनता है ' अपने आप को तुच्छ समझने लगता है, बुरा-भला कहने लगता है, और फिर भीतर से प्रेरणा होती है कि क्यों न वो अपनी त्रुटियों से मुक्त होवे।

संत के पास बैठने से एक सरूर आता है - जैसे किसी प्रकार का नशा हो। नशा कब आता है ? जब मन स्थिर हो जाता है। नशा पीने वाले पीने के बाद यही कहते हैं कि बड़ा ही आनन्द आया। आनन्द किस बात का आता है। नशे के कारण अंग, स्नायु और मन, बुद्धि सब स्थिर हो जाते हैं। संकल्प- विकल्प नहीं उठते। इस कारण से नशा पीने वाला कहता है कि बड़ा ही आनन्द आया। जैसे सुषुप्ति में सोकर व्यक्ति उठता है तो कहता है कि आज बड़ा ही आनन्द आया। तो जब ऐसे संत के पास जिज्ञासु बैठता है तो उसका मन स्थिर होने लगता है। संकल्प-विकल्प खत्म होने लगते हैं जिससे उनको आनन्द की अनुभूति होती है।

ऐसे महापुरुषों के चरणों में जिज्ञासु बार-बार जाये और जाता रहे तो अन्य कोई साधन करने की आवश्यकता नहीं है। उसकी वही बुद्धि हो जाएगी जो संत की अपनी है। इसी का नाम सत्संग है अर्थात् सत्य का संग। बड़ा सरल तरीका है परन्तु पूज्य गुरुमहाराज फ़रमाया करते थे कि ऐसा संत हज़ार साल बाद आता है। हम जितने लोग हैं, हम तो सेवक हैं। अपने आपको संत कहलाना भी एक अहंकार वृत्ति है।

प्रत्येक जिज्ञासु को जीवन भर इस खोज में रहना चाहिए कि इस सँसार में कोई सच्चा संत मिले। यदि पता लग जाये तो श्रद्धा से जाकर उसके चरणों में जाकर बैठ जाना चाहिए। वाद-विवाद नहीं करना चाहिए। शंकाएँ हों तो उनके लिए निवेदन करना चाहिए। परन्तु तर्क-वितर्क नहीं करना चाहिए। इससे मन चंचल हो जाता है तथा ऐसी चंचलता के कारण ऐसे संत के हृदय से जो आत्मिक रश्मियाँ आती हैं, जो आत्मिक प्रसादी आती है, वो रुक जाती है। जो गुरु प्रसादी आ रही है, वो प्राप्त नहीं होती।

पुराना इतिहास उठाकर देख लीजिये - जितने भी महापुरुषों का उद्धार हुआ है, इसी संत प्रसादी या गुरु प्रसादी के कारण हुआ है। मेहनत करने वाले तो लाखों होंगे और मेहनत करना बुरा नहीं है। जब तक ऐसे महापुरुष नहीं मिल जाँ जिसकी प्रसन्नता की प्रसादी प्राप्त हो, तक उसकी खोज के प्रयास में लगे रहना चाहिए।

स्वामी विवेकानंद स्वामी रामकृष्ण परमहंस से दूर रहते हैं। परन्तु गुरु बड़े ही दयालु हैं, उनमें करुणा है। छत पर चढ़ जाते हैं, ऊँचे-ऊँचे स्वर में पुकारते हैं - " नरेंद्र तू कहाँ है? तू आता क्यों नहीं ?" -" स्वयं ब्रह्म समाज में जाते हैं, नरेंद्र (विवेकानंद) को देखने के लिए। नरेंद्र सोचता है - 'यह बाबा को क्या हो गया ? मेरे पीछे क्यों पड़े हैं ?' उसका युवक मन कुछ और ही समझ रहा है। वह ब्रह्म समाज में रहकर कुछ अधिक तर्कवादी हो गए थे। यह कोई अवगुण नहीं है - बुद्धिवादी व्यक्ति में तर्क करने की कला होती ही है, किन्तु हर बात की ज़्यादाती यानी अति बुरी होती है। परमहंस की तो उन पर अहैतुकी कृपा थी परन्तु नरेंद्र शंका करते हैं। परमहंस कहते हैं कि " हमें माया से बहुत डर लगता है, हमारा शरीर कापने लगता है।" विवेकानंद सोचते हैं कि यह कैसे हो सकता है ? अतः उनको विचार आया कि चलो आज इनकी परीक्षा लेते हैं।

अगले दिन स्वामी रामकृष्ण के बिस्तर के नीचे आपने कुछ रूपये रख दिए। स्वामी जी आये और बिछावन पर बैठे। कुछ ही देर बाद स्वामी जी कहने लगे, - " क्या बात है, आज मन नहीं लगा ? भीतर में उथल-पुथल हो रही है। क्या कोई तांत्रिक चीज़ है? किसी तांत्रिक का प्रहार तो नहीं हो रहा? ज़रा यह बिस्तर, कपड़े उठाकर तो देखो। बँगाल में तांत्रिक विद्या का बड़ा प्रभाव है। बिस्तर उठाया गया। देखा, वहां कुछ रूपये रखे हैं। उन्होंने बुरा नहीं माना, वे समझ गए कि यह काम कोई और नहीं कर सकता, केवल नरेंद्र ही कर सकता है। और फिर वह शांत भाव से मुस्करा दिए।

स्वामी विवेकानंद ने एक बार नहीं, कई बार रामकृष्ण परमहंस की परीक्षा ली। बड़ी मुश्किल से समर्पण किया। उन्होंने कोई साधना नहीं की, केवल अपने इष्टदेव के सम्पर्क में, उनके अति निकट सानिध्य में रहे। उस सम्पर्क के परिणामस्वरूप विवेकानंद जी विवेक-स्वरूप हो गए, ज्ञान-स्वरूप हो गए। रामकृष्ण परमहंस का शरीर छूट गया तब भी पूर्ण संतुष्टि नहीं थी उन्हें।

जब शिकागो (अमेरिका) में गए जहां विश्व भर की धर्म सभा (वर्ल्ड कांफ्रेंस ऑफ रिलीजंस) में इन्हें भाषण देना था। सोचने लगे कि क्या भाषण दूंगा ? इतने विद्वान विश्व के कोने-कोने से आये हैं, मैं क्या बोल सकूंगा ? रात्रि में विलक्षण अलौकिक गुरु-कृपा हुई। परमहंस स्वामी रामकृष्ण प्रकट हुए और सारा लैक्चर जो उन्हें दूसरे दिन देना था, अंग्रेजी भाषा में, जिससे वह अनभिज्ञ थे, विवेकानंद को सुना दिया। विवेकानंद जी की स्मरण-शक्ति बड़ी तीव्र थी। वह जो पुस्तक पढ़ते थे, वह उन्हें उसी वक्त याद हो जाती थी।

प्रातः जब विवेकानंद जी ने भाषण दिया है तो विश्व भर के जितने विद्वान वहाँ थे वे सब चकित हो गए। सभी ने उनकी बहुत तारीफ़ की। यह युवक है, छोटी सी उम्र है, इनके सिद्धांत, तथ्य, विचार और कहने का ढंग व इनका आत्मिक प्रभाव ऐसा था कि जितने लोग वहाँ बैठे हुए थे उन सब पर प्रभाव पड़ा। सब लोग विवेकानंद के प्रशंसक हो गए। यह गुरु की कृपा, उनके सत्संग की कृपा का चमत्कार है।

ईश्वर कृपा करें कि आप सबको भी ऐसे संतों की संगति मिले। आपके भीतर में जितनी मलीनता है वो गंगा स्वरूप संतों के पास बैठकर सब धुल जाये। आप भी निर्मल हो जाएँ

आशा, इच्छाओं और काम-वासनाओं से मुक्त हो जाएँ। एक विशेष आनन्द की अनुभूति करें। रोम-रोम में परमात्मा के आनन्द की अनुभूति करें। " अंग अंग सुखदायी पूरन ब्रह्म " अर्थात् पूरे शरीर के अंग-अंग से परमपिता परमात्मा का जो अनंत सुखदायी अमृत है उसकी अनुभूति आपके रोम-रोम में हो।

गुरु से प्राप्ति करें : नाम की

तो ये है सत्संग की महिमा। यदि ऐसी कृपा हो जाये तो ऐसे महापुरुष के पास हर पल सतर्क तथा श्रद्धा से रहना चाहिए एवं उनके आदेशों व उपदेशों का अक्षरशः पालन करना चाहिए। तब ही वे हमें 'नाम' प्रदान करते हैं, जिसे संतों की भाषा में सतनाम कहते हैं। कबीर साहब और गुरु नानकदेव जी भी नाम ही कहते हैं। राधास्वामी मत में भी यही अन्तिम नाम है और हमारे शास्त्रों में भी इसका वर्णन है।

सतनाम कोई नाम नहीं है। सतनाम दूसरा नाम है आत्मा का। संत जो सन्त-प्रसादी या गुरु-प्रसादी प्रदान करते हैं वो नाम ही परमात्मा का रूप है। सतपुरुष अपनी कृपा से जो नाम प्रदान करते हैं वो नाम, वो अमृत हमारे रोम-रोम में समा जाता है। उस नाम की भी रक्षा करनी होती है। वो ही रामकार लगानी होती है। संसार में बड़े प्रलोभन होते हैं। इतनी उच्चकोटि की प्राप्ति के बाद भी मनुष्य के पतन की संभावना रहती है। एक ऐतिहासिक प्रसंग देखिये :-

बनवास के दिनों में सीता जी अपनी कुटिया में हैं। भगवान राम मृग के पीछे गए हैं। सीता जी कहती हैं - " लक्ष्मण, बहुत देर हो गयी है , जाओ अपने बड़े भैया को ढूँढ कर लाओ/ - " लक्ष्मण कहते हैं - "नहीं, मैं भाई की आज्ञा से आपकी रक्षा में बैठा हूँ। मैं कैसे जाऊँ ?" नारी का हठ बड़ा ज़बरदस्त होता है और उस समय स्थिति कुछ ऐसी थी कि लक्ष्मण विवश हो गए। परन्तु उसने रामकार (लक्ष्मण रेखा) लगाई। महापुरुषों को ऋद्धियाँ- सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। तो यह कोई ऐसी बात नहीं कि लोग कहें कि लकीर लगा दी तो उससे क्या होता है ? नहीं, होता है। लकीर में भी शक्ति आ जाती है। इसीलिए इसको रामकार कहा जाता है। अतः लक्ष्मण ने विवश होकर सीता से कहा कि - " माता, मैं जाता तो हूँ, परन्तु आप इस रेखा से बाहर मत जाना "/

परन्तु विधाता ने रचना पहले ही रची हुई थी। होनी तो रामायण में लिखी थी। यह जो कुछ रामायण में लिखा है, आपने पढ़ा है। वह तो होना ही था। सीता जी रावण को भिक्षा देने के लिए रामकार से बाहर आ गयीं और रावण उनका हरण करके ले गया। आगे जो कुछ हुआ आप सबको मालूम ही है। भाव यह है कि नाम की प्राप्ति हो जाये तब भी रामकार लगाए रखना चाहिए। नाम की रक्षा करनी चाहिए। यही गुरु की सच्ची सेवा है।

गुरु हाथ पाँव की सेवा नहीं चाहते। गुरु पैसों की सेवा या सम्मान की सेवा भी नहीं चाहते। वो ऐसा कुछ नहीं चाहते। जैसे कि ईश्वर आपसे कुछ नहीं माँगता वैसे ही संत या गुरु भी आपसे कुछ नहीं चाहता। वह तो आपसे केवल यही चाहते हैं कि उन्होंने आपको जो ' नाम ' प्रदान किया है आप उसकी रक्षा करें और नाम-रूप हो जाएँ। यही संत की सच्ची सेवा है।

अन्य भिन्न-भिन्न प्रकार की सेवाएँ हैं, वो भी अपनी श्रद्धा और प्रेम को बढ़ाये रखने के लिए लाभकारी हैं, सो करनी चाहिए। परन्तु वास्तविक सेवा है - गुरु के आदेश का पालन करना। और वो आदेश क्या होता है ? यही, कि उसने आपको जो 'नाम' दिया है, जो गुरु प्रसादी दी है, या भगवती प्रसादी रूप -अमृत-नाम दिया है, उसकी रक्षा हो। यह नाम जो शब्दों में लिया जाता है वास्तव में यही नाम नहीं है। नाम व नामी में कोई अन्तर नहीं है। वह परमात्मा ही है। उसको आत्मसात करो। अर्थात् उस नाम से पलभर को भी दूर नहीं होना है। अपने व्यवहार से उस नाम की शक्ति क्षीण न होने दो।

तो संतमत में ये ही मुख्य साध्य और उसकी प्राप्ति का साधन है। सच्चे संत का संग एवं उसकी गुरु-प्रसादी की प्राप्ति जिसको साधारण भाषा में 'नाम' कहते हैं। जिज्ञासु को ध्यानपूर्वक इन्हीं की सच्ची जिज्ञासा और आकाँक्षा प्रकट करनी चाहिए। शेष परमात्मा स्वयं ही प्रबंध कर देंगे।

गुरु महाराज कृपा करें।

0000000000000000

परमार्थी अभ्यासियों के लिए कुछ आवश्यक बातें

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

अभ्यासियों को तीन बातें अवश्य करनी चाहिए - पहली जहाँ तक हो, गुरु का सत्संग करें। दूसरी बात आंतरिक अभ्यास - ध्यान, भजन, सिमरन और मनन करते रहें। तीसरी बात, अपने मन के ख्यालों पर हमेशा निगाह रखें और अपने आचरण को सुधारें। अवगुणों को एक-एक करके त्यागते चलें। बुरे ख्यालों को हटा कर अच्छे ख्याल ग्रहण करते रहें। निश्चित है कि लाभ होगा। अतः परमार्थ के मार्ग पर चलने वाले अभ्यासियों को ये तीन बातें अवश्य करनी चाहिए।

साधक को यह समझना चाहिए कि वह कितना भाग्यवान है कि उसको यह मनुष्य चोला मिला है। मनुष्य शरीर के द्वारा ही व्यक्ति अपने आपको पहचान सकता है कि वह कौन है तथा इस शरीर के रहते अपनी आत्मा को परमात्मा में लय कर सकता है। सदा-सदा के लिए अमर हो सकता है। आप सब भाग्यवान हैं, परन्तु सब भूले हुए हैं। हम सबका समय प्रातः से लेकर रात तक सांसारिक बातों में ही व्यतीत हो जाता है और अपने जीवन के लक्ष्य की तरफ हमारा ध्यान रहता ही नहीं है। तो मनुष्य को सदा सतर्क रहना चाहिए, ईश्वर को नहीं भूलना चाहिए। पूज्य गुरुदेव (परमसन्त डॉ०कृष्ण लाल जी महाराज) ने संक्षिप्त में यही तीन बातें बताई हैं और कृपा करके यही हमें आगाह किया है कि हम अपने समय का सदुपयोग करें।

जहाँ तक हो सके गुरु का सत्संग करें। प्रत्येक व्यक्ति उनके सानिध्य का प्रयास करता रहे। सत्संग दो प्रकार का होता है - एक शारीरिक सत्संग -जब हम गुरुदेव के चरणों में जाकर बैठते हैं। दूसरा - जब हम उनकी सेवा में जाकर बैठें तो विचार करें कि उनके मस्तिष्क या हृदय से आत्मा की का प्रकाश निकल कर हमारे सारे शरीर में प्रवेश कर रहा है। सत्संग में आकर गुरु के पास बैठकर कोई अभ्यास नहीं करना चाहिए - केवल आत्मिक प्रसाद लेना चाहिए।

परमात्मा सूर्यो का भी सूर्य है। सूरज का प्रकाश चारों ओर संसार में फैल रहा है। इसी तरह परमपिता परमात्मा सर्वज्ञ है। परमात्मा के प्रेम की किरणों के प्रति सजग रहें कि वह हर

समय बरस रही हैं। 'झिम-झिम बरसे अमृत धारा' - अर्थात् परमात्मा की कृपा की फुहार प्रतिक्षण बरस रही है।

उस कृपा-प्रसादी को ग्रहण करने का तरीका पूज्य गुरु महाराज जी ने यह बताया है कि अपने शरीर को ढीला करके बैठें, न शरीर में तनाव हो ओर न मन में तनाव हो। तनाव या ज़बरदस्ती करने से हम जो कृपा ऊपर से बरसती है उससे वंचित हो जाते हैं। गुरु महाराज कहा करते थे कि जैसे कपडा खूँटी पर टंगा होता है, वैसे हमारी दशा होनी चाहिए। अर्थात् हमें अपना बल नहीं लगाना चाहिए। व्यक्ति गहरे पानी में डुबकी लगाता है तो वह अपने आपको छोड़ देता है। जितनी देर तक वह अपने आपको छोड़ देता है, उसको कुछ नहीं करना होता ओर जैसे ही वह धारा में अपने बल को अज़माने लगता है ओर बाहर आने की कोशिश करता है, उसी वक्त वह डगमगाने लगता है ओर बाहर आना चाहता है, यही स्थिति हमारी भी है। दरअसल हम ईश्वर के चरणों में अपने आपको बिलकुल उस पर छोड़कर बैठते नहीं हैं।

पूज्य गुरुदेव ने आगे बताया कि गुरु का सत्संग रोज़ करना चाहिए। वह कहते थे कि यदि सम्भव हो तो तो गुरु की सेवा में रोज़ जाना चाहिए। यदि ऐसा नहीं कर सको तो सप्ताह में एक बार, नहीं तो महीने में एक बार, यदि यह भी सम्भव न हो तो वर्ष में दो-तीन बार उनके पास जाकर सत्संग अवश्य करें। और यदि इतना भी न कर सकें तो कम से कम विचार से उनकी सेवा में बैठना चाहिए। हमारे देश में जगह-जगह मन्दिर आदि बने हैं, वो प्रभु की याद दिलाने के लिए ही हैं। व्यक्ति का मन लग जाता है यदि कोई न कोई रूप उसके सन्मुख हो। ये बातें ग़लत नहीं हैं। लोगों ने खामखां मूर्तिपूजा का विरोध किया है।

गुरुदेव रास्ता दिखा रहे हैं कि यदि रोज़ नहीं आ सकते, महीने या साल में भी नहीं आ सकते तो ख्याल से गुरु के चरणों में बैठो। इस तरीके से कड़्यों का मन नहीं लगता, तो गुरुदेव फ़रमाया करते थे, कि अपने इष्टदेव की मूर्ति बनाकर या फोटो रख कर ख्याल करो। धीरे-धीरे उनकी मूर्ति आपके हृदय में जम जायेगी। आप जहाँ भी जायेंगे आपके गुरुदेव की, आपके इष्टदेव की मूर्ति आपको अपने हृदय में दिखाई देगी। परन्तु इसके लिए आपके हृदय में तीव्र इच्छा होनी चाहिए, व्याकुलता होनी चाहिए। फ़ारसी में कहते हैं 'इश्के हकीकी' यानी ईश्वरीय

प्रेम होना चाहिए। तब आप जहाँ भी बैठेंगे, वहाँ ईश्वर का या गुरु का जो रूप है - उनकी कृपा आपको अवश्य अनुभव होगी।

हम खाना खा रहे हैं तो गुरुदेव के चरणों में बैठकर खाना खाएँ। याद रखिये कि हम टी।वी। वगैरह पर जो अच्छे धार्मिक सीरियल आदि देखें उस समय भी यह ख्याल करके बैठें कि हम तो गुरु के चरणों में बैठकर देख रहे हैं, वो भी हमें दिखला रहे हैं। परन्तु हम ऐसा करते नहीं। सारा दिन ही हमारा समय बातों में खत्म हो जाता है। मन की चंचलता से हमारे शरीर में एकाग्रता नहीं आती। हमें न तो अपना वास्तविक अस्तित्व याद रहता है, न गुरु याद रहता है, न ईश्वर।

इसीलिए आध्यात्म के पथ पर मौन को महत्व दिया गया है। मौन हो - वाणी के साथ मन का और बुद्धि का भी मौन हो। संसार में रहते हुए भी तनावयुक्त न हों। अपने आपको बिलकुल निश्चिन्त रखें। तनाव से एक दीवार खड़ी हो जाती है। आपकी आत्मा और परमात्मा के बीच में, या आपके और गुरु के बीच में उस तनाव के विचारों से एक दीवार खड़ी हो जाती है, जिससे आप उस उस आत्म-प्रसादी से वंचित हो जाते हैं जो आपको मिलनी चाहिए।

ईश्वर की कृपा तो हर वक्त सब पर हो रही है। इसको विज्ञान भी मानता है, शास्त्र भी मानते हैं। शास्त्र इसको दिव्य शक्ति मानते हैं, जिसको वैज्ञानिक ऊर्जा (energy) कहता है। यह दिव्य शक्ति energy से भी ज़्यादा, अति सूक्ष्म है। ईश्वर की शक्ति सब जगह विद्यमान है - सर्वव्यापक है। ईश्वर का कोई ऐसा रूप नहीं है जहाँ यह शक्ति नहीं है। इसीलिए शक्ति माँ की पूजा होती है। इस बात को ज़रा विज्ञान की दृष्टि से समझिये। महापुरुषों ने तस्बीरें बना दीं क्योंकि हमारा मन चंचल है। मन को एकाग्र करने के लिए ये तस्बीरें, मूर्तियाँ आदि के माध्यम बहुत सार्थक हैं। शुरू-शुरू में गुरु की मूर्ति आदि पर ध्यान देते हैं। पूज्य गुरुदेव फ़रमाया करते थे कि आगे चलकर अभ्यासी के मन में गुरु का यह स्थूल रूप रहता ही नहीं है।

कई अभ्यासी कहते हैं कि उनको गुरु का ध्यान नहीं रहता। दो बातें हो सकती हैं या तो आपका मन सतसंग से बिलकुल ही उचाट हो चुका है, सतसंग के प्रति कोई स्नेह नहीं रहा या यह कि आपके अभ्यास में काफ़ी प्रगति हो गयी है। ध्यान के यह आयाम होते हैं जिनमें क्रमशः गुरु का स्थूल रूप खत्म हो गया, गुरु का सूक्ष्म रूप भी आपकी स्मृति में खत्म हो गया।

अब गुरु का और ही रूप यानि कारण रूप (परमात्मा) ही रह गया। वैसे तो परमात्मा का कोई रूप नहीं, रंग नहीं, आकार आदि कुछ नहीं पर हर साधक के अंतर में एक भावना रहती है। बाहर उसका कोई रूप नहीं है। परमात्मा का भी कोई एक निश्चित रूप नहीं है, यदि साधक आत्मस्थित है तो यह आपकी प्रगति है कि आपको ध्यान में गुरु का रूप नहीं आता। सावधान रहना है कि यदि भीतर में तामसिकता या राजसिकता है और तब गुरु का ध्यान नहीं आता तो यह आपकी कमजोरी है। आपकी गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धा नहीं है। यहाँ बड़ी सावधानी की आवश्यकता है।

ऐसे अभ्यासी हैं जो सात्विक वृत्ति के हैं। गुरु महाराज विश्वास दिलाया करते थे कि आप घबराइए नहीं - आप नीचे स्थानों से उठ गए हैं। आप साधना में कुछ ऊपर आ गए हैं। सराहो अपने आपको कि आपको गुरु और ईश्वर में कोई भेद नज़र नहीं आता। अब ईश्वर की सत्ता चारों ओर आपको भासती है। ऐसे अभ्यासी श्रद्धा से जहाँ भी बैठेंगे तो पायेंगे कि ईश्वर की अनुभूति चारों ओर उनको होगी। जहाँ भी होंगे, हर स्थान पर, हर स्थिति में, हर समय ईश्वर की मौजूदगी का आभास उनको होता रहेगा।

इधर अपना आचरण देखें कि हम तो चौबीस घंटे बातों में अपना समय खराब कर देते हैं। बातों से मन में चंचलता आ जाती है। चंचल मन इस रास्ते में कभी भी सफल नहीं हो सकता। इसीलिए कहते हैं कि कम बोलो - बाहर से भी कम बोलो ओर भीतर से भी कम बोलो। हम भीतर में बहुत बोलते हैं। भीतर के बोलने को बंद करने के लिए भिन्न-भिन्न साधन हैं। भक्ति ओर प्रेम मार्ग में जितनी प्रभु को मिलने की व्याकुलता तीव्र या अधिक होगी, उतने ही संसार के विचार कम आयेंगे, इसीलिए भक्ति का महत्व है। कई ज्ञानी भक्त को हीन या गौण कहते हैं। ऐसा कुछ नहीं है। ऐसा नहीं कहना चाहिए।

प्रत्येक व्यक्ति की वृत्ति अलग-अलग होती है। किसी का स्वभाव ज्ञान होता है, किसी का भक्ति की तरफ़। मनुष्य अपनी वृत्ति के कारण ही अपनी साधना की रीति चुनता है, भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय उत्पन्न करता है। लगन को भी भक्ति कहते हैं। ज्ञानी परमात्मा के चरणों में जब ध्यान करता है तो यदि उसके भीतर में लगन नहीं है तो क्या उसका ज्ञान-ध्यान बनेगा? लगन

दूसरा नाम भक्ति का है। भक्ति ओर ज्ञान में आगे चल कर कोई अंतर नहीं रहता। भक्त कहता है -

“तू तू करता तू भया, मुझमें रही न हूँ !

आपा फिरका मिट गया, जत देखूँ तत तू/ “!!

ज्ञानी कहता है कि सब ओर ब्रह्म ही ब्रह्म है। ब्रह्म के वगैर कुछ है ही नहीं। यह तो ऐसा ही भेद है कि कोई सनातन धर्म स्कूल में दाखिल हो गया हो तो कोई डी।ए।वी स्कूल में। ध्येय तो यही है कि अंत में जाकर बोर्ड की परीक्षा तो दोनों ने ही देनी है। अस्तु ॥॥॥

इसी रहस्य को समझाने के लिए तो गुरु महाराज अपनी स्थिति बताया करते थे। शुरू-शुरू में आप पूज्य लालाजी महाराज की सेवा में जाया करते थे। उन दिनों कहा करते थे कि " हमको क्या हो गया है ? हम बड़ा ध्यान करते हैं, मगर आपकी तस्बीर नहीं बैठती।" लालाजी महाराज समझाते थे कि " चिन्ता, मत करो। तस्बीर का मन में - ध्यान में न आना ऊँची स्थिति है। अभ्यास करते रहो। आगे ऐसा वक्त आ जायेगा कि तुम्हें अपने शरीर का भी ध्यान नहीं रहेगा। आपके पाँच शरीर या परदे हैं - स्थूल शरीर, प्राण का, मन का, बुद्धि ओर आनंद का शरीर। आपकी आत्मा परमात्मा में विलय हो जाएगी तो आपको अपना शरीर भी नहीं दिखेगा।"

आइये, अब हम ज़रा अपनी दशा पर भी दृष्टि डालें। इस वक्त हम सब अपने शरीर से चिपके हुए हैं। परमात्मा ओर गुरु की सेवा तो हम क्या करते हैं, अपनी ही सेवा करते हैं। समझते हैं कि मैं शरीर हूँ। ज्ञानी गुरु कहते हैं तुम भूले हुए हो, तुम शरीर नहीं हो तुम ब्रह्म हो। तुम ' अहं-ब्रह्म -अस्मि ' का अभ्यास करो। मैं आत्मा हूँ, मैं परमात्मा हूँ। इन पाँचों आवरणों से ऊपर उठो।" ज्ञानी ने भी ओर भक्त ने भी इन आवरणों से मुक्त होना है। राधा जी ओर भगवान कृष्ण की तरह ईश्वरीय आनंद की रास-लीला करनी है। राधा अपने आपको भूल जाती हैं, उन्हें सभी कुछ कृष्णमय लगता है।

नामदेव जी कहते हैं - 'इब्बे विटठल, उब्बे विटठल' कि उनके इष्टदेव में ही सारा संसार है। उनकी यह स्थिति कई वर्षों के बाद लम्बी साधना करके आयी। पहले विटठल भगवान

की मंदिर में मूर्ति बनवायी हुई थी। उनकी भक्ति इतनी तीव्र थी कि वह जब चाहते विटठल भगवान से बातें करते थे। विटठल भगवान् साक्षात् प्रकट हो जाते थे। आगे चलकर विटठल भगवान ने कहा - " नामदेव, अब तुम ज्ञानेश्वर जी के साथ जाओ, यात्रा करो। तुमने मुझे यहाँ बांध रखा है और अपने आपको भी बांध रखा है।" तब नामदेव ज्ञानियों के गुरु संत ज्ञानेश्वर के साथ निकल पड़े हैं। तबसे इन पर ज्ञान की सुन्दरता आती गयी।

इसके पश्चात् यह पंजाब में आकर गुरदासपुर में जा बसे हैं। महाराष्ट्र की भाषा मराठी, फिर उर्दू, फ़ारसी, पंजाबी भाषाएँ भी सीखीं, जिसके कारण इनकी रचनाओं में मिली-जुली भाषाओं का प्रयोग भी मिलता है। तब ये 'सब जगह ब्रह्म ही ब्रह्म है ' - ऐसा मानकर कहने लगे कि यह जितना संसार है ज्ञानी के लिए वह भगवान् की मूर्ति बन जाती है। सबमें भगवान के दर्शन करते हैं।

उदाहरण के लिए एक बार की घटना है कि नामदेव के पास एक पठान आता है। बोझ उठाता है, घर ले जाता है। मज़दूरी भी नहीं देता। फिर भी नामदेव उस पठान का इतनी सुन्दरता से वर्णन करते हैं कि, हे भगवान्, तुम्हारी पगड़ी कितनी सुन्दर है। तुम आज पठान के कपड़े पहने हो। कितने सुन्दर लग रहे हो।"

इन घटनाओं का वर्णन करने का भाव यही है कि पहले पहल गुरु की आराधना करने से उनके शरीर का ध्यान आवेगा। आगे जाकर शरीर का ध्यान जाता रहेगा। गुरु पास नहीं हैं तो ख्याल से विचार करो कि हम गुरु के चरणों में बैठे हैं - समय बरबाद नहीं करो।

गुरु के सत्संग के पश्चात् एक और आवश्यक बात है - आन्तरिक अभ्यास, ध्यान, भजन, सिमरन और मनन करते रहना - जिसमें साधना के ये पाँच रूप हैं। जहाँ तक सम्भव हो गुरु का सत्संग करें और तब करें आन्तरिक अभ्यास। जब गुरु के पास बैठे हैं तो आन्तरिक अभ्यास नहीं करना चाहिए। गुरु साधना बताता है कि उसके पास बैठो तो सोचो कि उसके हृदय से प्रकाश आ रहा है और तुम्हारे सारे शरीर में प्रवेश कर रहा है। परन्तु जब आप अकेले बैठे हैं तो आन्तरिक अभ्यास करें - जैसा आपको बताया गया हो।

आन्तरिक शब्द अभ्यास की एक पद्धति से जुड़ा हुआ है। अभ्यास के लिए कुछ अभ्यासियों को कुछ दिन के लिए हृदय में आन्तरिक अभ्यास करने के लिए मना कर देते हैं। पुरुषों का हृदय कुछ कठोर होता है। उस कठोरता को सूक्ष्म बनाने के लिए हृदय पर अभ्यास करने के लिए परामर्श दिया जाता है। बहनों के हृदय में कोमलता और भावुकता अधिक होती है। यदि वे हृदय-केंद्र पर अभ्यास करेंगी तो शायद पागल हो जायेंगी। अधिक भावुकता में बह जायेंगी। घर के कामकाज के लिए, संसार के व्यवहार के लिए उनको कोई महत्व नहीं महसूस होगा, सब बेकार लगेगा। इसीलिए गुरु महाराज बहनों को मना करते थे कि वे हृदय पर अभ्यास न करें। वे मस्तक में आज्ञा चक्र पर अभ्यास करें।

आन्तरिक अभ्यास के विषय में ये जो बात कही जा रही है वह पुरुषों के लिए ही है। पुरुष कुछ महीनों हृदय पर अभ्यास करने के बाद उनको भी आगे चलकर गुरु कह देता है कि अब आज्ञा चक्र पर, मस्तक के मध्य में ध्यान केंद्रित करो। प्रारम्भ दो-चार मिनिट हृदय पर ध्यान करके आज्ञा चक्र ध्यान करो और दोनों स्थानों (केंद्रों) पर अभ्यासी को दुनियाँ से बेहोश रहना चाहिए। चारों ओरसे खिंचा हुआ ध्यान जब स्थिर होने लगता है तो इसको सुरति-योग कहते हैं।

इस साधन में भीतर में धँसना होता है। जितनी अधिक सुरति भीतर में धँसेगी आप उतना अधिक आत्मा के समीप होते जायेंगे। आपके विचार कम होते जायेंगे और संसार के प्रति ध्यान कम होता चला जायेगा। आप बुद्धि के स्थान पर आयेंगे, फिर आनंद के स्थान पर आयेंगे। अंततः आपका ध्यान आत्मा में विलय हो जाएगा।

महर्षि रमन का साधन था कि आप अपने से पूछो कि "मैं कौन हूँ?" उन्होंने ज्ञान और भक्ति का समन्वय किया हुआ था। वे पूछते थे कि तुम कौन हो तो हर व्यक्ति कहता था कि मैं तन हूँ, मन हूँ, जो सोचता हूँ वही हूँ, आदि। तब वह कहते थे कि अपने आपसे यह पूछो कि इनका, मन का, स्रोत कहाँ है? वे इस प्रकार से समझाया करते थे कि परमात्मा के चरणों से ही हमारी उत्पत्ति हुई है और परमात्मा तो सबके हृदय में विद्यमान है। तो उसी (आत्मा) परमात्मा तक पहुँचियो। पहले शरीर से शुरू किया अभ्यास, उसके बाद आवरण आएगा प्राणों

का, मन का, आदि। प्राणों के विचार से भीतर चलो, मन पर चलो, फिर मन को छोड़ते हुए बुद्धि पर चलो। और आगे बढ़ो - बुद्धि को छोड़ते हुए आत्मा में अपने आपको लय कर दो।

गुरु के चरणों में बैठ कर अभ्यास करें या हृदय में आन्तरिक अभ्यास करें, जैसी भी आपको प्रिय हो या आपको सुविधा हो, करें। गुरु महाराज का आदेश है तथा महर्षि रमन ने बताया है कि हृदय में भीतर की साधना का अभ्यास करो। भीतर की यात्रा करते -करते, अपनी सुरति को आत्मा में विलय कर दो जहाँ आप अपने आपको पूर्णतः भूल जायेंगे, केवल आत्मा ही रह जाएगी, गुरु या परमात्मा ही रह जायेगा। - मन भी वहीं से उत्पन्न हुआ है और वहीं उसे विलय भी करना है -

" ज्युँ जल में जल आये खटाना !

त्युँ ज्योति संग ज्योत समाना !!!"

यही हमारी साधना है। हमारी नहीं सबकी है। ऐसी बात नहीं कि हमारी साधना सबसे ऊँची है। इसका भी अहंकार हो जाता है। इस अहम को कभी नज़दीक नहीं आने देना चाहिए। सबकी स्तुति करो - भगवान की, दूसरों की यानी संसार की - अपनी नहीं। हमारा स्वभाव ऐसा है कि हम अपना ही राग गाते रहते हैं। मैं ऐसा हूँ, मैं वैसा हूँ - जिसे देखो यही कहते मिलते हैं।

अभ्यासी के जीवन का लक्ष्य अपने आपको (अपनी आत्मा को) उस परमात्मा में विलय करना ही है। हर प्रकार की साधना का ध्येय यही है। इसी स्थिति का वर्णन संतों ने किया है -

" जब लग में था हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं !

प्रेम गली अति साँकरी, जा में दो न समाहिं !!!"

गुरुदेव सबका कल्याण करें।

पहले सत्संग का लक्ष्य समझ लें फिर भक्ति और ज्ञान का मार्ग अपनायें

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतार सिंह जी महाराज)

पूज्य गुरु महाराज और अनेक महापुरुषों ने अपने प्रेमियों को सचेत किया है कि हमें क्या करना है। भगवन कृष्ण ने अर्जुन के माध्यम से सारे संसार को सचेत किया है। प्रारम्भ इसी से होता है कि जिज्ञासु को पता होना चाहिए कि वह किसी महापुरुष की सेवा में क्यों जाता है ? वो जिज्ञासु ही सफल हो पता है जिसे अनुभव हो जाता है, पता चल जाता है कि सत्संग में क्यों जाते हैं, सत्संग में जाने का उद्देश्य क्या है?

गुरुदेव कहते रहे हैं कि जिज्ञासु को पहले तो ' विवेक और वैराग्य ' होना चाहिए। बिना विवेक के वैराग्य उत्पन्न नहीं होता। विवेक के प्रति मैं भी कई बार निवेदन कर चुका हूँ। मनुष्य के अन्दर यह ये स्वाभाविक जिज्ञासा पैदा होती है कि हम सँसार में आये हैं तो किसलिए ? यह सँसार क्या है ? जब उसको पता चल जाता है कि ये शरीर तो नश्वर है, कुछ दिन ही रहने वाला है और शरीर से सम्बंधित कुछ और बातें हैं - सम्बन्धी हैं, रिश्तेदार हैं और धन-दौलत है, विद्या है और बुद्धि है। आदि - ये सब जिज्ञासु के साथ नहीं जायेंगे। वे लोग भाग्यवान हैं जिन्हें यह होश या ऐसा विवेक हो जाता है और फिर इन सबके प्रति वैराग्य उत्पन्न हो जाता है।

जिज्ञासु फिर एक पागल की तरह दूँढता है किसी मार्गदर्शक को, ताकि उसका जाग्रत विवेक वैराग्यभाव दृढ़ हो जाये - अपने आपको माया के मोह और आकर्षण से से बचाकर ईश्वर के दर्शन करने का - उसके लिए वह किसी महापुरुष को, संत या गुरु जैसे किसी रहबर को दूँढता है। यह भी ईश्वर की कृपा है कि यह भावना उस जिज्ञासु के हृदय में उत्पन्न होती। वास्तव में ऐसे लोग बड़े भाग्यशाली हैं।

पूज्य गुरु महाराज ने आगे चलकर यह भी समझाया है कि संत-सद्गुरु कौन होते हैं? उनमें या परमात्मा में विशेष अन्तर नहीं होता। वो आत्माएं परमात्मा की ओर से ही भेजी जाती हैं और वे यहाँ सच्चे जिज्ञासुओं के उद्धार के लिए ही आती हैं, उनमें आध्यात्मिकता

बहुत ज़्यादा होती है। हमारे यहाँ का विश्वास है कि जिज्ञासु यदि सच्चे दिल से, श्रद्धा और दीनता से, सच्चे सद्गुरु के पास बैठे और उनके सत्संग में सुने हुए आदेशों का पालन करे तो उसको किसी विशेष तप आदि के करने की आवश्यकता नहीं होती।

सत्संग की महिमा पर सभी धर्मशास्त्रों में ज़ोर दिया गया है। सत्संग को साधु-संतों ने महत्व दिया है। सत्संग कई प्रकार का होता है, जैसे साथ बैठकर मिलकर भजन -कीर्तन करना, सद्ग्रन्थों का पठन-पठन करना, आदि। सत्संग का मतलब है -- सत्य का संग करना, परमात्मा का संग करना या परमात्मा में लय हुए जो व्यक्ति है उनकी उपस्थिति में बैठना और उनके शरीर से आत्मिकता की जो किरणें निकल रही हैं (जैसे सूर्य से प्रकाश) उनको ग्रहण करना, और इसी तरह सच्चे संत-सद्गुरु के शरीर से आत्मिक तेज़ की जो राशिमयें निकल रहीं हैं उनको ग्रहण करना। गुरु को प्रयास नहीं करना पड़ता। यदि वह प्रयास करता है तो वह अभी मन के स्थान पर है।

हाँ, साधना गुरु को भी करनी पड़ती है। हो सकता है की वह हमसे आगे हो परन्तु साधना तो उसको भी करनी पड़ती है जो सिद्ध-पुरुष होता है। संसार को दीखता है कि वह साधारण मनुष्य है परन्तु उसकी आत्मा परमात्मा में लय हुई होती है। शरीर आदि के जो बंधन हैं उसको अनुभव नहीं होते। पूज्य गुरु महाराज फ़रमाया करते थे - " भाई लोग यह नहीं समझते कि जब हम भाइयों से बातचीत करते हैं तो हमें एक प्रकार का कष्ट होता है/ उनसे बातचीत करने का मतलब होता है कि हमें अपने प्रीतम से अलग होना पड़ता है और इसके स्थान पर आकर उस व्यक्ति से जो मन के स्थान पर होता है बात करनी होती है क्योंकि वह आत्मा की आवाज़ को सुन नहीं सकता/ वो उसकी भाषा को समझ नहीं सकता।"

महर्षि रमण को लोगों ने कहा कि -" आप इतने महान संत हैं, क्यों नहीं मंच पर आकर प्रवचन देते, बोलते क्यों

नहीं ? महर्षि रमण ने समझाया कि आप क्या समझते हैं कि मैं लोगों की सेवा मौन रहकर नहीं करता ?" वो तो परमात्मा भी करता है, संत लोग भी करते हैं। सेवा तो सबको करनी है। यह सोचना कि बोलकर, शब्दों के द्वारा अधिक सेवा करते हैं, ऐसा नहीं है। मौन भाषा से कहीं

अधिक प्रभावशाली होता है। साधारण वाचिक शब्दों में इतनी ताकत नहीं होती जितनी मौन की भाषा में होती है।

देख लीजिये, यदि बिजली में हलचल हो जाये, तरंगें उठें तो वह इतना काम नहीं करती। यदि उसकी लय एक रस चलती रहे तो उसमें महान शक्ति रहती है। इसी तरह जो संत होते हैं वे अधिक नहीं बोलते। यदि आवश्यकता पड़े तो थोड़े से शब्द बोलते हैं। आत्मा की वाणी तो मौन है। हमारे यहां भी ' मराकबा ' होता था, मजलिस होती थी। दीक्षित भाई लोग सब एक कमरे में इकट्ठे बैठकर मौन हो जाते थे और आत्मिक शक्ति को पाते थे, उसे बढ़ाते थे। अब यह प्रथा तक्ररीबन खत्म हो चुकी है मगर मैं जब सत्संग में आया था तब यह मराकबा होता था।

गुरुदेव कह रहे हैं कि वह व्यक्ति भाग्यशाली है जो सत्संग में आता है क्योंकि उसके हृदय में एक जागृति उत्पन्न हुई है, संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न हुआ है। उसको होश आ गया है कि यह शरीर नश्वर है। शरीर में पाँच प्रकार के आवरण, या योग की भाषा में कोष होते हैं - शरीर, प्राण, मन, बुद्धि और आनंद। संसार की जितनी वस्तुएं हैं सब पंचभूतों से बनी हैं तथा ये सब परिवर्तनशील और नाशवान हैं। जब विवेक द्वारा हमारी वैराग्यवृत्ति उत्पन्न हो जाती है तब हम ज्ञान मार्ग से आत्मा की समीपता प्राप्त करने के अधिकारी हो जाते हैं। वैराग्य केवल बातों से सिद्ध नहीं होता, इसमें समय लगता है। फ़रीद जी ने २४ साल तक तप किया परन्तु सच्चा वैराग्य उत्पन्न नहीं हुआ। जब ये अजमेर शरीफ़ सैयद मोइननुद्दीन चिश्ती साहब की हुजूरी में गए हैं वहां उनकी सच्ची सेवा की, तब उनको होश आया और उनका अज्ञान और अहंकार टूटा।

प्रत्येक मनुष्य इन बंधनों में फंसा हुआ है जिसको भगवान ने मोह और अहंकार कहा है। मैं मैं करती हुई इस 'मैं ' को ही तो खत्म करना है।

” जब तक मैं था हरि नाहिं, अब हरि है मैं नाहीं

प्रेम गली अति साँकरी, यामें दो न समाहिं/”

हमें अपने आप को समाप्त करना है। जिज्ञासु के हृदय में जब ये इच्छा उत्पन्न होती है कि मैं और मेरापन खत्म हो जाये, बस मेरा प्रीतम रह जाये, तब वह सत्संग में आने का अधिकारी बनता है। आगे चलकर जिज्ञासा होती है कि हमारा अस्तित्व क्या है, हमारी प्रकृति क्या है? वह धीरे-धीरे जान लेता है कि हम भी परमपिता परमात्मा के अंश हैं।

ज्ञानी कहता है कि आत्मा-परमात्मा एक है। संत लोग मानते तो परमात्मा को एक ही हैं परन्तु जैसे राधाजी ने भगवान कृष्ण से प्रेम-लीला की, इसी तरह संत भी लीला करते हैं। वो जानते हैं कि हम दोनों, आत्मा-परमात्मा एक ही हैं, परन्तु प्रेम अलहदा होकर रहता है। ज्ञानी प्रेम नहीं कर पाता है। परन्तु वह भी आगे चलकर प्रेम का ही रूप हो जाता है। अनन्तः ज्ञान और प्रेम या भक्ति में कोई अंतर नहीं है। परन्तु शुरु-शुरु में ज्ञानी इस वाद-विवाद में फंस जाता है कि मैं तो ज्ञानी हूँ, मुझे कोई साधना करने की ज़रूरत नहीं है, आदि। बहुत से लोग इसी में फंसे रहते हैं। वास्तव में दोनों में कोई भेद नहीं है। प्रेम तो यह चाहता है कि जिससे वह प्रेम करता है उससे थोड़ा दूर रहे, अन्तर रखे - उसकी जीवन-लीला देखे, उसकी पूजा करे, उसकी सेवा करे, उसका उपदेश सुने, उसकी आज्ञा का अनुसरण करे, आदि। विद्वानों ने नौ प्रकार के भक्ति-भाव बताये हैं। अंतिम भाव 'कान्ता भाव' है, जो राधा जी के प्रेम का भाव था। यह प्रेम लीला है जहां दोनों में कोई अंतर नहीं रहता। ज्ञानी लोग तो अद्वैतवादी हैं, वे यही कहते हैं कि आत्मा-परमात्मा एक हैं। परन्तु प्रेमी इसी दुई को या द्वैत को लेकर चलता है। आगे चलकर वह भी अद्वैत की स्थिति को पा लेता है - जैसे राधा जी को भगवान ने समझाया है - तुम क्यों रुदन कर रही हो? क्यों अपने आपको अलहदा समझ रही हो? हम भले ही दो शरीर हों परन्तु हमारी आत्मा तो एक ही परमात्मा का स्वरूप है। यही भक्ति मार्ग का सर्वोत्तम भाव है। और इसी तरह ज्ञान मार्ग के ऐक्य भाव में कोई अंतर नहीं है।

गुरु महाराज ने ये बातें प्रेमियों को बताई हैं कि वे आत्मा-परमात्मा एक हैं पर परमात्मा माता-पिता की तरह है। उसकी इच्छा है कि उसकी संतान सुख में रहे और संसार की यात्रा करते हुए एक धारा की भाँति बढ़ती हुई पुनः सागर रूपी परमात्मा में लय हो जाये। सूरज और सूरज की किरण एक ही हैं, सागर और सागर की लहरें, बादल और बूँदें एक ही हैं। परन्तु माया के कारण ये पृथक-पृथक लगती हैं। माया वह है जो भगवान कृष्ण ने अर्जुन को सचेत किया कि, " तू समझ रहा है कि मैं शरीर हूँ, ये धन दौलत मेरी है, ये सम्बन्धी मेरे हैं। ये

मित्र मेरे हैं, वे शत्रु हैं। अरे, यही सब तो माया है, स्थूल माया का जाल है। ये माया ही है जो हम ईश्वर से अपने को अलग समझते हैं। ये अज्ञान ही माया है। माया का अर्थ है सत को असत करके दिखाना और असत को सत करके दिखाना। माया और मन में कोई अंतर नहीं है। मन समझता है कि यह सच है, यह झूठ है। झूठ को सच में बदलना चाहता है, ये मन का रूप है। हम सब मन के और माया के फंदे में फंसे हुए हैं पर हमें चाहिए कि हम अपने जीवन के लक्ष्य को पहिचानें, उसके लिए संजीदा हो जाएँ, गंभीर बनें।

सत्संग के बाद हम दो मिनिट भी तो चुप-चाप नहीं बैठ पाते हैं। घंटा डेढ़ घंटा आप साधना में बैठे हैं तो जो कुछ भी आपको प्राप्त हुआ है वो सब बोलने में, खाने-पीने की चर्चा करने में या बातचीत में खत्म हो जाता है। इसको हज़म करने की कोशिश करनी चाहिए। यह हज़म नहीं होगा जब तक कि आप चुप नहीं रहेंगे। कोई विशेष बात हो तो कर लीजिये नहीं तो टाल जाइये। किसी कोने में जा बैठिये। हम सारा दिन बोलते रहते हैं। बाहर भी बोलते रहते हैं, और अंतर में भी। अर्थात् हम विचारों की उथल-पुथल में लगे रहते हैं।

भगवान कृष्ण ने गीता के दूसरे अध्याय में अर्जुन को सचेत किया है कि - हे ! पार्थ मोह, माया व अहंकार से सचेत हो जाओ।' व्यक्ति बाहर से तो बोलता ही है परन्तु भीतर में वह इससे कई सौ गुना अधिक बोलता है। हमारा प्रत्येक विचार हमारे अंतर की वाणी होता है। प्रत्येक विचार में अच्छाई -बुराई या गुण-अवगुण भरा रहता है जो कि द्वन्द का प्रतीक है। बुरा-भला, सुन्दर, मलीन आदि सब द्वंदों के प्रतीक हैं। भगवान अर्जुन को कह रहे हैं कि इन द्वंदों से ऊपर उठो, द्वंदों का त्याग कर दो। द्वंदों का त्याग कभी भी वाणी या शब्दों से नहीं होगा, मौन होकर ही त्याग होगा। बिना मौन के द्वन्द खत्म नहीं हो सकते और द्वन्द जब तक खत्म नहीं होते, 'स्थित-प्रज्ञ' अवस्था जब तक नहीं आती, तब तक आत्मज्ञान या आत्मा का अनुभव नहीं हो सकता।

हम सबको द्वंदों से, जो माया का रूप हैं, उनसे मुक्त होना है। हर वक्त झगड़ा रहता है - यह बुरा है, यह भला है, और हम इसी का निर्णय लेते रहते हैं। मन, बुद्धि - इसका ही निर्णय लेती रहती है और इसी में फंस जाती है। पता नहीं भगवान की क्या लीला है कोई भी पढ़ा-लिखा व्यक्ति तो इससे आगे निकल ही नहीं पाता। वो मन और बुद्धि के फंदे में फंसा है।

भक्त फिर भी सरलता से निकल जायेगा, परन्तु ज्ञानी को बड़ी कठिनाई होती है। वो भले ही लैक्चर देता रहे, वास्तव में वो भीतर में बड़ा दुखी होता है। न वो संसार में सुखी या सफल है और न ही उसको आत्मा की अनुभूति होती है। कहने को तो वह कहता है कि आत्मा एक है, परमात्मा एक है। वह भाषण खूब देता है, वह बड़े-बड़े शब्द झाड़ लेगा, परन्तु उसको आंतरिक संतुष्टि नहीं होगी। लाखों में एक होगा जिसको आत्मा की स्थिति प्राप्त हो जाती हो।

इसलिए भीतर में मौन को साधिये। हमारे यहां का मुख्य साधन यही है। तब तक यह मौन नहीं सधेगा, जब तक द्वन्द नहीं घटेंगे। भगवान कृष्ण ने जब यह अर्जुन को समझाया तो उसको भी यह मुश्किल से समझ में आया। हम हर रोज़ गीता पढ़ते हैं पर हमें यह ठीक से समझ नहीं आती। समझ इसलिए नहीं आती क्योंकि हमने उसे व्यावहारिक रूप नहीं दिया है। बार-बार पढ़ें। कई प्रकार की गीता पढ़ें। गीता में भगवान ने उपदेश दिया है। अर्जुन अधिकारी था और उसके साथ भगवान प्रेम करते थे इसलिए उसका कल्याण हो गया।

वास्तव में सद्गुरु या संत या अवतार को जिन पर दया करनी होती है उन पर वो स्वयं मेहनत करते हैं, जिज्ञासु स्वयं उतनी मेहनत नहीं करता। ये विचार में पूज्य गुरु महाराज के कह रहा हूँ। आत्मा की अनुभूति तो सबको करनी ही है। मगर जब तक द्वन्द खत्म नहीं होंगे आत्मा की अनुभूति नहीं होगी। झलक कभी-कभी मिल जाएगी, सो शुभ है परन्तु निरन्तर अवस्था वो नहीं रहेगी। प्रेमियों को भी साधना करनी पड़ती है। भावुक हृदय साधकों को तो भक्ति करनी चाहिए, खूब जमकर करनी चाहिए।

चैतन्य महाप्रभु तो भक्ति के प्रतीक थे। वे भगवान कृष्ण के अवतार माने जाते हैं। जिन्होंने इनका साहित्य पढ़ा है वे जानते होंगे कि वो कीर्तन करते-करते मूर्छित हो जाते थे। आवाक्य हो जाते थे। आवाक्य हो जाने में क्या होता है - भीतर में स्थिरता आ जाती है। लोग-बाग कहते थे कि मूर्छा आ जाती थी। नहीं, वो आत्मा का ठहराव था, वो भगवान के दर्शन थे, आत्मा के दर्शन थे। भक्तिमार्ग गलत नहीं है। भक्ति करते-करते भक्त अपने स्वयं को भूल जाये, यही भक्ति का आशय है। कीर्तन करते-करते कई भक्त अपने को भूल जाते हैं। वो गलत नहीं हैं। ध्येय हमारा यही है कि हमारे भीतर में जो द्वन्द हैं वे खत्म हो जाएँ। चाहे हम सत्संग को या चाहे भक्ति या ज्ञान के मार्ग को अपनायें - सब रास्ते ठीक हैं, गलत कोई नहीं है।

सत्संगी साधक को पूर्वोक्त पाँचों आवरणों से, पाँचों जँजीरों से मुक्त हो जाना है। तब भीतर में आज़ादी मिलती है। पर वो जंजीर खुलेगी कैसे ? क्या आसानी से खुल जाती है ? नहीं, बड़ी मेहनत करनी पड़ती है। मैंने एक ज्ञानी से पूँछा कि आप तो साधना कुछ करते नहीं फिर आप कैसे आत्मस्थित हो जाते हैं ? उत्तर में उन्होंने जो बात कही वो ठीक है कि " हमारे यहां वेदान्ती लोग हैं वो अपने सतगुरु के चरणों में बैठकर उनसे शास्त्र सुनते हैं। उनकी वाणी सुनते रहते हैं। उनका बार-बार मनन करते हैं। मनन ही हमारा ध्यान हो जाता है"। और यह बात सही है।

सभी महापुरुषों ने मनन पर बल दिया है। श्रवण, मनन, प्रतिहार। यह मनन की जो अवस्था है बड़ी ऊँची है। हम सबमें इसकी बड़ी कमी है। हम पढ़ते तो बहुत कुछ हैं किन्तु एक-एक बात या पद को लेकर उसका अर्थ या भाव क्या है यह कोई व्यक्ति मनन नहीं करता। यह हमारी कमी है। हमें विचार करना चाहिए, मनन करना चाहिए। तब जो कुछ भी आप पढ़ेंगे, जो कुछ आपका अध्ययन है उसका भाव स्पष्ट हो जायेगा। वह भाव आपके अन्तर में बस जायेगा।

' अहं ब्रह्मास्मि ' मैं ब्रह्म हूँ, मैं आत्मा हूँ- यह सिर्फ कहने से तो नहीं हो जाते। आप धीरे-धीरे सोचेंगे कि मैं शरीर नहीं हूँ, मन और बुद्धि भी नहीं हूँ - मैं तो आत्मा हूँ। एक साल में नहीं, दो साल में नहीं, दस-बीस साल में आपका मोह आपके शरीर से टूटेगा। इसके बाद मन, बुद्धि, अहंकार जैसे अन्य सूक्ष्म आवरणों से भी जब आपकी आसक्ति टूटेगी तब फिर आपको " मैं आत्मा हूँ " इसका वास्तविक अर्थ समझ में आएगा। अभी तो आप बुद्धि के द्वारा यह बात समझ रहे हैं। इस विषय पर भाषण भी दे लेते हैं, वाद-विवाद भी कर लेते हैं। किन्तु यह सब कोरा ज्ञान है। वास्तव में तो आप सब परमात्मा के अंश हैं, गुरु के अंश हैं, आत्मस्वरूप हैं। आपकी जीवन-यात्रा का यही लक्ष्य है। आप चाहे कोई सा भी मार्ग

अपनायें।

गुरुदेव सबका भला करें

0000000000

राम संदेश : मार्च -अप्रैल, 2003

प्रभु के स्थितप्रज्ञ ज्ञानी या भक्त के प्रिय गुणों में एक विशेष गुण है -क्षमा

(ब्रह्मलीन सदगुरु डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

परमार्थ के कई रूप हैं। महापुरुषों ने परमार्थ विद्या के लक्ष्य, परमात्मा के गुणों और अस्तित्व को भिन्न-भिन्न तरीकों से वर्णन किया है। प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने संस्कार होते हैं। उन संस्कारों के अनुसार वह भक्ति साधना द्वारा ईश्वर के ओर बढ़ता है। उसका तरीका पृथक-पृथक होता है। इसीलिये गीता में भगवान कृष्ण ने सबसे पहले ज्ञान शिक्षा दी है।

अर्जुन विद्वान था, शास्त्रज्ञ था, परन्तु ब्रह्मज्ञानी नहीं था। इसलिए जब ज्ञान (सांख्य दर्शन) की बात उसे बताई गयी तो वह भगवान से पूँछता है कि "स्थितप्रज्ञ व्यक्ति कैसा होता है, वह रहता कैसे है, उसका व्यवहार कैसा होता है ? इस पर भगवान ने एकरसता का वर्णन किया है। अर्जुन फिर पूँछता है कि एकता में रहकर अर्थात् ईश्वर से तदरूप हुआ उच्च कोटि का ज्ञानी संसार के साथ काम कैसे करता है ? अर्जुन के पास चुनौती थी। सामने कुरुक्षेत्र का मैदान था। लाखों आदमी एक दूसरे का बध करने के लिये खड़े थे। वह उनको देख कर यही सोचता है कि ज्ञानी पुरुष कैसे काम करता

होगा? वह युद्ध कैसे लड़ता होगा, आदि, आदि। भगवान अर्जुन को समझाते हैं कि वह व्यक्ति सब परिस्थितियों में सम - अवस्था में रहता है। दुःख आ जाये तो विक्षिप्त नहीं होत , सुःख आ जाये तो ज़्यादा फैलता -फूलता नहीं। वह एकरस रहता है । सर्दी- गर्मी, हानि - लाभ उसके जीवन में कोई अन्तर नहीं लाते परन्तु केवल शब्दों के सुन लेने से कुछ नहीं होता।

अर्जुन प्रश्न किए जा रहे हैं और भगवान इतने दयालु हैं कि वे उत्तर दिए जा रहे हैं। उन्होंने ईश्वर की प्राप्ति के लिए कई साधन बताये। पहले ज्ञान बताया फिर दूसरे अध्याय में सांख्य बताया है । फिर, तीसरे, चौथे और पाँचवे अध्याय में कर्म की व्याख्या को विस्तार से बताया गया है। मुख्य रूप से हमारे शास्त्रों में विशेष साधन हैं -- एक ज्ञान का, दूसरा कर्म का और तीसरा भक्ति का। धर्मानुसार समाज के हित के लिये निस्वार्थ होकर कर्म करें परन्तु जो भी उसका भला-बुरा फल हो उससे विक्षिप्त न हों। और न ही यदि फल आशानुसार हो जाए ,

तो उसमें अहंकार आना चाहिये। हाँ, यह बहुत कठिन है। कोई व्यक्ति बिना सोचे हुए कि इसका फल क्या होगा कोई काम नहीं करता है। वह हमेशा ख्याल रखता है कि जो भी काम में करूँ उसका फल मेरी आशा के अनुकूल हो।

शास्त्र कहते हैं कि व्यक्ति या तो ज्ञान पथ को अपना ले या कर्म को या भक्ति को। तीनों में से अगर कोई भी पथ नहीं अपनाता तो उसे "मनुष्य रूपेण मृग चरन्ति " (मनुष्य रूप में पशु) कहा है। वास्तविकता यही है। जितनी भी साधनायें हैं -- ज्ञान की, कर्म की, भक्ति या सन्यास योग की, सबका सार यही सिद्ध करता है कि साधक साधना करते - करते उस आयाम में पहुँचता है जहाँ वह अनुभव करता है कि वह और परमात्मा एक हैं, एक ही शक्ति या सत्ता के विविध स्वरूप हैं।

इसी को सत्त कहते हैं, सत्तनाम सत्त है। यहाँ प्रभु की बड़ी सुन्दर लीला की बात आती है कि भगवान स्वयँ ही रसिया हैं, स्वयँ ही रस हैं और स्वयँ ही रसोपान करते हैं - यानी रस लेते हैं। यह बात प्रत्येक व्यक्ति की समझ में नहीं आती कि भगवान स्वयँ ही रस हैं और रसास्वादन भी स्वयं ही करते हैं। आप ही कर्ता और आप ही भर्ता हैं। यानी कर्म करने वाले भी आप हैं, जो कर्म किया गया वह भी आप हैं और जिस पर क्रिया की जाती है वह भी आप ही हैं।

यह स्थिति साधना करते - करते जब व्यक्ति सुषुप्ति में पहुँचता है तब होती है। जैसे प्रगाढ़ निद्रा में रोज़ ही आपको अनुभव होता है कि गहरी नींद में बड़ा आनन्द आया। इसी प्रकार व्यक्ति साधना करते -करते निर्विचार हो जाता है। वह उस स्थान पर पहुँच जाता है जहाँ एकता है। परन्तु यदि इस सुषुप्ति की अवस्था में गुण नहीं है तो यह जड़ता है। मूर्ख व्यक्ति भी सुखी रहता है और ज्ञानी भी सुखी रहता है। बीच के लोग, खासकर राजसी वृत्ति वाले, दुःखी और अशान्त रहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति यही कहता है कि हमारा मन नहीं लगता, मन स्थिर नहीं रहता, इतने साल हो गये अशान्ति बनी हुई है, शान्ति नहीं मिलती इसके दो कारण हैं कि उसने न तो पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया है और न ही उसने कर्म या सच्ची भक्ति की साधना की है।

जिसको ज्ञान की प्राप्ति हुई है तो वहाँ तो एकता है -- एकरसता है। जहाँ दो होंगे, राग द्वेष स्वाभाविक है। जब तक दोनों ज्ञानी न हों, अशान्ति स्वाभाविक है। हम देखते हैं कि परिवार में स्त्री - पुरुष, भाई - भाई , माता - पिता, बच्चे, छोटी -छोटी बातों पर झगड़ते हैं। उनमें एकता नहीं रह पाती, वे एक दूसरे के प्रति राग - द्वेष की भावना रखते हैं।

भगवान ने तो प्रेम -भाव की प्रतीक एकता दी है। आत्मा और आनन्द का स्रोत प्रत्येक व्यक्ति के भीतर है। परन्तु वह अहंकार के कारण उस स्रोत तक नहीं पहुँच पाता। इसलिए गुरु महाराज कहते हैं कि जहाँ पर अहंकार है वहाँ न तो ईश्वर का प्रेम मिल सकता है और न संसार के सुःख मिल सकते हैं और न सच्चा 'नाम' मिल सकता है। गुरु महाराज ने यह स्थिति सुहागन जैसी बतलाई है जहाँ साधक और सिद्ध, परमात्मा और गुरु दोनों एक हैं। कभी - कभी सुषुप्ति मन यदि कोई महापुरुष मिल जाता है तो उसकी सहायता मिल जाती है। वह रास्ता देखे हुए होता है तो साधक को अन्धकार से निकाल देता है। सुषुप्ति जैसे तो परमार्थ पथ में उत्तम अवस्था नहीं है। यह तब उत्तम अवस्था बनती है जब इसके साथ ईश्वर के गुण होंगे बिना गुणों के भक्ति नहीं हो सकती।

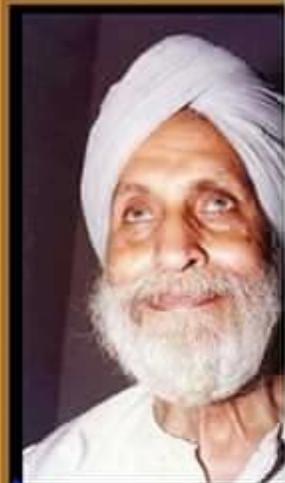
ईश्वर की प्राप्ति का कोई भी रास्ता अपनायें यदि सदगुणों को नहीं अपनायेंगे तो किसी प्रकार की पद्धति से आपको सफलता नहीं मिलेगी। भक्ति का यह अर्थ नहीं कि केवल किसी मूर्ति या तसबीर की पूजा करो। कोई भी साधना करो, सदगुणों को अपनाना तो उसकी नीव है। जैसे भी देख लीजिये जो व्यक्ति सदव्यवहार करता है, जिसके हृदय में सदविचार उठते हैं और जो सदगुरु को अपनाता है, उसके भीतर में प्रेम और शान्ति स्वभाविक रूप से उत्पन्न हो ही जाते हैं।

भगवान कृष्ण ने गीता के बारहवें अध्याय में तेरहवें श्लोक से लेकर बीसवें श्लोक तक अपने भक्त साधक के बहुत से गुण बताये हैं। भगवान ने तेरहवें श्लोक में ही बहुत कुछ बता दिया है जिसके पहले शब्द में ही पहला गुण है - अद्वेषता अर्थात् मन में किसी के प्रति तनिक भी द्वेष की भावना न रहे। हम जो रोज़ अखबार पढ़ते हैं उसमें जो खबर हमारी भावना के अनुकूल होती है उससे हमें सुःख होता है नहीं तो दुःख । राग - द्वेष उत्पन्न होता ही रहता है।

भगवान अपने भक्त से जिस पहले ही गुण की आशा रखते हैं वह है - अद्वेषता। इसी श्लोक का अन्तिम गुण है - क्षमा। व्यक्ति क्षमाशील हो। हज़रत ईसा साधक को कहते हैं "seventy times seven " हज़ारों बार भी क्षमा करना पड़े तो भी क्षमा किये जाओ। तुम्हारा यही स्वभाव होने चाहिये, बदले या द्वेष भावना का नहीं। क्षमा परमात्मा का मुख्य गुण है। क्षमादान आत्मा का गुण है। ऐसे गुण अपने भक्तों में भगवान को अति प्रिय हैं। इन गुणों को सीखने के लिए मेरा निवेदन है, आपसे बार -बार अनुरोध है कि आप इन्हें स्वयं अपनायें और इसके लिए प्रतिदिन नहीं तो कम से कम सप्ताह में एक बार इन 8-10 श्लोकों को अवश्य दुहरावें। इन गुणों वाले साधक को प्रत्येक मार्ग में सफलता अवश्य मिलेगी - चाहे वह ज्ञानयोग हो, कर्मयोग हो अथवा भक्तियोग हो, आप किसी भी पथ पर चलें ।

गुरु महाराज आपको शक्ति दें ।

00000000000000



गुरुदेव (महात्मा श्रीकृष्ण लाल जी)
कहा करते थे कि ईश्वर , संतों या
गुरुओं के गुणों को सराहना और
अपनाना और वैसे ही बन जाना ही
उनकी सच्ची पूजा है . अगर वास्तव में
आप ईश्वर के दर्शन करना चाहते हैं तो
भगवान के गुणों को केवल सराहते -
सुनाते ही न रहिये बल्कि उन्हें
अपनाइये , अपने जीवन का अंग बना
लीजिये - और वह भी बिना अहंकार के
तथा अत्यन्त दीन बन कर विनम्र भाव
से .



प्रेम से ही परमात्मा की अनुभूति होती है

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

आजकल नवरात्रों के व्रत रखे जा रहे हैं, माँ की पूजा हो रही है। माँ क्या है? कोई शक्ति है जो परमात्मा से निकलती है। वो सर्व-व्यापक है। एक ही जगह सीमित नहीं है। उस शक्ति की अमृतधारा सब पर एक जैसी पड़ रही है। हमें उस शक्ति को ग्रहण करना है। उस शक्ति को ग्रहण करने का सीधा सा साधन है कि सरलता से बैठ जाएँ और मन ही मन बड़े प्रेम से ईश्वर का नाम लेते रहें। माँ की इस शक्ति की प्रसादी सबको प्राप्त हो सकती है। माँ किसी से भिन्न-भिन्न प्रकार का व्यवहार नहीं करती, वो अपना स्नेह सबको देती है। उस प्रसादी को ग्रहण करने के लिए, जैसे एक छोटा सा नवजात शिशु अपनी माँ की गोद में बैठ जाता है, उसी प्रकार से हम भी बड़ी सरलता से, बड़ी सत्यता से, अपना बल छोड़कर माँ के चरणों में बैठे और प्रतीक्षा करें उस प्रसादी का, मन ही मन बड़े प्रेम से ईश्वर का नाम लेते रहें। मनुष्य चाहे वह किसी भी धर्म का, किसी भी सम्प्रदाय का हो, किसी भी देश का हो, उसकी आन्तरिक अभिलाषा, छिपी हुई चाह, यही होती है कि उसको किसी भी प्रकार से ऐसी शान्ति मिले, ऐसा जीवन मिले जहाँ न मृत्यु हो, न बुढ़ापा हो, न बीमारी हो और न किसी प्रकार का अभाव हो, पूर्ण शान्ति हो। इसी शान्ति को हमने संक्षिप्त में 'नाम' भी कह दिया है। ये अक्षर मात्र अक्षर नहीं हैं। नाम और नामी परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है। आत्मा परमात्मा को ही सच्चा 'नाम' कहते हैं। उसी के लिए हम प्रार्थना करते हैं कि हमें भी एक 'नाम' मिल जाय यानी ईश्वर हमारे रोम-रोम में बस जाये और हमारे भीतर में जो राक्षस बैठे हैं, जिनके लिए हम आज से व्रत रख रहे हैं, वो खत्म हो जाएँ। मेरा चित्त निर्मल हो जाए और मैं भी विजय दशमी का त्यौहार सरलता से मनाऊँ अर्थात् मेरे भीतर में काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार रूपी जो शत्रु हैं, राक्षस हैं, उन पर मैं विजय प्राप्त करूँ ताकि मैं भी भगवान राम का प्रतीक बन सकूँ अर्थात् मैं भी अपनी आत्मा का साक्षात्कार कर सकूँ, मैं भी अपनी आत्मा को परमात्मा में मिला सकूँ। मैं भी सच्चे योग की प्राप्ति कर सकूँ।

इस प्राप्ति के लिए दो मुख्य साधन हैं - एक निवृत्ति मार्ग और दूसरा प्रवृत्ति मार्ग - अर्थात् राजयोग। निवृत्ति मार्ग में संन्यास में सब कुछ त्याग देते हैं। घर-बाहर, धन-दौलत सब त्याग देते हैं। केवल एकान्त में जाकर प्रभु का चिन्तन करते हैं। परन्तु सन्यासी बनना प्रत्येक के बलबूते का काम नहीं है। सन्यासी अपना सिर मुड़वा देते हैं ताकि उसका एक भी संस्कार न रहे, उसकी आसक्ति बिलकुल ही खत्म हो जाए। उसका संसार के प्रति जो चिपकावन है, मोह है, वह बिलकुल खत्म हो जाये। जब वह बिलकुल अग्नि-रूप हो जाता है तो उसका गुरु उसे अग्निरूप गेरुए कपडे प्रदान करता है और तब वह समझता है कि अब यह व्यक्ति सन्यास का अधिकारी है। वास्तव में सन्यास के अधिकारी तो बहुत कम होते हैं। लाखों में से कोई एक-आध व्यक्ति ही होता है, बाकी ये जो गेरुए कपडे पहने होते हैं वो सन्यासी नहीं कहलाते। सन्यासी तो अग्नि का रूप होता है। उसने सब कुछ जला दिया होता है और अग्नि-रूप बन कर वो दूसरों के भी मानसिक रोगों को जलाकर शुद्ध कर देता है, उनकी सेवा करता है और उनको भी अधिकारी बनाने का प्रयास करता है।

दूसरा मार्ग है - राजयोग का यानि प्रवृत्ति मार्ग। इसको विस्तार से न कहता हुआ थोड़ा सा ही कहता हूँ -- पारिवारिक जीवन व्यतीत करना - यानि पारिवारिक जीवन कैसे व्यतीत करें ? सब महापुरुषों की वाणी में, सब शास्त्रों में ये वर्णन है कि यदि स्त्री और पुरुष (पति-पत्नी) में पूर्ण सहयोग है, वे दो शरीर और एक मन हैं, एक आत्मा हैं, तो पति-पत्नी के इस प्रेम से ही आत्मा की अनुभूति हो सकती है, ईश्वर के दर्शन हो सकते हैं। यह तो आप सब ने सुना ही है कि पति जितना साधन करता है, कमाई करता है और पत्नी उससे प्रेम करती है तो पति की आधी कमाई पत्नी को मिल जाती है। इसी प्रकार से यदि पत्नी कमाई करती है और पति उससे प्रेम करता है तो पति को पत्नी की आधी कमाई मिल जाती है। ये बिलकुल सत्य हैं। इसमें तर्क नहीं करना चाहिए। जिस परिवार में प्रेम नहीं, आपस में सहयोग नहीं, वहाँ सुबह से शाम तक कीर्तन होता रहे या और कुछ साधन हो, उसका कोई लाभ नहीं। जिस परिवार में प्रेम है, शान्ति है, आनन्द है, सहयोग है, सब लोग एक दूसरे के लिए तन-मन-धन न्योछावर करने के लिए तैयार रहते हैं, एक ने कहा दूसरे ने मान लिया, कोई तर्क नहीं करता, वहीं परलोक का सुख है। वहीं आत्मा को समीपता है।

आत्मा की अनुभूति तभी होती है जब मन की चंचलता खत्म हो जाती है तथा मन स्थिर हो जाता है। मन तभी स्थिर होता है जब मन में सदविचार उठते हैं , मुख से मधुर वाणी निकलती है, व्यवहार से सदगुणों का विकास होता है। तब जाकर मन स्थिर होने का अधिकारी बनता है। जैसे ही मन स्थिर हुआ कि आत्मा का प्रकाश होने लगता है। यदि पारिवारिक जीवन में ये तीन गुण हों - सहयोग हो, मधुरता हो, एक दूसरे के लिए बलिदान देने के लिए तैयार हों, तो दोनों (पति-पत्नी) ही शरीर भले ही पृथक-पृथक दीखते हों, परन्तु उनका जीवन एकसुई का होगा, भिन्नता का नहीं होगा। उस एकता में दोनों के मन स्थिर हो जायेंगे और वे अधिकारी हो जायेंगे। अगर उनका जीवन इसी तरह प्रेममय होता गया तो एक क्षण ऐसा भी आएगा कि उनके भीतर जो आत्मा है उसका विकास हो जाएगा । हम जानते हैं कि दो व्यक्ति जब आपस में मिलते हैं, प्रेम करते हैं तो प्रेम में वे अपने आपको भूल जाते हैं । दो-चार क्षण मौन के ऐसे आते हैं जब दोनों व्यक्ति अपने आप को बिलकुल भूल जाते हैं । भीतर में एक पवित्र शांतिमय मौन के सूर्य का उदय हो जाता है। ये आत्मा की समीपता है और इसे ही बढ़ाना है ।

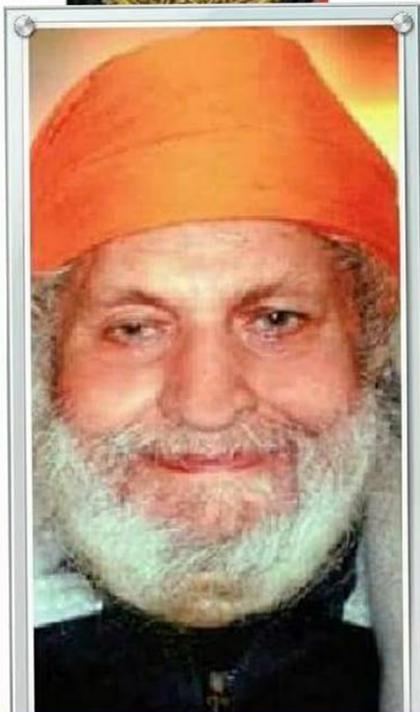
विवाह में हम फेरों पर बैठते हैं। लड़का (वर) विष्णु भगवान का प्रतीक बनता है। वह परमात्मा रूप, परमात्मा का प्रतीक अग्नि जो स्वच्छ है, उसी के आगे शपथ लेता है कि मैं परमात्मा विष्णु का प्रतीक, स्वरूप, बनकर लक्ष्मी रुपी स्त्री (वधु) की रक्षा करूँगा, उसकी सेवा करूँगा, उस पर सब कुछ न्योछावर कर दूँगा। इसी प्रकार लड़की (वधु) भी लक्ष्मी का रूप बनकर शपथ लेती है कि जैसे लक्ष्मी जी ने भगवान विष्णु की सेवा की, उनकी हृदयांगनी बनी, उसी प्रकार मैं भी अपने होने वाले पति की सेवा स्नेह के साथ करूँगी। दोनों ही उस पवित्र अग्नि के फेरे लेते हैं, जो शपथ दृढ़ करने का तरीका है। परन्तु इस वक्त (फेरे के समय) इतना शोरगुल मचता है कि हम उस उपदेश को सुनते ही नहीं और जो शपथ हम लेते हैं उस शपथ को भूल जाते हैं कि हमने क्या शपथ ली थी। इसीलिए हम देखते हैं कि आजकल परिवारों में सुख नहीं, शांति नहीं। इसका कारण यही है कि हम अपने दायित्वों को भूल जाते हैं । पति-पत्नी एक दूसरे को दोष देते हैं , जबकि उन्हें एक दूसरे को दोष नहीं देना चाहिए उस अग्नि के समक्ष बैठ कर जब दोनों एक हो गए, प्रेम रूप हो गए, तो फिर दोष किसको दें । प्रेम में विभाजन नहीं है, प्रेम में एकता है, प्रेम में सुख है, शांति है। प्रेम में ही आत्मा परमात्मा है।

पारिवारिक जीवन में परमात्मा की अनुभूति करने का बड़ा सरल साधन है। जितने भी महर्षि , जितने भी देवता भगवान राम, कृष्णा, वशिष्ठ ऋषि, आदि हुए हैं सबने गृहस्थ आश्रम को ही अपनाया है। हमें चाहिए कि हमारे महापुरुषों ने इस पवित्र जीवन जीने का जो रास्ता बताया है हम उसको अपनाने का प्रयास करें। बाधाएँ आयेंगी, अड़चनें आयेंगी, संसार में रहते हुए अच्छे आदमी को अधिक अड़चनें आती हैं, अधिक बाधाएँ आती हैं, हमें उनकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। ईश्वर का आश्रय लेकर, ऊँचे आदर्शों को ग्रहण करते हुए अपने जीवन को सफल बनाने का प्रयास करना चाहिए।

ईश्वर सबका कल्याण करें ।

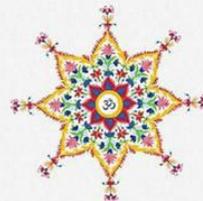
000000000000

राम सन्देश : मई, 1988



दीनता एवं सरलता ऐसे गुण हैं जो परमात्मा के चरणों की ओर ले जाते हैं . मनुष्य को प्रार्थना द्वारा सच्चे प्रेम की प्राप्ति होती है . सच्चा प्रेम क्या है ? प्रेम में पवित्रता है , उदारता है , प्रेम में एकता है . प्रेम परमात्मा से हो तो ऐसे हो जैसे मृग मरुस्थल में जल को खोजने के लिये व्याकुल होता है . उसी प्रकार से जिज्ञासु को परमात्मा की खोज में अपने आपको खो देना चाहिए जब प्रेम में डूबे साधक में किसी प्रकार की वेदना -संवेदना या अन्य कोई भी भाव तरंग नहीं रहती तो शरीर , मन , बुद्धि , अहंकार , आत्मा सब परमात्मा में लय हो जाते हैं .

परमसंत डॉ . करतारसिंह जी महाराज



राम सन्देश : अक्टूबर-दिसम्बर, 2014

प्रेमाभक्ति है - प्रेमाश्रु - गंगा स्नान

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

भक्त शिरोमणि मीराबाई भगवान कृष्ण के प्रेम में दीवानी थीं। उन्हीं की वाणी में :

" अँसुअन जल सींच-सींच प्रेम बेल बोई "

प्रेम की बेल को तो अश्रुजल से सींचना पड़ता है। वास्तव में प्रीतम की प्रीत पाने के लिए बहुत रोना, तड़पना पड़ता है। यही भाव कविवर मलिक मौहम्मद जायसी ने इन शब्दों में व्यक्त किया है:

" जे नहिं सीस प्रेम-पथ लावा, सो काहिक या जग महिं आवा "

कवि कहता है कि जिसने प्रेम के लिए अपना सिर न्योछावर नहीं किया उसका जन्म लेना निरर्थक है। इसी तरह एक सूफी संत का कहना तो यहाँ तक है कि "जिसके हृदय में विरह उत्पन्न नहीं हुई उसके सिर को काट देना चाहिए।" प्रेमाभक्ति में यदि साधक के हृदय में अपने प्रियतम के प्रति, अपने गुरु के प्रति, विरह-भावना उत्पन्न नहीं हुई तो वो केवल बातें ही करता है, उसका प्रेम वास्तविक नहीं है। हम भगवान की रास लीला में देखते हैं कि गोपियाँ भगवान् के दर्शनों के लिए कैसे व्याकुल हो जाती हैं।

विरह कैसे उत्पन्न हो ? जिस व्यक्ति को यह स्पष्ट ज्ञान नहीं हुआ है कि वो किससे प्रेम कर रहा है, किसकी साधना कर रहा है, उसका साध्य क्या है, उसका ध्येय क्या है - तो वो सच्चा प्रेमी नहीं बन सकता। यदि उसको उसके इष्टदेव नहीं मिलते तो वो मछली की तरह तड़पता है या नहीं ? अगरचें मछली जैसी तड़प अभी पैदा नहीं हुई है, तो वो अभी अपने इष्टदेव के प्रेम को पाने का अधिकारी नहीं बना है। कुछ साधकों को भजन गाकर या प्रवचन सुनकर या पुस्तक पढ़कर प्रेमाश्रु आ जाते हैं, प्रेम की वृष्टि होने लगती है, और प्रेम की व्याकुलता से वह धारा फूट पड़ती है। इसके प्रति कुछ लोग कहते हैं कि ये तो ऐसे ही दिखावा करते हैं जो लोग ऐसा कहते हैं वो स्वयं जरा ऐसा करके तो दिखाएँ।

एक बार स्वामी विवेकानन्द जी लाहौर गए, जहाँ वे स्वामी रामतीर्थ जी के पास ठहरे। विवेकानन्द जी का वहाँ एक बड़ी सभा में भक्ति के ऊपर प्रवचन था। प्रवचन देकर जब वे स्वामीजी के घर पहुँचे तो उन्होंने स्वामी जी से पूछा - "मित्र, आपने मेरा आज का प्रवचन सुना होगा। आपको कैसा लगा।" वे दोनों समकालीन थे, एक जैसी आयु थी और दोनों ही बड़ी उच्च-कोटि की शुद्ध आत्माएं थीं। उत्तर में स्वामी रामतीर्थ कहने लगे - " मित्र, यदि कुछ कहूँ तो बुरा तो नहीं मनाओगे ?" उन्होंने कहा, "नहीं, मित्र की बात का बुरा क्यों मनाऊँगा ?" तब स्वामी रामतीर्थ जी ने कहा -" विवेकानन्द, आप आज भक्ति पर बोल रहे थे, प्रवचन दे रहे थे। भक्ति पर बोलें और आपकी आँखों में एक भी अश्रु न हो, ये भक्ति पर कैसा प्रवचन है ?" दोनों युवावस्था में थे, बड़े पवित्र हृदय के थे। विवेकानन्द जी ने माना कि स्वामी रामतीर्थ जो कह रहे हैं, वो सत्य है।

एक बार ऐसा ही अनुभव स्वामी विवेकानन्द जी को एक और स्थान पर हुआ। एक सरल व्यक्ति भगवान् की मूर्ति के पास बैठा हुआ प्रार्थना कर रहा है एवं रो रहा है। उसके प्रेमाश्रु बह रहे हैं। उसको देखकर विवेकानन्द जी सोचने लगे - मेरे से तो अच्छा तो यह भक्त है, क्या हुआ अगर्चे यह पत्थर की मूर्ति की पूजा करता है ? यह सच्चा भक्त है। इसे परमात्मा पत्थर की मूर्ति में ही प्रगट होकर दर्शन देंगे। इसकी भक्ति जरूर सफल होगी। उन्होंने उस सच्चे भक्त की तुलना अपने हृदय से की। यह वास्तविकता थी। प्रारम्भ में स्वामी विवेकानन्द जी को ज्ञान तो बहुत था, वे दानी भी थे और शुरु-शुरु में ब्रह्मसमाज में जाया करते थे। ब्रह्मसमाज आर्यसमाज की ही दूसरा रूप है। वे तर्क बहुत करते थे। अपने गुरु परमहंस स्वामी रामकृष्ण देव जी से भी तर्क करते थे। स्वामीजी विवेकानन्द जी को बहुत चाहते थे। जब विवेकानन्द ब्रह्मसमाज में जाते तो स्वामीजी आपके पीछे-पीछे जाते। विवेकानन्द जी सोचने लगते कि, ' इस बूढ़े को क्या हो गया है ? यह मेरे पीछे-पीछे क्यों आता है ?'

विवेकानन्द जी अभी समझ नहीं सके थे कि स्वामी रामकृष्ण जी उनको क्या बनाना चाहते हैं। बाद में विवेकानन्द जी जब अमेरिका गए हैं, वहाँ उन्होंने ऑल वर्ल्ड रिलीजंस कौन्फेरेंस (All World Religions Conference) में प्रवचन देना था और उनको कुछ सूझ नहीं रहा था, तो रात में उन्होंने अपने गुरु महाराज परमहंस स्वामी रामकृष्ण देव जी को याद किया। तब रात में स्वामीजी ने अपने अन्तरज्ञान (intuition) से विवेकानन्द जी को जाग्रत

अवस्था में लैक्चर (प्रवचन) समझाया। विवेकानन्द जी की बड़ी तीव्र बुद्धि थी - एक दफ़ा जो पढ़ लेते या सुन लेते थे उनको याद हो जाता था। दूसरे दिन उन्होंने अपना प्रवचन दिया। वहाँ दूसरे जो प्रतिनिधि (Delegates) जो भिन्न-भिन्न देशों से आये हुए थे, उन्होंने मज़ाक किया कि यह युवक धर्म पर क्या बोलेगा ? यह किनकी मजलिस (सभा) में बोलने आया है ? शुरू-शुरू में उनका मज़ाक उड़ाया गया, किन्तु बाद में जब उन्होंने अपना प्रवचन दिया और प्रवचन देने के बाद हॉल के बाहर आये तो वो ही सारे लोग जो यह समझते थे कि धर्म पर उनसे अच्छा कोई और नहीं बोल सकता, वो सब स्वामीजी के पीछे-पीछे भाग रहे थे। जैसे जब भगवान कृष्ण बाँसुरी बजाते थे तब गोपियाँ उनके पीछे-पीछे भागती थीं, उसी प्रकार वे भी भाग रहे थे और निवेदन कर रहे थे कि हमारी बात सुनिए।

ये सब ऐसा क्यों हुआ ? कब हुआ ? जब उनके हृदय में कोमलता आयी। जब उन्होंने प्रेमाश्रुओं की गंगा में स्नान किया। वो व्यक्ति धन्य हैं जिनके चक्षुओं से यह प्रेम गंगा बहती है। उनका हृदय बहुत भावुक और करुणामय होता है। वे धन्य हैं। हमें तो उनकी पूजा करनी चाहिए, गंगा स्नान करना ठीक है, बहुत पवित्र है। परन्तु यह प्रेमाश्रुओं का जो स्नान है यह कहीं और भी अधिक पवित्र है। ऐसी जलधारा हमारे चक्षुओं से क्यों नहीं निकलती ? कोमलता नहीं है और अपने इष्टदेव से मिलने की व्याकुलता नहीं है। हम समझते हैं कि हम सब कुछ जानते हैं। कोई ही व्यक्ति ऐसा होगा जिसकी आँखों से भले ही एकाध अश्रु निकल आयें, परन्तु अश्रु धारा नहीं आएगी। ये धारा, ये गंगा का प्रवाह, तो उसी व्यक्ति के चक्षुओं से बहेगा जिसके हृदय में विरह है, व्याकुलता है, पागलपन है, उसको लोक लज्जा की परवाह नहीं है। ये गंगा का प्रवाह, ये अमृत वृष्टि, सारे पापों को धो डालती है। सारे संस्कारों को धो डालती है। प्रेम केवल कहने से तो नहीं होगा। प्रेम व्यक्त होना चाहिए - भीतर में भी और बाहर भी।

सच्चे जिज्ञासु इस गंगा स्नान के लिए तड़पते हैं। वो चाहते हैं कि इस प्रकार का गंगा स्नान हम भी करें। परन्तु दुर्भाग्यवश उनके हृदय में वह पीड़ा उत्पन्न नहीं हुई है, विरह की जलन नहीं है। कोमलता होनी चाहिए और व्याकुलता और विरह भावना होनी चाहिए। इनके साथ-साथ एक और गुण होना चाहिए और वह गुण है - सरलता। बनावट के अश्रु नहीं। सहज रूप से हृदय से निकलकर चक्षुओं से यह धारा बहकर प्रकट होनी चाहिए। ये प्रेमाश्रु बुद्धि से

नहीं, हृदय से निकलते हैं। ऐसा गंगा-स्नान हम सब भाइयों-बहनों को प्राप्त हो। आप सब इतनी दूर-दूर से आये हैं, मुझे खुशी होगी यदि आप सब इस गंगा स्नान में पवित्र होकर लौटें।

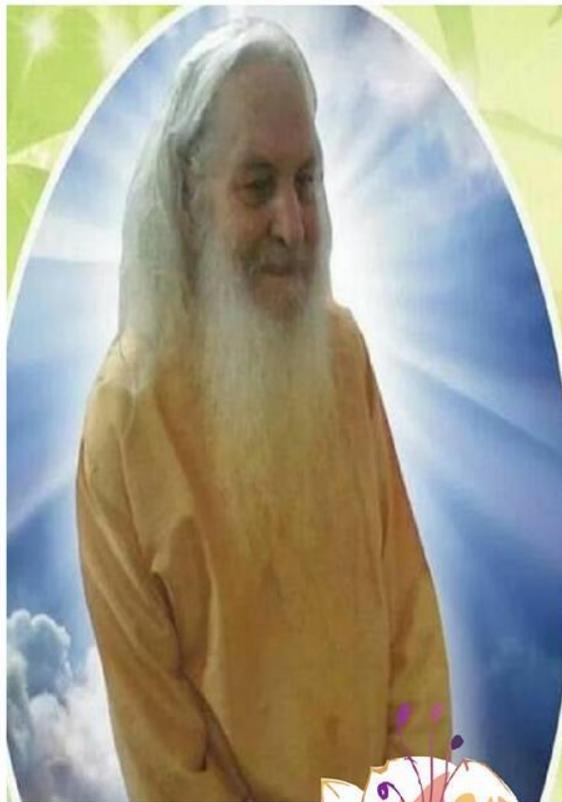
हमारे गुरुदेव भी कभी-कभी एकान्त में भावविभोर होकर ये पंक्तियाँ धीरे-धीरे दोहराया करते थे :-

" तेरा मैं कुर्बान जिसने दर्द पैदा कर दिया,

जिसने दिया है दर्द दिल, उसका खुदा भला करे !"

गुरुदेव सबका कल्याण करें।

0000000000



अहंकार से प्रभु नहीं मिलते . चाहे
आप कोई भी साधन करें - दीनता को
तो अपनाना ही होगा. जिसके भीतर में
सच्ची दीनता है वह स्वयं भी प्रसन्न
रहता है और दूसरों को भी आनन्दित
करता है . प्रभु को दीनता बहुत प्यारी
है

परमसंत सदगुरु डॉ करतार सिंह
जी साहिब



राम सन्देश : सितम्बर-अक्टूबर, 2010

भक्त और सहनशीलता

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ०करतारसिंह जी महाराज)

सत्संग में आकर सद्गुण उत्पन्न होने चाहिए। सत्संग में आकर या घर में बैठ कर साधना की, किन्तु ईश्वरीय दिव्यगुण उत्पन्न नहीं हुए, क्षमा करेंगे, तो साधना का विशेष लाभ नहीं होगा। पूज्य गुरु महाराज ने फ़रमाया है कि जिन पर ईश्वर की कृपा हो जाती है, अपने बल-बूते कुछ नहीं होता, सेवा पैदा हो जाती है। नदी का जल बहता रहता है, धरती को पानी देता है, धरती पानी को लेती है। उसमें खेती होती है, फसल उपजती है, सन्सार को लाभ पहुँचता है। धरती कुछ नहीं माँगती। गंगा का जल बहता रहता है, लोग आते हैं, स्नान करते हैं, पवित्र होते हैं। अमृत जल लेते हैं और जब घर लौटते हैं तो गंगा जल लेकर आते हैं। ऐसा गुण साधक में होना चाहिए कि वो अपना तन, मन, धन - अपना सब कुछ। सन्सार की सेवा में अप्रयास ही लगाता रहे। अर्थात् बिना किसी आशा के सन्सार को सुख पहुँचाता रहे। यह उसका सहज स्वभाव हो जाये, नदी की तरह। तब उसे समझना चाहिए कि वह सच्चा जिज्ञासु है। जब तक वह दूसरों को सुख न पहुँचा सके, उसे नींद न आये। ऐसी उसकी सहज स्थिति हो जाय।

गुरु महाराज ने दूसरा गुण बताया है - सूर्य की तरह। सबका भला करना। गुरुवाणी में भी आता है " ब्रह्मज्ञानी ते कछु बुरा न भया।" उससे किसी का बुरा नहीं होता। अपितु उससे दूसरों का भला ही भला होता है। उसके हृदय में, उसके मस्तिष्क में, किसी के लिए बुराई की बात आती ही नहीं। उसको सभी परमात्मा स्वरूप दिखते हैं और परमात्मा स्वरूप देखकर वह सबकी सेवा करता है। दूसरा गुण है सूर्य की तरह उदारता। सूरज सबको दर्शन देता है, सब पर अपना प्रकाश डालता है, सबको अपनी रौशनी प्रदान करता है, सबको अपनी एक जैसी गरिमा बाँटता रहता है। गंगा नदी भी ऐसे ही बहती रहती है। सूर्य भगवान भी ऐसे ही सबको प्रकाश और गर्मी प्रदान करते रहते हैं। सूर्य की गर्मी न हो तो संसार का विनाश हो जाय। संसार कायम है तो सूर्य की गर्मी के कारण। इसी तरह सच्चे जिज्ञासु में भी उदारता होनी चाहिए। बिना

प्रयास के, ऐसा उसका सहज स्वभाव बन जाये। कोई उससे दुश्मनी करता है, वो उसके पाँव पकड़ता है, वो उसको सुख पहुँचाता है।

शेख फ़रीद जी कहते हैं कि जो तुम्हें गाली दे, तुम उसके घर जाओ, उसके घर जाकर उसके पाँव दबाओ। साधना केवल आँखें बंद करना नहीं है, आँखें बंद करना तो पहली कक्षा है। हम लोग काफ़ी आगे बढ़ चुके हैं। सोचना चाहिए, स्व-निरीक्षण करना चाहिए कि हममे अब तक क्या परिवर्तन आया है ? क्या हमारा स्वभाव नदी की तरह हो गया है ? क्या हम जीव-दानी सूर्य भगवान जैसे बन गए हैं ? मन्ज़िल बहुत दूर है। अभी कुछ भी नहीं हुआ है। भाई लोग कहते हैं, मेरा मन नहीं लगता, मेरा मन नहीं लगता। सच कहते हैं, वो झूठ नहीं कहते। हमने अभी तक ईश्वर के गुणों को अपनाया नहीं है। पूज्य गुरुदेव बेशक जिज्ञासु के गुणों का वर्णन कर रहे हैं, वास्तव में ये परमात्मा के ही गुण हैं। और जब तक परमात्मा की कृपा से जिज्ञासु में ये गुण नहीं आते, तब तक वो अधिकारी नहीं बनता। " ब्रह्मज्ञानी पर -उपकार ", उसके भीतर में उमंग होती है कि वह किस तरह दूसरे का भला करे। यह उसका सहज स्वभाव होता है, वह बनकर ऐसा नहीं करता। वो उसकी सहज वृत्ति है। जैसे नदी की वृत्ति है, इस तरह सहज स्थिति जिज्ञासु की बन जाये।

तो पहला गुण बताया है नदी का। दूसरा बताया है सूर्य का और तीसरा गुण बताया है धरती का। ब्रह्मज्ञानी में धरती के समान सहनशीलता होनी चाहिए। धरती में बड़ी सहनशीलता है। हम किसी भी प्रकार के जूते पहन कर धरती पर चलते हैं, धरती कुछ नहीं कहती। हम गंदगी डालते हैं, पाँव डालते हैं, धरती रोती नहीं। ये जो धरती का स्वभाव है महान, ऊँचे से ऊँचे जानियों का स्वभाव है। धरती और अग्नि का सहज स्वभाव है। लेकिन यह बड़ा कठिन है। हमें कोई ज़रा सी बात कह देता है तो आग लग जाती है। तो यह तो साधना नहीं है। हमें ये अभ्यास करना होगा। कोई हमारे पर पत्थर फेंकता है, हमें गाली देता है, हमसे लड़ाई करता है - तो इस सबके लिए हममें सहनशीलता होनी चाहिए। हमारे देश में स्त्री और धरती की पूजा की जाती है, क्योंकि इन दोनों में यही गुण है सहनशीलता का। पुरुषों में यह बहुत कम है। लेकिन, बहनें क्षमा करेंगी, वर्तमान में वे अपने इन गुणों को भूलती चली जा रही हैं। नई पश्चिम की संस्कृति आ रही है, वे उससे प्रभावित होती जा रही हैं। हमारा जो रूप था वो ईश्वरीय रूप था। हमें माता कहा जाता था। हमारे गुणों के कारण माँ के रूप में हमारी पूजा

होती थी। और वो माँ आज कहती है - मेरा भी समाज में कोई स्थान है ? बुरा मत मानिये, बहिनें अपने इस महान गुण को छोड़कर संकीर्णता (narrow mindedness) की तरफ़ बढ़ रहीं हैं। हमारे यहाँ मन्दिरों में, गुरुद्वारों में सब जगह स्त्री माँ की पूजा होती थी , घर में तो होती ही थी। पर उनका दोष नहीं है पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव इतने ज़ोर से, इतने वेग से आ रहा है कि हम अपने इन ईश्वरीय गुणों को , ईश्वर की समीपता को, कूड़े -करकट में फेंक रहे हैं।

तो पूज्य गुरुदेव कह रहे हैं कि सच्चे जिज्ञासु में तीन गुण होने चाहिए। नदी की तरह दूसरों की सेवा करें, सूर्य की तरह दूसरों को लाभ पहुँचायें और धरती की तरह सहनशीलता अपनायें। बिना गुणों के भक्ति नहीं होती। " बिन गुण भक्ति न होई " भक्ति के अर्थ हैं, हम चाहे ज्ञान की साधना करें या प्रेम की साधना करें, बिना गुणों के कोई भी, किसी भी प्रकार की साधना सफल नहीं हो सकती। इतने ऊँचे गुण होने चाहिए तब हम अधिकारी बनते हैं। आज सुबह किताब खोली, मेरी आँखें चौंधियाने लगीं कि ये क्या लिखा है? अपने आप का स्व-निरीक्षण करके देखा तो पाया कि ये तो बिलकुल कोरा है, कोरा ही कोरा। कहाँ गुण है धरती जैसा, कौन गुण है नदी जैसा, कौन गुण है सूर्य जैसा ?

भगवान श्रीकृष्ण भी अर्जुन को गीता में सूर्य का ही उदाहरण देते हैं। 'तू कर्म कर जैसे सूर्य भगवान् कर्म करते हैं। मैं भी कर्म करता हूँ, मुझे भी कर्म का फल नहीं लगता।' सूर्य भगवान भी इतनी सेवा करते हैं, इतने कर्म करते हैं, उनको भी कर्म का फल नहीं मिलता है। तू भी कर्म कर लेकिन कर्म के फल की आशा मत रखा। कर्म के फल का प्रभाव तुम्हारे ऊपर नहीं पड़ना चाहिए। फल चाहे अच्छा हो या बुरा। ये जीवन की एक साधना है। हम जो कर्म करते हैं, आशा रखके करते हैं। किसी ने अच्छी बात कही, प्रसन्न हो जाते हैं,, किसी ने ग़लत बात कह दी, अयोग्य बात कह दी, तो तुरन्त गुस्सा आ जाता है। ये तो साधना नहीं है। हमारी मन्ज़िल अभी बहुत दूर है। घबरायें नहीं, चले जाइये, चलते जाइये, चलते जाइये। परन्तु आदर्श हम सबको यही रखने होंगे। ये स्थिति जब ईश्वर के पास से आ जाती है, तब परमात्मा का मिलन, सच्चे पति का मिलन होता है, सच्चे माँ के दर्शन तुरन्त हो जाते हैं। हमारे चित में अभी भी बड़ी मलिनता है, बड़ी मलिनता है। कठोरता है, कठोरता है। मुलायमियत नहीं है, दृढ़ता नहीं है। लोग-बाग़ समझते हैं कि आँखें बंद कर लीं, बस यही काफी है। मैं ये बार-बार कहता हूँ,

सद्गुणों को अपनाइये। जब तक सद्गुणों को नहीं अपनायेंगे, सतगति नहीं आएगी। मन में कोमलता नहीं आएगी। कोमल मन स्थिर हो सकता है, स्थूल मन स्थिर नहीं होता है। ये कोमल होकर ही आत्मदेश में प्रवेश पा सकता है, उससे पहले नहीं। ये अधिकारी तब ही हो सकता है। इसको पुष्प की तरह खिलना चाहिए, अप्रयास सबको सुगन्धि प्रदान करनी चाहिए। जिह्वा में, वाणी में, कठोरता नहीं आनी चाहिए। जैसे पूज्य गुरु महाराज ने फ़रमाया है, हमारे व्यवहार में नदी की तरह दीनता, सबकी सेवा करना, सूर्य की तरह सबको गर्मी प्रदान करना, सबको जीवन प्रदान करना, और संसार में रह कर दुःख-सुख, दूसरों की बातें, सबको सहन करना, आना चाहिए।

आज इन तीन बातों पर ही मनन करें, घर जाकर और आगे भी, इनके लिए प्रयास करें। मुझे आशा है, विश्वास है, कि आपलोग इन तीन बातों को भूलेंगे नहीं, इनमें परिपक्वता आयेगी। देर लगेगी, चिन्ता मत कीजिये, कोई आपसे बुरा-भला नहीं कहेगा, परन्तु अभ्यास आज से ही शुरू कर दीजिये। मैं पिछले कई महीनों से बार-बार कह रहा हूँ कि परिवार में एक दूसरे के साथ सहयोग होना चाहिए। जो व्यक्ति परिवार में सफल हो जाता है, वह संसार में भी सफल हो जाता है, और परमात्मा के पद पर भी सफल हो जाता है। पूज्य गुरु महाराज ने ये जो तीन गुण लिखे हैं ये प्रेमी भाइयों के लिए, विशेषकर जो पारिवारिक जीवन व्यतीत करते हैं, उनके लिए लिखे हैं। मुझे आशा है कि आप इन तीन गुणों को अपना कर मुझे अपना आभारी बनायेंगे।

गुरुदेव आप सबका भला करें।

00000000000000

भक्ति मार्ग में प्रेम को लेकर चलना होगा

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

भक्ति मार्ग में प्रत्येक साधक को अपने लिए एक विशेष भाव लेकर अपने मार्ग पर चलना होता है। जब तक आपका प्रेम का सम्बन्ध परमात्मा के साथ नहीं जुड़ता, प्रेम की स्मृति नहीं होती, तब तक आन्तरिक शान्ति नहीं आती। तू मेरा पालन करने वाला है, प्रभु ! तू ही मेरा मालिक है, तू मेरा सर्वस्व है, तू मेरा प्राण है, तू ही मेरा जीवन है। बड़ी मधुर वाणी में, मधुर शब्दों से अपने प्रीतम के साथ अपने सच्चे सम्बन्ध का वर्णन किया है। भक्ति मार्ग में खुद पुत्र बन जाते हैं व परमात्मा को पिता मानते हैं। " *I and my father are one* " मैं और मेरे पिता एक हैं// मैं उनका नन्हा बालक हूँ/ सेवक सेव्य का भाव लेते हैं, पति और पत्नी का भाव बना लेते हैं। फिर मधुर भाव, कांता भाव आ जाता है। अन्त में मैं और भगवान एक हैं। कोई न कोई भाव प्रत्येक व्यक्ति को बना लेना चाहिये।

भगवान सदगुणों के भण्डार हैं। वो प्रभु सच्चा पिता है, इसलिये उस पर हमारा अधिकार है। हज़रत ईसा कहते हैं कि जो मेरे पिता के पास है वो मेरा ही है। सारे विश्व की जो दौलत है, सुख हैं , जो धन है वह मेरा ही है। मुझे किस बात की कमी है। केवल अपने प्रीतम पर विश्वास करना होगा। इस प्रेम भाव को लेकर चलना होगा। साधना में बैठने से पहले कोई न कोई भजन पढ़ना चाहिये, जिसके द्वारा आपके हृदय में छिपे हुए उदगार प्रकट हों। विश्वास करके बैठें कि वो सुन रहे हैं। ऐसा करने से आप स्वयं के अन्दर बैठ जायेंगे व कभी -कभी ऐसा लगेगा कि आप और वो एक ही हैं। ईसा कहते हैं कि " मैं और मेरे पिता एक हैं /" कोई अन्तर ही नहीं है। परन्तु प्रेमी वहाँ पहुँच जाता है व पृथक रह कर फिर परमात्मा की सेवा करना चाहता है वो कहता है कि मुझसे कुछ नहीं होता , जो कुछ करता है वह तो मेरा प्रीतम ही है। एक अवस्था होती है - " मैं ब्रह्म हूँ "। दूसरी अवस्था होती है " मैं उसी से हूँ "। मैं मेरे मालिक का प्रतिरूप हूँ। भक्ति में उसकी सेवा करते हैं। उससे प्रेम करते हैं। संतों में यह मानते हैं कि आत्मा और परमात्मा तो एक हैं परन्तु उसके किसी रूप को अपना लेते हैं जिससे

उसके साथ क्रीड़ा हो सके। कभी राधाजी रूठ जाती हैं तो कभी भगवान कृष्ण। यह अनोखी लीला है, अनोखा प्रेम है

हमारे दादा गुरुदेव (पूज्य लालाजी महाराज) इस मार्ग पर चलने हेतु हमारा मार्गदर्शन करते हैं कि इस रास्ते पर चलने वाले के हृदय में कोमलता होनी चाहिये, स्थिरता होनी चाहिये। उसके हृदय में मालिक के प्रति आस्था होनी चाहिये। महात्मा बुद्ध के पाँच मराकबे साधन हैं जिनके बारे में पूज्य लालाजी महाराज ने बताया है। हमें चाहिये कि उन पर बार -बार ध्यान करें तथा अपने आप को वैसा बनाने का प्रयास करें।

महात्मा बुद्ध के पांच मराकबों (अभ्यास) और उनके फतूहात (अनुभव कर लेना) की तरफ गौर करें। पहले मराकबे में हमारी अवस्था देखकर महात्मा बुद्ध ने फरमाया है कि आदि काल से ही मनुष्य की यह अवस्था रहीं है कि वह प्रभु से दूर रह रहा है।

ईश्वर से तदरूप हुए संत कहते हैं :- " बुरा जो देखन में चला , बुरा न मिलिया कोय जो दिल खोजा आपना, मुझ से बुरा न कोय / अपने को भीतर से टटोलकर ऐसा वही कह सकता है जिसने अपना अहंकार खत्म कर दिया है इस रास्ते पर चलने का यह प्रथम साधन है। अपने जीवन में हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि कहीं हमारा अहंकार हमें गुमराह न कर दे। साधना यही है कि हम अपने मन की बुराइयों से बचते रहें। मुख्य बुराई अहंकार की है। आप छह - छह घंटे साधना कर लीजिये पर अगर आपके भीतर में अहंकार है तो आपकी साधना फलीभूत नहीं होगी। मुख्य साधन है - दीनता। प्रतिक्षण प्रभु की स्मृति में रहिये, उनसे सम्बन्ध बना लें। साधना का मतलब है कि अपने प्रभु को रिझाना है, सन्तुष्ट करना है। किसी भी तरह का भाव, जो आपको अच्छा लगे, उसको पकड़े रहें। उस भाव का त्याग नहीं करना है।

ईश्वर आत्मा के रूप में हमारे भीतर में हैं परन्तु हम अहंकारवश उनको भूल गये हैं। बुद्ध भगवान बताते हैं कि पहला अभ्यास यह है कि हमें अपनी आत्मा को ईश्वर के गुणों से भर लेना चाहिये। प्रभु की कृपा प्रतिक्षण सब पर पड़ती रहती है। साधक को प्रतिक्षण प्रार्थना करते रहना चाहिये कि हमारे विचारों, हमारे शब्दों, हमारे कार्यों द्वारा सबका भला हो। यह प्रार्थना तभी फलीभूत होगी जब हम व्यवहार में सबका भला करें। आपके हृदय में प्रेम ज्योति तभी होगी जब आपका व्यवहार, आपकी वाणी, इस प्रकार की हो जिसमें सब का भला

हो। पहले अपने परिवार में ऐसा करें। सबमें आत्मा, ईश्वर का रूप समझ कर उनकी सेवा करें। पत्नि है वह पति को आत्मा रूप परमात्मा समझ कर सेवा करे। पति है वह पत्नि को लक्ष्मी समझकर उसकी पूजा करे। इसका और विस्तार करते चलें। यह है एक -रूप 'समता ' का भाव। सबके भीतर में ऐसा प्रेम करने से ही मधुरता आयेगी। तो बुद्ध भगवान का पहला मराक़बा है रोम -रोम में ईश्वर के दर्शन -- प्रेम दर्शन, चाहें जीव हो, बनस्पति हो, पत्थर हो। हे प्रभु ! सबका उद्धार हो, सबका उद्धार हो। उद्धार का मतलब है सब प्राणी जन्म -मरण के चक्कर से मुक्त हो जायें। सबके भीतर में शान्ति हो, सबको आनन्द प्राप्त हो । किसी प्रकार का दुःख न रहे ।

इसी प्रकार दूसरा मराक़बा दया का, प्रेम भाव का बताया गया है। सच्चे संत के हृदय में दया होनी चाहिये, विरह होना चाहिये। दूसरों के दुःख, उनकी कठिनाइयाँ देखकर आपको भी चिन्तित होना चाहिये, आपके मन में दया का भाव उत्पन्न होना चाहिए। आदमी में तब प्रभु के गुण आते हैं। आप दूसरों के दुःख देखेंगे तो आपको रात को नींद नहीं आयेगी। आप हाथ -पांव से सेवा करें। जिन्हें परमात्मा ने इस योग्य बनाया है, वे पैसे से सेवा करें। भीतर से दुआ करें। भारत में लाखों -करोड़ों भूखे हैं। हम आराम से खाना खाते हैं। यह क्या है ? हमारा क्या कर्तव्य बनता है ? हम अपने कर्तव्य के प्रति क्यों सतर्क नहीं होते ? पूज्य लाला जी महाराज ने लिखा है हम पत्थर दिल हैं। जब तक हम नाज़ुक नहीं बनते, हमारे हृदय में करुणा, दया उत्पन्न नहीं होती , हम ईश्वर के चरणों में जाने के अधिकारी नहीं बनते।

उनका तीसरा मराक़बा भलाई का ध्यान है। और लोगों को, हमारे दोस्तों को परमात्मा ने कुछ अच्छा दिया है तो हमें भी खुश होना चाहिये। यह नहीं कहना चाहिये कि उन्होंने ऐसा -वैसा करके पैसा कमा लिया होगा। हमें क्या ? हमें उनके सुःख में हर्षित, उनके दुःख में दुःखी होना चाहिये। कभी भूलकर भी किसी को सुखी देखकर हमारे मन में ईर्ष्या की भावना उत्पन्न नहीं होनी चाहिये। बृन्दावन में 'सदा सुहागिन ' संप्रदाय के लोग स्त्रियों के रूप में रहते हैं, उनके जैसे बोलते हैं, स्त्रियों के कपड़े पहनते हैं। ऐसा क्यों ? क्योंकि स्त्रीयों में प्रेम, सहनशीलता, आदि सन्तों के सब महान गुण होते हैं। परन्तु जैसे चाँद को दाग लगा हुआ है उसी तरह बहिनों में भी एक अवगुण है -ईर्ष्या का। वो अगर ईर्ष्या का त्याग कर दें तो उन्हें किसी प्रकार की साधना करने की आवश्यकता नहीं है। हमें स्त्रियों के गुणों को अपनाना होगा।

ईर्ष्या का त्याग करना होगा। ईश्वर की गति में खुश रहना होगा। तभी आप कह सकेंगे कि - " भगवान सबका भला करें " आप अपने मित्रों के प्रति कह सकते हैं कि भगवान इनका भला करें, परन्तु जो अपने से विपरीत भाव रखते हैं उनके लिए भी यदि आप यह प्रार्थना नहीं करते तो आपके मन में कोमलता नहीं है। आपके मन में ईर्ष्या है, शत्रुता का भाव है। ऐसे व्यक्ति की प्रार्थना स्वीकार नहीं होती। सबको देख कर खुश होना चाहिये। उसमें आप को भी आनन्द मिलेगा। वेदान्त में इसीलिए द्वेत-भाव को छोड़कर अद्वेत को पकड़ते हैं। सब प्राणियों में अपने इष्ट के दर्शन करते हैं, कोई बुरा नहीं, कोई बड़ा नहीं, कोई छोटा नहीं। सब परमात्मा रूप हैं। यह बड़ी ऊँची भावना है। इसका जितना अभ्यास करेंगे उतनी बुरी भावना आपके मन में नहीं आयेगी। ईश्वर से प्रेम करने के लिए यह भाव मन में लाना होगा कि सभी में परमात्मा है। कबीर साहब तथा सभी संतों ने यही कहा है कि सब में ईश्वर का रूप देखो। ईर्ष्या इतना गहरे जलाती है कि उसके संस्कार लम्बे समय तक बने रहते हैं। तो प्रयास करना चाहिये कि सभी के साथ प्रेम करें। प्रभु तेरी लीला अपरमपार है।

इसी तरह चौथा मराक़बा बुद्ध भगवान बुद्ध ने बताया है - अपवित्रता का ख्याल। यह स्वनिरीक्षण का साधन है, अपने आप को देखने का, जाँचने का साधन है। हम देखते रहते हैं कि हम अपने व्यवहार में अपनी इंद्रियों द्वारा कान से बुराई सुनते हैं, आँख से बुराई देखते हैं। अपनी जिह्वा से बुरे या कटु शब्दों का प्रयोग करते हैं। दूसरे का दिल दुखाते हैं। मनन करना चाहिये कि हम अपने व्यवहार द्वारा, वाणी द्वारा, विचारों द्वारा अपने को तथा दूसरों को दुःख तो नहीं पहुँचा रहे हैं। हमारे भीतर में अनेकों संस्कार हैं। हम पुराने संस्कारों के कारण नये संस्कार तो नहीं बना रहे हैं। कौन व्यक्ति चाहेगा कि अपने आप को दुःखी करे। परन्तु जैसे कुत्ता हड्डी चूसता रहता है और अपने दांतों में घाव कर लेता है और उसके ज़रिये अपना खुद का खून पीकर उसी का रसास्वादन करता रहता है, उसी तरह हम इंद्रियों के विषय-भोगों में इतने मस्त हो जाते हैं कि अपने भीतर के दुःख-सुख का हमें ध्यान ही नहीं रहता। मनुष्य पागल सा हो जाता है। सब जानते हैं कि बुराई करने से खुद ही दुःखी होंगे। मैं कड़वे शब्द बोलूँगा तो मुझे भी दुःख होगा तथा दूसरे के हृदय को भी अशान्ति पहुँचेगी। तब भी हम अज्ञानवश उधर ध्यान नहीं देते। भूल जाते हैं। अपने आपको दुःखी करते हैं तथा दूसरे को भी दुःखी करते हैं।

तो यह साधन है सचेत रहने का, सावधान रहने का। अपने ऊपर चौकीदारी करनी है कि हम किसी तरीके से भी अपने आप को दुःखी न करें। नये संस्कार न बनायें। अपने विचार, व्यवहार और वाणी द्वारा किसी दूसरे को भी दुःखी न करें। दूसरे के दुःख को देखकर यदि हमें प्रसन्नता होती है तो हम बहुत ही अधिक पीछे हैं। पर हम सबकी यही हालत है। हमें दूसरे का शोषण करके बड़ी खुशी होती है। आदर्शमय जीवन जीने के लिए हमें बलिदान देना होगा। पूज्य गुरु महाराज कहा करते थे कि यदि हम परमात्मा का एक ही गुण अपना लेते हैं व उसमें कुशल हो जाते हैं तो परमात्मा के शेष गुण हम में अप्रयास ही आ जायेंगे। पर ऊँचे आदर्श अपनाने के लिये, बलिदान देने के लिए हम में से कोई तैयार नहीं है। बहुत कमी है इस बात की। कोई भी दुःख सहने को तैयार नहीं है। कहते हैं दफ्तर में सब रिश्बत लेते हैं। मैं न लूँ तो मुझ पर डांट पड़ती है, निकाला जाता है। व्यापारी है, कहता है साहब ! यह काम ही ऐसा है। झूठ-सच बोलना पड़ता है। ठीक है, आदर्शमय जीवन तो खत्म हो गया। चाहते हैं आप परमात्मा रूप बन जायें, परमात्मा का दर्शन हो जाये आत्मा का साक्षात्कार हो जाए, पर आप इन छोटी-छोटी बातों को छोड़ने को तैयार नहीं हैं। गुरु गोविन्द जी ने, मीरा जी ने, सबने यही कहा है कि जिस साधक को इस रास्ते पर चलना है उसको अपना सिर अपने हाथ में रखना चाहिये।

“ जो तेहि प्रेम करन का चाव , सिर घर तली गली मोरी आव । ”

“ यदि मेरे (परमात्मा) के पास आना है तो अपना अहंकार रूपी सिर काट कर आओ । ” प्रत्येक जिज्ञासु को सोचना चाहिये, मनन करना चाहिये। यह साधना ऐसी नहीं जैसे हम क्लब में जाते हैं। गए, वहाँ हास-परिहास किया, रात को वापस आ गए। यह रास्ता सरल भी है, कठिन भी है। जो व्यक्ति अपना सर्वस्व निछावर करने को तैयार है, उसको इस रास्ते पर आना चाहिये। अन्यथा ठीक है, कुछ न कुछ लाभ तो होगा ही, परन्तु जिस लाभ की हमें आशा है, वह लाभ नहीं होगा। व्यक्ति यहाँ आते हैं, पूछते हैं, साहब ! मन के विचार नहीं जाते हैं। ये विचार जायेंगे कहाँ ? मन संसार में बहुत फँसा हुआ है, आसक्ति हो रहा है। जितनी अधिक आसक्ति होंगी उतने ही अधिक विचार आयेंगे। विचार तो तभी खत्म होंगे जब हमारी आसक्ति खत्म होगी। अपने विचारों को, अपनी वाणी को शुद्ध करो। ईश्वर प्रेम में अपने आप को रंग दीजिये। जितना अधिक प्रेम आप ईश्वर से करते चले जायेंगे, उतने अधिक विचार अपने आप कम होते

जायेंगे हमारे मन की मलीनता खत्म होती चली जायेगी। जब आप ईश्वर में लय हो गये, विचार भी खत्म हो गये।

महात्मा बुद्ध का पाँचवा मराकबा है - शान्ति का ध्यान। यह बड़ी ऊँची भावना है। जिस प्रकार की भी साधना आप करें, साधना की सफलता इस बात में है की व्यक्ति में समता आ जाये। इस लोक में रहना है तो दुःख -सुःख के द्वन्द तो आयेंगे ही। सच्चे जिज्ञासु की साधना यह होनी चाहिये कि सुःख -दुःख, गर्मी -सर्दी, पाप -पुण्य - प्रत्येक द्वन्द में उसकी आन्तरिक स्थिति एक सी रहनी चाहिये। हमारा मन आत्मा में लय होना चाहिये। व्यक्ति में द्वन्दों के संकल्प -बिकल्प तभी उठते हैं जब वह भीतर शान्त न हो। यह साधना का अन्तिम चरण है। यह शुरु -शुरु में नहीं आता है। यह तब आता है जब व्यक्ति साधना में प्रगतिशील होता है, आत्मा के समीप होता है, जब साधक द्वन्दों से मुक्त होकर संकल्प -विकल्पों से मुक्त होता है। पूज्य लाला जी महाराज का फ़रमाना है ईश्वर में विश्वास होना चाहिये कि वह हमें जिस स्थिति में रख रहा है वह हमारे हित में है। हमें सन्तुष्ट रहना चाहिये। इस साधना के पूज्य लाला जी महाराज ने दो हिस्से कर दिए हैं। प्रथम - वह जिस हालत में रख रहा है, उसमें खुश, सन्तुष्ट रहना चाहिये और दूसरा - हमारे भीतर में जो द्वन्द होते हैं, उनसे हमें मुक्त होना है।

तो ये पाँच मराकबे हैं, पाँच प्रकार की पद्धतियाँ हैं, अभ्यास हैं। इनका मनन यदि रोज़ नहीं तो कम से कम महिने में एक बार अवश्य करें। इनसे प्रेरणा तथा साधना में मदद ज़रूर मिलेगी। मेरा अनुरोध है, प्रार्थना है कि प्रभु के गुणों को, सन्तों के गुणों को अपनाईय। ये गुण हैं - दीनता, कोमलता, पवित्रता, सेवा, द्वन्दों से मुक्त रहना, जैसा प्रभु रखते हैं उसमें सन्तुष्ट रहना। जीवन संघर्ष है। कॉलेज की पढ़ाई में भी चौदह -पंद्रह वर्ष लग जाते हैं। प्रभु की पढ़ाई पढ़ने में व उनके गुणों को अपनाने में काफी समय लगता है। उतावले नहीं होना चाहिये। चलते चलें। पूज्य गुरु महाराज कहा करते थे, उनमें बड़ा दृढ़ संकल्प था, कि यदि औरों को परमात्मा के दर्शन होंगे तो हमें भी दर्शन अवश्य होंगे। यह विश्वास रखना चाहिये और इस विश्वास के लिये ईश्वर के गुणों को अपनाने का अभ्यास करना चाहिये।

गुरुदेव आपको शक्ति दें, आप सबका भला हो।

ब्रह्मज्ञानी के लक्षण

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

भिन्न -भिन्न महापुरुषों ने अपने निजी अनुभव के आधार पर ईश्वर को वर्णित करने के प्रयास किया है। किन्तु ईश्वर अवर्णनीय है। संतों ने जनता के हित के लिए शब्दों का प्रयोग किया है। उन्होंने हमारे हित के लिये आत्मा से उतर कर मन के स्थान पर आकर हमारे उद्धार के लिए प्रयत्न किये हैं। पूज्य गुरुदेव (महात्मा श्रीकृष्ण लाल जी महाराज) कहा करते थे कि जब भाई लोग हमसे अधिक बात करते हैं तो वे यह नहीं समझते कि हमें कितनी कठिनाई होती है उनके स्तर पर आने में। संत की स्थिति आत्मा में होती है और मनुष्य की स्थिति मन के स्थान पर होती है। संत को आत्मा के स्थान से उतर कर मन के स्थान पर आना पड़ता है।

यह आध्यात्म है क्या ? हम जो आँखें बन्द करके बैठते हैं, उसका भाव क्या है? हमें जीवन में करना क्या है ? क्या अन्धेरे में ही हम आगे जा रहे हैं ? इतने वर्ष हो गये सत्संग में आते हुए, आखिर उसका लाभ क्या हुआ ? बाहर के लोग भी कुछ प्रतिक्रिया करते हैं कि देखिए, इनकी हालत क्या है? वे सत्य बोलते हैं, हमारी दशा को देखकर दुःखी होते हैं। और लोग भी, साधक भी कहते हैं। आखिर यह खेल क्या है, हमने क्या प्राप्त किया है ? कई लोग आते हैं धन -दौलत के लिए, अपनी पारिवारिक समस्या को सुलझाने के लिए, अपनी कठिनाइयों को लेकर आते हैं। क्या आध्यात्मिकता यहीं है?

कई लोग मौन रहते हैं, बोलते नहीं परन्तु भीतर से परेशान रहते हैं। कोई कहता है मुझे अभी कुछ भी नज़र नहीं आया। जिसको प्रकाश नहीं दीखता, वह कहता है मेरी साधना बिलकुल ही सफल नहीं हुई। किसी को भीतर में नाद नहीं सुनाई देता, किसी को अपने इष्टदेव का शारीरिक रूप नहीं दिखा, वह कहता है कि मुझे कुछ प्राप्त नहीं हुआ। ये कोई सांसारिक वस्तुएँ नहीं हैं जो आपको प्राप्त होंगी। क्या प्राप्त होता है ? महापुरुषों के जीवन में देखें कि उनका जीवन कैसा था और हमारा कैसा है ? इसकी तुलना करें। तब हमें सोचना चाहिये कि

हमें किस चीज़ की आवश्यकता है। ईश्वर क्या है और उसे कैसे पाना है और किस रूप में पाना है? अपना भीतर टटोल कर देखिए, क्या हमारे भीतर में धैर्य है? तनिक सी बात होती है, हम प्रतिक्रिया करने लग जाते हैं, घबरा जाते हैं, भीतर में अग्नि धधक उठती हैं, क्रोध आ जाता है। तो हमारी साधना का प्रताप क्या है ? वह हमें किस ओर ले जा रही है? परमात्मा को कहाँ तक पाया, कितनी रसाई हुई? हममें कितनी दीनता है ? हमारे साथ जो दुर्व्यवहार करता है या प्रतिकूल भावना से चलता है, उसके प्रति हमारा व्यवहार कैसा है ? अपने मन को टटोलें। गीता में भगवान ने समता या सम-अवस्था पर ज़ोर दिया है। साधक भक्ति की, ज्ञान की, योग की, सन्यास की, कोई सी भी साधना करे, उसका परिणाम समता होना चाहिये, यानी वह सुःख - दुःख से प्रभावित न हो, एक - रस, आत्म-रस रहे। इसीलिये सब साधनायें, सब धर्म, सब सम्प्रदाय एक ही हैं क्योंकि समता के बाद आत्मा की अनुभूति होती है, आगे जाकर परमात्मा के साथ योग होता है। इसलिए कोई भी गलत नहीं है। कई लोग, जैसे ज्ञानी, यह समझते हैं कि कोई साधना करने की जरूरत नहीं है। वे कहते हैं कि ईश्वर तो सर्वव्यापक है। जितने भी जीव दीखते हैं, यह जितने भी रंग संसार में हैं, कथित भले-बुरे सब ही में तो ईश्वर व्यापते हैं, सब ही तो ईश्वर के रूप हैं। फिर साधना करके क्या करना ? कुछ कहते हैं कि यह तो भगवान का बाहर का रूप है। हमें तो भगवान के आन्तरिक रूप, आत्मिक रूप के दर्शन करने हैं। वे दर्शन इन स्थूल आँखों से नहीं होते। मैंने वेदान्तियों को कहते सुना है कि ईश्वर की अनुभूति बुद्धि द्वारा होती है क्योंकि वह मन नहीं, शरीर नहीं, बुद्धि नहीं, प्राण नहीं - वो तो आत्मा हैं। बुद्धि में दृढ़ता आजानी चाहिये कि परमात्मा सब जगह है। कुछ और आगे बढ़ते हैं और कहते हैं कि वह तो आत्मस्वरूप है। वह आत्मा है और आत्मा ही आत्मा की अनुभूति कर सकती है।

अनुभूति शब्द इतना सही नहीं है परन्तु समझाने के लिए उसका प्रयोग किया जाता है। आत्मा जब परमात्मा में लय हो जाती है तो कौन कहता है कि परमात्मा कैसा है? तब भी हमारे हित के लिए महापुरुष कहते हैं कि उसकी अनुभूति आत्मा द्वारा होती है। भक्ति मार्ग पर चलने वालों की इच्छा और आशा यह रहती है कि जब वे भगवान की मूर्ति के सामने बैठते हैं, उसकी पूजा करते हैं, भगवान मूर्ति में प्रगट होकर मनुष्य रूप में उनको दर्शन देंगे। नामदेव जी ने बिट्ठल भगवान के दर्शन मनुष्य रूप में किए। ज्ञानी कहते हैं यह मन के दर्शन हैं, यह

अन्तर के दर्शन नहीं हैं। भक्ति मार्ग पर चलने वाले जब परा - भक्ति में जाते हैं तो इन रूपों को छोड़ देते हैं।

हमें कैसे पता लगे कि हमारी प्रगति क्या हुई है? मैंने जो कुछ पूज्य गुरु महाराज की सेवा में सुना और जैसा उन्होंने समझाया, उसके अनुसार दर्शन यह है कि जैसा परमात्मा है, जो परमात्मा के गुण हैं, वह जब तक हमारे भीतर में नहीं आते, तब तक हमारी कोई चढ़ाई नहीं हुई है, कोई रसाई नहीं है, कोई अनुभूति नहीं है। सब जड़ता है। चाहे शब्द सुनाई देता है, चाहे प्रकाश दिखता है, रूप दिखता है - वे सब जड़ हैं। एक बच्चा है, अभी उसने विद्या ग्रहण नहीं की है, उसमें जड़ता है। जैसे -जैसे वह विद्या ग्रहण करता जाता है, उसकी जड़ता खत्म होती जाती है। विद्या का यह परिणाम है कि उसकी जड़ता चैतन्यता में परिवर्तित होती है। इसी तरह हम भी जड़ रूप हैं। देखें कि हमारी कितनी जड़ता खत्म हुई है, कितनी चेतना उत्पन्न हुई है ?

जैसा कि गीता में, गुरु वाणी में, वर्णन किया है कि जिसको प्रभु का ज्ञान हो जाता है, उसके लक्षण क्या होते हैं? आपके व्यवहार से पता चलता है कि आपको सत्संग में आकर साधना करते हुए क्या प्राप्ति हुई है ? यदि वही अवगुण, राग - द्वेष, क्रोध, लोभ मोह, अहंकार हमारे अन्दर हैं, धैर्य नहीं है, किसी की बात बर्दाशत नहीं होती, हम अपनी बात दूसरों पर थोपना चाहते हैं, जो बात में कहूँ उसी को ठीक मानें - तो यह सब जड़ता है। हम अभी तो एक कदम भी आगे नहीं बढ़े हैं। इसके लिए बहुत कुरबानी करनी पड़ती है। हम अपने भीतर में देखें कि हमारी क्या स्थिति है? हम तो बहुरूपिये हैं, भीतर में कुछ और बाहर में कुछ। हम साधना करते हैं और भीतर में यह देखते रहते हैं कि इस व्यक्ति को कैसे नीचा दिखाया जाए। ऐसी साधना से कुछ लाभ नहीं है।

जिनको प्रभु का ज्ञान हो जाता है, अनुभूति हो जाती है, दर्शन हो जाते हैं, उनके कुछ लक्षण हैं। गुरु वाणी में बहुत विस्तार में लिखा है। मैं यहाँ दो - चार बातें ही बताऊँगा। पूज्य गुरु महाराज ख्वाजा दिल मौहम्मद जी की पुस्तक में से पढ़ा करते थे :

" मन साँचा मुख साँचा सोड़, अवर न पेखें एकस दिन कोई/ नानक एह लक्षण ब्रह्मज्ञानी होई ।"

उसका मन गंगा जैसा निर्मल है, उसके जीवन में सत्यता है, वास्तविकता है, मधुरता है, नम्रता है और वह सब में भगवान के खुली आँखों दर्शन करता है। "दोय दोय लोचन देखों, अवर न देखन एकस बिन कोय" वह कहते हैं कि मैं इन लोचनों से, खुली आँखों से दर्शन करता हूँ, शत्रु में भी एक वही परमात्मा दीखता है। वह शरीर को नहीं देखता है। शरीर के भीतर जो भगवान बैठा है उसको देखता है। वास्तव में साधना में जब सिद्धि आती है तो खुली आँखों ही दर्शन होते हैं

"नानक यह लक्षण ब्रह्मज्ञानी होई" जिसको ब्रह्मज्ञान हो गया है उसके ये लक्षण हैं। और आगे विस्तार से कहते हैं :- "ब्रह्मज्ञानी सदा निरलेप, जैसे जल में कमल अलेप" कमल पुष्प कीचड़ में रहता है, परन्तु वह उसके जल के ऊपर रहता है। कितना सुन्दर लगता है? ब्रह्मज्ञानी को सब तरफ से उत्तेजना, बेइज्जती, लानत, मिलती है, उसकी बुराई, निन्दा होती है, परन्तु वह कमल पुष्प की तरह निर्लेप रहता है। वह निरासक्त है। किसी प्रकार की आसक्ति नहीं है - न राग की न द्वेष की। वह इन सबसे अप्रभावित रहता है, कोई बात उस पर प्रभाव नहीं डाल सकती। वह भीतर भी सुन्दर रहता है और अपने व्यवहार में भी सुन्दरता व सुगन्धि का प्रसार करता है। हम देखें कि हमारी क्या स्थिति है? गुरु महाराज स्वयं अपने प्रति कहा करते थे कि कभी-कभी प्रकाश दीख जाता है, कभी नहीं दिखता। यह ईश्वर प्राप्ति का प्रतीक नहीं है। दर्शन का प्रतीक यह है कि हम ईश्वर स्वरूप बनें। जो ईश्वर के गुण हैं वही हमारे गुण हो जायें। व्यवहार में भी हों और हमारे भीतर में भी विकसित हो जायें।

इस अपराध के लिए मैं भी दोषी हूँ, आप भी दोषी है। आज का दिन पूज्य गुरु महाराज की स्मृति में मनाया है तो इस बात को अपने मन में बैठाएँ कि हमारे इष्टदेव का हमारे प्रति क्या आदेश था। दृढ़ संकल्प के साथ यम और नियम का पालन करना और साथ-साथ भीतर की साधना करना। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि जो गुण मैंने अभी पढ़े हैं, और जो गुण पूज्य गुरु महाराज के थे, वे सब आपमें भी सहज अवस्था में आ सकते हैं और आयेंगे। बहुत लोग, सब नहीं, बड़े अच्छे चल रहे हैं। उनके दर्शन करके मुझे बहुत प्रसन्नता होती है बल्कि प्रेरणा भी मिलती है। परमात्मा उन पर कृपा करें। यह ज़रूरी नहीं कि किसी को मोनीटर बना दिया जाए। गुरु महाराज कहा करते थे कि इसका यह मतलब नहीं कि बाकी लोग उनसे

हीन है। यह धारणा नहीं रखनी चाहिये कि यह मॉनिटर है यह शिक्षक है तो यह साधना में हमसे आगे है। तो साधना का सार यही है कि हमारी नीव मज़बूत होनी चाहिये। यम, नियम और धर्म की मज़बूत नीव रखें, उस पर साधना का भवन खड़ा करें। प्रयास करते रहें कि आत्मा की अनुभूति हो जाये। कितनी चढ़ाई हुई है, यह इससे पता चलेगा कि आपने आत्मा के कितने गुण धारण किए हैं। " जो धारे उर अन्तर नाऊँ सर्वमय देखें भगवान् ।" इस चढ़ाई को जो अन्तर में उतार लेता है वह सबमें भगवान् के दर्शन करता है। केवल बुद्धि के एक कोने में बैठकर नहीं सोच लेता कि सबमें भगवान् हैं। वह व्यवहार में सबमें भगवान् के दर्शन करता है और सबको परमात्मा समझ कर उनकी पूजा करता है। हम गुरु की कितनी सेवा करते हैं और यदि परमात्मा आजायें तो हम क्या करेंगे, क्या हम सब कुछ न्योछावर कर देंगे ? क्या हमारे भीतर में यह भावना आई है कि हम हर एक के लिए, चाहें वह हमसे मित्रता करता है या शत्रुता, अपना सब कुछ न्योछावर कर दें, उसमें परमात्मा के दर्शन करें। अगर ऐसा नहीं है तो उतावलापन भी नहीं होना चाहिये। गुरु महाराज का फरमाना था कि जो जल्दी करते हैं और उतावले होते हैं, वे गिरते भी जल्दी हैं। इसलिए सावधान रहना चाहिये। समझिए कि हम साधना क्यों कर रहे हैं, किस लिए कर रहे हैं ? हमारा कर्तव्य क्या है ? हमारा गुरु जो हम पर हमेशा कृपा करता रहता है उसका क्या परिणाम निकल रहा है ? इन सब बातों को अपने मन में रखना चाहिये। उतावलापन नहीं होना चाहिये। याद रखिए -- "**Slow and steady wins the race / Rome was not built in a day!**"

" ब्रह्मज्ञानी सदा निर्दोष, जैसे सुरु सरब कउ सोकु " ब्रह्मज्ञानी सूर्य और चाँद की तरह सभी को सुःख पहुँचाता है। मन में कोई आशा नहीं। सुःख पहुँचाने की क्रिया के साथ कोई बन्धन नहीं। उस क्रिया का भला - बुरा जो फल है उसके साथ कोई आसक्ति नहीं है। कोई बन्धन होता तो सँस्कार बन जाता। सँस्कार बनने से हम जन्म- मरण के चक्कर में पड़ते हैं। प्रकृति के जो पाँच रूप हैं वे हमें शीतलता देते हैं, हमें जीवन देते हैं परन्तु निष्काम भाव से, दूसरे को सुःख पहुँचाने के लिए। यह ब्रह्मज्ञानी का स्वभाव है, उसकी प्राप्ति है, उसकी सहज अवस्था है।

" ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि समानी, जैसे राजा रंक कउ लागै तुली पवन " ब्रह्मज्ञानी सब में भगवान के दर्शन करता है चाहे वह राजा हो, रंक हो, गरीब हो, अमीर हो । उसकी दृष्टि में सब समान हैं। कोई नीचा नहीं, कोई ऊँचा नहीं, कोई भला नहीं कोई बुरा नहीं -सब प्रभु के स्वरूप हैं।

" ब्रह्मज्ञानी के धीरज एक जिउ वसुधा कोउ खोदे कोउ चंदन लेप " धैर्य की कोई सीमा नहीं। धरती को हम धरती माता कहते हैं। उसमें धैर्य है, सहनशीलता है। कोई व्यक्ति तो धरती को उखाड़ कर उसमें हल चलाता है, कोई उसकी रज को माथे पर लगाता है। धरती विक्षिप्त नहीं होती, चाहे आप उसका सम्मान करें , चाहे उसे खोदें, क्योंकि वह धैर्यवान है, सहनशील है। हम अपने आपको टटोले कि कितनी सहनशीलता है हमारे अन्दर में ।" ब्रह्मज्ञानी का इहै गुणाऊ , नानक जिउ पावक का सहज सुभाउ " जैसे अग्नि का सहज स्वभाव है जलना, प्रकाश देना, वह प्रयास नहीं करती। इसी तरह ये गुण हमारे भीतर में सहज अवस्था में हों, हमें प्रयास न करना पड़े ।

इसी प्रकार से गुरुदेव ने बहुत कुछ लिखा है। उन्होंने जो गुण बताए हैं, निवेदन करता हूँ और मैं बार -बार दोहराता हूँ क्योंकि ये मेरे शब्द नहीं हैं, ये मेरे गुरु महाराज के शब्द हैं। उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम दिनों में मुझे आदेश दिया था, और सबके सामने कहा था कि - "जैसा हम आप लोगों को बनाना चाहते थे, खेद है कि एक भी व्यक्ति वैसा नहीं बन सका" । उन्होंने फरमाया नाम लेकर , बहुत प्यार से कहा करते थे - " सरदार जी , देखना मेरे पीछे यम और नियम का सख्ती से पालन कराना।" मुझे बहुत खेद है, और मैं बार - बार क्षमा ही माँगता रहता हूँ क्योंकि मैंने उनके इस आदेश का पालन नहीं किया। मेरी पिछली वृत्ति ही एसी थी कि कोशिश करने पर भी मैं सख्ती नहीं कर पाता हूँ। बार -बार आपसे कह देता हूँ, परन्तु जिस सख्ती से उन्होंने कहा था उस सख्ती का मैंने उपयोग नहीं किया। उनका आदेश था कि भले ही एक भी व्यक्ति सत्संग में न रहे , कोई चिन्ता की बात नहीं, परन्तु धर्म सबका बनना चाहिये । धर्म साधना की नीव है । कोई मकान मज़बूत नहीं हो सकता जिसकी नीव मज़बूत न हो ।

गुरुदेव आप सबका कल्याण करें।

0000000000

मन की अशान्ति का मूल कारण है- अहंकार

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

बहिन -भाईयों के पत्र आते रहते हैं, यहाँ आकर भी जब वे मिलते हैं तो प्रत्येक व्यक्ति अपनी मानसिक अशान्ति की बात कहता है। बहुत कम लोग ऐसे हैं जो भीतर से सन्तुष्ट हों, तृप्त हों, सुखी हों, आनंदमय हों। अन्यथा सब भाई -बहिन यही कहते हैं कि भीतर में अशान्ति है, शान्ति नहीं है, सुःख नहीं है। और विचित्र बात है कि अपनी अशान्ति का कारण दूसरों को बताते हैं। हम सबको सतर्क रहना चाहिये, यदि मन में सन्तोष नहीं, शान्ति नहीं, तृप्ति नहीं। अहंकार के कारण, क्रोध के कारण मन जलता रहता है तो परमात्मा तो बहुत दूर, हमको साधारण सुःख भी प्राप्त नहीं होगा। ईश्वर ने हमको सब कुछ दे रखा है। हमें सब प्रकार के सुःख मिले होते हैं, परन्तु तब भी अहंकार के कारण यह मन अपने आप को दुःखी करता रहता है और दोष देता रहता है दूसरे को। पति दोष देता है पत्नी को और पत्नि दोष देती है पति को। आज जितने भी आदमी, जितनी भी बहिने मिली हैं, सभी की यही समस्या है

पूज्य गुरु महाराज (महात्मा डॉ०श्रीकृष्ण लाल जी महाराज) फ़रमाया करते थे कि यदि परिवार का कोई सदस्य ग़लती करता है तो उस परिवार के मुखिया को सोचना चाहिये कि यह घटना क्यों घटी और सब घटनाओं की, सब बुराईयों की जिम्मेदारी परिवार के मुखिया को अपने ऊपर ले लेनी चाहिये। इसी तरह मैं आपका सेवक होते हुए, मेरी सोलह -सत्रह साल की सेवा के बाद भी, यदि अधिकांश लोगों के हृदय में शान्ति नहीं है तो उसके लिये मैं ही दोषी हूँ। इस समय तो मैं स्वयं दोषी हूँ। वह मेरी, मेरे चरित्र की, मेरी रहनी -सहनी, मेरी साधना की कमज़ोरी है कि मैं आपके परिवारों के व्यक्तियों के मन में शान्ति, प्रेम, आनन्द नहीं रख सकता। आप मुझे बुरा -भला कह सकते हैं। परन्तु कुछ न कुछ दोष तो आपका भी है। यह मानसिक अशान्ति क्यों है ? इसका मुख्य कारण हैं - 'अहंकार'। हममें ईश्वर व गुरु के प्रति श्रद्धा नहीं है आप साँसारिक बातें माँगते हैं। ज़रूर माँगना चाहिये। मुझे बुरा नहीं लगता। उसके प्रति आपको सुझाव देना मेरा कर्तव्य है, मेरा दायित्व है, मेरा धर्म है। परन्तु अपने आप को बनाने के लिये जैसा आपसे कहा जाता है, आप उस हेतु प्रयास तो करें।

हमारी अशान्ति का मूल कारण हैं - अहंकार । कोई भी व्यक्ति अपने अहंकार को छोड़ने को तैयार नहीं है। पूज्य गुरु महाराज इतने समय तक बड़े प्रेम से हमारा पालन- पोषण करते रहे। हमें सुझाव देते रहे कि हमें प्रेम का, दीनता का जीवन जीना चाहिये, परन्तु हम हमेशा इसके विपरीत ही करते रहे हैं। इसका मुख्य कारण यही रहा है कि हमारे पिछले संस्कारों के कारण जो हमारा अहंकार है वो टूट नहीं रहा है।

यदि अपने इष्टदेव के प्रति हमारी सच्ची श्रद्धा हो, सच्चा प्रेम, सच्चा भाव, सच्चा भय हो, तो अहंकार कैसे रह सकता है? यह तो हमारे ईश्वर और गुरु के साथ सम्बन्ध नहीं है। अहंकार के कारण हम परिवार में भी अशान्ति पैदा कर लेते हैं। केवल अहंकार के कारण परिवार का प्रत्येक सदस्य यह सोचता है कि जो वह सोचता है वही परिवार का प्रत्येक सदस्य करे। प्रत्येक स्त्री यही सोचती है कि उसका पति और सास, ससुर, सन्तान आदि परिवार के जितने भी सदस्य हैं, सब वैसा ही करें जैसा वह सोचती है। सब लोग यह क्यों नहीं सोचते कि उनका वास्तविक धर्म क्या है, मर्यादा क्या है ? वो मर्यादा के अनुसार क्यों नहीं चलते ? हम लोग अपनी संस्कृति का पालन क्यों नहीं करते ? पति को पति बनना चाहिये, स्त्री को स्त्री बनना चाहिये। प्रत्येक को अपने धर्म, अपनी मर्यादा के अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहिये। गुरु को तो छोड़िये , गुरु की बात तो आप मानते नहीं। गुरु या ईश्वर को आप नचाते हैं और जब तक वह नाचता रहता है, आपको अच्छा लगता है। और जब वह कोई सत्य बात आपके मुँह पर कह देता है तो आपको बड़ा बुरा लगता है। इसीलिये मैं कहता हूँ, सारा दोष मुझे अपने ऊपर लेना चाहिये।

सत्संग में हम सम्मिलित हुये हैं, काहे के लिए ? इधर - उधर की चर्चा के लिए नहीं। हम सम्मिलित हुए हैं इसलिए कि प्रत्येक साधक के भीतर में सच्ची शान्ति आये। यह तभी आयेगी जब हम मर्यादा के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करें। प्रयास करें । पूज्य गुरुदेव के द्वारा बताए गये रास्ते पर चलने की कोशिश करें। ईंट का जबाब पत्थर से देंगे तो शान्ति नहीं आयेगी। चाहें व्यक्तिगत शान्ति हो, चाहें सत्संग की शान्ति हो, एक ही बात है।

दूसरी बात यह है कि स्व -निरीक्षण करना चाहिये कि अशान्ति का कारण क्या है ? हमें बड़ी गंभीरता के साथ, सत्यता के साथ मनन करना चाहिये कि मुझे क्यों विचार आते

रहते हैं ? सारे दिन क्यों गन्दे -गन्दे विचार आते रहते हैं ? संकल्प -विकल्पों में क्यों मैं सारे दिन फंसा रहता हूँ ? आप विचार करेंगे तो पायेंगे कि प्रत्येक व्यक्ति की दो -चार समस्याएँ होती हैं। उनको हल करने की कोशिश करनी चाहिये। अपने से हल नहीं होती तो किसी बड़े का सहारा लें। पति -पत्नि एक दूसरे का सहारा ले , परस्पर परामर्श करें व उनका हल ढूँढें । किसी आचार्य के पास जायें और उन्हें अपनी समस्या बतायें। उस समस्या का हल ढूँढ़ कर समस्या को भूल जायें। फिर संकल्प -बिकल्प के लिये मैटर (कोई विषय) बचता ही नहीं। फिर किस चीज़ के लिए आप संकल्प -बिकल्प उठायेंगे ?

परिवार के प्रत्येक सदस्य , विशेषकर पति -पत्नि , को चाहिये कि वे अपना कर्म, अपना धर्म तथा अपना दायित्व पहिचानते हुए उसके अनुसार अपना आचार - व्यवहार बनायें। जब बच्चे बड़े हो जाते हैं तो माता -पिता को उन्हें डाटना नहीं चाहिये। कई बार माता - पिता केवल इसलिए डांटते हैं कि वे माता -पिता हैं। बच्चे भले ही सही बात करें, परन्तु माता -पिता अहंकार के कारण उनकी बात सुनते ही नहीं। यह बड़ी भूल है । बच्चों को मित्र बना लेना चाहिये। कभी परिवार में कोई कठिनाई आए तो बच्चों से भी परामर्श लेना चाहिये। बच्चों को इससे प्रेरणा मिलेगी। उनका उत्साह बढ़ेगा। इसी तरह पति - पत्नि का व्यवहार भी बड़ा मधुर होना चाहिये। उनका व्यवहार बच्चों के लिए प्रेरणादायक होता है । यदि पति -पत्नि ही आपस में लड़ते हैं, तो बच्चों पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? इसलिए मेरा आपसे नम्र निवेदन है कि अपने स्वयं के हित के लिए आप अपने आपको बनाने का प्रयास करें।

अगले भण्डारे में जब आपसे भेंट हो तो यदि अधिकांश लोग जो मुझसे मिलने आयें वो कहें कि हम बड़े ही सुखी हैं, तो मेरे सुःख की सीमा नहीं रहेगी। आप को दुःखी देखकर मुझे बड़ा दुःख होता है। आप कह जाते हैं मैं सुन लेता हूँ। आपकी बातें मेरे मन में रहती हैं। मुझे दुःख होता है कि मेरे बार - बार कहने पर भी मेरी बात क्यों नहीं सुनी जाती ? जहाँ पति -पत्नि दोनों दीक्षित हैं, वहाँ ऐसी बातें हों तो बड़ा दुःख होता है।

सत्संग का प्रत्येक सदस्य इस संस्था का प्रतिनिधि है आपके व्यवहार से दूसरे लोग प्रभावित हों, यह आपका लक्ष्य होना चाहिये। प्रत्येक सत्संगी को सँसार बड़ी गहराई से सिर से पाँव तक देखता है कि इसमें क्या विशेषता है। इसने सत्संग में जाकर क्या सीखा, इसमें क्या

परिवर्तन आया ? किसी सत्संगी को क्रोधित होते हुए देखकर दुनिया हँसती है कि यह कैसा सत्संगी है ? ऐसा सत्संगी अपने आप को तो बदनाम करता ही है, संस्था तथा उसके मुखिया (गुरु) को भी बदनाम करता है।

सत्संग का वास्तविक लाभ क्या है ? इसी जीवन में आपको अपने स्वरूप में स्थित होना है, आत्मा का साक्षात्कार करना है, प्रभु -दर्शन करने हैं। यदि मन में अशान्ति रहेगी तो एक जन्म क्या कई जन्म लग जायेंगे प्रभु के दर्शन करने में। हम सब इस बात को समझते हैं परन्तु हमारे संस्कार जागृत हो उठते हैं और वो हमारे ज्ञान, हमारी विद्या को पीछे ढकेल देते हैं। हमारा अहंकार जबर्दस्त है। अहंकार से क्रोध आता है, क्रोध से बुद्धि का विनाश होता है। आप इन कारणों को दूर करें। आप विश्वास कीजिये छः माह पश्चात आपको आत्मा की समीपता प्राप्त हो सकती है और निरन्तर सुहागन अवस्था प्राप्त हो सकती है। परमात्मा सब का पति है, उसका अस्तित्व हमेशा ही रहता है, वो

सत -स्वरूप है। वो जिज्ञासु साधक बन सकता है जो निरन्तर प्रभु के चरणों में रहे । वहाँ वही साधक रह सकता है जिसके भीतर में सन्तोष है, शान्ति है, आनन्द है।

अशान्त मन प्रभु के चरणों में नहीं जा सकता। अपने स्वयं के सुःख के लिये प्रयास करें कि आपके भीतर में शान्ति हो। बिना शान्ति के हमें अपने सच्चे पति - परमात्मा की समीपता प्राप्त नहीं होगी । हम भले ही साधना न करें, कोई बात

नहीं , परन्तु अपने जीवन को आदर्शमय बनायें। प्रभु से प्रेम इसलिए किया जाता है कि हमारा हृदय धीरे -धीरे निर्मल होता जाय। हमारे आवरण खत्म होते चले जायें व उन पर प्रभु के गुण अंकित होते चले जाये ।

मुझे आशा है व मैं आपसे अनुरोध भी करूँगा कि आप इस बात पर गंभीरता से सोचें और प्रयास भी करेंगे कि प्रतिक्षण अपने ऊपर अँकुश रखें। हमें अपनी आत्मा व गुरु का आश्रय लेकर हमारे भीतर में जो आसुरी वृत्ति है, अहंकारी वृत्ति या अन्य विकार हैं, उन सबका विनाश करना है, उन पर विजय पानी है।

गुरुदेव आपको शक्ति दें । मेरी आपसे प्रार्थना है कि जो व्यक्ति भी यहाँ आए उसके चहरे पर आत्मिक मुस्कान हो, सुःख व शान्ति उसके चहरे से टपकती हो। मुरझाया हुआ चेहरा नहीं होना चाहिये। हमें हँसते - खेलते, खिले हुए पुष्पों की तरह बनना चाहिये । गंगा स्नान करने जायें और वहाँ शीतलता की अनुभूति न हो, उस शीतलता की प्रसादी हम घर लेकर न जायें और रोज़ सुबह उठकर उस गंगा जल की प्रसादी न लें, तो दोष किसका है ?। दोष गंगा का नहीं, स्वयं उस व्यक्ति का है।

मैं आपके प्रत्येक सुःख -दुःख में सम्मिलित हूँ, आपके साथ हूँ । परन्तु आप भी तो कोशिश करिए। ईश्वर से, गुरु से सच्चा प्रेम करें। उनके प्रति आपका सच्चा भाव होना चाहिये, भय यानी लज्जा होनी चाहिये। चाहें गुरुदेव इस समय प्रत्यक्ष में हैं या नहीं हैं, हमें समझना चाहिये कि वो हमारे साथ हैं। हम प्रत्येक क्षण, प्रत्येक विचार, प्रत्येक शब्द, वही उठायें जिससे हमारे गुरुदेव, हमारे परमात्मा, खुश हों प्रेम व भय - इन दोनों का अभ्यास करते रहना चाहिये। हमें ईश्वर से बिलकुल भी भय नहीं है, उसके प्रति भाव भी नहीं है। यही कारण है कि हम हाथ -पांव से भी ऐसे काम कर जाते हैं जो हमें नहीं करने चाहिये। विचारों से तो करते ही रहते हैं, क्योंकि वहाँ कोई नियम लागू नहीं होता। कोई डर नहीं है। बुरे -भले विचार उठते रहते हैं। वाणी से भी कई बार हम जाने -अनजाने में ऐसे शब्दों का प्रयोग कर जाते हैं जिससे दूसरे का दिल दुखे। यह महा पाप है।

हमारे व्यवहार में दीनता, मधुरता व प्रेम होना चाहिये । जब तक हम इन गुणों को नहीं अपनायेंगे हमारे भीतर में शान्ति कैसे हो सकती है ? यह वैज्ञानिक नियम है कि प्रत्येक व्यक्ति के भीतर में तरंगे (vibrations) उठती रहती हैं। यदि हमारे भीतर में सच्चे भाव, अच्छे भाव होते हैं, तो वायुमण्डल शुद्ध रहता है और यदि हम बुरे विचार उठते हैं तो हम वायुमण्डल दूषित कर देते हैं। जो कोई भी आपके समीप आयेगा उस पर भी आपके विचारों का प्रभाव पड़ेगा। इसीलिए आपके परिवारों में छोटी -छोटी बातों पर लड़ाई - झगड़ा हो जाता है। इसीलिये सावधान रहना चाहिये, खास तौर पर पुराने अभ्यासियों को। यदि कोई बुरे विचार मन में आ भी रहे हैं, तो घर से बाहर चले जाना चाहिये। हमारे विचारों का प्रभाव घर के प्रत्येक सदस्य पर पड़ता है। ऐसा जीवन जियें जो आनन्द -मय हो, कुशलमय हो। भीतर की कुशलता, भीतर का आनन्द ही आपको ईश्वर के समीप ले जायेगा। गुरुदेव भीतर की अशान्ति को फ़ारसी

में फरमाया करते थे कि हम भीतर में 'मलाल' रखते हैं । साँसारिक व्यक्ति को भले ही ये मलाल दुःख न दे परन्तु जो व्यक्ति इस रास्ते (आध्यात्म के रास्ते) पर आगया है, यदि उसके हृदय में मलाल उत्पन्न हो जाता है, मन मुटाव उत्पन्न हो जाता है तो यह बड़ी हानिकारक व दुःख देने वाली हालत होती है। आदमी जलता है। अग्नि से जलकर इतना दुःख नहीं होता जितना दुःख मलाल के कारण होता है। पूज्य गुरु महाराज भी प्रयास करते रहे परन्तु अब स्थिति और बिगड़ी है, कुछ सुधरी नहीं। इसलिए हम सब लोग मिलकर कोशिश करें। यह सत्य है कि हम सब संसार में रहते हुई आन्तरिक शान्ति चाहते है । इसके लिए हमें कुछ थोड़ा सा बलिदान देना होगा -- अहँकार का बलिदान। हम स्वयं अपने अहँकार का बलिदान न देकर दोषी दूसरों को बनाते हैं । इससे हमारा अहँकार और पुष्ट होता है, अशान्ति और दृढ़ होती है।

ईश्वर हम पर कृपा करें

0000000000000000000000000000

:



***पूज्य गुरुदेव का सर्वोत्तम संदेश**

एक प्रेम के नाते को छोड़कर और मैं किसी नाते को नहीं जानता -- केवल प्रेम और वह भी निस्वार्थ प्रेम . जो लोग बिना अपने स्वार्थ के मुझे प्रेम करते हैं, चाहे वे सज्जन हैं या दुष्ट , मैं उन्हें प्रेम करता हूँ . वे मेरे हैं और मैं उनका . वे सदैव मुझ पर आश्रित रह सकते हैं और वे देखेंगे कि मैं सदैव उनकी सेवा के लिए प्रस्तुत हूँ .

(महात्मा श्रीकृष्ण लाल जी महाराज)



मन की स्थिरता में सफलता

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ०करतारसिंह जी महारा)

मन हमेशा बेफायदा इधर -उधर की बातें सोचता रहता है । जब तक वह ऐसे सोचता रहेगा संध्या में मन नहीं लगेगा। इसलिए मन को बेफायदा ख्यालों और बेफायदा उमंगों से हटाना चाहिये।लेकिन चूँकी वह मुद्दत से इन बातों को सोचता रहा है, अतः वह एक साथ नहीं छोड़ेगा, समय लगेगा। लेकिन अभ्यास और गुरु के प्रेम में फँसकर मन आहिस्ता - आहिस्ता शान्त होने लगता है।

मन का स्वभाव है बेवजह सोचना और इसकी - उसकी करना । परन्तु हमारा कर्तव्य है इसको ईश्वर के चरणों में लगाना मन की आदत है किसी के प्रति राग किसी के प्रति द्वेष रखना । परन्तु साधक को सिवाय ईश्वर के और कुछ नहीं सोचना है। साधना में सावधान होकर विचार -मुक्त होकर बैठना चाहिये। साधना यही करनी है कि ईश्वर के ख्याल में मन को लगाना है ।

"मन तू ज्योत स्वरूप है , अपना मूल पहचान " ।

अरे मनुष्य ! तू तो वही है, तेरा स्वरूप वही है जो ईश्वर का है। तू उसी परमात्मा का अंश है, उसी का बेटा है। ' तत्त्वमसि' वह सत चित आनन्द है तू भी सत चित आनन्द है। हमें सतचित आनन्द की स्थिति में रहने का प्रयास करना चाहिये । ज्ञान साधना में हम अहम्ब्रह्मास्य की साधना करते हैं । भक्ति साधना में हम "तत्त्वमसि" की साधना करते हैं । ईश्वर के स्वरूप व गुणों का ध्यान करते हैं। उसके गुणों को अपनाने की कोशिश करते हैं। अन्य कोई ख्याल नहीं, और सब भूल जाइए। मन को सांसारिक बातों को सोचते हुए पता नहीं कितना वक्त हो गया प्रयास करते रहें। धीरे -धीरे इसे समझ आ जायेगी और यह मन आत्मस्वरूप हो जायेगा। इसका वही स्वरूप हो जायेगा जो ईश्वर का है। कोई सांसारिक लोभ इसे प्रभावित नहीं कर पायेगा। अपने आप को तीन गुणों से ऊपर उठाना है। हमारे मानव जीवन का लक्ष्य यही है -- हमें ईश्वर जैसा बनना है । इस सच्चाई को पहचानना है कि तेरी ज्योति ईश्वर- ज्योत का अंश है। आपका मन सारी उम्र आत्मा से शक्ति लेकर विचार उठाता है और आपको सत -चित

आनन्द की ओर नहीं जाने देता। आपको इन्हीं विचारों पर काबू पाना है। इस आत्मिक शक्ति का प्रयोग ईश्वरीय गुणों को अपनाने में लगाना है ।

" मन जीते जग जीत "

जिसने अपने मन पर विजय प्राप्त कर ली , समझ लो उसने विश्व पर विजय प्राप्त कर ली। यह बहुत कठिन कार्य है, परन्तु इसके वगैर हमारा गुज़ारा भी नहीं है। ' slow and steady wins the race " धीरे -धीरे अपने लक्ष्य की ओर बढ़िए। एक दिन विजय प्राप्त हो ही जायेगी। यह एक जन्म का नहीं जन्म -जन्मान्तर का प्रयास है। डरना नहीं है। हमें अपने भोजन और संगति पर ध्यान देना है।

सबमें ईश्वर के दर्शन करो ।

भीतर बाहर एको जानो , यह गुरु ज्ञान बताई /

कह नानक बिन आपा चीने , मिटे न भ्रम की काई /

अपने पराये को छोड़ो । सब एक हैं तम और, रज से ऊपर उठो व सत् को पहचानो - "सत्यम, शिवम, सुन्दरम" अन्तर की ओर घुसकर तो देख, तू तो वही है जो ईश्वर है। हृदय में कमी 'सम्बन्ध ' की है। सम्बन्ध बनाओ, वह तुम्हारा असली परमपिता हैं। उसके प्रति धारण किये गये हर विचार में तुम्हारा कल्याण है। सम्बन्ध बनाने का प्रयास करो, तभी तुम आत्म - साक्षात्कार कर सकोगे। इसलिए अभ्यास करते रहो और इसको कभी मत छोड़ो ।

गुरु की बातों को सोचकर प्रेम बढ़ाओ। जितना तुम्हारा प्रेम बढ़ता जायेगा, उतना तुम्हारा मन शान्त होता जायेगा। ईश्वर को पहचानो, छोड़ दो इस सँसार को । जहाँ यह हुआ वहीं " You are very near to God" (आप ईश्वर के बहुत निकट हैं ।)।

00000000000000

मन तू ज्योति स्वरूप है

(परमसन्त डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

" प्रकाश को रोकने वाले अपने द्वारा किये गए कर्मों के फल हैं जो जन्म-जन्मान्तरों से साथ चले आ रहे हैं / जितने ये हलके हैं, ये उतना ही ज़्यादा प्रकाश देंगे/ आनन्द की प्राप्ति होगी और ज्ञान की भी/ "

प्रत्येक जिज्ञासु को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि पूर्व -जन्म के संस्कारों से मुक्त हो, और वर्तमान में भी इन्द्रियों का उचित प्रयोग करे। भोजन खाये, ध्यान रखे। नए कर्म जो करें, उनसे प्रभावित न हों। इनसे हमारे संस्कार बनते हैं। गीता में हमें यही उपदेश दिए गए हैं। हम कोशिश करें, वर्तमान में रहें। भूतकाल को भुला दें और भविष्य की सोचे नहीं। जो जिज्ञासु सत्संग करते हैं उन्हें विचार करना चाहिए कि हमारे भीतर में अतीत का जो प्रभाव है, उसे कैसे त्यागें ताकि शरीर त्यागने से पहले हम पूर्ण निर्मल होकर जावें, स्वच्छ होकर जावें। जैसे गंगा स्नान करने जाते हैं या और नदियों में स्नान करने जाते हैं, महापुरुषों की चरण रज लेने जाते हैं, उसका भाव यह होता है कि हमारे अतीत का प्रभाव खत्म हो जाये।

यदि वर्तमान में आपके कर्म अतीत के प्रभाव में रहे तो, आप मुझे क्षमा करेंगे, कि आप अपने जीवन-लक्ष्य के प्रति जागरूक नहीं हैं। मनन करें कि हम में कौन-कौन से अवगुण हैं तथा किस प्रकार से हम उन अवगुणों के प्रभाव से मुक्त हो सकें। हम वर्तमान में जो कर्म कर्म रहे हैं वे अतीत के प्रभाव से मुक्त हो। मृत व्यक्ति को कथा सुनाई जाती है, श्मशान में ले जाने से पहले उसको स्नान कराया जाता है, ताकि वह निर्मल हो जावे तथा अतीत से मुक्त हो जावे, आगे जाकर अपने अतीत की चिन्ता न करे, वर्तमान में कोशिश करे कि हम ईश्वर जैसा बन जायें।

तू तू करता तू भया, मुझमें रहीं न हूँ

आप परका मिट गया, जित देखूँ तत तू!

प्रतिक्षण सचेत रहना चाहिए। जाने से पहले अतीत के बोझ को खत्म कर देना है। निर्मल हो जायें। हम गलतियाँ करते हैं। बाद में सोचते हैं कि हम तो पढ़े- लिखे हैं, ऐसी गलती क्यों की ? सच्चा जिज्ञासु रोता है। ईश्वर के चरणों में प्रार्थना करता है। कहता है आगे से मैं ऐसा नहीं करूँगा। ऐसे विचार प्रतिक्षण हमारे साथ होने चाहिए। प्रतिक्षण हमारे ऊपर अतीत के विचारों का प्रभाव पड़ रहा है। हमारा जीवन-लक्ष्य यही है कि मरने से पहले हम निर्मल हो जावें। किसी प्रकार का राग-द्वेष हमारे मन में न रहे।

वर्तमान में रहकर ही आपका मन निर्मल हो सकता है। आप सबका लक्ष्य है कि शरीर त्यागने से पहले निर्मल हो जायें। किन्तु, आप मुझे क्षमा करेंगे, आप प्रतिक्षण अपने मन पर अतीत का प्रभाव डालते जाते हैं। अतीत का यह बोझ हमारे सिर पर लदा रहता है। अतीत का बोझ हटाने पर ही आप वर्तमान में आनन्द में रहेंगे और भविष्य में भी आनन्द में रहेंगे।

‘ मन तू ज्योति स्वरूप है, अपना मूल पहचान ’

अपने भीतर में झाँकें। चित्त पर निगाह रखें। बुरी बातों, तम, रज से मुक्त होकर सत में स्थित रहें। दूसरे जन्म में इन संस्कारों को भोगने की इच्छा न रहे। इससे एक विशेष प्रसन्नता होती है। जिस मनुष्य के मन में अतीत की बातें नहीं रहतीं, ऐसा व्यक्ति अति प्रसन्न रहता है जो वर्तमान में रहता है। कोई उसकी बुराई करने वाला नहीं होता।

संक्षेप में, आपके कर्मों से, आपके व्यवहार से, कोई नया संस्कार न बने। पिछले संस्कार धुल जायें। अतीत को भूल जायें, वर्तमान में रहें। आपने जो कर्म किया है उसका कर्मफल भूल जायें। भूलना अति कठिन है लेकिन आपको अपना भविष्य सोचना है। आप आपने पर नियंत्रण रखें। अतीत को छोड़े, वर्तमान में रहें। अतीत के कर्म और उनके कर्मफल से बिलकुल प्रभावित न हों।

वर्तमान में रहने का तरीका सोचें। इसके लिए अंग्रेजी में कहते हैं - Forgive and forget (क्षमा करो, भूल जाओ) किसी ने आपकी बुराई की है तो उसको क्षमा कर दें। क्षमा के साथ बुराई की उस घटना को भी भूल जायें। हर वक्त अपने मन को साफ़ करते जायें। भविष्य की चिन्ता न करें। वर्तमान में रहें, इस क्षण में रहें। भीतर में कोई राग-द्वेष न हो। तू

ही तू है। ईश्वर सबका है। दूसरों को दोष न दीजियो। अपने दोषों को अपने भीतर में देखें और उनसे एक-एक करके मुक्त हों। शरीर त्यागने से पहले आप भीतर में निर्मल हो जावें। न कोई राग वृत्ति है, न द्वेष वृत्ति, न कोई आशा है न कोई इच्छा है।

महापुरुष कहते हैं, " हे जीव ! तेरा वही रूप है जो परमात्मा का है। अपने असली रूप को पहचाना तू कौन है ? महर्षि रमण की किताब है। उसमें बताया है कि ' मैं कौन ' हूँ। उसमें यह नहीं बताया कि 'तू कौन है' । पूज्य गुरुदेव उस पुस्तक को सुना करते थे। छोटी सी पुस्तक है। संक्षेप में, शरीर त्यागने से पहले अपने को पहचानें। क्षमा करें और भूल जायें। (Forgive and forget)

हम हर वक्त चित्त पर बोझ उठाये रहते हैं । यह व्यक्ति ऐसा करता है। वह व्यक्ति वैसा करता है। कहना नहीं मानता, दुर्व्यवहार करता है, आदि। सारा दिन हमारा मन चलता रहता है। इन बातों से अपने को मुक्त करें और वर्तमान में रहने का साधन करें। कल क्या होगा, इसकी चिन्ता न करें। जो हो चुका उसे भूल जायें। सबको क्षमा कर दें। वर्तमान में जियें। इसमें आनन्द आएगा। इसमें न राग है, न द्वेष है। परमात्मा का रूप है - सत्यम, शिवम, सुन्दरम।

गुरुदेव आप सबका कल्याण करें।

000000000000000000

मनमानी करने की वृत्ति को तिलांजलि दें ;

सेवा व्रत लेकर गुरुदेव को सच्ची श्रद्धांजलि दें

(परमसन्त सद्गुरु डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

मनुष्य को यह चोला मिला है । वह बड़ा भाग्यशाली है । परन्तु मनुष्य का अतीत उसके साथ है जो मन का रूप लेकर उसकी प्रगति में बाधा डालता रहता है । परमपिता परमेश्वर ने प्रत्येक मनुष्य को बुद्धि भी दी है परन्तु हम सामान्यतः उसकी परवाह न करते हुए अपनी मनमानी करते रहते हैं। जो व्यक्ति मनमानी करेगा वह परमार्थ के रास्ते में कभी उन्नति नहीं कर सकेगा । मेरा तो यह भी कहना है कि ऐसे व्यक्ति का अपना व्यक्तिगत जीवन और पारिवारिक जीवन भी खराब होता है - ईश्वर तो बहुत दूर हैं । जिसका मन और जिसकी बुद्धि किसी को बिकी नहीं है और उसके अनुसार वह व्यक्ति चलता नहीं है , वह खुद को भी दुखी करता है ।

हमारे यहाँ जो साधना है या परमार्थ है , वह सब एक विचित्र अवर्णनीय आनंद की प्राप्ति, या दूसरे शब्दों में कहें तो , वह परमात्मा की प्राप्ति के लिए है । ईश्वर तो आनंद के सागर हैं - पर हम अपना अमूल्य समय व्यर्थ खोते रहते हैं । गुरु महाराज भी असंतुष्ट होकर यह बात कहा करते थे कि " आप सत्संग में आ गए तो अब आपका व्यवहार सामान्य व्यक्ति के व्यवहार से अलग होना चाहिए । यहाँ आकर संसारी बातों में भी आप हमारा परामर्श नहीं मानते , उस पर ध्यान नहीं देते , तो परमार्थ की तरफ जब हम कुछ कहेंगे तो आप क्या करेंगे ।" बड़ी निराशा से उन्होंने ये शब्द कहे थे और उनकी निराशा को मैं भी कई बार दोहरा चूका हूँ । अपने शरीर त्यागने से कुछ महीने पूर्व उन्होंने ये शब्द कहे थे कि " जैसा मैं अपने भाइयों को बनाना चाहता था, मुझे अफ़सोस है कि एक भी शख्स (व्यक्ति) मेरी आशा के मुताबिक नहीं बन पाया ।" ये शब्द उन्होंने मुझ से कहे थे और मेरे साथ २०-२५ आदमी और भी उस वक्त सिकंदराबाद के उस मकान के दालान में थे । उन्होंने कोई व्यक्तिगत नहीं कहा था , सबको कहा था और मुझे सम्बोधन करके कहा कि " देखना

सरदारजी , हमारे बाद यम और नियम का सख्ती के साथ पालन कराना" में यही बात कई दफ़ा कह चुका हूँ मगर यह मेरी अपनी कमज़ोरी है कि मैं उनकी इस आज्ञा का पालन न करा सका ।

बिना मानसिक अनुशासन के परामर्श का लाभ नहीं मिलसकता । जब तक मनुष्य मनमानी, मनचाही करता है उसे आत्मा का साक्षात्कार नहीं हो सकता । मनुष्य की प्रकृति है , उसका स्वभाव है कि वह समझता है कि इस संसार में मेरे सिवा और कोई बुद्धिमान है ही नहीं । मैं जो सोचता हूँ , जो करता हूँ , वो ही सही है । वो किसी के आधीन होकर चलने के लिए तैयार ही नहीं है । गुरु इसलिए किया जाता है कि हम गुरु के पास अपना मन बेचते हैं । जब व्यक्ति दीक्षा लेते हैं तब वे कहते हैं कि " मैं आपके चरणों में अपना तन, मन, धन सब बेचता हूँ ।" किन्तु व्यवहार में तो ये सब फ़र्जी होता है । महाराज जनक जी की तरह मुनि अष्टावक्र के चरणों में मन अर्पण कर दिया जाय । वो भी बड़ी मुश्किल से कर पाए थे । महाराज जनक भी भूल गए थे , हम तो खैर साधारण व्यक्ति हैं ।

मन बेचना आसान काम नहीं है । हमारे देश की एक महान प्रथा है - पाणिग्रह संस्कार । इसमें जब पति-पत्नी का विवाह होता है उस वक़्त पत्नी अपना मन बेचती है । हम अपनी बहनों की प्रशंसा करते हैं । व्यक्तिगत रूप से मैं तो उनकी बहुत ही इज्जत करता हूँ, क्योंकि जितना स्त्री अपना मन बेचती है पुरुष उतना कभी नहीं कर पाते और जब तक व्यक्ति अपना मन किसी को समर्पण नहीं करता है, वह आत्मा के समीप नहीं पहुँच सकता । स्वनिरिक्षण करना चाहिए कि हमें आत्मा का साक्षात्कार क्यों नहीं हो रहा है । इसका एक ही कारण है कि अभी तक हमने मन बेचा तो था मगर वह फ़र्जी बनावटी रूप में बेचा था । मन को वास्तव में बेचना है । आखिर यही आकर कहना पड़ता है जैसा कि रामायण में है और गुरु ग्रंथ साहिब तथा अन्य सब संत भी कहते हैं, " जेहि विधि राखे राम , तेहि विधि रहिये । " मज़बूरी में ऐसे रहना तो और बात है परन्तु मन बेचना और जो परमात्मा करे वो ठीक है - ऐसा सचमुच में मानना और उसी तरह अपने जीवन को ढालना - सच्ची साधना है । अर्जुन भगवन के चरणों में कितने समय तक रहा, उसका निकट सम्बन्ध भी था और हृदय का सखा भी है , परन्तु अर्जुन प्रश्न पे प्रश्न किये जाता है । उसका मन अभी प्रभु के चरणों में बिका नहीं है, नहीं तो एक बार प्रभु कह देते तो अर्जुन के मन में शंका उठनी नहीं चाहिए थी । परन्तु अर्जुन में एक बात

जरूर थी कि उसने भगवन के चरणों को छोड़ा नहीं। भगवान् को संतुष्ट करने का उसने हमेशा प्रयास किया। उसके जीवन से तो हमें प्रेरणा मिलती है वरना लोग तो छोड़ देते हैं - खासकर तकलीफों में कहते हैं यह हमारा गुरु क्या हुआ जो हमारे कष्ट दूर नहीं करता। हमारे पास भी रोज पत्र आते हैं। ऐसी भी चिट्ठियाँ आती हैं जिसमें अपने दुःख-सुख के लिए हमें दोषी बनाते हैं। वास्तव में दुःख-सुख तो मनुष्य तभी भोगता है जब वह मन के स्थान पर होता है। जब मन आपने बेच दिया तो मन तो आपके पास है ही नहीं। फिर कौन दुःख को भोगेगा। दोनों ही परमार्थ के रास्ते पर रुकावट डालते हैं। ये हमारा अहंकार है कि जब किसी को सच्ची बात बोल दो तो भी वह मानने को तैयार ही नहीं होता। इस अहंकार को छोड़ें। साधारण व्यवहार में अहंकार को छोड़ें। हम कितनी भी पूजा पाठ कर लें, दो-दो घंटे, चार-चार घंटे आँखें बंद कर लें परन्तु यदि हमने मन को नहीं साधा है तो हमें हमारी साधना का विशेष लाभ नहीं हुआ है। मैं भी अनेकों गलतियाँ करता हूँ, सब लोग गलतियाँ करते हैं। परन्तु गलती करके गलती को मानना बड़ी बहादुरी है। गुरु महाराज बड़े दुखी होकर कह रहे हैं “तुम संसार की बातों के लिए आते हो हमारे पास”। हम परामर्श देते हैं किन्तु आप मानने को तैयार नहीं होते। हम जब आपको परमार्थ के रास्ते पर कुछ कहेंगे तो आप उसे क्या मानेंगे।” तो आपने क्या गुरु किया, दीक्षा ली, आप क्या शिष्य बने ? कुछ नहीं। इस रास्ते पर चलने के लिए तो बड़ी दीनता कि जरूरत है। दीनता यह नहीं कि हाथ जोड़ लिए। दीनता यह है कि जो गुरु कहे, जो सच्चा बाप कहे, जो परमात्मा कहे उसके आदेशों को बिना चूँ-चडाक किये हुए उसका पालन करे। वो दुःख देता है तो ठीक है वो हमें राजा बना देता है तो भी हम उसके कृतज्ञ हैं। इसी रास्ते पर चलते हुए दीनता इतनी बढ़ जाती है कि व्यक्ति अपने अस्तित्व को भूल जाता है। ये दीनता ही आपको गुरु रूप बना देती है, इश्वर की निकटता देती है।

“जब लग में था वगुरु नाहिं , अब गुरु है मैं नाहिं”

हम गुरु के निकट जाकर तो सोचेंगे कि अब मनमानी नहीं करेंगे , दीनता से रहेंगे परन्तु हमें इसे व्यवहार में भी लाना चाहिए। परिवार में बच्चे माता-पिता के कहने में हों , पति-पत्नी आपस में सहयोग करें। पति यदि कोई बात कहता है जो पत्नी के हित हो तो कम से कम वो तो माननी चाहिए और यदि पत्नी पति के हित की कोई बात कहती है तो पति को अहंकार नहीं करना चाहिए और उस बात को मान लेना चाहिए। सबसे

पहले तो दीनता का अभ्यास घर में ही करना चाहिए । अहंकार को, मनमानी को छोड़ना चाहिए । सिर्फ यह सोचना कि मैं पति हूँ , मैं घर में बड़ा हूँ , मुझे घर में कोई कुछ नहीं कह सकता -- ये सब अहंकार है। इस रास्ते पर चलने के लिए मन को बहुत सूक्ष्म , सरल बनाने की आवश्यकता है । किसी पर अपनी मर्जी नहीं थोपनी चाहिए , खासकर गुरु के पास - जिसे हमने अपने आपको बेचा है , तन - मन - धन से बेचा है । गुरु किया ही इसीलिए जाता है कि वो प्रति-क्षण हमारे मन की चौकीदारी करे । जैसा गुरु कहे वैसा हम करें - ये अभ्यास हमें करना है । पूजा का अपना महत्व है परन्तु अभ्यास को व्यावहारिक रूप देना अधिक आवश्यक है । जब तक हमारी साधना - हमारी पाठ-पूजा व्यवहार में नहीं उतरेगी तब तक पूजा-पाठ में विशेष लाभ नहीं होगा । हम दो घंटे सत्संग के कमरे में बैठ के साधना करके आये और तुरंत ही हमें क्रोध आगया तो हमारी साधना खत्म हो गयी । क्या लाभ है उस साधना का ? हम व्यवहार करते हुए दूसरे का शोषण करते हैं तो साधना का क्या लाभ ? पूज्य गुरु महाराज कहा करते थे कि संसार हमें खूब देखता है , निरीक्षण करता है विशेषकर उनका जो अपने आप को कहा करते हैं कि हम सत्संगी हैं । संसार उनको सिर से पाँव तक देखता है और कोशिश करता है कि देखें कि उनमें कोई नुखस तो नहीं है । इसीलिए कबीर साहेब अपनी वाणी में लिखते हैं : " निंदौ निंदौ , मोको निंदौ -----" तथा " निंदक नियरे राखिये , आंगन कुटी छवाय ।" निंदक जो है वोही मेरा सच्चा मित्र है अर्थात जो मुझे मेरे अवगुण बताता है वो ही मेरा सच्चा मित्र है , वो ही मेरा गुरु है , वो ही मेरा परमात्मा है । हमें कोई हमारी इच्छा के प्रतिकूल कोई बात कह देता है तो हम क्रोध में पागल हो जाते हैं । तो सत्संग में आकर हमें इस मन को बनाना है । जब कभी भी हमें कोई कठनाई पेश करे या कोई बात हमारी समझ में नहीं आये तो हमें तुरंत अपने गुरु के पास जाना चाहिए । गुरु नहीं हैं तो माता-पिता के पास जाना चाहिए , माता-पिता नहीं हैं तो किसी मित्र के पास जाना चाहिए । किसी का तो बन कर रहना चाहिए , अपनी मनमानी नहीं करनी चाहिए ।

मन ने किसी को आज तक मोक्ष नहीं दिलवाई । यदि मोक्ष की इच्छा है तो पहले अपने मन को दे दो, किसी को बेच दो । देकर देखो तो सही कि कितना आनंद है । कोई अपना मन नहीं देता और इसीलिए परेशान रहता है । यदि हममें प्रगति नहीं हो रही है , आत्मा का साक्षात्कार नहीं हो रहा है तो उसका दायित्व हमारे मन पर है । उसके लिए हम स्वयं

ज़िम्मेदार हैं । पूज्य गुरु महाराज की अभिलाषा को संतुष्ट करने के लिए अब हमें कुछ करना चाहिए , अब जबकि हम लोग उनकी जन्म शताब्दी मना रहे हैं । मैंने कुछ समय पहले भी इस विषय पर कुछ विचार रखे थे । हम उसके मुताबिक सेवा में अपना योगदान दें । जो भी हम कर सकते हैं करें । मैं आभारी हूँगा ।

देश में महात्मा गांधीजी की १२५-वीं जन्मतिथि "एकता" के रूप में मनाई गयी। एकता अच्छा भाव है । हमें भी एकता का अभ्यास करना चाहिए । हम सब एक हैं, एक पिता की संतान हैं। सब भाई-बहिनों को एक ही परिवार का सदस्य समझना चाहिए और आपस में प्रेम करना चाहिए । खेद है कि सत्संग में भी आपस में प्रेम नहीं है , जितना होना चाहिए। आजकल संसार में जो कुछ हो रहा है, अपने देश में भी जो कुछ हो रहा है, उसको देखकर बड़ा दुःख होता है। महात्मा गाँधी का जो जीवन था उसकी तरफ किसी का ध्यान नहीं है । वो कर्मयोगी थे, गीता के पुजारी थे। उन्होंने गीता की विवेचना भी लिखी है। उसकी भूमिका में लिखा है कि " मैं नहीं कह सकता कि वास्तव में भगवान ने गीता उच्चारण की है या नहीं । ये वेद व्यास जी की ही अपनी कृति है या जैसे भी है, परन्तु गीता में जो कुछ भी लिखा है उससे बड़ी प्रेरणा मिलती है । मेरे जीवन का तो वही गुरु है ।" गाँधी जी का जीवन एक कर्मयोगी का, सेवा का रूप रहा है । हमारी सनातन संस्कृति में सेवा का बड़ा महत्व है। हमारे यहाँ मुख्य रूप से चार साधन हैं - योग का , ज्ञान का, भक्ति का और कर्म का । कर्म का दूसरा नाम सेवा है । सेवा है, ईश्वर की सेवा - सबकी सेवा करते हुए ईश्वर की सेवा । शास्त्रों में लिखा है कि जो कोई इन चार रास्तों में से कोई सा रास्ता नहीं अपनाता वह असुर है। वास्तव में यदि हम स्व-निरीक्षण करें तो हम सब असुर हैं। न तो हम ब्राह्मण हैं, न हम सिख हैं, न हम राजपूत हैं , न वैश्य हैं और न कुछ और हैं। कोई कह सकता है कि इन चार रास्तों पर किसी ने परिपक्वता हांसिल कर ली है । किसी का जीवन उतना आदर्श नहीं है । गांधीजी की भी यही प्रेरणा थी । काश ! भारत सुनता उनकी आवाज़ को। उनका नाम तो सब लेते हैं पर उनके आदर्श कौन अपना सका है ?

भाइयों को कोशिश करनी चाहिए कि गाँधी जी के जीवन से प्रेरणा लें। गुरु महाराज के जीवन से प्रेरणा लें। उनकी जन्म शताब्दी मनानी तभी सफल होगी जब हम उनके जीवन के अनुसार अपने जीवन को बनाएंगे । किसी तरह भी हो सके सच्ची सेवा का भाव अपने मन में

लाएं । मुझे पूर्ण विश्वास है कि मेरे भाई लोग कोई ऐसी बात सोचेंगे कि जिससे सत्संग में एक नया रूप खड़ा हो जायेगा , जिससे सब को प्रेरणा मिलेगी , सबके जीवन में परिवर्तन आ जायेगा । तब हम गुरु महाराज के चरणों में कह सकेंगे कि हम आपका शुभ जन्म दिन भली प्रकार से मना रहे हैं । अन्यथा समय आया , समय गुज़र गया , पैसा खर्च कर दिया , कोई खास लाभ नहीं होगा । मुझे आशा है कि सबलोग मेरा निवेदन स्वीकार करेंगे कि अब दृढ संकल्प द्धारा , मन की मनमानी करने को बंद करें और गुरुदेव के मुख्य जीवन-आदर्श यानी प्रेम और सबकी सेवा को व्यवहारिक रूप दें उनकी बताई हुई सेवा की भावना को अपने जीवन में मुख्य स्थान देकर - अपने परिवार से लेकर सारे संसार की सेवा में यथाशक्ति जो भी , जितनी भी, किसी भी प्रकार की सेवा कर सकेगा उतना ही भाग्यवान रहेगा , स्वयं को धन्य करेगा । यही उनके प्रति, उनके सिद्धांतों के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी ।

गुरुदेव आपका कल्याण करें ।



सब लोगों (अभ्यासियों) को अपनी हालत की समझ नहीं होती . जब तक तत्त्वजो का आधा अंश रज से निकलकर सत पर नहीं आ जाता , हालत का अंदाज़ नहीं होता . तम में आलस , कामेंद्रि भोग और गुस्सा बहुत होता है . रज में दीनी और दुनियावी ख्वाहिशात होती हैं और मनुष्य उनको पूरा करने की कोशिश करता है . सत में धर्म से प्यार , इन्द्रिय दमन , दया और दान होता है . तीनों हालतें साथ - साथ रहती हैं , कभी किसी का उभार और कभी किसी का उभार होता रहता है . अभ्यास किए जाओ और परमात्मा से प्रार्थना किये जाओ .
(महात्मा डॉ . श्रीकृष्ण लाल जी द्वारा २९-१२-१९६१ को लिखे गये पत्र से)

मनुष्य जीवन का सर्वोत्तम उपहार - विवेक बुद्धि

(ब्रह्मलीन परमसंत डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

यह तो एक सर्वमान्य साधारण सत्य है कि मनुष्य ही प्राणी मात्र में ऐसा भाग्यशाली जीव है जिसे विवेक-बुद्धि जैसी साधारण और उपयोगी निधि प्रभु की कृपा से प्राप्त हुई है और यह निधि मनुष्य के सर्वतोमुखी विकास के लिए हरदम उपलब्ध है। इसी शक्तिशाली माध्यम से हमें इस प्रश्न का हल खोजना है कि हम सत्संग में क्यों जाते हैं ? यहाँ पर या अन्य जगह पर क्यों जाते हैं ? हम इसलिए जाते हैं ताकि पहले तो हमारे अन्दर शांति हो और हमारे व्यवहार से औरों को भी शांति मिले। यदि सत्संग में आकर भी हमारे पारिवारिक जीवन में उत्तेजना रहती है या हम अपने व्यक्तिगत जीवन में जलते- भुनते रहते हैं और हम समाज से भी दुर्व्यवहार करते हैं तो इससे बेहतर है कि हम को सत्संग छोड़ देना चाहिए और कोई अन्य रास्ता बड़ी गंभीरता से ढूँढना चाहिए।

हर व्यक्ति को अपनी विवेक बुद्धि से यह समझ लेना चाहिए कि उसका यह शरीर हमेशा रहने वाला नहीं है। इसी तरह जो अन्य सांसारिक वस्तुएं हैं वे भी हमेशा रहने वाली नहीं हैं। इसी तरह ये जो सांसारिक सम्बन्ध हैं, वे भी थोड़े समय के लिए हैं, इन्हें हमेशा नहीं रहना है। इसका मतलब यह नहीं कि हम घर-बार छोड़ कर जंगलों में चले जाएँ। संतमत में घर छोड़ने के लिए कोई स्थान नहीं है। संतमत में, सिखमत, राधास्वामी मत, जैसे अन्य जितने पंथ या रास्ते हैं, सब आ जाते हैं, इनमें कोई खास अन्तर नहीं है। संतमत आदिकाल से चला आ रहा है। हम सब भाइयों को सचेत रहना चाहिए कि ये जगत जो दीखता है, भासता है, वो वैसा नहीं है। हमारा जो अस्तित्व है वो भी परिवर्तनशील है। हम सभी इस जगत में थोड़े दिनों के मेहमान हैं।

इसलिए इस तथ्य की वास्तविकता को गंभीरता से सोच-समझकर, हम वो कर्म करें जिनसे हमें भीतर में सुख मिले, शांति मिले, आनन्द, मिले एवं हमारे व्यवहार से किसी को भी दुःख न पहुँचे, कष्ट न मिले। हम जब तक जीते हैं, थोड़े-बहुत समय के लिए जीते हैं, पर कुछ लोग खुद भी दुखी होते हैं और दूसरों को भी, संसार को भी, दुखी बनाते हैं। ये कैसा जीवन है

? इससे तो पंछी हमसे अच्छे हैं, हवा में उड़ते हैं, खेलते हैं, उनको कोई चिन्ता नहीं। वो किसी को कोई दुःख नहीं पहुँचाते हैं। हर मनुष्य को रोज़ स्वनिरीक्षण करना चाहिए कि क्या मेरी वाणी से किसी को दुःख तो नहीं पहुँचा ? क्या मैं अकारण ही गुस्से में तो नहीं आ गया ? क्या परिवार के प्रति, समाज के प्रति, ईश्वर के प्रति मेरा जो दायित्व है, मेरे लिए जो सेवा है, उसे मैं पूरा कर रहा हूँ ? यह जीवन हम सब के लिए एक चुनौती है, पर हम सब सोए हुए हैं। सत्संग में होते हुए भी एक दूसरे की ग़लती या ग़लतफ़हमी को क्षमा न करना - हमारा ऐसा व्यवहार सत्संगियों जैसा नहीं है।

यह एक प्रकार की चेतावनी है जिसे हम सबको समझ लेना चाहिए कि ये जो शरीर है, आज है पता नहीं कल दूसरे क्षण में रहेगा या नहीं रहेगा। तो सावधान रहना चाहिए। सावधान रहने का मतलब है कि हमें ईश्वर के प्रति सतर्क रहना चाहिए। ईश्वर के प्रति वो ही सतर्क रह सकता है जिसने अपने आप को शुद्ध, निर्मल और योग्य बना लिया हो। हम दूसरे को बुरा मनायें, दूसरे की निन्दा सुनें और बुराई आँखों से देखें और उपासना के लिए घंटे दो घंटे बैठ जाएँ - ऐसी साधना कोई मायने नहीं रखती। प्रत्येक साधक को एक आदर्श व्यक्ति बनना है। व्यक्ति को पहला जो योगदान देना होगा उसको 'अपने-आपे' का देना होगा अर्थात् उसे अपना आचरण सुधार कर अपने आप को बनाना होगा। तत्पश्चात् उसे अपने परिवार में पूरा योगदान देना है और तब समाज की सेवा में योगदान देना है ।

सभी जानते हैं कि हमको मरना है, इस शरीर को छोड़ना है, परन्तु सब अपने कर्तव्य के प्रति तथा इस आशय के प्रति सोये हुए हैं। यदि कोई जान ले कि कुछ घंटे बाद उसकी मृत्यु होनी है तो कोई पाप नहीं करेगा, कोई बुरी बात नहीं करेगा, कोई कठोर शब्द इस्तेमाल नहीं करेगा, कोई अहंकार प्रदर्शित नहीं करेगा। दीनता का नाम तो संसार में, माफ़ कीजिये, आज सत्संग में भी, खत्म सा होता जा रहा है। यदि हमें ऐसे वातावरण से, ऐसे समाज या घर से भागना नहीं है तो हम सबको गीता के अनुसार विवेक और वैराग्य वृत्ति को अपनाना होगा। परमात्मा ने बुद्धि दी है, विवेक दिया है जिससे निर्णय करें कि कौन सी बात मेरे हक़ में है, संसार के हक़ में है जो मुझे करनी चाहिए और कौन से बात मेरे अहित में या मेरे परिवार और समाज के अहित में है जिसको मुझे छोड़ना चाहिए।

जब विवेक परिपक्व हो जाता है तो वैराग अपने आप उत्पन्न हो जाता है। भगवान् कृष्ण के उपदेश की बात समझने आनी लगती है कि वैराग क्या वस्तु है? वैराग का मतलब यही है कि इस शरीर को तो मरना है ही तो इससे राग क्यों रखें ? इससे ऊपर उठना है यानी संसार की जो इतनी सारी वस्तुएं हैं ये हमारे साथ चलने वाली नहीं हैं, इनसे ज़्यादा मोह नहीं करना चाहिए। वैराग होना चाहिए पर वैराग के लिए करें क्या ? इसके लिए परमात्मा के चरणों में अनुराग पुष्ट करें। विवेक और वैराग सूखा होगा तो मन को दुःख होगा, उसके साथ अनुराग होगा तो मन उधर लगेगा। जो व्यक्ति ईश्वर का ध्यान सच्चे हृदय से करता है उससे कभी बुराई हो ही नहीं सकती। उसकी ज़बान से कटु शब्द कभी निकल ही नहीं सकते।

हम ध्यान से साधना नहीं करते, समझ से साधना नहीं करते। अपना दैनिक व्यवहार सोच समझ कर नहीं करते। पूज्य गुरु महाराज बार-बार यह बतला रहे हैं कि पहले तो यह समझो कि यह शरीर नश्वर है और दूसरा यह कि विवेक और वैराग को जाग्रत करने के लिए परमात्मा के चरणों में हमारा अनुराग निरंतर बना रहे। जिसका परमात्मा के चरणों में अनुराग जलधारा के प्रवाह की तरह निरंतर बना रहता है उसको स्वयं को तो आनन्द मिलेगा ही, वो संसार को भी सुख पहुँचायेगा। वह जानबूझकर कोशिश करे या न करे, वह जहाँ भी बैठेगा सुख और शांति का संचार-प्रसार करेगा, जैसे कि चन्दन की लकड़ी जहाँ भी पड़ी होगी, वहीं से उसकी सुगन्ध चारों ओर फैलेगी। जो ठीक ढंग से प्रभु जी के चरणों में अनुराग-साधन करता है उसे तो कुछ बोलने की भी आवश्यकता नहीं होती।

गुरु महाराज के कहने का मतलब यही है कि हमारी वैराग वृत्ति निरन्तर बढ़ती रहे। हमें कभी न कभी तो जाना ही है। अतएव समय का सदुपयोग करते हुए ईश्वर के चरणों में हर वक्त लिपटे रहें। ईश्वर के चरणों में लिपटने का मतलब है कि हम ईश्वर के गुणों को अपनाएँ। यदि हमने पूजा-पाठ करते हुए ईश्वर का एक भी गुण नहीं अपनाया तो - आप मुझे क्षमा करेंगे - कि हमने कुछ नहीं किया। प्रत्येक जीव परमात्मा का ही अंश है। परमात्मा सर्वव्यापक होता हुआ आपके भीतर में भी है। आप वही हैं जो परमात्मा है। परन्तु अज्ञान-वश, मोह-वश, हम अपने आपको समझते हैं कि हम ये शरीर हैं। नहीं, हम भी वही हैं जो परमात्मा है। हम ज्योति स्वरूप हैं, अपने आपको पहिचानें। शंकराचार्य जी कहते हैं - 'तत्वमसि' (तू तो वही है)। वो

गलत नहीं कह रहे हैं। परन्तु मनुष्य जब से पैदा हुआ है उसमें अज्ञान आ गया है, वह अपने आपको भूल गया है।

इस संसार में रहकर हम जितनी भी साधना करते हैं वो इसलिए करते हैं कि हम अपने आपको पहिचानें। पहचानना यह होगा कि हम हैं तो वही हैं जो परमात्मा है। पर हम भूल रहे हैं, हमारी आँखें बन्द हैं। जब वास्तव में मैं वही हूँ जो परमात्मा है तो मुझसे वही काम होने चाहिए जो काम परमात्मा से हो रहे हैं।

परमात्मा का एक मुख्य गुण है - क्षमा। क्या हमसे स्वतः क्षमा होती है ? क्या हमें उत्तेजना आ जाती है ? परमात्मा का एक और विशेष गुण है - ' प्रेम '। हज़रत ईसा भी कहते हैं ' *love thy neighbour as thyself* ' यानी तुम्हारे अंदर आत्मा है तो दूसरे में भी उसी परमात्मा के दर्शन करो और उसके साथ इस तरह व्यवहार करो जैसे परमात्मा के साथ व्यवहार कर रहे हो। हम तो अपने मित्रों के साथ, सम्बन्धियों के साथ, भी वैसा व्यवहार नहीं करते हैं। इसी तरह एक गुण है - कर्म-व्यवहार का यानि हमारा कर्म किस प्रकार का हो। परमात्मा को जो कर्म-व्यवहार अति प्रिय है वह है - सबकी निस्वार्थ सेवा या निष्काम सेवा।

बाइबिल के अनुसार हज़रत ईसा ने भी कहा है - सबकी सेवा करो। हमारी गीता में भी यही बताया गया है कि जो भी कर्म करो, दूसरे की सेवा में करो, दूसरे की प्रसन्नता के लिए करो। अपनी प्रसन्नता को एक तरफ रखो। परमात्मा का जो चिरन्तन सर्वव्यापी स्वरूप है वो कहीं दूर नहीं है - जहाँ देखो वहीं है , यहाँ भी है। थोड़ा सा शांत मौन में बैठ जाइये। आपको अनुभव हो सकता है कि परमात्मा यहीं है - हमारे भीतर में भी और बाहर भी।

यह कोई अन्धविश्वास नहीं है। हमारे यहाँ तो यही सहज साधन है। हम भजन आदि जितने भी पढ़ते हैं, ये मन की चंचलता को दूर करने के लिए, एकाग्रता लाने के लिए होते हैं, अन्यथा हमारे यहाँ का मुख्य साधन तो यही है कि हम बिलकुल शांत बैठ जाएँ। आपने कहीं भी किसी महापुरुष की फोटो में देखा होगा कि कहीं चंचलता नहीं दिखाई देती अपितु उनकी मुद्रा सहज समाधि की होती है। केवल शांत भाव भाव से बैठे हैं - बैठने का मतलब है कि वो आत्मस्थित हैं - आत्मा और परमात्मा एक हैं। ऐसी मगन अवस्था में, पूज्य गुरु महाराज के

शब्दों में, " कोई आशा नहीं है। न कोई भजन सुनने की आशा है, न कोई शब्द सुनने की या कोई दृश्य देखने की, यहाँ तक कि आनन्द की भी आशा नहीं है।"

इसलिए कोई आशा लेकर न बैठें। यदि आशा लेकर बैठे तो मन तो क्रियाशील रहेगा ही। मन को तो क्रियाशून्य होकर बैठना है। न शरीर में कोई क्रिया हो, न मन में कोई क्रिया हो, न बुद्धि में कोई तर्क -वितर्क - यह है मौन का साधन और यह सहज स्वभाव है। जब मौन का साधन परिपक्व हो जाता है तो आप में और ईश्वर में कोई अन्तर नहीं रह जाता। सभी महापुरुषों ने स्थिरता को महत्त्व दिया है। मैंने एक महापुरुष की वाणी टेप पर सुनी जिसमें वह बता रहे थे कि मौन में क्या होता है ? उन्होंने एक बड़े सुन्दर उर्दू के शब्द का प्रयोग किया - 'महक', कि जब महापुरुष ऐसी स्थिति में बैठते हैं तो उनके शरीर से ' महक ' (सुगन्धि) निकलती है। वो ही 'नाम' है। लोग- बाग 'नाम' की परिभाषा पूछते हैं, व्याख्या पूछते हैं कि नाम क्या है ? परमात्मा को ही ' नाम ' कहते हैं। ' नाम' परमात्मा का ही रूप है। परमात्मा तो अरूपा है, सब रूपों में रहता हुआ भी वो अरूपा है। उसकी निशानी यही है कि जितना हम उसके समीप होंगे उतनी ही हमें उनसे प्रसादी मिलती है। हमारी सनातन संस्कृति में जो शब्द इस्तेमाल किया गया है, जो गुरुवाणी में भी इस्तेमाल किया गया है, वो है - 'प्रसाद' - 'एक ओंकार' - ओम' या 'ओंकार'। सभी शास्त्रों में है। गुरु नानक ने साथ में 'एक' लगा दिया है, यानि वो जो ओंकार है वह एक है, और उसकी निशानी है - प्रसादी, grace , महक , सुगन्धि ।

लोग-बाग यह खयाल करते हैं कि प्रभु किसी अवतार आदि के पुराने रूप में आकर मुझे दर्शन देंगे। यह भी ठीक है, वो लोग भी अच्छे हैं, वो आपको प्रेरणा देते हैं आगे बढ़ने की। परन्तु उस परमेश्वर के वो अंतिम दर्शन नहीं हैं। गुरु महाराज के शब्दों में (उनके लिखे हुए नोट हैं मेरे पास, वही मैं दोहरा हूँ)। वे लोग भी ठीक हैं, जितने और रास्ते हैं वो ग़लत नहीं हैं, परन्तु वो मन के साधन हैं। जब मन रहेगा ही नहीं तो साधन कहाँ होगा ? साधन करने का विचार कहाँ से उत्पन्न होगा, ज़रूरत काहे की होगी ? हाँ, जब तक मन है तब तक किसी न किसी को आधार बनाकर चलना चाहिए नहीं तो यह मन और बिगड़ जायेगा।

पूज्य गुरु महाराज के ही उपदेश हैं कि जब मन शांत हो जाता है तो फिर क्या पकड़ना है ? न प्रकाश पकड़ना है, न शब्द पकड़ना - यहाँ तक कि गुरु को भी नहीं पकड़ना है। मगर जब तक मन मौजूद है, प्रकाश को, शब्द को उन्होंने बहुत महत्व दिया है। परन्तु वह भी अंतिम साधन नहीं है हमारा । हमारा अंतिम साधन यह है कि साधना करने वाला रहे ही नहीं । केवल परमात्मा ही परमात्मा हो। हम तो अपने आप को खत्म कर देते हैं। फिर ईश्वर की लीला है। उसे जिससे काम लेना होता है उसको मनुष्य चोला धारण करने की आज्ञा दे देते हैं। जैसे कि संसार भर में समय-समय पर प्रकट हुए, विविध रूपों में आये हुए महापुरुष, पीर-पैगम्बर, संत-महर्षि, धर्म-प्रवर्तक, पंथ-प्रदर्शक, आदि ।

मेरा आपसे निवेदन यही है कि विवेक को कभी नहीं छोड़ें। हम इन्सान क्या हैं यदि हमारे भीतर में विवेक नहीं है। साधना का प्रारम्भ ही विवेक से होता है। चाहे जितनी ही पुस्तकें पढ़ लें, कितने ही साधन कर लें, चाहे सुबह से शाम तक साधना में बैठे रहें, यदि हम विवेक का मूल्य नहीं पहिचानते तो सब बेकार है। क्योंकि विवेक से ही हमें इस मायावी संसार से, इसके अगणित आकर्षणों और प्रलोभनों से, वैराग होगा। इधर से वैराग होने के साथ उधर परमात्मा से अनुराग बढ़ता जायेगा, और इसी अलौकिक, दिव्य प्रेम की पराकाष्ठा और परिणति में हमें प्रभु-प्राप्ति का परमानन्द प्राप्त हो सकेगा।

साराँश यही है कि हमें समझना चाहिए कि हम तो नश्वर जीव हैं। अतएव हम हरदम अपने ऊपर चौकीदारी करें कि पता नहीं दो क्षणों के बाद क्या होना है, उसके लिए सदा अपनी तैयारी करें। इसलिए जल्दी से जल्दी विवेक जैसी दुर्लभ शक्ति का अर्थ, सामर्थ्य और महत्व जानकर इस ईश्वरीय वरदान -स्वरूप शक्ति का सदुपयोग करके अपने मानव जीवन को धन्य करें।

गुरु महाराज सबका कल्याण करें ।

000000000000

राम सन्देश : जुलाई , 1995

महापुरुषों ने जो ईश्वरीय गुण अपनाये उनमें क्षमा,

प्रेम और सेवा प्रमुख हैं

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

मनुष्य सदा से ही मोह-माया में फँसा रहता है। उसको यह भास नहीं कि वह तो आत्मा है जो परमात्मा का अंश है। वह भूला-भटका हुआ सन्सार में मनमानी करता है। आप भी दुखी होता है औरों को भी दुखी करता है। परन्तु ईश्वर कृपा करके समय-समय पर भिन्न-भिन्न रूपों में सन्सार में आते हैं, अवतार लेते हैं तथा सोये हुए व्यक्तियों को पुनः जाग्रत करने का प्रयास करते हैं।

सन्सार भर में हज़रत ईसा का जन्म-दिन प्रति वर्ष 25 दिसंबर को ईसाइयों द्वारा बड़े उल्लास के साथ मनाया जाता है। भगवान चाहे वो ईसा के रूप में प्रगट हों, चाहे वो राम या कृष्णा के रूप में, चाहे वो अन्य महापुरुषों के रूप में प्रगट हों - हर स्वरूप में हैं तो वही। हमें उनके किसी विशेष नाम से राग-द्वेष नहीं होना चाहिए। सभी महापुरुष हमारे हैं। परमात्मा हमारा है तो सभी महापुरुष भी हमारे हैं।

महात्मा गांधी को जो भजन प्रिय थे उनमें एक था कि - 'वैष्णव कौन है ?

वैष्णव जन तो तेने कहिये , जे पीड़ पराई जाणे रे ।

पर दुखे उपकार करे तो ये, मन अभिमान न आणे रे, ॥

॥ वैष्णव जन तो तेने कहिये ॥

यह भजन उनके आश्रम में रोज़ गाया जाता था। बड़ा सुन्दर भजन है। हम सबको प्रेरणा देता है। हम पढ़ लेते हैं परन्तु हम पर कोई असर नहीं होता। वैष्णव वही है जो दूसरे की पीड़ा पहचाने और उसके दुःख की निवृत्ति करे। सभी महापुरुषों ने व्यक्तियों के धर्म के अनुसार धर्म के गुण बताये हैं। परन्तु मनुष्य बहुत ही चतुर है, उसका धर्म मनमानी करना हो गया है। इस

अधर्म को दूर करने के लिए ही हज़रत ईसा ने जन्म लिया। इनके बाल रूप की पूजा होती है। माँ की गोद में शिशु ईसा बैठे हैं, माँ मरियम का स्नेह ले रहे हैं। इस रूप की पूजा क्यों होती है ? क्योंकि इसमें वात्सल्य, स्नेह और आत्मीयता है, सरलता और दीनता है। प्रभु को भी ये ही गुण प्रिय हैं।

हम ईश्वर के पास पहुँचने के लिए बड़ी बुद्धिमानी से कोशिश करते हैं किन्तु हम पहुँच नहीं पाते, हमारी चतुराई हमें ईश्वर के पास नहीं ले जायेगी। हम सबको शिशुवत बनना होगा। हज़रत ईसा अपनी सरलता से सबमें भगवान के दर्शन करते हैं। उनके लिए कोई शत्रु है ही नहीं कहते हैं - " *love thy neighbour as thyself* " अर्थात् अपने पड़ोसी को - यहाँ तक कि अपने शत्रु को भी - इस प्रकार प्रेम करो जैसा आप अपने आप को करते हो या चाहते हो कि दूसरा आप से करे।

हज़रत ईसा मसीह को जब फांसी पर चढ़ाया गया तो लोग उनकी स्थिति को देखकर व्याकुल हो रहे थे, मूर्छित हो रहे थे और ज़ालिमों से बदला लेना चाहते थे। लोगों ने तलवारें निकाल लीं। हज़रत ईसा कहते हैं ' अपनी तलवारों को म्यान में रख लो। यदि आप मुझसे प्यार करते हो तो मेरा कहा मानो। मैं आपको आदेश नहीं दे रहा हूँ, मैं प्रेम के नाते आपसे निवेदन करता हूँ कि हिंसा या प्रतिशोध न करो। " वह स्वयं प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि - " हे प्रभु इनको क्षमा करो/ ये जो मेरे साथ जुल्म या दुर्व्यवहार कर रहे हैं इसमें इनका दोष नहीं है - ये नहीं जानते कि यह क्या और क्यों कर रहे हैं/ " फांसी पर चढ़े हुए हैं, गले में रस्सी पड़ी हुई है, दो-चार क्षण के मेहमान हैं, तो भी प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि - O *Lord ! Forgive them, Forgive them!*(हे प्रभु ! इनको क्षमा करदो, क्षमा कर दो!)

हम तो अपने नज़दीकी, अपने समीप के सम्बन्धियों को भी क्षमा नहीं कर पाते। इनको क्षमा करने की बात किसको समझ आएगी। उसको जिसके हृदय में करुणा उत्पन्न हो चुकी हो, दीनता हो, सरलता हो, ईश्वर की समीपता जैसे गुण हों। हम कितनी भी साधना कर लें - आठ-आठ घंटे साधना कर लें - यदि हममें ये गुण नहीं आयेंगे, हमारा अधिकार नहीं बनेगा। हम अपने प्रीतम के चरणों तक नहीं पहुँच पायेंगे। भगवान कृष्ण का मुख्य गुण और हम सब के लिए जो आदेश है वो भी यही है - प्रेम करो, प्रेम करो, प्रेम करो। फरीद जी भी

यही कहते हैं कि क्षमा करके प्रेम करो। जो तुम्हें सताये तुम उसके घर जाकर उसके पाँव चूमो। हम ऐसा नहीं कह सकते, ऐसा नहीं कर सकते। ऐसा तो महापुरुष ही कह सकते हैं कि क्षमा करके प्रेम करो। पहले क्षमा, फिर प्रेम, फिर सेवा।

भगवान् कृष्ण के कर्मयोग में कर्म, अकर्म और विकर्म - ये तीन प्रकार के कर्म भी यही बता रहे हैं। हम गीता पढ़ते हैं पर उसका भाव हमारे अन्दर नहीं उतरता, हमारे व्यवहार में नहीं आता। हमारे अपने मन में जो विचार उठते रहते हैं उनमें वो भाव उतरता ही नहीं। हम कहने को तो अच्छे-अच्छे वस्त्र पहन लेते हैं, मधुर वाणी भी बोल लेते हैं परन्तु हमारे भीतर में अभी वो गुण नहीं हैं जिनसे भगवान के चरणों में पहुँचने का हमारा अधिकार बने।

कहते हैं कि ईसा का दूसरा जन्म जेरुशलम में हुआ। वहाँ इनके नौ मित्रों में से एक मित्र जॉन(John) ने इन्हें धोखा दिया जिसके कारण इन्हें फाँसी पर चढ़ना पड़ा। 13-14 वर्ष बाद जॉन भगवान (ईसा) को देखकर बड़ा लज्जित हुआ और डरा। भगवान कहने लगे - जॉन, भयभीत न हो। तुम तो मेरे मित्र थे, तुम क्यों भयभीत हो। उन्होंने उसका आलिंगन किया और उसका उद्धार किया। अपने को तो सभी माफ कर देते हैं परन्तु जो हमें कष्ट दे, हमें दुःख दे, जो हमारा कथित शत्रु हो - उसको हम स्वतः ही क्षमा कर दें। हमारा स्वभाव ही ऐसा हो जाए कि हमें प्रयास न करना पड़े, सोचना भी न पड़े कि मैं इसे क्षमा करूँ या न करूँ। हज़रत ईसा का स्वभाव है - सहज स्थिति जिसे अंग्रेजी में "second nature" कहते हैं। उनकी क्षमा का प्रवाह गंगनीर की तरह बह रहा है। सबको क्षमा, सबको क्षमा, सबसे प्रेम सबकी सेवा। इनमें जो मुख्य गुण था वो था सरलता। राग-द्वेष नहीं था। राग से भी सरलता नहीं आती और द्वेष से भी सरलता नहीं आती। कोरे प्रेम से और किसी के प्रति बुरी भावना न रखने से भी सरलता नहीं आती। सरलता एक महान गुण है, संतों की आत्मा का, परमात्मा का गुण है।

ईसा मसीह में सरलता के साथ-साथ शिशुवत भोलापन (innocence) था। अतीत की न कोई स्मृति, न ही भविष्य की कोई चिंता। आत्मरूपी सूर्य प्रकाशित हो रहा था, सबको ज्ञान दे रहे थे। परमेश्वर में ऐसा दृढ़ विश्वास था कि हमारी जितनी भी आवश्यकताएँ हैं उनके लिए हमें काहे की चिंता करनी है। बाप चिंता करता है बेटे की। बेटे को बाप के रहते हुए चिंता

करने की क्या ज़रूरत है ? जब-जब हमें किसी वस्तु की आवश्यकता होती है, हमें वो वस्तु मिल ही जाती है।

अपने अनुयायियों से वो कहते थे कि वे अपने सच्चे बाप ईश्वर में विश्वास क्यों नहीं करते ? ईश्वर तो भूलता नहीं है। नवजात शिशु क्या माँ से कुछ मांगता है ? वह कहते हैं - *I and my Father are one I am His son* " (मैं और मेरे पिता एक हैं, मैं उसका पुत्र हूँ) हम सबको पुत्र बनना है परन्तु हम अपने व्यवहार से बाप बनते हैं। बड़े ही चतुर बनते हैं हम। हमारी वाणी चतुराई से, हमारा व्यवहार होशियारी से भरा पड़ा है। हम स्वयं को बुद्धिजीवी कहते हैं। चाहिए तो यह कि हम सरल बनें। माँ की गोद में जाने के लिए बच्चे में जो गुण होते हैं, उन गुणों के प्रति अपने मन में लगन पैदा करें। किसी का शोषण न हो, सत्यतापूर्ण विनीतभाव से हमेशा प्रभु के चरणों में अपने मन को जोड़े रखें, जैसा कि हज़रत ईसा ने अपने आपको न्योछावर कर दिया। हज़रत ईसा बनना है तो उनके जैसे गुण सीखो। किसी का शोषण मत करो, मधुर व्यवहार हो, मिठास और सबसे आत्मीयता हो। हम सब भगवान् राम क , भगवान् कृष्ण के प्रतीक हैं। परन्तु हम सच्चे प्रतीक तभी कहला सकते हैं जब हम परमात्मा के गुणों को अंगीकार करें। नहीं तो हम भी राक्षस कहलायेंगे। रावण को ब्राह्मण होते हुए भी संसार ने उसे राक्षस कहा, पर क्यों ? इसलिए क्योंकि ब्राह्मण होते हुए भी, वेदों का ज्ञान होते हुए भी, उसने इन गुणों के विपरीत अपना जीवन व्यतीत किया। अनाचार और दुराचार किया। इसलिए लोगों ने उसे राक्षस कहा। देखा जाय तो हम सब राक्षस हैं। जो व्यक्ति ईश्वर के गुणों को नहीं अपनाता है वो भले ही अपने देह की सजावट करे परन्तु वास्तव में तो वह राक्षस है। ईशावास्योपनिषद में तो स्पष्ट लिखा है - पहले दो श्लोकों में सारी ब्रह्म विद्या सूत्र रूप में बता दी है। परमात्मा सर्वत्र है और प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वो आत्मा का साक्षात्कार करे और जो उसकी वास्तविकता है (यानी मैं और मेरे पिता एक हैं) उसका साक्षात्कार करे।

भगवान् कृष्ण ने गीता में ज्ञान और भक्ति की साधना बताई है। पर जो लोग ज्ञान-भक्ति की साधना नहीं करते उनको कर्मयोग का साधन विस्तार से बताया है कि हमें कैसे कर्म करने चाहिए। हम ऐसे कर्म करें कि जिससे हम जन्म-मरण के चक्कर में न पड़ें। हम सूर्य कि तरह प्रकाश तो दें, सेवा तो करें, किन्तु कर्म का फल हमको नहीं लगे, भगवान ने इसकी कला हमको बताई है कि संसार में तो रहें परन्तु किसी भी कर्म की छाप हमारे चित्त पर

न पड़े जिससे हमारा दूसरा जन्म हो। उसी उपनिषद के तीसरे श्लोक में लिखा है कि यदि इन दो रास्तों में से कोई भी रास्ता व्यक्ति नहीं अपनाता तो वह व्यक्ति राक्षस है।

हम मनन करें कि हमको कौन सा रास्ता अपनाना है - ज्ञान और भक्ति का या कर्म का। शास्त्रानुसार हम कर्म करते हैं या शास्त्रों के अनुसार हमको ज्ञान साधना करनी है। यदि नहीं की तो हम क्या कहलायेंगे। स्वनिरीक्षण करके आप अपने आप को टटोलें कि हम किस श्रेणी में आते हैं।

जन्म भले ही ब्राह्मण के घर में हो किन्तु वास्तव में वह ब्राह्मण नहीं यदि वह ब्राह्मण के गुण नहीं अपनाता। इसी प्रकार से जन्म क्षत्रिय या वैश्य के घर हो पर यदि वह व्यक्ति क्षत्रिय या वैश्य के गुण नहीं अपनाता तो वह क्षत्रिय या वैश्य नहीं। शूद्र वह नहीं जो किसी शूद्र के घर में पैदा हो गया , शूद्र कर्मों से होता है। मनु महाराज ने कर्मों के आधार पर बटवारा किया है परन्तु यह ऐसा क्रम बन गया है कि ब्राह्मण के घर में चाहे चोर ही पैदा हो जाय वह ब्राह्मण ही कहलायेगा। क्षत्रिय के घर कोई नपुंसक पैदा हो जाय तो वह क्षत्रिय कहलाता है। वैश्य के घर में कोई शोषण करने वाला पैदा हो जाय तो वह वैश्य ही कहलाता है और शूद्र के घर में कोई बड़ा अफसर बन जाए तो भी वह शूद्र ही कहलाता मनु है। महाराज की वर्ण-व्यवस्था में या अन्य शास्त्रों के अंतर्गत यह भावना नहीं थी। ऐसी भावना होती तो ये जो तीन अध्याय गीता में लिखे गए हैं कर्मों पर, वो किसी और ढंग से लिखते। अर्जुन को प्रेरणा दी है कि तू क्षत्रिय है, तेरा धर्म क्या है ? सोच और उसके अनुसार कर्म कर।

साराँश यह है कि महापुरुष आते हैं और प्रभुकृपा से आते रहेंगे। परन्तु हम उनके जन्म दिन मनाते हैं केवल ऊपरी दिखावे के साथ - रीति रिवाज़ के तौर पर। ऐसे दिन सभी देशों और सभी कौमों के लोग मनाते हैं। परन्तु क्या लाभ है ऐसे दिन मनाने का यदि हम उन महापुरुषों के गुणों का स्मरण करके उन गुणों को स्वयं अपने जीवन में नहीं उतारते ? भगवान के मुख्य गुण हैं - क्षमा , प्रेम और सेवा। प्रत्येक व्यक्ति सच्चा ईसाई, सच्चा सिख या मुसलमान बन सकता है या सच्चा आर्य बन सकता है - जब वह इन महापुरुषों द्वारा चरितार्थ किये गए ईश्वरीय गुणों को अपनाएगा ।

गुरुदेव सबको शक्ति दें - सब का कल्याण करें।

राम सन्देश : दिसंबर ,1994

वैष्णव जन तो तेने कहिये , जे पीड़ पराई जाणे रे ।

पर दुखे उपकार करे तो ये, मन अभिमान न आणे रे, ॥

॥ वैष्णव जन तो तेने कहिये ॥

सकल लोकमा सहुमें वन्दे, निंदा न करे केनी रे ।

वाच काछ मन निश्छल राखे, धन धन जननी तेनी रे ॥

॥ वैष्णव जन तो तेने कहिये ॥

समदृष्टि ने तृष्णा त्यागी, परस्त्री जेने मात रे ।

जिहवा थकी असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे ॥

॥ वैष्णव जन तो तेने कहिये ॥

मोह माया व्यापे नहीं जेने, दृढ वैराग्य जेना मनमां रे ।

राम नाम शुं ताली रे लागी, सकल तीरथ तेना तनमां रे ॥

॥ वैष्णव जन तो तेने कहिये ॥

वण लोभी ने कपट रहित छे, काम क्रोध निवार्या रे ।

भणे नरसैयो तेनु दरसन करता कुल एकोतेर तार्या रे ॥

॥ वैष्णव जन तो तेने कहिये ॥

वैष्णव जन तो तेने कहिये , जे पीड़ पराई जाणे रे ।

पर दुखे उपकार करे तो ये, मन अभिमान न आणे रे, ॥

लेखक: नरसी मेहता / नर्सी मेहता / नर्सी भगत लेखक नरसी मेहता

राम संदेश : जनवरी , 1985

मृत्यु का डर और मोक्ष

(ब्रह्मलीन परमसंत डॉ०करतारसिंह जी महाराज)

संत - जनों का कहना है कि कोई क्षण भी ईश्वर की याद से गाफिल न रहो। दुनियाँ के काम करते हुए भी उसका स्मरण निरन्तर करते रहो। परन्तु यह असम्भव सा प्रतीत होता है क्योंकि सँसार में व्यवहार करते समय ध्यान ईश्वर की तरफ़ से हट कर अनायास ही साँसारिक बातों में चला जाता है और उसी में विलीन हो जाता है, ईश्वर की तरफ़ तो मुड़ता ही नहीं ।

मन को या अपनी विचारधारा को बिना ईश्वर की तरफ़ मोड़े परमार्थ का रास्ता चलना बहुत कठिन है । गुरुदेव (महात्मा श्रीकृष्ण लाल जी महाराज) कहा करते थे कि अगर ईश्वर की याद कायम नहीं रहती है तो मौत को हमेशा सामने रखो कि न जाने किस बक्त आ जाय। यह एक ऐसा साधन है कि मौत के डर से ईश्वर का ख्याल आता ही है। निरन्तर मौत का ख्याल सामने रखने से भी ईश्वर के चिन्तन में बड़ी सहायता मिलती है। एक दिन मैं अपने एक डॉक्टर मित्र से हॉस्पिटल का ई।सी।जी। कराने गया और बातों -बातों में मैंने उनसे कहा कि डॉक्टर साहब ! मुझे मरने से डर नहीं लगता है और न मुझे इस बात की चिन्ता है कि मेरी मृत्यु हो जायेगी क्योंकि यह ईश्वर का नियम है कि जो आया है वह जायेगा ज़रूर। उन्होंने उत्तर दिया कि डॉक्टर साहब ! मौत का इतना डर नहीं होता जितना मरने से पहले होने वाले शारीरिक कष्ट का डर होता है। उनकी बात ठीक थी। शारीरिक कष्ट का अनुभव तभी होता है जब हमारी सुरत या (attention) शरीर की तरफ़ होती है। मृत्यु के समय कष्ट न हो ऐसा तो हो ही नहीं सकता जब तक कि जिस रास्ते होकर आत्मा शरीर को छोड़ती है (जान निकलती है) उस रास्ते चलने का पहले से ही अभ्यास न हो। इसका सरल रास्ता संतों ने ही बताया है और उसी को 'सुरत- शब्द- योग' कहते हैं। इसका साधारण भाषा में अभिप्राय है कि आत्मा की धार ईश्वर के चरणों में से उतर कर मनुष्य के ब्रह्म - रंध्र (Madulla Oblongata) में उतरी और वहाँ से शरीर में भिन्न - भिन्न स्थानों पर चक्र (nervous centres) बनाती हुई

पैरों तक फैल गई। उसी से यह शरीर जीवित और संचालित है। जब मनुष्य की मौत होती है तो आत्मा की यही धार नीचे से खिंच कर ऊपर की ओर वापस जाती है और शरीर से बाहर निकल जाने की कोशिश करती है।

साधारण व्यक्ति सुरत -शब्द -योग का अभ्यास नहीं जानते इसलिए आत्मा की वापसी में मौत के वक्त उन्हें बहुत कष्ट होता है। जो सत्संगी हैं और सुरत -शब्द -योग का अभ्यास कर रहे हैं यानी आत्मा की उलट धार कर रहे हैं और जिसने जितने चक्र पार कर लिए हैं उसको मृत्यु के समय उतना ही शारीरिक कष्ट कम अनुभव होता है। संत -जन जो उलट धार कर चुके हैं और नित्य उस रास्ते सब चक्रों में से होकर अपनी सुरत को चढ़ाते हुए ऊपर के स्थान पर (सचखंड में) बैठक बना ली है, जहाँ से आदि में आत्मा शरीर में उतरी, उन्हें मृत्यु के समय कोई कष्ट नहीं होता, प्रसन्नता से जाते हैं। इसलिए यदि मृत्यु के पहले होने वाले कष्ट से बचना है और आसानी से दुनियाँ से निकल कर अपनी आत्मा को उसके मूल परमात्मा में मिलाना है तो सुरत -शब्द -योग का अभ्यास करना चाहिये।

यह अभ्यास अति सरल और सुगम है। इसे करने के लिए कोई बन्धन नहीं हैं, कोई भी व्यक्ति कर सकता है। सब समय में, सब परिस्थितियों में इस अभ्यास को किया जा सकता है। इसकी एक मूल बात यह है कि सुरत -शब्द -योग को जानने वाला वक्त का पूरा सदगुरु होना चाहिये जिसकी शरण में जाकर उसमें प्रीति लगा कर सम्पूर्ण श्रद्धा के साथ उससे इस अभ्यास की विधि सीखें। उसके वचनों पर हित - चित्त लगायें और उसके उपदेशों का पूरा - पूरा पालन करें। अपने मन को बीच में न लाये यानी मन - मत न बन कर उसके मत में चले। गुरु के बताए मार्ग पर चलता चला जाये रुक कर बैठे नहीं। बाधाएँ आती हैं, माया रुकावटें पैदा करती है लेकिन एक गुरु का आश्रय ही उनसे निकाल कर अपने लक्ष्य तक पहुँचा देता है और ईश्वर से मिला देता है। मरते समय शरीर में कष्ट भले ही हो लेकिन उसे इसका अनुभव नहीं होता क्योंकि उसकी सुरत परमात्मा में लगी होती है। वह प्रसन्नता के साथ जाता है, मोक्ष-पुरुषों की आत्मायें उसे लेने आती हैं और वह जीवन -मरण के चक्र से छूट जाता है।

गुरुदेव सबका कल्याण करें ।

मेरे देवता मुझको देना सहारा , कहीं छूट जाये न दामन तुम्हारा

(ब्रह्मलीन परमसंत डॉ० करतार सिंह जी महाराज)

परमात्मा के रास्ते में जो लोग चलते हैं उनके सामने अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। उन्हें चाहिये कि वे उन कठिनाइयों को दूर कर लें और माया द्वारा ली जा रही परीक्षाओं में उत्तीर्ण हों, क्योंकि हम यदि इन परीक्षाओं में फ़ेल हो जाते हैं तो हम ईश्वर से दूर हो जाते हैं। यह परीक्षा सबकी होती है। कोई भी व्यक्ति हो , परीक्षा के समय उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। उस वक्त सूझ -बुझ रहती ही नहीं। खास कर क्रोध में, अहंकार में, इच्छाओं की पूर्ति में, आशाओं में, लालच में, मनुष्य अपने भीतर का सन्तुलन खो बैठता है। गीता में भगवान कहते हैं कि जब बुद्धि का विनाश हो जाता है तो सब कुछ विनाश हो जाता है, कुछ शेष रहता ही नहीं। परमार्थ, बुद्धि, विवेक, वैराग सब खतम हो जाते हैं। मनुष्य की हालत पशु समान हो जाती है।

इन्सान को साधना के रास्ते पर चलते हुए कभी भी अभिमानी नहीं बनना चाहिये। कई लोगों को अपनी साधना का बड़ा अभिमान होता है। " मैं दो घंटे बैठकर अभ्यास करता हूँ " - ऐसा सोचते हैं। इसका कुछ मतलब नहीं। यदि दीनता नहीं आई है तो छह -छह घण्टे साधना करने का भी कुछ लाभ नहीं है। लाभ का यह मतलब नहीं कि अभ्यास का फल नहीं होगा। फल तो होता ही है परन्तु जितने ऊँचेपन की आप बात कर रहे हैं, वह फल नहीं होता। हमारे एक पुराने सत्संगी हैं। बहुत सरल तबियत के हैं। प्रोफेसर थे कॉलेज में। जिस दिन लड़के घर से काम करके नहीं लाते थे और उनसे वह पूँछते थे कि आज काम करके क्यों नहीं लाये, तो जैसी लड़कों की आदत होती है, वे झूठ बोल देते थे। तो वो कहते थे कि इस पाप की सज़ा मुझे मिलनी चाहिये, क्योंकि मेरे कारण तुमने यह काम नहीं किया है। वो अपने कान पकड़ कर उठक -बैठक करने लग जाते थे। सज़ा अपने ऊपर ले लेते थे। यह है सरलता, यह है दीनता।

हमें प्रतिक्षण अज्ञान से, मोह और अहंकार से जागरूक रहना चाहिये और ईश्वर से प्रार्थना करते रहना चाहिये क्योंकि इन शत्रुओं से केवल ईश्वर ही हमारी रक्षा कर सकते हैं। अपनी विद्या, धन -दौलत या किसी अन्य वस्तुओं पर कोई भरोसा नहीं करना चाहिए। ईश्वर

की शरणागति होनी चाहिये। प्रतिक्षण ईश्वर से प्रार्थना करते रहना चाहिये कि हे प्रभु ! मेरे में बल नहीं है, शक्ति नहीं है। यदि आप मेरी रक्षा नहीं करेंगे तो मेरी सम्भाल करने वाला कोई नहीं है।

अहंकार से प्रभु नहीं मिलते/ चाहें कोई भी साधन करिये, दीनता को तो अपना ही होगा/ और कुछ नहीं केवल - " तू ही तू है।" हिरण्यकश्यप को किसने मारा ? उसके अहंकार ने। प्रहलाद को किसने बचाया ? उसकी दीनता ने। किसी भी महापुरुष की सेवा में जायें, खाली हाथ नहीं जाना चाहिए। चाहे एक फूल या तुलसी का पत्ता ही लेकर जायें। उसके साथ आपको अपने मन की भावनाओं को अर्पण करना है। हम लोग तर्क करते हैं कि ईश्वर को किस चीज़ की ज़रूरत है कि हम उसके लिये प्रसाद लेकर जायें। ईश्वर को या गुरु को प्रसाद की ज़रूरत नहीं है। आप लाते हैं, वो बाँट दिया जाता है। परन्तु इस प्रसाद के साथ आपका जो भाव है वो आप अर्पण करते हैं और वही भाव आपको बनाता है। यदि आप प्रसाद श्रद्धा से, प्रेम से, दीनता से लाते हैं तो वो दीन भाव, श्रद्धा और प्रेम भाव बनाता है, उसका बदला आपको आशीर्वाद से मिलता है। दीनता कोई वस्तु नहीं, वह भीतर का भाव है। जैसे ही दीनता का भाव अपने अन्दर बन गया, ईश्वर कहाँ दूर है ? वो तो आपके पास है। जहाँ आप हैं, वहीं उसके दर्शन होंगे, कहीं दूसरी जगह जाने की ज़रूरत नहीं है। दीनता अपनाइये ।

हमें माया से बच कर रहना चाहिये। ईश्वर से प्रार्थना करते रहना चाहिये। कभी अपने ऊपर भरोसा नहीं करना चाहिये। ग़लती न होना असम्भव सी बात है। अँग्रेज़ी की एक कहावत है - " *to err is human* " (ग़लती करना मनुष्य का स्वभाव है) परन्तु ग़लती करके उसके लिए पश्चाताप करना, ईश्वर से क्षमा माँग लेना, आगे के लिये तौबा करना, यह हमारी साधना है। इस रास्ते पर आज तक कोई ऐसा नहीं हुए जो गिरा न हो। हम भी गिरेंगे। परन्तु हमें प्रेरणा भी मिलती है कि यदि हम हृदय से, सत्यता से, प्रभु से क्षमा माँगेगे और पश्चाताप करेंगे और आगे के लिए संकल्प करेंगे और कोशिश करेंगे कि ग़लतियाँ न हों, तो प्रभु क्षमा कर देते हैं। कैसे पता लगे कि क्षमा मिल गयी ? आपके भीतर में उस ग़लती का संस्कार नहीं बनेगा। वो संस्कार आपकी वृत्ति में विकसित नहीं होगा। उसकी स्मृति आपके हृदय में नहीं रहेगी ।

प्रार्थना से हमें प्रभु की कृपा प्रसादी मिलती है जो हमारा मार्गदर्शन करती रहती है/ हृदय की गहराई से प्रार्थना करें कि हे प्रभु ! हमारी रक्षा करो/ ये रास्ता बड़ा कठिन है/ हमें ईश्वर से, गुरु से उसकी कृपा के लिए दीनता पूर्वक प्रार्थना करते रहना चाहिये / इससे हमारा रास्ता सरल हो जाता है/

गुरुदेव आप सबका भला करें ।

0000000000



मनुष्य मात्र के लिए उस ईश्वर को पुकारना ही काफी है .सच्चे मन और प्रेम - भाव से ईश्वर का नाम लेना ही सब कुछ है . दीन बन कर उस परमपिता परमात्मा को पुकारने से क्या कुछ नहीं हो सकत . आप प्रेम और भक्ति भाव से अपने परमपिता को पुकार कर देखिए , सब कुछ उस पर छोड़ दीजिये. दुःख में , सुःख में उसका दामन न छोड़िये . दुःख -सुःख सब हमारे संस्कारों का खेल हैं .जब मनुष्य अनन्यभाव से परमदयालु परमात्मा की पुकार करता है , तब वह तुरन्त ही दौड़ा हुआ आकर उसका योगक्षेम संभालता है - सिर्फ पुकार करना ही मनुष्य का काम है .

-- स्वामी राम कृष्ण परमहंस



मौन की साधना आवश्यक है

(ब्रह्मलीन परमसंत डॉ०करतारसिंह जी महाराज)

एक नया जिज्ञासु जो अभी सत्संग में आया है उसको अपनी सम्भाल करनी है, खुला नहीं छोड़ना है। खुला छोड़ने का मतलब यह है कि एक तो वो मनमानी करते हैं, जो मन में आया वही करते है , उनका अपने पर कोई नियंत्रण नहीं होता, अपनी इंद्रियों पर, अपनी बुद्धि के तर्क पर उनका कोई काबू नहीं होता और वो उनको वश में लाने का प्रयास भी नहीं करते। दूसरे, संसार में तरह - तरह के प्रलोभन व उत्तेजनाएँ मिलती हैं, कई प्रकार के आकर्षण मिलते हैं तो अपने गुरु का दामन अथवा आश्रय छोड़कर उनमें फंस जाते हैं, और न तो घर के रहते हैं और न घाट के, न उनकी दुनियाँ बनती है, और न दीन बनता है।

इसलिए हम सबको सतर्क रहना चाहिये। एक प्रकार से किले में रहना चाहिए अर्थात् कोई सुरक्षित स्थान बना लेना चाहिये, और वह सुरक्षित स्थान है अपने गुरु के, अपने प्रीतम के चरण, जिसका आश्रय पकड़ना चाहिये। आश्रय पकड़ने का तात्पर्य यह है कि जो बात वो कहें, उसका पालन करना चाहिये। इसका मतलब यह नहीं कि शास्त्र या अन्य महापुरुष जो कहते हैं उसे हम बुरा - भला कहें देखें कि उनकी या शास्त्रों की बातें गुरु के आदेशों से मिलती हैं या नहीं। यदि मिलती हैं तो उनको मानें अन्यथा प्राथमिकता अपने गुरु को ही दें।

इसी प्रकार हमें भी जो नियम या आदेश हमारे गुरु ने बताए हैं उनसे बाहर नहीं जाना चाहिये। बुद्धि कहती है इसमें हर्ज ही क्या है ? इस सत्संग में भी जाओ, दूसरे सत्संग में भी जाओ। वो भी तो एक सत्संग है। परमात्मा का नाम ही तो लेते है , दोनों जगह पर। परन्तु इसमें दुविधा आ जाती है। हम सूक्ष्म साधन करते हैं, दूसरा कीर्तन करता है, स्थूल वाह्य साधन करता है। मन कहता है यह ऊँचा है, यह साधन अच्छा है, इसमें सुर -ताल का रस भी रहता है। उस मौन साधन में क्या रखा है ? बस गया काम से। गुरु ने स्थूलता से खींच कर आपको सूक्ष्मता की तरफ़ यांनी परमात्मा की तरफ़ ले आने का प्रयास किया। आप उनके आदेशों को न मानने व मनमानी करने के कारण, उनके बताये रास्ते से हटकर कुपथ हो गये। इसलिए सतर्क रहना चाहिए। हमारे लिये तो गुरु के बताए यम -नियम, गुरु के आदेश ही सब

कुछ हैं। हमारा वही धर्म है, वो ही शास्त्र है। गुरु आपको कभी शास्त्र के प्रतिकूल, मर्यादा के प्रतिकूल कोई बात नहीं कहेगा। वो तो वही बात कहेगा जो आपके हित में हो। जिसको मानने से आप आध्यात्म के क्षेत्र में एक अच्छे सिपाही बन सकें।

गुरु तो आपका सुरक्षा दुर्ग है। गुरु के जो आदेश हैं वो एक किले की तरह हैं जिसकी सीमा का उल्लंघन नहीं करना चाहिये। उस किले की सीमायें क्या हैं ? वो उसकी चारदीवारी है। चारदीवारी का मतलब है - साधक की सुरक्षा के लिये ये चार बातें हैं जो निम्नलिखित हैं : (1) मौन (2) मिताहार (3) जागरूकता, और (4) एकांतवास।

मौन का अभ्यास

मौन एक सुनहरा नियम है यानी एक बहुत ही उपयोगी साधन है। मौन के यहाँ अनेक मतलब हैं। एक तो फ़िज़ूल जो बोलते रहते हैं उसे बोलने की ज़रूरत ही नहीं होती। बाहर तो मित्रों इत्यादि से बोलते रहते हैं, भीतर - बाहर दोनों का मौन होना चाहिए। शब्दों का प्रयोग उस समय ही करें जब अति आवश्यक हो, अन्यथा भीतर में पूर्ण मौन रहें। हम क्या करते हैं ? बाहर और घर पर बैठे हुए भी कोई ऐसा विषय नहीं जिस पर चर्चा न हो। फ़िज़ूल इधर उधर की व्यर्थ चर्चा करते हैं - अखबारों की, राजनीति की चर्चा, किसी दूसरे की प्रतिक्रिया या निन्दा करते हैं। किसी को कुछ भी कह देते हैं। जो ज़्यादा बोलेगा, वह गलती भी अधिक करेगा। इसलिए कम बोलना चाहिये। जहाँ तक हो सके बोलना ही नहीं चाहिये। मौन हमारे लिये एक साधना है। भीतर का भी मौन हो - सिवाय ईश्वर का नाम लेने के अलावा कोई बात न हो। कोशिश करनी चाहिये। शुरु - शुरु में कठिनाई अवश्य आयेगी, परन्तु धीरे - धीरे यह मन शान्त होता जायेगा। विचार- मुक्त स्थिति में ही शान्ति मिलती है। बिना शांति के आत्मा का साक्षात्कार नहीं हो सकता, आत्मा का आनन्द अनुभव नहीं हो सकता। अतः अधिकाधिक मौन रहें।

000000000000

मौन साधना क्या है ?

(ब्रह्मलीन परमसंत डॉ०करतारसिंह जी महाराज)

आदिकाल से जितने भी धर्म हुए हैं, महापुरुषों ने जितनी भी पद्धतियाँ अपनाने का आदेश दिया है, प्रायः उन सबका अंतिम चरण मौन है। प्रभु सत्य है। मौन साधना के द्वारा हम उस सतस्वरूप परमात्मा को आमंत्रण देते हैं कि वह हमारे रोम-रोम में प्रवेश कर जाये अर्थात् हमारी समीपता और संयोग उस परमात्मा के साथ हो जावे।

प्रगाढ़ निद्रा या सुषुप्ति में हमारा शरीर निष्क्रिय रहता है, मन की चंचलता या संकल्प-विकल्प नहीं रहते, बुद्धि द्वन्दों से रहित, मुक्त होती है। प्रगाढ़ निद्रा जैसी स्थिति ही मौन का प्रथम चरण है।

सरल और सहज साधन में निश्चल शरीर, शांत मन और स्थिर बुद्धि से बैठने पर हल्केपन की ऐसी स्थिति आ जायेगी मानो कोई कपडा खूँटी पर टंगा हो - वह कपडा अपने बल पर खड़ा नहीं होता है। ऐसी स्थिति में परमात्मा की कृपा की वृष्टि का भान होता है। इस कृपा वृष्टि से हमारा शरीर, मन व आत्मा समरस हो जाते हैं। ईश्वर तो अनन्त आनन्द स्वरूप है, हमारी दशा भी आनन्द- रूप हो जायेगी। पर हमें सामान्यतः ऐसे आनन्द की अनुभूति क्यों नहीं होती ? इसका कारण मन की चंचलता है। मन की चंचलता को त्यागे बिना ईश्वर का सामीप्य नहीं मिल सकता।

वास्तव में हम अपने मन का संग करते हैं - परमात्मा या गुरु का, सत का संग नहीं करते। गुरु के संग और प्रभु के संग में कोई विशेष अन्तर नहीं है। गुरु भी ईश्वर में लय होकर आपकी सेवा में बैठता है। वह कुछ नहीं करता। उसके शरीर के रोम- रोम से परम् पिता परमात्मा के प्रेम की किरणें चारों ओर फैलती हैं।

गुरु न भी हो तब भी ईश्वर की कृपा सब पर हर समय एक जैसी बरसती है। अन्तर केवल यह है कि गुरु का शरीर साधना करते-करते इतना निर्मल ओर संवेदनशील बन जाता है कि गुरु के शरीर द्वारा परमात्मा के प्रेम की किरण -रश्मियां जो आप तक पहुँचती हैं, वे कुछ

अधिक शक्ति, अधिक तेज ओर वेग लिए हुई होती हैं। जैसे आतिशी शीशे पर सूर्य की किरणें पड़ें तो उसके नीचे रखा काला कपड़ा जल उठता है।

गुरु है, तो ठीक है, अच्छा है। यदि नहीं है, तो भी आपका सीधा सम्पर्क प्रभु से हो सकता है। बस शर्त यह है कि व्यक्ति का मन चंचलता से मुक्त हो जाये ओर बुद्धि की चतुराई समाप्त हो जावे। इस स्थिति में परमात्मा के साथ समीपता प्रारम्भ हो जाती है, और इस कैफियत से आप में और ईश्वर में कोई अन्तर नहीं रहेगा। पर यह काम जल्दी का नहीं है, धैर्य का है। एक दिन में आत्मिक मौन में स्थिरता नहीं प्राप्त होती, समय लगता है। भले ही कई वर्ष लग जायें।

मौन की अवस्था को स्थिर बनाने के लिए उपासना का त्याग नहीं करना चाहिए। मौन की साधना के लिए पहले मन को कोमल बनाना, संवेदनशील बनाना है ताकि प्रभु की ओर से जो प्रसादी आ रही है, साधक उसे ग्रहण कर सके। प्रभु के प्रति भक्ति, भावुकता ओर उपासना से बढ़ेगी। सबसे अधिक महत्व सेवा का है। शुभ कर्म मौन साधना में सहायक होते हैं।

उपासना के समय शुरू-शुरू में प्रभु की महिमा का गुणगान, स्तुति-वन्दना आदि करना, भजन व पुस्तकें पढ़ना सहायक होते हैं। भक्ति किसी भी तरह की हो, किसी भी भाव की हो, चाहे प्रेम-भक्ति हो जैसी चैतन्य महाप्रभु करते थे वह भक्ति-भाव में नृत्य-गान करते-करते इतने भाव विभोर हो जाते थे कि उनका तन-मन और उनकी समस्त चेतना भगवान् से तदरूप हो जाती थी, ईश्वरमय बन जाती थी। भक्ति की चरम सीमा या परिणति आत्मा के 'मौन' की दशा ही है।

ध्यान में बैठते समय मन चंचलता करेगा, बुद्धि भी तर्क-वितर्क करेगी। इनसे मुक्त होने के लिए या तो प्रेम-भक्ति का सहारा लें या ज्ञान-साधना का। यदि ऐसा नहीं करेंगे तो आपका न तो मौन स्थिर हो पायेगा और न ही आनन्द की अनुभूति होगी।

इसी प्रकार मौन साधना करने के पश्चात् तुरन्त ही दुनियाँ के कामों में नहीं लगना चाहिए। पाँच-दस मिनट एकांत में रहें। लोग साधना समाप्त होते ही बातों में लग जाते हैं। परिणाम यह होता है कि जो कुछ प्राप्ति साधना में हुई, वह सब समाप्त हो जाती है।

मौन साधना में बैठने से पूर्व हम अधिकारी बनें। जब तक अधिकार नहीं बनता, भजन पढ़िए, भक्ति करिये, संतो की अमृत -वाणी पढ़ें, सेवा करें और अपनी बुराइयों को छोड़ें। जब योग्य बन जायें तब इस मौन साधना का श्री गणेश करें। इस मौन साधना के द्वारा ही आत्मा के दर्शन और परमात्मा से तदरूपता प्राप्त हो पायेगी। इसी कैफियत के लिए हमारी प्रार्थना में " ॐ सहनाववतु " वाला मंत्र शामिल किया गया है जिसमें गुरु और शिष्य की साथ-साथ परम्पिता परमेश्वर से विनती की गयी है कि - " हम दोनों की साथ-साथ रक्षा व पालन हो, हम तेजोमयी विद्या पायें, और अंततः अपनी दुई मिटाकर, स्नेह सूत्र में बंधकर एक है जावें एवं परम्-लय अवस्था को प्राप्त करें।"

इस मौन साधना में कोई आशा या इच्छा लेकर नहीं बैठना चाहिए कि हमें प्रकाश की झलक मिले या शब्द सुनाई दे या गुरुदेव के दर्शन हों अथवा सांसारिक सुख मिल जायें या सफलता मिल जाये, आदि।

हमें तो मानो गंगा के प्रवाह में अपने आपको समर्पित कर देना है। प्रवाह जिधर भी ले जाये उसी के साथ-साथ बड़े चलें। कोई अवरोध नहीं करना है। इस प्रकार होना है जैसे कि कलाकार के हाथों में पत्थर अपने आपको समर्पित कर देता है ओर उसे कलाकार एक सुन्दर मूर्ति में ढाल देता है। साधक को स्वयं को भी इसी प्रकार से उस महानतम कलाकार - परमात्मा - के हाथों में छोड़ देना चाहिए।

कुछ साधक केवल मौन साधना करते हैं, किन्तु वे शिकायत करते हैं कि इसमें रूखापन है, आनन्द नहीं आता। आनन्द नहीं आने का कारण पात्रता का न होना है। मौन-साधना की पात्रता हासिल करने के लिए एक सरल युक्ति का अभ्यास करना उपयोगी सिद्ध हो सकता है और वह युक्ति है कि प्रतिक्रिया करने की आदत का परित्याग करें। हम देखते हैं तो प्रतिक्रिया करते हैं, सुनते हैं तो प्रतिक्रिया करते हैं, खाने में रस आता है तो उसकी प्रतिक्रिया करते हैं, कुछ सूंघते हैं या किसी वस्तु को छूते हैं, तो प्रतिक्रिया करते रहते हैं। मन में संकल्प-विकल्प उठते हैं तो प्रतिक्रिया करते हैं। जब तक इन प्रतिक्रियाओं का तांता नहीं टूटेगा, तब तक मौन साधन भी सधेगा नहीं।

इसी प्रकार कम बोलने का अभ्यास करने की भी आवश्यकता है। और कम बोलने में वही व्यक्ति सफल होगा जो प्रतिक्रिया करने की आदत को छोड़ देगा। विवेक व वैराग की साधना भी आवश्यक है।

महात्मा गौतम बुद्ध ने साढ़े छः वर्ष साधना की, उसके अंत में उन्होंने यही निर्णय दिया कि भीतर अथवा वाह्य में प्रतिक्रिया न हो। यह अच्छा है, वह बुरा है - जब तक ऐसे विचार आते रहेंगे, हमें सफलता नहीं मिलेगी क्योंकि प्रत्येक विचार अपने आप में एक प्रतिक्रिया है। इसीलिए गौतम बुद्ध जी ने विचारों से रहित होने का, विचार-शून्य होने का, यह साधन बताया है कि हम प्रतिक्रिया करने की वृत्ति को छोड़ दें/ बात बहुत छोटी सी लगती है। लेकिन व्यवहार में ऐसा करने में बड़ी कठिनाई होगी, परन्तु अभ्यास करने से यह आदत छूट जायेगी।

उपनिषद् भी यही बताते हैं कि निर्द्वन्द अवस्था में स्थिर होना है। आत्म-विकास तभी होता है जब मन ओर बुद्धि दोनों स्थिर हो जाते हैं। आत्मिक मौन को ही वास्तविक मौन कहते हैं।

भक्त रैदास जी ने अपनी सुन्दर पदावली में अधिक बोलने का वर्णन करते हुए अंत में यही तत्वज्ञान दिया है कि जब साधक 'मगन' अर्थात् मौन हो जाता है तभी उसे 'परमनिधि' प्राप्त हो पाती है। उनकी अमृतवाणी में केसा सदुपदेश भरा है - " तेरा जन काहे को बोले/////////"

पूज्य गुरुदेव आप सब पर कृपा करें।

0000000000

राम सन्देश - जुलाई-सितम्बर, २०१६

राम सन्देश: अगस्त, 1992

राग-द्वेष तज - सबसे प्रेम करें

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉकरतार सिंह जी महाराज)

" ना कोई बैरी नाही बेगाना , सगल संग हमको बन आई "

ये गुरुवाणी की पंक्तियाँ हैं। सच्चे साधू, सच्चे संत के सत्संग का क्या लाभ होता है- इस वाणी में यही वर्णन किया गया है।

" बिसर गई सब तात पराई, जबतें साध संगत मोहे पाई / "

जब से साधू - विशेष का संग प्राप्त हुआ है, तब से मेरे हृदय में जो मेरा-तेरा-पन था वह समाप्त हो गया है हृदय में जो राग-द्वेष था वो खत्म हो गया है। हम कहते हैं भीतर में शांति नहीं है। शांति तब मिलती है जब भीतर में से राग-द्वेष दोनों निकल जाते हैं ।

" ना कोई बैरी, नाहिं बेगाना , सगल संग हमको बन आई /"

यानी जब हमने इस उपदेश का पालन किया तो हमारे जीवन में यह घटित होने लगा। हमें अनुभव होने लगा कि " ना कोई बैरी नाही बेगाना " यानी सभी अपने हैं क्योंकि सब में एक ही आत्मा तो है। इस आत्मा के नाते हमने साधू के संग बैठ कर जो उपदेश सुना तो उससे हमें अनुभव होने लगा कि हम तो सभी एक ही सूत्र में बन्धे हुए हैं - सब एक ही हैं। हमारा कोई दुश्मन नहीं, कोई बेगाना या पराया नहीं। सब एक ही हैं। आपके भीतर की शांति के लिए यह पहला कदम है, पहला चरण है ।

दूसरे में बतलाया है :-

"जो प्रभु कीन्हों सो भल मानों , एह सुमत साधू ते पाई /"

जब तक साधक या जिज्ञासु जो कुछ सँसार में हो रहा है उससे सन्तुष्ट नहीं होता - कथित बुरा या भला हो रहा है, उससे सन्तुष्ट नहीं रहता, तब तक उसको शांति नहीं मिलती । "जेहि विधि राखे राम, तेहि विधि रहिए "- जब तक यह भाव उत्पन्न नहीं

होता। हमारे कार्य इसी के अन्तर्गत शीतलता पूर्वक हों जो कुछ हो रहा है उससे सन्तुष्ट रहें। कोई चूं चर्चा नहीं करें। परमात्मा वृष्टि नहीं कर रहा। क्या वह हमारे लिए ऐसा नहीं कर सकता? उसके घर में क्या कमी है? हम ऐसी बातें करने लग जाते हैं।

इसी प्रकार यदि कहीं अधिक पानी बरसने लगता है तो हम कहते हैं " प्रभु! यह क्या लीला है? हमारे क्या दोष हैं जो हमारे साथ ऐसा किया जा रहा है। तो ऐसी बातें जिसके हृदय में होंगी उसको कभी भी शांति नहीं मिल सकती।

तीसरा ज्ञान साधना का चरण है कि हमारी दृष्टि आत्ममय हो जाय। मनुष्यों में, प्रकृति में, पशु-पक्षियों में - सभी में ईश्वर के दर्शन हों। पत्थर आदि जो सुप्त अवस्था में हैं, उनमें भी ईश्वर के दर्शन हों। हमारे चक्षु सब में एक सा प्रभु को ही देखें।

" सब में रम रह्यो प्रभु एको "

गुरु ने उपदेश दिया योग्य शिष्य को कि यह साधना करो। इसमें तदरूपता प्राप्त करो। सिद्धि आ जाएगी। सबमें एक ही अनुभूति होगी। कहने में थोड़ा अन्तर आ जाता है। अनुभव होगा कि ऐसी अनुभूति के बाद हमारी भीतर की स्थिति क्या होगी? " पेख पेख नानक बिगसाई"। यानी व्यक्ति विस्माद में चला जाता है। हैरान हो जाता है कि प्रकृति कितनी सुन्दर है? परमात्मा की कैसी लीला है? प्रभु कैसे सुन्दर हैं? रोम-रोम में परमात्मा के प्रति श्रद्धा के भाव उत्पन्न होंगे। अभी तो हम केवल दार्शनिक हैं। दर्शन भी अच्छी तरह समझ में नहीं आया है। पर जब हमारा यह स्वभाव बन जायेगा तो हमसे अप्रयास ही ऐसी बातें होती रहेंगी।

ऐसे व्यक्ति को आनन्द आता है। वो सब से सन्तुष्ट है। सबको ही अपना समझता है। सबमें परमात्मा की लीला देखता है। गोपियों के हृदय में जो अनुभव था वो जिज्ञासु के हृदय में भी उतरता है। हम कहते हैं कि साहब, शांति नहीं मिलती। शांति तब तक नहीं मिलेगी जब तक हम इन दो-तीन बातों का पालन नहीं करेंगे। इस अभ्यास के फल मिलने में समय तो लगता है, पर अभ्यास करना होता है। मन से भीतर से राग द्वेष निकालने होते हैं।

किसी के प्रति बुरी भावना मन में नहीं रखनी चाहिए। हमारा वह कितना ही बुरा करे। हज़रत ईसा कहते हैं कि " ईश्वर का एक ही विशेष गुण है - क्षमा ।" उसका विरुद्ध है कि वह सबको क्षमा करता है।" प्रश्न उठता है कि जो पाप करता है क्या उसको उस पाप का फल नहीं मिलेगा ? फल तो अवश्य मिलेगा। जो मन के स्थान पर हैं उन्हें पाप और पुण्य का फल तो अवश्य मिलेगा। पर जो आत्मा के स्थान पर हैं वे पाप और पुण्य दोनों से ऊपर उठ गए हैं । उनके लिए पाप और पुण्य दोनों ही तुच्छ हैं, तृण के समान हैं। उनको तो आत्मा के आनन्द की खोज करनी है। उनके यहाँ किसी के प्रति राग - द्वेष नहीं है। मेरा - तेरापन नहीं है । केवल परमात्मा की लीला ही है ।

तो परमात्मा का विशेष गुण है - क्षमा । हम भी राग-द्वेष से तभी छूट सकते हैं जब हम क्षमा को अपनायेंगे। ये हज़रत ईसा के उपदेश हैं। उनका दूसरा उपदेश है कि सबके साथ प्रेम करें, जैसा कि आप अपने साथ करते हैं। ऐसा करते - करते आप आत्मा के समीप पहुँच जाते हैं। कोई व्यक्ति अपने आप को दुःख देना पसन्द नहीं करता। वो कहते हैं कि संसार से वैसा ही प्रेम करो जैसा आप अपने आप से करते ह । यह तभी होगा जब आप सबको अपने जैसा ही समझोगे। संसार के प्रति राग-द्वेष होगा तो अशांति बनी रहेगी। शांति की, प्रेम की अनुभूति केवल आत्मा में है। यह अनुभूति केवल रागद्वेष छोड़ने पर ही सम्भव है। यहाँ जो कुछ हो रहा है साधक उससे सन्तुष्ट हो। इस सब में परमात्मा की लीला समझ कर, उसकी लीला के दर्शन कर आनन्द विभोर होता रहे।

0000000000000000

वास्तविक आनन्द कहाँ है ?

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

आम लोगों का यह ख्याल है कि दुनियाँ के सामान के अन्दर सुख का माद्दा मौजूद है, इसलिए दुनियाँ के सामान हासिल होने पर इन्सान को सुख प्राप्त हो सकता है। इसीलिए तमाम दुनियाँ के लोग दुनियाँ के सामान इकठ्ठा करने की कोशिश में लगे रहते हैं। कोई रूपये-पैसे में सुख समझता है, उसका ख्याल है कि रुपया जमा होने पर हमेशा-हमेशा के सुख की प्राप्ति और दुःख से निवृत्ति हो जाएगी। इसीलिए रूपये पैदा करने और जमा करने की उम्र भर कोशिश करता रहता है। हज़ारों झूठ बोलता है, सैंकड़ों बेईमानियाँ करता है, दुश्मनी-दोस्ती पैदा करता है, खुशामदें करता फिरता है, लोगों के गले कटवाता है, तब कहीं जाकर रुपया जमा होता है लेकिन उसको सच्चा सुख, जिसके लिए ये सब यत्न किये थे, नसीब नहीं होता। अगर रूपये में सुख होता तो तमाम रूपये वाले सुखी होते। नतीजा और तजुर्बा इसके खिलाफ़ है। ज़्यादातर रईस (धनी) लोग दुखी नज़र आते हैं। रूपये से सुख तो मिल सकते हैं, जो रूपये के अभाव में दुःख रूप बन जाते हैं, परन्तु पूर्ण रूप से सुख नहीं होता। बल्कि रुपया उनके लिए खुद एक जंजाल बन जाता है।

दूसरा व्यक्ति औलाद में सुख तलाश करता है, शादी करता है, हज़ारों मिन्नतें माँगता है, और जतन पर जतन करता है। औलाद पैदा होती है, उसकी परवरिश बड़े लाड-चाव से करता है। उसकी तन्दरुस्ती कायम रखने के लिए हर कुरबानी करता है, न दिन का ख्याल है न रात का, न धूप की चिन्ता है न बरसात की। डाक्टरों के चककर लगाया करता है। गंडे तावीज़ वालों की खुशामदें करता है। कभी गधे के नीचे की मिट्टी तलाश करता है, कभी मसान पर दूध चढाने जाता है। पाल-पोस कर बड़ा हो गया। अब पढ़ाई की फ़िक्र है, फिर नौकरी की और फिर शादी की।

साराँश यह है कि इसी के पीछे सारी उम्र नष्ट हो जाती है। समझता यह है कि एक बात के पूरा हो जाने पर सुख हासिल हो जायेगा, लेकिन एक बात के खत्म होते ही दूसरी बात शुरू

हो जाती है और खुशी का मुँह देखना नसीब नहीं होता। अगर लड़का नालायक निकल गया तो भी रंज है, और अगर मर गया तो उम्र भर के लिए रोना। लो औलाद भी एक जंजाल हो गयी।

तीसरा व्यक्ति एक मकान में सुख तलाश करता है। इधर मकान तैयार हुआ, उधर उसकी मरम्मत की फ़िक्र पड़ गयी। मकान एक मुसीबत का घर साबित हुआ। कोई खूबसूरत औरत में सुख प्राप्त करता है, तो कोई विद्या प्राप्त करने में। लेकिन असली सुख मिलना दरकिनार, दो चार घंटों के लिए भी सुख नहीं मिलता। थोड़ी देर के लिए परेशानियों से छुटकारा मिल जाता है, जिसको वह सुख का नाम दे देता है।

हरेक चीज़ जिसमें वह सुख तलाश करता है, उसका गले की हड्डी या फाँसी साबित होती है। उम्र भर उसी में झूमता रहता है और आखिर वही उसकी जान ले लेती है। उस रेशम के कीड़े की तरह जो अपने अन्दर से तार निकालता है, आखिर में वह तार उसको चारों ओर से घेर लेते हैं, हवा तक रोक देते हैं, ओर वह दम घुट कर मर जाता है।

इन बातों को देखने से मालूम होता है कि सुख दुनियाँ की चीज़ों में मौजूद नहीं है वरना धनवान, पुत्रवान, खूबसूरत पत्नी, बढ़िया मकान वाले और विद्वान सुखी होते। अब अगर सुख इन चीज़ों में नहीं है तो और किन चीज़ों में है ? नीचे की चीज़ों को लेकर यह पता लगाने की कोशिश करते हैं कि सुख कहाँ है ?

एक बच्चा पचास कंकड़ों से खेल रहा है और वह उन कंकड़ों को बड़ी हिफाज़त से रखता है। जब सोता है तो कुछ तो अपनी जेब में रख लेता है और सोते वक्त बाकी पर अपना हाथ रख लेता है। लेकिन जब लोग बच्चे की इस हरकत को देखते हैं तो हँसते हैं। चार आदमी बैठे ताश खेल रहे हैं, बड़ा आनन्द आ रहा है, न खाने की फ़िक्र है न पीने की। उनको नहीं मालूम कि चारों तरफ क्या हो रहा है, और कितना वक्त निकल गया। यदि कोई उनके खेल में बाधक होता है तो कहते हैं कि भाई इस समय मत छेड़ो, बड़ा मज़ा आ रहा है। तभी तारआया कि घर में फलौं सम्बन्धी बीमार है। अब उनमें से हर आदमी चाहता है कि ताश बन्द कर दें। वही चीज़े जो सुख का साधन थीं, दुःख का साधन बन गयीं। एक आदमी भूखा है, रात को बासी-कूसी खाना खाने को उसके सामने रख दिया जाता है और उसमें उसे बड़ा आनन्द आता है। लेकिन भूख मिट जाने पर उसी खाने को देखकर उसका जी मिचलाता है।

एक विद्यार्थी गणित के सवाल हल करने में ध्यानमग्न है। उसको बातचीत करना भी बुरा लगता है। घंटों निकल जाते हैं, उसको वक्त के जाने का पता भी नहीं लगता। बच्चे पास में शोर कर रहे हैं, लेकिन उसको कोई आवाज़ तक सुनाई नहीं देती। दूसरा व्यक्ति जिसका हिसाब कमज़ोर है, गणित के नाम से दूर भागता है। इससे मालूम होता है कि कंकड़ के टुकड़ों, ताश के पत्तों, खाने और गणित के सवालों - इन किसी में भी आनन्द नहीं है। यदि इन चीज़ों में सुख होता तो हरेक को हर हालत में सुख मिलता।

इससे यह सिद्ध होता है कि सुख किसी और जगह है। सोचने पर पता चलता है कि जो चीज़ हमें मन से प्यारी होती है उसके मिलने पर हमें सुख मिलता है, यानी आनन्द हमें उस चीज़ में मालूम होता है जिसमें हमारी attention (तवज्जो) की धार ज़्यादा पड़ती है, यानी जितनी वह चीज़ हमें ज़्यादा प्यारी है, उतना ही ज़्यादा आनन्द हमें उस चीज़ के प्राप्त होने से होता है। इसका मतलब यह हुआ कि तवज्जो की धार एकत्र हो जाती है तो हमें बड़ा सुख मिलता है। जैसे यदि कोई व्यक्ति अच्छे खाने का शौकीन है तो उस चीज़ को जो उसे सबसे ज़्यादा अच्छी लगती है खाकर उसे बड़ा आनन्द आता है। अगर कोई प्रेमीजन है तो उसको अपने प्रियतम को देखकर बड़ी खुशी प्राप्त होती है।

अब सोचो कि जब धारों में इतना आनन्द है तो उस केंद्र में, जहाँ से वे धारें निकलती हैं, कितना आनन्द होगा ? उस आनन्द का बारापार नहीं है और जिसने खुशकिस्मती से उसकी झलक भी देख ली वह हर कुर्बानी उसके लिए कर सकता है। हज़ारों दुनियाँ की बादशाहत उसके लिए हेय है। उसको देखकर, उसका अनुभव करके, किसी और चीज़ को देखने और अनुभव करने की इच्छा बाकी नहीं रह सकती। इसका अनुभव स्थूल बुद्धि नहीं कर सकती। केवल उस आदमी की शुद्ध-बुद्धि ही इसका अनुभव कर सकती है जिस पर ईश्वर की कृपा हो और जिस पर गुरु मेहरवान हो।

ऊपर के बयान को पढ़कर प्रेमी के दिल में यह जानने की इच्छा होती है कि क्या यह बयान सब सच है या दरअसल रचना में कोई ऐसा सतत आनन्द का स्थान मौजूद है ? यदि रचना में कोई ऐसा स्थान है तो कहाँ है और वहाँ तक पहुँचने के साधन क्या हैं। इन तीनों सवालों के जबाब संक्षेप में वर्णन करने की कोशिश की जा रही है।

पहला सवाल यह पैदा होता है कि क्या यह सब बयान सही है और रचना में दरअसल कोई ऐसा मण्डल मौजूद है ? यदि है, तो कहाँ है ? और हमको दिखाई क्यों नहीं देता ? इसका उत्तर यह है कि तमाम श्रष्टि और हमारा शरीर और साइंस के तमाम औज़ार हमको स्थूल रचना का ज्ञान दे सकते हैं, सूक्ष्म रचना का नहीं। सूक्ष्म रचना का ज्ञान हासिल करने के लिए हमको अपनी स्थूल इन्द्रियाँ शून्य करनी होंगी।

सूक्ष्म इन्द्रियाँ इस समय भी हमारे अन्दर मौजूद हैं, लेकिन उनकी तरफ बेपरवाही बरतने और उनसे काम न लेने की वजह से वे बेकार हो गयी हैं। उनको अभ्यास की मदद से जाग्रत किया जाता है। इसके लिए बड़े वक्त, अभ्यास व सत्संग की ज़रूरत है। लेकिन सच्चा ज्ञान हमको उसी वक्त हासिल होगा जब हम अपनी सूक्ष्म इन्द्रियों को जगाकर उस रचना को खुद अपनी आँखों से देख सकेंगे।

फ़िलहाल हम अपने उन ऋषि-मुनियों, संत-साधुओं या अपने पूर्वजों की वाणी को देखें जो हर कौम में वक्त-वक्त पर पैदा होते रहे हैं। ये हस्तियाँ या तो पैदायशी ऊँचे यानी सूक्ष्म घाटों से उतर कर जीवों के फ़ायदे, उनके कल्याण, के लिए मनुष्य चोला धारण करते हैं या तप और अभ्यास करके उस गति को हासिल करते हैं। ऐसा करने से ज़रूर कुछ न कुछ विश्वास आ सकता है कि वास्तव में कोई ऐसा मण्डल मौजूद है जहाँ पर पहुँचकर मनुष्य हमेशा के लिए दुःखों से छुटकारा पा जाता है और हमेशा असली आनन्द को भोग सकता है।

कृष्ण भगवान् कहते हैं - " न वहाँ सूरज प्रकाश करता है न चन्द्रमा, न आग, लेकिन फिर भी वहाँ प्रकाश है। जहाँ पहुँचने पर इन्सान दुनियाँ में लौट कर वापस नहीं आता। वही मेरा परमधाम है।" उपनिषदों में लिखा है कि वह स्थान जिसका उपदेश सारे वेद करते हैं, जिसकी शिक्षा सारे तपस्वी देते हैं और जिसकी इच्छा रखकर लोग ब्रह्मचर्य रखते हैं वह पद यानी स्थान। हम संक्षेप में बताते हैं। वह ॐ पद है।"

हाफ़िज़ साहब फरमाते हैं कि, " यह मालूम नहीं कि मन्ज़िले मक़सूद किस जगह पर वाक्य (स्थित) है, लेकिन इस क़दर मुझको मालूम है कि उस जानिब (तरफ) से घंटे की आवाज़ आती है।" कबीर साहब फरमाते हैं कि, " जो कोई भेद से वाकिफ़ है वही जानता है कि हमारा देश कैसा है, हमारे देश में जाति, वर्ण, संध्या, नियम और आचार का झगड़ा नहीं है,

बिना बादलों के वहाँ बिजली चमकती है और बिना सूरज के वहाँ उजियाला है, वगैरह-वगैरहा" गुरु नानक साहब फरमाते हैं कि "सचखण्ड की खोज करो और इन्सानी जन्म सफल बनाओ।"

इन संतो की वाणी से, जिनका जन्म ही मनुष्य की भलाई के लिए हुआ है और जो तमाम उम्र इन्सानी जन्म की भलाई के कामों में लगे रहे, विश्वास आ सकता है कि ज़रूर इस नज़र आने वाली श्रष्टि के परे कोई ऐसी सूक्ष्म रचना है जिसके भिन्न-भिन्न मण्डलों से अलग-अलग समय और स्थानों पर महान आत्माएं आईं या भिन्न-भिन्न महात्माओं ने अभ्यास करके उन मण्डलों तक पहुँच हासिल की, जिसका वर्णन उन्होंने अपनी वाणी में किया है।

उसी राज़ (तत्व) की तालीम उन्होंने अपने शिष्यों को दी कि स्थूल जगत के आश्चर्यजनक मायाजाल में न फँसो, ज़रूरत के मुआफ़िक इस दुनियाँ से काम रखो और अपने निज घर की सुधि लो। और इसके साथ-साथ ये संत उस निज-घर पहुँचने की युक्ति की तालीम भी देते रहे हैं। इन्हीं संतों को अवतार, औलिया, खुदा का बेटा, वगैरह-वगैरह नामों से पुकारते हैं। इन बातों को देखकर यकीन ज़रूर आता है कि अवश्य इस स्थूल रचना से परे कोई और सूक्ष्म रचना मौजूद है।

इसका विश्वास हो जाने पर दूसरा सवाल पैदा होता है कि यह देश कहाँ है ? इसका उत्तर यह है कि " पिण्डे सो ब्रह्माण्डे "। इन्सान का इन्सानी रूप सच्चे कुल मालिक का अंश है और वही गुण छोटे पैमाने पर इस आत्मा में मौजूद हैं जो बहुत बड़े पैमाने पर मालिके-कुल यानी परमात्मा में हैं। जीव मालिक का पूर्ण रूप से अनुभव नहीं कर सकता। इसलिए इन्सानी जिस्म को ध्यानपूर्वक जाँचने से ही तमाम रचना का अनुमान हो सकता है। जैसे मालिक ने अपनी शक्ति से कुल रचना रची वैसे ही आत्मा ने अपनी शक्ति से यह शरीर रचा। इन्सान के जिस्म का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि यह तीन जिस्मों से मिलकर बना है। स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर (यानी मन का शरीर), और तीसरा कारण (यानी रूहानी) शरीर।

इसी प्रकार परमात्मा के भी तीन शरीर हैं - विराट, हरिण्यगर्भ और अव्यक्ता। इन्सान के स्थूल शरीर में छह चक्र हैं और चूँकि इन्सान का स्थूल शरीर मन के जिस्म के नमूने पर बना है लिहाज़ा सूक्ष्म शरीर में भी छह चक्र हैं और सूक्ष्म शरीर कारण शरीर के नमूने पर बना है लिहाज़ा कारण में भी छह चक्र हैं। इस तरह इन्सानी शरीर में 18 चक्र हैं। छह स्थूल, छह

सूक्ष्म और छह कारण। इन्सानी शरीर में छठे चक्र पर बैठकर (जिसको आज्ञा चक्र) भी कहते हैं आत्मा तमाम जिस्म को जान देती है। इसी तरह निर्मल चैतन्य देश में, यानी रूहानी देश के छठे स्थान में रूह के भण्डार (यानी सच्चे कुलमालिक) की बैठक है और बाकी देशों में इसकी चेतन धारें या किरणें फैली हुई हैं और जैसे इस जिस्म में आत्मा का स्थान ही असली ज्ञान का, ज़िन्दगी और आनन्द का स्थान है, इसी तरह सत्यलोक असली बैठक उस परमात्मा की है जो तमाम ज्ञान और आनन्द का भण्डार है।

इससे मालूम हुआ कि सच्चा सुख हासिल करने के लिए हर जिज्ञासु को ज़रूरी है कि अपनी आत्मा को इस पृथ्वी से हटाकर अपने जिस्म से परे, अपने मन से भी परे, हटाकर यानी जिस्म और मन के बारह परदों से हटाकर (छह जिस्म के चक्र और छह मन के) निर्मल देश के छठे चक्र पर जो कि असली भण्डार रूहानियत का है, पहुँचावे, तभी सच्चा सुख प्राप्त हो सकता है। इसकी महिमा हर ज़माने में सन्तों ने गायी है। जो मज़हब आत्मा को इस स्थान पर पहुँचा सके वही सच्चा मज़हब है और जो अभ्यासी उस सत भण्डार पर पहुँच चुका है या वहाँ से उतर कर आया है वही संत सतगुरु है और जो गुरु आत्मा का रुख उस असली सत के भण्डार की ओर फेर दे और वहाँ तक पहुँचा दे, वही सच्चा गुरु है।

दूसरे सवाल का भी उत्तर मिल गया है कि वह चक्र अठारहवाँ स्थान है। वही असली ज़िन्दगी का और आनन्द का अनंत भण्डार है।

उस देश तक कैसे पहुँचें ?

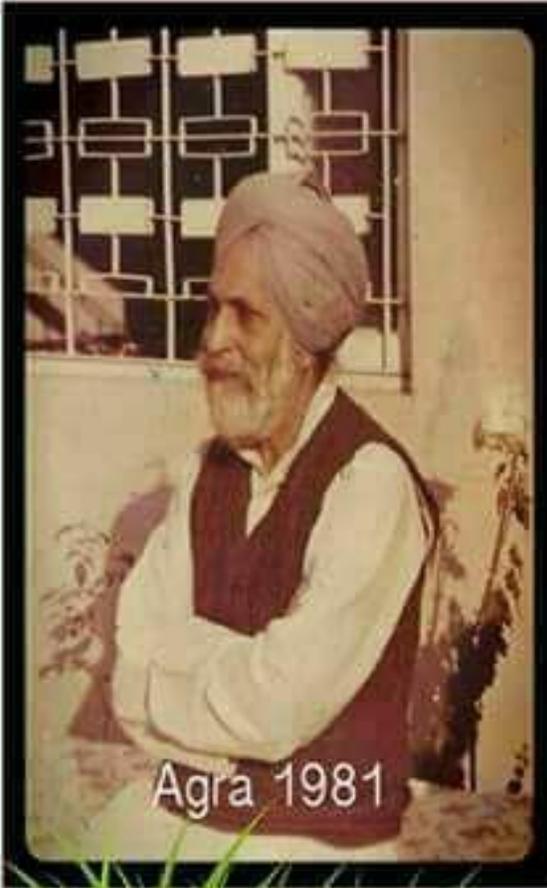
अब तीसरा सवाल रह जाता है कि वहाँ तक पहुँचा कैसे जाये ? तो इसका जबाब पहले आ चुका है। सिर्फ सच्चा गुरु ही वहाँ तक पहुँचा सकता है। और कोई जरिया नहीं है। इसलिए सच्चे गुरु की तलाश करनी चाहिए। इसमें शक नहीं है कि सच्चे गुरु का मिलना बहुत मुश्किल है, लेकिन यह दुनियाँ आलमे इम्कान (इसमें कोई बात असम्भव नहीं है) जिसको सच्ची लगन लगी है, जो खोज रहा है और सच्चा मुतलाशी (खोजी) है उसको ज़रूर एक दिन सच्चे गुरु मिल जायेंगे।

जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ !

हों बौरी खोजन चली, रही किनारे बैठ !!

जिनको सौभाग्य और परमात्मा की कृपा से ऐसे गुरु मिल गए हैं उनको चाहिए कि लग-लिपट कर अपना काम बना लें, वरना इस दुनियाँ का क्या भरोसा है ? यह मुमकिन है कि प्रेमी भक्त और प्रभावशाली व्यक्ति मिल जावें, लेकिन ऐसे महापुरुष जिनका आचरण उच्च कोटि का हो, मिलना कठिन ही नहीं दूभर है। कोई-कोई अवसर का लाभ उठाकर औरों के चक्करों में फँसकर उस अवसर को हाथ से खो बैठते हैं और फिर उम्र भर पछताते रहते हैं। फिर न मालूम ऐसा मौका उनके कब हाथ आये?

0000000



हम लोग वाणी पर, विचार और व्यवहार पर निगाह नहीं रखते इसीलिए हमारा विवेक सघता नहीं. विवेक का और विस्तार करें तो जो व्यवहार, जो विचार हमारे अहित में हों उनका त्याग करना हमारा सहज स्वभाव बन जाएगा. जो व्यवहार और विचार हमारे हित में हों उन्हें सहजता से अपनाएँ. इससे और आगे बढ़ेंगे तो जो विचार हमें आत्मा की अथवा अपने इष्टदेव की ओर ले जाएँगे हम उन्हीं को अपनाएँगे, अन्य सब का त्याग करते चले जाएँगे. विवेक का अंतिम चरण यह है कि हमें आत्मिकता और अनात्मिकता में अन्तर मालुम होने लगे. हम आत्मा को पकड़ें एवं अनात्मिकता की बातों का त्याग करते चले जाएँ.

विवेक और वैराग्य साधना का अभ्यास

(ब्रह्मलीन परमसंत डॉ। करतारसिंह जी महाराज के प्रवचन के अंश)

सामान्यतः सब साधक यही कहते हैं कि उनका मन स्थिर नहीं होता। वीर अर्जुन भी भगवान से यही बात कहता है कि भगवान मेरा मन नहीं लगता। भगवान कहते हैं - ' हे अर्जुन ! मुठ्ठी में वायु बन्द की जा सकती है, परन्तु मन को काबू में करना कठिन है। अर्जुन कहता है कि कोई उपाय तो होना चाहिए, वही बताइए। भगवान सरलता से उत्तर देते हैं कि - ' सच्चे जिज्ञासु को वैराग्य एवं विवेक के अभ्यास का साधन करना चाहिए।'

वैराग्य से पहले विवेक का अभ्यास किया जाता है। असन्तुष्टि के कारण घर छोड़ देना वैराग्य नहीं है। विवेक का पहला चरण है - हँस गति। हँस कंकड़ में से मोती चुन लेता है, कंकड़ छोड़ देता है। दूध में से दूध पी लेता है, पानी छोड़ देता है। यह उसकी सहज अवस्था है, उसका स्वभाव है जो हँस-गति कहलाता है। परन्तु भगवान ने मनुष्य को तो चेतना दी है अतः उसकी विवेक शक्ति (power of discrimination) तो बहुत तीव्र होनी चाहिए, परन्तु है नहीं।

मनुष्य इंद्रियों के भोगों में इतना ग्रस्त हो रहा है कि विवेक क्या होता है, इसका उसको आभास ही नहीं है। विवेक का अर्थ है व्यावहारिक ज्ञान। यदि हम जुबान के रस के कारण अधिक खाते चले जाएँ तो यह अविवेक है। जिसको विवेक है और खाने के ज्ञायके पर नियंत्रण है वह उतना ही खायेगा जितना आवश्यक है। जिसका विवेक सध गया वह बोलेगा बहुत कम, आवश्यकता के अनुसार ही बोलेगा, क्योंकि वह जानता है कि अधिक बोलने से शक्ति कम होती है या कभी-कभी गलतफहमी उत्पन्न हो जाती है। इसलिए विवेकी साधक कम बोलता है। वह शब्दों का प्रयोग सोच समझकर करेगा, ऐसे शब्दों का प्रयोग करेगा जिनसे दूसरों को दुःख न पहुँचे। वह मधुरता से बोलेगा। हम लोग वाणी पर, विचार और व्यवहार कोई निगाह नहीं रखते। इसीलिए हमारा विवेक नहीं सधता। विवेक का और विस्तार करें तो जो व्यवहार, जो विचार। हमारे अहित में हैं उनका त्याग करना हमारा सहज स्वभाव बन जाएगा। इससे और आगे बढ़ेंगे तो जो विचार हमें आत्मा की अथवा अपने इष्टदेव की ओर ले जाएँगे, हम उन्हीं विचारों को अपनायेगे, अन्य सब का त्याग करते चले जाएँगे। विवेक का अन्तिम चरण यह है

कि हमें आत्मिकता और अनात्मिकता में अन्तर मालूम होने लगे। हम आत्मा को पकड़ें एवं अनात्मिकता की बातों का त्याग करते चले जाएँ। जब यह विवेक सध जाता है, तो वैराग्य का साधन शुरु होता है।

वैराग्य का अर्थ है बे - राग हो जाना। राग के दो रूप हैं - राग और द्वेष। दोनों का ही त्याग करना है। राग भी बन्धन है, मोह भी बन्धन है। द्वेष तो बन्धन है ही। पहले द्वेष को और फिर राग या मोह को छोड़ने का प्रयास करते हैं - फिर दोनों का त्याग कर देते हैं - सम अवस्था में चले जाते हैं। सच्चा प्रेमी जो है उसके मन में ईश्वर के प्रति अनुराग परन्तु संसार की वस्तुओं के लिए वैराग्य होता है। राग और द्वेष का नाम ही संसार है। इन दोनों के त्याग से वैराग्य पक्का होता है। वैराग्य के साथ अभ्यास करो - यानि प्रभु से प्रेम करो। अभ्यासी का विवेक और वैराग्य जब पक्का हो जाता है तो वह प्रभु से प्रेम करता है। विवेक और वैराग्य अपनाए बिना कोई भी साधक साधना में सफल हो ही नहीं सकता।

हम चाहते हैं कि हमारे संसार के सारे काम पूरे होते रहें, मानों जैसे भगवान हमारा आज्ञाकारी हो। अगर कोई काम नहीं होता तो हम निराश हो जाते हैं। निराश मन एकाग्र नहीं हो सकता। जब तक विवेक और वैराग्य सहज नहीं हो पाएगा, हँस गति नहीं हो जाएगी, मन एकाग्र नहीं होगा। और इसके साथ चाहिये अनुराग -- प्रभु के प्रेम की व्याकुलता और उनसे पृथक होने का विरह। ऐसी दशा हो जाए कि उसके बिना हम सब कुछ भूल जाएँ - केवल प्रभु के चरणों का प्रेम ही रह जाए। जब हम इन तीन बातों -- विवेक, वैराग्य और शुद्ध अनुराग का अभ्यास करते हैं तो मन सहज ही स्थिर होने लगता है।

हम लोग प्रायः हर समय इन्द्रियों के भोग में फँसे रहते हैं - आँख हर समय कुछ न कुछ प्रतिक्रिया करती रहती है, कान भलाई - बुराई सुनते रहते हैं, ऐसे ही ज़बान से भी करते रहते हैं। खाने - पीने में भी कोई विवेक नहीं। मन संकल्प विकल्प उठाता रहता है। इस पर कोई नियंत्रण नहीं है। विवेक जब सध जाता है तो व्यक्ति वही विचार उठाता है जिसकी आवश्यकता होती है। विवेक और वैराग्य की साधना निरन्तर होनी चाहिए, ताकि हमारा स्वभाव स्थिर बन जाए।

हम हर समय आत्मा की ओर, परमात्मा की ओर, गुरुदेव के चरणों की ओर बढ़ें, अन्य सब का त्याग कर दें। यह हमारी सहज अवस्था बन जाए। सँसार की सेवा प्रेम भाव से, ईश्वर की सेवा समझकर करें। साधना के महत्त्व को अच्छी तरह समझना चाहिए। आपने जीवन को कला की तरह व्यतीत करना चाहिये। हमें विवेक मिला है परन्तु हमने अपने भोगों में रमे रहने के कारण विवेक का नाश कर दिया है। विवेक गया तो वैराग्य भी गया। विवेक और वैराग्य सध जाने पर ध्यान का उदय होता है। हम आत्मा के आनन्द की अनुभूति करने लगते हैं। उस आनन्द की अनुभूति के आगे सँसार के सब पदार्थ फीके लगने लगते हैं। विवेक और वैराग्य के सध जाने से और आत्म-स्वरूप के दर्शन हो जाने से स्थिरता आ जाती है और साधक यही चाहता है कि मेरी आत्मा परमात्मा में मिल जाए। ध्यान पक्का होता जाता है। साधक निरन्तर जब इस अवस्था में रहता है तो मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। मोक्ष का अर्थ है - जितने बन्धन हैं उनसे मुक्त हो जाना। अहंकार, काम, क्रोध, लोभ और मोह हमें बाँधते हैं। जब ज्ञान में स्थिरता आ जाती है तो हम इन बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं। संस्कार हमें बाँधते हैं पर ज्ञान की अग्नि में धीरे-धीरे जलते जाते हैं। जब ज्ञान का सूर्य विकसित होता है तो हम मोक्ष के आयाम में प्रवेश करते हैं, वहाँ कोई बन्धन नहीं है। वास्तव में आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है। साधक की स्थिति सूर्य की तरह हो जाती है। परमात्मा के गुण उसमें अप्रयास आ जाते हैं। ऐसे ही जीवन-मुक्त साधकों के माध्यम से परमात्मा हमारा पालन पोषण आदि गतिविधियाँ पूरी करवाने की व्यवस्था या प्रबन्ध करवाता है जो निरन्तर सारे विश्व की सेवा करते रहते हैं।

हमारा मन प्रभु से दूर भागता है। इंद्रियों के भोगों का यह रसिया है। ईश्वर के रस को यह छोड़ देता है। अधिक बोलना, बुराई करनी या सुननी भी हमें अच्छी लगती है और हम चाहते हैं कि हमें परमात्मा मिल जाए -- यह कैसे हो ? हमें तो पहले मन को स्थिर करना होगा और संतो और गुरुजनों ने जो साधन बताए हैं, वे साधन करने होंगे - अर्थात् विवेक, वैराग्य और अनुराग का अभ्यास करना होगा। प्रेम से परमात्मा के चरणों में जाना और उसी ध्यान में रहना अभ्यास है। सबसे पहले तामसिकता का त्याग करें, राजसिक गुणों को अपनायें, फिर सात्विकता को पकड़ें और फिर तीनों गुणों को छोड़ दें। यह विवेक और वैराग्य की साधना का अभ्यास करने से ही सम्भव होता है।

शांति की चाह हर व्यक्ति को होती है -

पहले घर को शांतिमय स्वर्ग बनाना होगा

(ब्रह्मलीन परमसंत डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

प्रत्येक व्यक्ति आंतरिक शांति चाहता है। जब व्यक्ति कहता है कि शांति, विशेषकर मन की या भीतर की शांति नहीं है तो इसका मतलब होता है कि वह किसी कठिनाई में है और यदि वह कठिनाई दूर हो जाये तो उसको भीतर का सुख प्राप्त हो जायेगा। कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसको किसी प्रकार का दुःख न हो। कोई शारीरिक रोग से पीड़ित है, इस कारण वह कहता है कि मेरा शरीर स्वस्थ हो जाये तो मैं सुखी हो जाऊँगा। किसी बहिन का पति चला गया तो वह अशांत है, उसकी परेशानी कौन समझ सकता है? किसी का बच्चा घर से भाग गया, किसी के घर में तीन-चार लड़कियाँ हैं जिनकी शादी करना है और पैसा नहीं है, किसी को घाटा है, किसी के बच्चों की नौकरी नहीं है, किसी की आय कम है खर्चा ज़्यादा है इसलिए कर्ज़ लेना पड़ता है। ऐसे व्यक्ति कैसे सुखी रह सकते हैं, कैसे शांति रख सकते हैं? सब लोग किसी न किसी कारण से भीतर से दुखी हैं, अशांत हैं।

तो शांति कैसे मिले ? हम सत्संग में आये हैं इसी लालसा से कि वहाँ जायेंगे तो मन स्थिर रहेगा, वहाँ के वातावरण का अच्छा असर पड़ेगा, मन को सुख मिलेगा, शांति मिलेगी। परन्तु ऐसा हो नहीं पाता। होता भी होगा तो कुछ क्षणों के लिए। कुछ क्षणों के लिए आनन्द मिलता होगा, शांति मिलती होगी। परन्तु जिस शांति की खोज में व्यक्ति है वह नहीं मिलती। मनुष्य का स्वभाव है कि वह किसी भी परिस्थिति में संतुष्ट नहीं रह सकता। वह भांति-भांति की इच्छाओं की, तृष्णाओं की, अग्नि में जलता रहता है। तो प्रश्न यह उठता है कि आखिर वह करे भी तो क्या करे ?

ज्ञानी कहता है कि शांति केवल अपनी आत्मा में है। जब तक आत्मा का साक्षात्कार नहीं हो जाता, शांति नहीं मिल सकती। भक्त कहता है कि अपना अहंकार अपने

इष्टदेव को समर्पण कर दो तब शांति ही शांति है। दोनों का भाव एक ही है। सँसार में आये हैं - दुःख ही दुःख मिलेगा। कुछ देर के लिए वस्तु विशेष मिली। उससे आपको संतुष्टि हुई, सुख मिला। फिर वही हालत मन की, मन फिर अशांत। यदि सँसार के सुखों से शांति मिलती तो जितने धनाढ्य लोग हैं वो कभी अशांत नहीं होते। वे लोग तो हमसे अधिक अशांत हैं। ये बड़े-बड़े मकान-कोठियाँ, मोटर गाड़ियाँ, तथा सँसार के अन्य सुख शांति नहीं दे सकते। कुछ ऐसे लोग हैं जिनके पास इतना पैसा है कि वो नहीं जानते कि उसको खर्च किस प्रकार से किया जाये परन्तु मन ही मन वो भी असंतुष्ट हैं।

शांति क्या है वह कैसे प्राप्त हो ?

सच्ची शांति की खोज में बहुत कम लोग हैं। हम सँसार की वस्तुओं की प्राप्ति हेतु अधिक ज़ोर देते हैं। हम सब सँसार की वस्तुओं की प्राप्ति हेतु अधिक ज़ोर देते हैं। सोचते हैं कि वो वस्तु मिल जाएगी तो हम बड़े सुखी और शांत हो जायेंगे। हमारा लड़का नौकरी कर लेगा, हमारी लड़की ससुराल चली जाएगी, हमारा बड़ा मकान बन जायेगा तब हमें शांति मिल जाएगी। परन्तु ऐसा होता नहीं। सच्ची शांति क्या है ? सचमुच शांत व्यक्ति, उत्तेजना में रहते हुए, सन्सारी कष्टों में रहते हुए भी सब दुखों से अप्रभावित रहेगा। किसी भी प्रकार की उत्तेजना उसको प्रभावित न कर पाए - ऐसी स्थिति कौन सी है? उसकी खोज के लिए इतने लोग हैं। सँसार में छोड़िये सत्संग में कितने लोग हैं जो सच्ची शांति के अभिलाषी हैं ?

सच्ची शांति आत्मा में है। हमें जब तक आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता व हम उसमें स्थित नहीं होते, तब तक हम कभी भी शांत नहीं रह सकते। तो ये कैसे हो ? इसके लिए तो जो व्यक्ति शांति चाहता है उसको तो भगवान श्री राम की तरह सब कुछ न्योछावर करना होगा। सँसार को छोड़ना होगा, मन से छोड़ना होगा। पर सँसार को छोड़ना कैसे होगा ?

ब्रह्मज्ञानी सदा निर्लेप जैसे जल से कमल अलेप

पानी में कमल होता है उस पर पानी के छींटे टिकते नहीं हैं। चारों तरफ़ पानी ही पानी है पर कमल उससे ऊँचा उठा रहता है। इसी प्रकार हर सच्चा साधक सँसार में रहते हुए भी उसके दुखों से प्रभावित नहीं होता। वो अपने स्वरूप में स्थिर होकर आनन्द स्वरूप होता है,

शांत स्वरूप होता है। परन्तु यह स्थिति प्राप्त कैसे हो ? यह बात चंद दिनों में नहीं होने वाली। इस हेतु तो ज़िन्दगी की बाज़ी लगानी पड़ती है। मगर एक सामान्य व्यक्ति को क्या करना होगा जिससे उसको शांति मिले? वह भी तो शांति चाहता है।

पुरुषार्थ, कर्म और सन्तोष का भाव

महापुरुष कहते हैं कि कठिनाइयों को दूर करने हेतु पुरुषार्थ करना हमारा धर्म है। लोगबाग समझते हैं कि दुःख-सुख तो ईश्वर देते हैं। ईश्वर भी देते हैं, परन्तु परन्तु वो भी हमारे संस्कारों के, हमारे पिछले जन्म के कर्मों के अनुसार देते हैं। पुरुषार्थ करना होगा। पुरुषार्थ के अर्थ हैं कि इस समय हमारी जो परिस्थिति है, दुःख-सुख हैं, उनसे हमें ऊपर उठने का प्रयास करना होगा। उनकी निवृत्ति के यदि हमारे भरसक प्रयास सफल नहीं होते तो हमें ईश्वर के चरणों में समर्पण कर देना चाहिए कि - " हे प्रभु ! तेरी यही मर्ज़ी है तो मैं इसी में राज़ी हूँ/ तू जैसा चाहता है, मैं उसी में संतुष्ट हूँ।"

जब तक ऐसा 'राज़ी-ब-रज़ा' वाला भाव नहीं अपनाएंगे, सामान्य व्यक्ति को भीतर में सुःख नहीं मिलेगा। आत्म साक्षात्कार तो लाखों -करोड़ों में कोई एकाध करता है। परन्तु सामान्य व्यक्ति को तो पुरुषार्थ करना ही होगा। उसे प्रमादी नहीं होना चाहिए। सफलता-असफलता ईश्वर के चरणों में अर्पित करनी चाहिए। प्रयास करने पर भी, पुरुषार्थ करने पर भी यदि हमें सफलता नहीं मिलती तो अपने आपको ईश्वर के चरणों में समर्पण करना चाहिए तो उससे उत्पन्न सन्तोष में भी हमें बहुत शांति मिलेगी।

सामान्यतः यही देखा जाता है कि हम पारिवारिक व सामाजिक सम्मान प्राप्त करने के लिए ही यत्न करते रहते हैं, परन्तु सफलता नहीं मिलती। प्रत्येक व्यक्ति दुखी है। हमें ईश्वर की इच्छा में अपनी इच्छा को मिलाना है। इसके लिए पहला साधन सन्तोष का किया करें और फिर समर्पण का किया करें। इससे शक्ति प्राप्त होगी। हमें सत्संग के द्वारा अधिकाधिक महापुरुषों का सत्संग करना चाहिए। उनके जीवन से हमें प्रेरणा मिलती है। उस प्रेरणा के परिणाम स्वरूप ही मन थोड़े देर के लिए शांत हो जाता है। विश्वास मिल जाता है कि वर्तमान परिस्थितियां वहीं ही रहें परन्तु हमारे भाव में परिवर्तन आता जाता है।

वास्तविक शांति

परन्तु सच्चे जिज्ञासु को वास्तविक शांति हेतु आत्म साक्षात्कार करने का यत्न करना होगा, जब तक वह नहीं हो जाता, सच्ची शांति नहीं नहीं मिलेगी। इसके लिए जो अभ्यास बताया गया है, वह अभ्यास अधिकाधिक करना चाहिए। वैसे तो वेदांती कहते हैं 'तत्त्वमसि' अर्थात् तुम तो ब्रह्म हो, आत्मा हो, परमात्मा के स्वरूप हो, सो तो ठीक ही है। तुम शांति के साधक स्वयं ही हो। भ्रम या अहंकार के कारण तुम यह समझ रहे हो कि तुम शरीर हो, मन हो, बुद्धि हो, आदि। इन आवरणों को तुम स्वयं का अपना आपा समझ लेते हो। ऐसा नहीं है, ये सब तो भिन्न-भिन्न प्रकार के आवरण हैं। पर सिद्धांत की ऐसी बातों से दो चार मिनिट को ही आनन्द मिलता है। परन्तु जब तक वैराग्य द्वारा, अभ्यास द्वारा, आत्म स्थिति प्राप्त नहीं कर लेते तब तक शांति नहीं मिल सकती।

आये दिन, घड़ी-घड़ी, हम छोटी-छोटी बातों से उत्तेजित हो जाते हैं। मन के स्थान पर आकर सुख से भी प्रभावित होकर हम चंचल हो जाते हैं। यह सभी मन की साधना है। यह सब अपनी सामान्य, बाहरी शिक्षा या विद्या की साधना है। हम जब तक पराविद्या का साधन नहीं करेंगे - (प्रेम भक्ति द्वारा चाहे ज्ञान द्वारा) तब तक सच्ची शांति नहीं मिल सकती। हम जितने साधन करते हैं उन सबका फल तो अवश्य मिलता है पर मन्जिल अभी दूर है। मन्जिल तो बड़ी दूर है पर समझ लेना चाहिए कि हमारा लक्ष्य वही है। वही हमारा सच्चा गुरु है, सच्चा परमात्मा है। यही हमारा वास्तविक रूप है।

प्रमाद और अहंकार की बाधाएँ

इस रास्ते पर प्रमाद यानी आलस्य बहुत बाधा डालता है। इस पर विजय पाने का निरन्तर प्रयास करना चाहिए, पुरुषार्थ करना चाहिए। अभ्यास यही करना चाहिए कि हम अपने आपको पहिचान लें व अपने स्वरूप में निरन्तर स्थित रह सकें। थोड़ी देर के लिए भी हमें सफलता मिले तो उससे भी बड़ा लाभ मिलता है। परन्तु लक्ष्य हमारा भी यही है कि हम अपने स्वरूप को पहिचानें और उसमें हमारी स्थिरता बनी रहे। इसी में सच्ची शांति है। हमारे जो सच्चे जिज्ञासु हैं, शिक्षक हैं, जिनके जिम्मे उपदेश देने का दायित्व है - पूज्य गुरु महाराज के शब्दों में - उनको चाहिए कि दूसरों को उपदेश देने से पहले स्वयं अधिकारी बनें अर्थात् आत्मा की

समीपता, गुरु के चरणों की समीपता प्राप्त करें तभी दूसरे भाइयों पर आपके संग का प्रभाव पड़ेगा।

प्रत्येक व्यक्ति को सोचना चाहिए, गंभीरता से सोचना चाहिए कि हमें आत्मा की अनुभूति क्यों नहीं होती। इसका एक बड़ा कारण यह भी है कि हम सब अपने अहंकार के वश कार्य कर रहे हैं। साधना में भी अहंकार है जबकि आनी चाहिए दीनता। दीनता का मतलब है कि जिनको हमने अपनाया है उनके चरणों में हम अपना सर्वस्व अर्पण कर दें। यह भाव बना रहे कि यह शरीर भी तेरा है, मन भी तेरा है, बुद्धि भी तेरी है। जब मेरा कुछ नहीं है तो सब कुछ अपना हो जाता है। इस वक्त हमारी धारणा यह है कि सब मेरा ही मेरा है। कोई स्थूल अहंकार में फँसा है तो कोई सूक्ष्म अहंकार में फँसा है। परन्तु हम सब हैं अहंकार में।

महापुरुष कहते हैं कि ऐसा अहं-रहित भाव अपनाना बड़ा सरल है। परन्तु सरल होते हुए भी यह हमारे लिए कठिन होता जा रहा है। इसके लिए व्याकुलता की आवश्यकता है। विरह चाहिए, वैराग्य चाहिए, त्याग चाहिए। हमारे मन के भीतर जो भिन्न-भिन्न प्रकार की मलीनता है उसको त्यागना है, धो डालना है। साक्षात्कार करने से पहले गंगास्नान करना है, निर्मल होना है। कुछ लोग कहते हैं कि हम चाहे कितने पतित हों, कितने ही अपवित्र हों परन्तु जब हम परमात्मा से सच्चा प्रेम करते हैं, तो मलीनता धुल जायेगी। परन्तु इसके लिए हम कुछ करें तो सही।

ऐसे प्रेम में विरह होनी चाहिए, व्याकुलता होनी चाहिए। तब फिर हमें आभास होगा कि वो आत्मा दूर नहीं है, हमारे पास ही है। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर में है। हम पर जो आवरण हैं उनको उतारना होगा, दूर करना होगा। हमारे यहाँ का रास्ता भक्ति का रास्ता है, प्रेम का रास्ता है। प्रेम से ही आत्मा का साक्षात्कार धीरे-धीरे होने लगता है। मगर हम श्रद्धा और विश्वास के साथ-साथ अपने को अधिकारी बनाते चलें। गुरु से हम स्थूल रूप से फ़ैज़ या कृपा और ईश्वरीय प्रेम की प्रसादी लेते हैं। दोनों प्रसादी लेनी होंगी। एक से भी काम चल जाता है मगर सबका नहीं। जिसके संस्कार अच्छे हैं उसका एक से काम चल जाता है परन्तु देखने में आया है कि ऐसा होता नहीं है। इतिहास भी बताता है और कई महापुरुष भी बताते हैं।

ये वासनाएं कभी खत्म नहीं होतीं पिछले संस्कार रह जाते हैं। उसके लिए जो भी प्राप्ति होती है उसे आत्मा का धन्यवाद करते हुए ग्रहण करें और साथ-साथ ही अपने पुरुषार्थ की मेहनत भी सतत करते रहना चाहिए। तब प्राप्त होने लगेगी शांति, सच्ची और स्थायी शांति।

परिवार की शांति ही में ही स्वर्ग है

यह भाइयों की आम शिकायत रहती है कि घर में शांति नहीं रह पाती। शांति प्राप्त करने के लिए हमें अपने चौबीसो घंटों के व्यवहार पर ध्यान देना होगा। हम दिन रात जिनके सम्पर्क में रहते हैं उनसे अगर हमारा व्यवहार प्रेममय रहेगा तो शांति प्राप्त करने में बहुत सहूलियत होगी। इसके विपरीत यदि हम किसी से लड़ाई-झगड़ा या वाद-विवाद कर लेंगे तो इसका हमारे मन पर गहरा प्रभाव पड़ेगा। तब संध्या-वंदना में भी मन नहीं लगेगा, मन चंचल रहेगा। यदि आपका दिन शांतिमय बीता हो, और प्रभु की याद भी बनी रहे तो आप पाएंगे कि संध्या में शांति और आनंद का अनुभव होता है।

हम अधिकाधिक अपने परिवार के सम्पर्क में रहते हैं। इसलिए परिवार में शांति और प्रेममय वातावरण बनाये रखने का प्रयास करें। पति-पत्नी हर परिवार में भिन्न-भिन्न विचारों वाले मिलते हैं। विचारों में सामंजस्य बहुत कम मिलता है और टकराव हो जाता है। भाइयों तथा बहनों को एक दूसरे के विचारों को समझने के लिए सहयोग करने की नितान्त आवश्यकता है। बिना इसके पारिवारिक शांति नहीं हो सकती। आज का सामाजिक वातावरण हमारी पुरानी संस्कृति पर बहुत गहरा आघात कर रहा है। बहनों में तरह-तरह की क्रांति आ रही है। समान अधिकार का नारा जो आज की सभ्यता ने लगाया है वह भी पारिवारिक कलह के लिए जिम्मेदार है। चाहिए तो यह था कि हम सभी (पति-पत्नी) अपने अधिकार की बात भूलकर एक दूसरे के प्रति कर्तव्य की भावना को लेकर प्रेम और सेवा से जीवन-यापन करें जो शांति के लिए बहुत महत्वपूर्ण है, ज़रूरी है, जिससे हर घर स्वर्ग बन जाये।

ऐसी स्थिति के लिए पुरुष भी दोषी हैं। पुरुष-वर्ग बहनों को हीन दृष्टि से देखता है और समझता है कि पत्नी मेरी दासी है। यह सोचना सर्वथा उचित नहीं है, वह तो आपकी जीवन-संगिनी है, आपकी सहचरी है। उसकी खुशी से ही आप खुश रह सकते हैं। बहनें हमारी

इतनी सेवा करती हैं कि हम उसका बदला नहीं कर सकते। हमें तो उनका आभारी होना चाहिए।
बहनों को भी बिना बदले की भावना के पति के प्रति अपना कर्तव्य निभाना चाहिए।

बहनों का क्या कर्तव्य होना चाहिए ?

इस बात के लिए श्रीकृष्ण जी की पत्नी सत्यभामा जी तथा द्रौपदी जी के निम्नलिखित प्रसंग मार्गदर्शक भी हैं और प्रेरक भी -

एक बार सत्यभामाजी ने द्रौपदी जी से पूछा - " सखी तुम अपने पाँचों पतियों को किस प्रकार सन्तुष्ट रखती हो/ वे तुम पर कभी क्रोध नहीं करते वे सबके सब तुम्हारे वश में रहते हैं/ क्या इसके लिए तुमने कोई विशेष व्रत, तप या जप किया है? किसी मन्त्र, अंजन या जड़ी बूटी आदि का सहारा लिया है ? तुम मुझे भी ऐसा कोई उपाय या जादू टोना बतलाओ जिससे मैं भी उनको वश में कर सकूँ।"

द्रौपदी ने उत्तर दिया -" बहिन, तुम यह क्या पूछ रही हो ? क्या कभी पतिव्रता स्त्री को अपने पति को वश में करना चाहिए ? यह तो स्त्रियों के ओछेपन का सूचक है/ कि वे अपने पति को वश में करना चाहें/ तुम बुद्धिमती हो, श्रीकृष्ण की प्यारी हो, तुम्हारे मुँह से ऐसा प्रश्न शोभा नहीं देता/ देखो बहन, मैं तुम्हें एक बड़े रहस्य की बात बताती हूँ/ जब पति को यह मालूम होता है कि मेरी स्त्री मन्त्र-तंत्र के द्वारा मुझे अपने वश में करना चाहती है तब वह उससे घबराने लगता है, और जैसे लोग सांप के घर में रहते हैं, कुछ वैसे ही चिन्तित हो जाता है/ जब पति चिन्तित हो गया, तब घर वालों को शांति और सुःख कैसे मिल सकता है ? इसलिए मन्त्र-तंत्र से पति को वश में करने की चेष्टा बहुत बुरी बात है। उससे पति वश में तो नहीं होता, बुराई पैदा हो जाती है। इसलिए पति को वश में करने के लिए कदापि ऐसी चेष्टा नहीं करनी चाहिए। बहन, पति को प्रसन्न रखना और स्वयं उसके वश में हो जाना ही उन्हें अपने वश में रखने का सच्चा उपाय है।"

सत्यभामा जी ने फिर पूछा-" तो इसके लिए आपको पाँच-पाँच पुरुषों को वश में रखने में सफलता कैसे मिली ? कृपया यह तो बताओ। द्रौपदी ने सहज भाव से समझाया कि, " मैं अहंकार, क्रोध, कामना, आदि दुष्ट भावों से बचकर पवित्रता के साथ पाण्डवों की सेवा करती हूँ।

बुरी जगह पर नहीं बैठती, दुराचारिणी स्त्रियों से कभी बात नहीं करती हूँ/ स्वार्थ के दाव-पेंच या कोई चाल नहीं चलती/ मैं किसी अन्य पुरुष के रूप, गुण, अवस्था, सज-धज आदि से आकर्षित नहीं होती/ घर की सारी सामिग्रीयो को साफ़ - सुथरा रखती हूँ/ स्वच्छता और पवित्रता के साथ भोजन बना कर ठीक समय पर भोजन खिलाती हूँ, खाती हूँ/”

पति की रुचि के अनुसार काम करती हूँ/ न बहुत बहस करती हूँ न कभी झुंझलाती हूँ/ तुनक कर कड़वी बात तो किसी से कभी नहीं कहती हूँ/ वो जिस वस्तु को पसन्द नहीं करते उसे मैं भी पसन्द नहीं करती/ उनकी हर बात मानती हूँ/ उनका जैसे मैं हित हो, वे जैसे प्रसन्न हों वही मेरा व्रत है/ अच्छाई के भाव को कभी नहीं छोड़ती/ भला कौन पतिव्रता अपने पति का अप्रिय करना चाहेगी ? मैं उन्हें ही अथवा दोष दृष्टि से कभी नहीं देखती/ जो काम करती हूँ, लगन से करती हूँ/”

पति ही स्त्री का देवता है और एकमात्र गति है। उसके वश में हो जाना ही उसे वश में करने का सच्चा उपाय है। इतना वश में हो जाना चाहिए कि वश में करने की याद ही न रहे। स्त्री के लिए पति के समान कोई देवता नहीं है। पति की प्रसन्नता से स्त्री के सब मनोरथ पूरे हो जाते हैं। पति के प्रसाद से ही स्त्री के सब मनोरथ पूरे होते जाते हैं। पति के क्रोध से उसकी सब मनोकामनाएं निष्फल हो जाती हैं। पति के प्रसाद से ही स्त्री को लौकिक, पारलौकिक और परमार्थिक आनन्द प्राप्त होता है।

आप या आजकल की आधुनिक स्त्रियाँ भले ही इन बातों को न मानें या न कर पायें, परन्तु सत्य तो यही है कि सत्यभामा और द्रौपदी की उपरोक्त वार्ता नारी के कर्तव्यों पर पूरी तरह प्रकाश डालती है तथा घर में शांति बनाये रखने का एक सरल, सुन्दर साधन बताती है।

जिस घर में बहनों का आचरण ऐसा होगा, उनका दुराचारी और दुष्ट पति भी उनके वश में हो जायेगा। अपने प्रेममय व्यवहार से ही हम किसी के मन को जीत सकते हैं। इसी तरह भाइयों को भी अपने व्यवहार में कोमलता, प्रेम और सौजन्यता रखनी चाहिए। ऐसा करने से घर स्वर्ग हो जायेगा और मन में सच्ची शांति उतरेगी । गुरुदेव हमको शक्ति दें कि हम ऐसा प्रेममय जीवन जी सकें और ऐसे शांत, स्नेहमय वातावरण में रहते हुए जीवन के मुख्य आध्यात्मिक उद्देश्य को पा सकें ।

सँसार में मोह-ग्रस्त हो जाना - अगले जन्म को निमंत्रण देना है

(ब्रह्मलीन परमसंत डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

कई भाई व बहिनें यह पूछते हैं कि चित को निर्मल करने पर बल दिया जाता है परन्तु चित को निर्मल किया कैसे जाये ? जब ये चित निर्मल हो जाता है तो आत्मा का साक्षात्कार तुरन्त हो जाता है। इसे निर्मल करना एक महान तप है। जो सच्चे जिज्ञासु हैं, जिनके मुखारबिंद से ये शब्द निकलते हैं कि - " हे परमात्मा ! केवल आपका ख्याल रहे, मैं अन्य सब बातें भूल जाऊँ ", उन लोगों के लिए स्वामी रामदास जी ने साधना की कई प्रक्रियाएं बतलायी हैं। अन्य व्यक्तियों के लिए तो समय लगेगा, साधना की आवश्यकता होगी, परन्तु जो गंभीर व्यक्ति हैं, जो यह चाहते हैं कि इसी जीवन-काल में उनकी चित-शुद्धि हो जाये, उन्हें कुछ बलिदान करना होगा। स्वामी रामदास जी ने इसी के लिए चार बातें बतलायी हैं : तितिक्षा, उदासीनता, जगत प्रणाम एवं नाम।

(1) तितिक्षा - योग साधना में तितिक्षा का यह मतलब लिया जाता है कि शरीर इस तरह बलबान हो जाये कि वह सर्दी- गर्मी दोनों को सहन कर सके। परन्तु चित शुद्धि के लिए उन्होंने इसका मतलब यह बताया है कि यदि जीवन में सुख -दुःख आते हैं तो साधक को चाहिए कि दोनों को एक जैसा समझे। यदि कोई हमारा अपमान करता है तो उसको ईश्वर-प्रसादी समझकर सहन करना चाहिए। अहंकार को छोड़कर दीनता अपनानी चाहिए। दीन वही बन सकता है जो प्रतिकूल और अनुकूल परिस्थितियों में ईश्वर को नहीं भूलता और परिस्थितियों के इन दोनों रूपों को ईश्वर की प्रसादी समझता है। यह तितिक्षा है साधना के लिए। सँसार में रहते हुए मान-अपमान तो होगा ही, दुःख-सुःख आयेंगे ही, शरीर के रोग आयेंगे, मानसिक उत्तेजना मिलेगी - इन सबको ईश्वर प्रसादी समझकर व्यक्ति अपने भीतर में संतुलन न खोये, भीतर में शांत अवस्था बनी रहे, ईश्वर के साथ लौ लगी रहे। ईश्वर को छोड़कर किसी और के साथ हमें लगाव न हो।

ईश्वर के साथ प्रेम होना भी तप है, महान तप है। कहने को तो बड़ा सरल है परन्तु जब हम व्यवहार में तितिक्षा का अभ्यास करते हैं तो बार-बार असफल होते हैं। पर स्वामी

रामदास जी का ऊँचे अभ्यासियों के लिए पहला आदेश यही है। इससे घबराना नहीं चाहिए। जो पुराने अभ्यासी हैं और जो चाहते हैं कि उनका जल्दी उद्धार हो जाये, उनके लिए स्वामीजी का आदेश यही है कि वे तितिक्षा का अभ्यास करें। प्रत्येक परिस्थिति में - चाहे अनुकूल हो या प्रतिकूल - भीतर की शांति और संतुलन बना रहे।

(2) उदासीनता - उनका दूसरा परामर्श है - उदासीनता। संसार के भोगों को भोग लिया, यहाँ के सुःख देख लिए, यहाँ के सम्बन्धी देख लिए, परिवार के जितने सदस्य हैं उनका हमारा साथ क्या व्यवहार है, देख लिया। अब निद्रा से जाग उठें कि इस सँसार में अपना कोई नहीं है एवं सँसार में कोई वस्तु ऐसी नहीं है जिसका अस्तित्व हमेशा के लिए हो। सब व्यक्तियों, सब वस्तुओं का अस्तित्व क्षणभंगुर है, उनका स्वरूप परिवर्तनशील है। कोई भी व्यक्ति, कोई भी वस्तु - सब नाशवान हैं। सिवाय परमात्मा के। कोई भी व्यक्ति या वस्तु, या विचार चिरकाल तक नहीं रहता। आज पैसा है तो कल गरीबी आ जाती है। आज स्त्री और पति में प्रेम है, कल दोनों में किसी मामूली सी बात को लेकर झगड़ा हो जाता है। सँसार जब ठुकराता है, जब दुःख आते हैं, जब उत्तेजना मिलती है - तब जिज्ञासु को वैराग्य होता है कि यह सँसार क्या है ? क्या खाना-पीना मौज़ उड़ाना ही सँसार है ? जब सँसार का सार पता लगता है तो उसके हृदय में उदासीनता आ जाती है। ये कैसा सँसार है ? मैं किस कीचड़ में फंसा हुआ हूँ ? किस दल-दल में फंसा हुआ हूँ ? तब वह जिज्ञासु यहाँ से निकलने की कोशिश करता है और ईश्वर से लौ लगाता है। जब तक संसार से उदासीनता नहीं आती, ईश्वर प्राप्ति का सच्चा भेद नहीं खुल सकता।

प्राणी ईश्वर को चाहे और सँसार को भी चाहे, यह बात एक दूसरे के विपरीत है। इसका मतलब यह नहीं कि सँसार को छोड़कर भाग जाना है या जंगलों में जाकर रहना है। जंगल में जाकर क्या करेंगे ? हमारे भीतर में जो सँसार है वो तो हमें वहाँ जाकर भी कष्ट देगा। कहाँ भागकर जायेंगे ? जब सच्चा वैराग्य भीतर में उत्पन्न हो जाता है तो सँसार से उदासीनता उत्पन्न हो जाती है। उदासीनता का मतलब यह नहीं कि हम किसी से लड़ते हैं, झगड़ते हैं, बोलते नहीं हैं या किसी से बदले की भावना रखते हैं। हमको समझ आ जाती है, सच्चा ज्ञान हो जाता है कि इस सँसार में कुछ सार नहीं है, यदि सार है तो केवल एक परमात्मा में है। सँसार से उदासीनता आने के बाद ही ईश्वर के साथ प्रेम उत्पन्न होता है।

अज्ञानी व्यक्ति संसार में फँसे रहते हैं। ठोकरें भी लगती हैं तो भी उनको मज़ा आता है। वो अज्ञान-निद्रा से जाग्रत नहीं होते। जब तक इस मोह से, अज्ञान के अंधेरे से, हमें उदासीनता नहीं होगी तब तक ईश्वर के साथ सच्चा प्रेम नहीं हो सकता। तब तक हमें इस बात का भी आभास नहीं हो सकता कि इन शब्दों के अर्थ क्या हैं - " या रब तेरी रज़ा रहे और तू ही तू रहे ।" सच्चे जिज्ञासु को और कोई इच्छा नहीं, उसे मुक्ति की भी इच्छा नहीं है। उस परमात्मा की गति (रज़ा) में जिज्ञासु अपनी गति मिला देता है, इसी में उसको प्रसन्नता होती है। वो भगवान की रासलीला में सम्मिलित होकर प्रसन्न चित्त उसका आनंद लेता है। 'केवल तू ही तू रहे'। बाहर में भी तू हो और मेरे भीतर में भी तू हो। केवल तू ही तू रहे। मेरा अस्तित्व प्रेम के उस महान सागर में लय हो जाये। वो ही वो रहे। कहने वालों के लिए तो वह (द्वैत भाव) रहता ही नहीं, केवल हम अज्ञानियों को समझाने के लिए महापुरुष ऐसा कहते हैं।

" या रब तेरी रज़ा रहे और तू ही तू रहे "

जब तू ही तू रहता है तो हमारी ज़बान बंद हो जाती है, कहने वाला है ही कौन ? महापुरुष हम पर दया करके, करुणा करके, मन के स्थान पर आकर हमें समझाने का प्रयास करते हैं। ऊँचे स्थान से नीचे मन के स्थान पर आकर यानी हमारे ही स्थान पर आकर वो हमें समझाने की कोशिश करते हैं, यह उनकी बड़ी दया है। उदासीनता का मतलब यह नहीं कि संसार में रहकर हम यहाँ के व्यवहार न करें। नहीं, हम संसार में भी रहेंगे पर संसार की असलियत क्या है, सार क्या है, उसको समझ कर चलेंगे। मृत्यु आनी है, इस शरीर को छूटना है, इसके लिए हमें तैयारी करनी है। जिसके भीतर में उदासीनता पैदा हो गयी है, वही मरने को तैयार होता है और जब तक इंसान जीते जी नहीं मरता, वह स्वतंत्र नहीं हो सकता। उस 'मृत्यु' के लिए तैयार रहना होगा ?

एक महापुरुष की सेवा में एक सच्चा जिज्ञासु गया और पूछा कि, 'मुझे क्या साधना करनी चाहिए'? महापुरुष ने कहा कि, " यदि तुम्हें यह पता लग जाये कि छै घंटे के बाद तुम्हारी मृत्यु हो जाएगी तो तुम क्या करोगे ? " वो जिज्ञासु कुछ सरल तबियत का था, बोला कि, " महाराज, मुझे तो कुछ समझ में नहीं आ रहा कि मैं क्या करूंगा ?" उन्होंने पूछा कि, " क्या तुमने कभी किसी मरते हुए व्यक्ति को देखा है?" उसने कहा, "हाँ महाराज, देखा है।"

" वह क्या करता है ?"

" वह सबसे क्षमा मांगता है कि, " भाई, मुझसे कोई गलती हो गयी हो, कोई भूल हो गयी हो तो मुझको क्षमा कर देना। और वह खुद भी कोशिश करता है कि मन से उन सब लोगों को भी क्षमा कर दे जिन्होंने उसके प्रति कुछ अपकार किया हो। "

उस महापुरुष ने जिज्ञासु को उपदेश दिया कि इसी प्रकार का जीवन व्यतीत करो और याद रखो कि मौत होने वाली है। उस वक्त तुम्हारी स्थिति क्या होनी चाहिये ? किसी के साथ न राग हो, न द्वेष हो। यदि तुमने किसी के साथ बुराई की है तो उससे क्षमा माँग लो और इन संस्कारों से मुक्त हो जाओ। यदि इन संस्कारों से मुक्त नहीं होंगे तो तुम्हें दूसरा जन्म अवश्य मिलेगा। इसी तरह से यदि किसी ने तुम्हारे साथ धोखा किया है, कोई बुराई की है तो उसको क्षमा कर दो। इसी निर्मल अवस्था को लेकर, राग द्वेष से मुक्त होने की अवस्था को लेकर कबीर साहब ने परमात्मा से निवेदन किया था कि, " प्रभु, जैसी सफ़ेद चादर आपने मुझे दी थी, वैसी की वैसी ही सफ़ेद चादर आपके चरणों में अर्पण है। " ये अवस्था संतों की होती है। वे संसार से उपराम (मरे हुए) होते हैं। उनकी कोई आसक्ति नहीं होती, किसी प्रकार का कोई बंधन नहीं होता, उनका कोई शत्रु नहीं है और किसी के साथ कोई मोह नहीं है।

सत्संग करते हैं और यदि सत्संग में फँस गए तो छूटेंगे नहीं। ये ठीक है कि सत्संग अच्छी बात है, मगर यदि इससे चिपकाव हो गया तो दूसरे जन्म में आकर फिर यही काम करना पड़ेगा। ये मुक्ति नहीं हुई, न ही यह स्वतंत्रता है। यह राग है, खिंचावट या चिपकाव है। चिपकाव का परिणाम होता है संस्कार। जब तक संस्कार हैं, जन्म मरण का चक्र चलता रहेगा। बुरे संस्कार हैं तो बुरा जन्म मिलेगा, और अच्छे संस्कार हैं तो अच्छा जन्म मिलेगा, मगर जन्म मिलेगा ज़रूर। इसके लिए उदासीनता करनी चाहिए कि मन जहाँ-जहाँ फँसा हो वहाँ से उसे निकाल लेना चाहिए। यह राग और द्वेष दोनों में फँसा रहता है पर द्वेष में अधिका इससे छूटना बड़ा कठिन है।

और भी बातें हैं- जैसे आशाएं हैं, इच्छाएं हैं, घृणा है, निन्दा है। अपने स्वभाव के कारण जो आदतें पड़ जाती हैं, इंसान उन्हीं में फँसा रहता है। तो उन महापुरुष की जो बात है कि ' छै घंटे में मौत आने वाली है' -ये याद रखना है। उसके लिए ज़रूरी है कि जहाँ-जहाँ

आपका लगाव है उन काटों से अपना पल्ला छुड़ा लेना चाहिए। यद्यपि यह है बड़ा कठिन। यदि हम यह नहीं करते तो सच्ची उदासीनता उत्पन्न नहीं होगी। मन में पकड़ रहेगी। ठीक है कि उदासीनता हो मगर उदासीनता के साथ चिपकाव न हो। इसका मतलब रूखापन नहीं है। उदासीनता का मतलब यह है कि संसार का सार समझ में आ गया कि यहाँ रहने वाला कुछ भी तो नहीं है, इसलिए इसके साथ मोह-ग्रस्त होना दूसरे जन्म को निमंत्रण देना है।

(3) जगत प्रणाम - तीसरा उपाय स्वामी रामदास जी का है - ' जगत प्रणाम '। यह सारा जगत जो दीखता है ईश्वर का ही रूप तो है। सबको प्रणाम करना यानी सबका सम्मान यह समझकर करना कि यह ईश्वर का रूप है। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह गरीब है, अनाथ है, या धनवान है, सबका एक जैसा सम्मान यानी सबके भीतर परमात्मा का दर्शन करना चाहिए। कई लोग सुबह उठकर पहले तो गुरु के चरणों में प्रणाम करते हैं फिर सारे जगत को प्रणाम करते हैं। ऐसा करने से हमारी दृष्टि ईश्वर-मय बन जाती है।

जिस वक्त यह साधन सिद्धि का रूप पकड़ लेता है, सहज अवस्था होती है, कण-कण में उसी का दर्शन करते हैं, फिर किसी के साथ बैर, विरोध, बुरी भावना या घृणा क्यों हो ? हम तो सब की ही पूजा करेंगे। कथित शत्रुओं की भी पूजा करेंगे।

यह आसानी से होता नहीं है। जो बात आसानी से नहीं होती उसी के लिए बार-बार प्रयास करने को ही साधना कहते हैं। लेकिन असली साधना यह है कि जहाँ -जहाँ मन फंसा हुआ है वहाँ से हटाकर उसे शास्त्रों के नियमों के अनुसार, गुरु के उपदेश के अनुसार, प्रकृति के नियमों के अनुसार बनाना है। इस कोशिश को ही साधना कहते हैं।

" मन के साथे सब साथे, सब साथे सब जाय "

जब तक मन नहीं सधता ईश्वर के दर्शन नहीं हो सकते। यह मेरा विश्वास है। कई भाई इससे भले ही सहमत न हों, कि न जब तक ईश्वर के गुणों को नहीं अपनाता, मनुष्य जब तक ईश्वर-रूप नहीं होता, तब तक साधना सिद्ध नहीं होती। तो, स्वामी रामदास जी का परामर्श है कि सब प्राणियों में, जगत के प्रत्येक कोने में, स्थावर जंगम में परमात्मा की उपस्थिति का भान करें। यही हमारे यहाँ की साधना है। ईश्वर कृपा जो हर वक्त बरसती रहती है, जिसे

भगवत-प्रसादी या फ़ैज़ कहते हैं, जिसको ईसाई मत में ग्रेस (grace) कहते हैं और संतों की भाषा में इसको अमृत कहते हैं, उसकी धार को प्रतिक्षण पकड़ना चाहिए। इसी प्रसादी को प्रतिक्षण ग्रहण करते रहना चाहिए

धीरे-धीरे इस कृपा की धार को पकड़ना हमारा स्वभाव बन जायेगा, सहज स्थिति हो जाएगी कि हम जहाँ बैठेंगे वहीं उस अमृत-धारा को पकड़ सकेंगे। जैसे ही यह अमृतधारा हमारे शरीर में स्पंदन बना लेती है हमें सब में ही ईश्वर के दर्शन होते हैं। जिस दिन शत्रु के पास बैठकर भी हमें ईश्वर की अनुभूति होगी तब हमारे भीतर में उसके प्रति घृणा नहीं होगी और जब तक किसी भी व्यक्ति के लिए हमारे मन में शत्रुता है तब तक ईश्वर तो दूर, भीतर से आपको सुख भी नहीं मिल सकता, आनंद नहीं मिल सकता। देख लीजिये आप किसी के प्रति शत्रुता की भावना रख कर। आप प्रश्न करेंगे कि दुनियाँ में रहकर हम ऐसा कैसे कर सकेंगे ? जिसको वाणिज्य-व्यापार करना है वह भले ही मर्यादानुसार मित्र को मित्र और शत्रु को शत्रु समझते हुए सतर्क रहे, परन्तु जिसको ईश्वर के दर्शन करने हैं उसको तो सब कुछ बलिदान करना ही होता है।

संत सबमें परमात्मा को कैसे देखते हैं, इसका एक उदाहरण देखिये। एक महापुरुष के घर में एक डाकू भेष बदल कर आया। कहने लगा, " रात बहुत हो गयी है, भूखा हूँ, आश्रय चाहिए।" महापुरुष ने कहा-" अच्छा है, रहिये, परन्तु घर में कुछ है नहीं, मैं बाहर से कुछ अन्न आदि लाता हूँ, आपको भोजन कराता हूँ।" वे घर के बाहर गए, उस डाकू ने महापुरुष की स्त्री को कत्ल किया और उनके आभूषण आदि जो उसने पहन रखे थे, लेकर भागा। रास्ते में वह महापुरुष मिले और बोले -" अरे तुम कहाँ जा रहे हो? ठहरो"। उसके कपड़े खून से रंगे हुए थे। पता तो लग ही गया। " तू तो भूखा था। मैं ले आया सामान, भोजन बनाता हूँ, तू खाकर जा। बिना खाये मैं नहीं जाने दूंगा।" डाकू भय से काँप गया परन्तु वह महापुरुष उसे अपने साथ ले आये। खाना खिलाया, तब कहा कि खाट के नीचे छिप जाइये, पुलिस आने वाली है। इसने स्त्री को मार डाला है, यह वह जानते हैं फिर भी उसको खाना खिला रहे हैं और उसे पुलिस से छिपा रहे हैं। बड़ा कठिन है ऐसा करना, परन्तु उन महापुरुष को सब में भगवान नज़र आते हैं, भगवान की ही रासलीला है -ऐसा समझकर ही उन्होंने सब कुछ किया।

हम बड़ी ऊँची-ऊँची कविताएं (भजन) पढ़ते हैं कि जो कुछ करता है भगवान ही करता है। पर जब हमारी परीक्षा होती है तो हम फेल हो जाते हैं। जब हमारी आशाओं के अनुकूल बातें होती हैं तब तो हम कहते हैं कि परमात्मा बड़े कृपानिधि हैं, उनकी हमारे ऊपर कितनी करुणा है और जब बातें हमारे प्रतिकूल होती हैं, हम ईश्वर को भूल जाते हैं और जितनी यह फिलोसफी (दर्शनशास्त्र) है इसको भी भूल जाते हैं।

तो जगत-प्रणाम का मतलब यह है कि हमारा दुश्मन कोई रहे ही नहीं, हमें सबमें ईश्वर के दर्शन हों। " बिसर गयी सब तात परायी, जब ते साथ संगत मोहि पाई।" गुरु नानक देव जी कह रहे हैं कि जब से मैं सत्संग में गया हूँ, तब से मेरे भीतर में ज्ञान उत्पन्न हुआ है, मेरे भीतर की आँखें खुल गयीं हैं, अब मुझे कोई बेगाना (पराया) नज़र आता ही नहीं। " न कोई बैरी ना बेगाना " अब तो मुझे कोई बैरी या बेगाना दीखता ही नहीं, मुझे सब मेरे ही रूप दीखते हैं। इसके लिए तप करना पड़ता है, केवल बातों से ऐसा नहीं होता है। महापुरुषों की बातों में बड़ा वज़न होता है, कम से कम कोशिश तो करो, सफलता-असफलता प्रभु के हाथ में है।

(4) नाम - स्वामी रामदास जी का चौथा परामर्श है - " नाम "। नाम का मतलब है ईश्वर से प्रेम करना। ईश्वर के जगत रूप की सेवा करना। उस प्रेम रूपी सीढ़ी को अपनाकर या नाम को (गुरु रूप में) अपनाकर भवसागर से पार होना है। नाम वो साधन है जिसके द्वारा हम अपने चित्त को निर्मल करते हैं, संस्कारों से मुक्त होते हैं एवं आत्मा को परमात्मा में लय कर देते हैं। नाम में ही सब साधन आ जाते हैं। अपने आपको योगी बनाना है, ये भी नाम का ही फल है। अपने आपको ईश्वर के चरणों की रज बना देना है, अपने आपको खतम कर देना है, ये भी नाम का ही फल है। नाम केवल राम-राम कहने से नहीं होता। कबीर जी के शब्दों में काठ की माला लेकर जपने से नहीं होता। मन की माला जपो। मन की माला से क्या मतलब है ? इसका मतलब है कि हमें अपने मन को शुद्ध करना है, पवित्र करना है, संस्कारों से मुक्त करना है। अज्ञान से और मोह से मुक्त करना है, मन की दीवार को तोड़ना है एवं आत्मा और परमात्मा के योग के लिए साधन करना है। बीच में दीवार हमारे मन की है जिसे तोड़ना है।

नाम का मतलब है कि जिस तरीके से भी हो हमारा ईश्वर के साथ प्यार हो जाये। कोई राधा का नाम लेकर उसको पुकारता है, कोई कृष्ण का नाम लेकर उसे पुकारता है, कोई

शिव, कोई हनुमान जी, कोई अल्लाह या खुदा या ॐकार आदि नाम लेता है। सब ही सही हैं। परन्तु नाम के साथ भाव होना चाहिए। यदि नाम के साथ भाव नहीं है, प्रीतम से मिलने की व्याकुलता नहीं है, नाम के साथ नाम का अधिकारी बनने की चेष्टा नहीं है, सिर्फ रस्मी तौर पर सुबह पाँच -दस मिनट बैठ लिए और सोच लिया कि हमने तो नाम ले लिया, इससे कुछ नहीं होता। नाम लेते-लेते अपने अस्तित्व को खत्म कर दें। केवल परमात्मा ही परमात्मा रहे। ये सब नाम में ही आ जाता है। गुरु का या ईश्वर का ध्यान करना, भीतर का शब्द सुनना मन को पवित्र करने के साधनों को अपनाना, यह भी नाम में ही आ जाता है।

नाम एक ऐसा विशाल साधन है, एक ऐसी गंग-धार है जिसमें छोटे-छोटे सब साधन लय हो जाते हैं। अन्त में नाम एक प्रेम रह जाता है। भगवान की बांसुरी का वो आकर्षण जिसको सुनकर गोपियाँ घर-बार छोड़ कर भाग खड़ी होती थीं। ये प्रेम है, प्रेम का सम्बन्ध है। मुरली की आवाज़ में ही भगवान की पुकार है, भगवान की स्मृति है। भगवान तो निरन्तर ही मुरली बजा रहे हैं, यदि हमारे कान नहीं सुनते तो दोष किसका है? हमारे भीतर में प्रेम है ही नहीं, व्याकुलता है ही नहीं। ईश्वर के प्रति उदासीनता है इसलिए उस मुरली की धुन की तरफ हमारी खिंचावट होती ही नहीं। चुंबक (magnet) के पास लोहा रखा जाता है तो वह स्वयं खिंच जाता है। अन्य धातुएं रखी जाती हैं तो वे नहीं खिंचतीं। हमारी भी यही स्थिति है। परमात्मा तो बुला रहे हैं, भगवान बुला रहे हैं परन्तु हम उस धातु के बने हैं जिसमें खिंचने का आकर्षण नहीं है। हम क्यों नहीं खिंच जाते, क्योंकि हमारा चित्त निर्मल नहीं है।

स्वामी रामदास जी ने नाम के ऊपर बहुत कुछ लिखा है। अन्य महापुरुषों ने भी नाम के ऊपर बहुत कुछ बताया है। यहां तक कहा गया है कि नाम और नामी में कोई अंतर नहीं है। और ये सत्य है। साधक को नाम में ही पूर्ण समर्पण करना है।

“ मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा ”

अपनापन, अपने मन का चिपकाव, इन सबको छोड़ना है। यहां तक कि ये शरीर भी तो अपना नहीं है। आगे चलकर ये मन भी तो अपना नहीं बनता। इसका सार समझिये। संसार में है क्या, इस हाड मांस के पुतले में है क्या ? केवल गंदगी है। हम अच्छे-अच्छे कपड़े पहन कर इसको सजा कर रखते हैं। आखिर यह है क्या ? जब तक यह शरीर है तभी तक आप ईश्वर प्राप्ति के

लिए साधन कर सकते हैं। जिस वक्त यह शरीर छूट जायेगा, तब आप पछताते रह जायेंगे। ईश्वर के मिलने की कोई साधना बिना मानव शरीर के हो ही नहीं सकती। मोक्ष प्राप्ति के लिए देवताओं को भी मनुष्य चोला धारण करना पड़ता है। ये ईश्वर की महान कृपा है कि हम को मनुष्य चोला मिला है। इसमें दोनों चीजें हैं। गंदगी भी और आत्मा भी है। गंदगी से हमें उदासीन होना है और ईश्वर या आत्मा से प्रेम करना है।

ये चार अमूल्य बातें स्वामी रामदास जी की हैं और यदि हम कोशिश करें तो ये हमारे लिए बड़ी उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं। नाम पर लिखा गया है कि चाहे भोजन छूट जाये, अन्य सब बातें छूट जाएँ परन्तु ईश्वर की स्मृति नहीं छूटे। शुरू-शुरू में उन्होंने वाचक नाम दिया है। ऊँचे-ऊँचे स्वर से " ॐ राम, जय राम, जय, जय राम " का उच्चारण करो। बहुत सारे लोग यही समझते हैं कि केवल यही नाम लेते रहें -- नहीं। आगे चलकर जब उन्होंने इस नाम को अपने शरीर के रोम-रोम में बसा लिया, ईश्वर में श्रद्धा और विश्वास दृढ़ हो गए, भीतर में प्रेम उत्पन्न हो गया, तब उन्होंने भीतर की साधना की यानी मौन की साधना की। ये भी नाम है। महर्षि रमण ने इस स्थिति को इन शब्दों में कहा है कि, "शरीर भी मृतक जैसा हो जाता है, मन स्थिर हो जाता है और श्वांस और प्रश्वांस की गति भी धीमी से धीमी हो जाती है।"

इस स्थिति को अनेक संतों और सूफियों ने यों बताया है-- शरीर तनाव मुक्त हो (relaxation of the body) मन स्थिर हो (relaxation of the mind) भीतर में कोई प्रलाप न हो, कोई भावना या विचार न रहे (relaxation of feelings)। ये तैयारी है। इसके बाद ईश्वर के प्रेम की प्रतीक्षा में साधक बैठ जाए। ये साधन है जो सबको समझना चाहिए। - शरीर सही और स्वस्थ हो, रोगी न हो। मन भी स्वस्थ हो, संकल्प- विकल्प से मुक्त हो। भीतर में कोई तनाव न हो, कोई भाव, कोई आशा, कोई इच्छा न हो। कर्तापन, भोक्तापन का भाव न हो। कलाकार के हाथों में पत्थर जैसे अपने आप को समर्पण कर देता है और कलाकार उस पत्थर से एक बड़ी सुन्दर मूर्ति बनाता है, केवल उसी प्रकार से हमें अपना सर्वस्व भगवान के चरणों में समर्पण कर देना चाहिए। उस महान कलाकार को हमें अपनी गढ़त करने का अवसर देना चाहिए। " हे प्रभु ! तेरी इच्छा पूर्ण हो।" जैसी मूर्ति आप हमारी बनाना चाहते हैं, बना डालिये,

हमें स्वीकार है। अभ्यासी ऐसा करके देखें तो कि जब हम पूर्णतया समर्पण करते हैं तो कितने अद्भुत आनंद की अनुभूति होती है।

इस अनुभूति के लिए भीतर का तनाव छोड़ना होगा और सबसे कठिन बात यही है। महात्मा बुद्ध भी कहते हैं - " हमारा जीवन आशाओं और इच्छाओं की अग्नि में जलता रहता है।" उन्होंने तो यहां तक कहा है कि हमारी आंतरिक बीमारियों और सब दुखों का कारण ' इच्छा ' है। हमारे यहां इच्छाओं से मुक्त होने के लिए संतोष का साधन करते हैं, प्रत्येक परिस्थिति में ईश्वर का धन्यवाद करते हैं एवं जिस हाल में वह परमात्मा हमें रखे उसी में संतुष्ट रहते हैं। ऐसा करने से साधक इच्छाओं और आशाओं से मुक्त हो सकता है। जब तक आशायें और इच्छायें हैं तब तक भीतर में तनाव बना रहेगा। जब साधना में बैठें तो संसार की बातों को भूल जाना चाहिए।

स्वामी रामदास जी ने इन चारों बातों में गीता का सार ले लिया है। कोई भी ग्रन्थ उठा लीजिये, सब में चित्त को निर्मल करना अति आवश्यक बताया गया है। हमारा चित्त जब तक निर्मल नहीं होता तब तक साधना में रस और आनंद आ ही नहीं सकता। जैसे, यदि आपको क्रोध आया हुआ है और आपके सामने स्वादिष्ट भोजन रखा जाये तो उस स्वादिष्ट भोजन में भी आपको आनंद नहीं आएगा। आप उसे खाना नहीं चाहेंगे। इसी प्रकार यदि भीतर में क्रोधाग्नि जल रही है, घृणा है, द्वेष है, शत्रुता है, बदले की भावना है और आप चाहें कि आपको भीतर में शांति मिले, सो तो असम्भव है। आपके भीतर में ईश्वर के प्रति विश्वास नहीं, भय है, आप सुरक्षित अनुभव नहीं करते, भयभीत रहते हैं, भीतर में चाह है कि यह काम इस प्रकार हो जाये, मेरी इच्छा या आशा के अनुसार हो जाये, और जब साधना में बैठते हैं तो इसी की रट लगाते हैं, तो सोचिये कि साधना में आनंद कैसे आ सकता है ?

इन सब बातों से ही भीतर में तनाव उत्पन्न होता है। साधना करते-करते यदि यह तनाव खत्म नहीं होता तो हमारी साधना में कहीं कमजोरी है। पहली सफलता जो साधना में मिलनी चाहिए वह यह है कि भीतर में तनाव न रहे। जिसके भीतर में तनाव है उसका शरीर भी रोगी रहेगा, मन भी रोगी रहेगा। ऐसे व्यक्ति में क्रोध होता है और यह क्रोध और तनाव, जैसा कि डॉक्टर लोग जानते हैं, स्नायु रोग (nervous diseases) के कारण बनते हैं ।

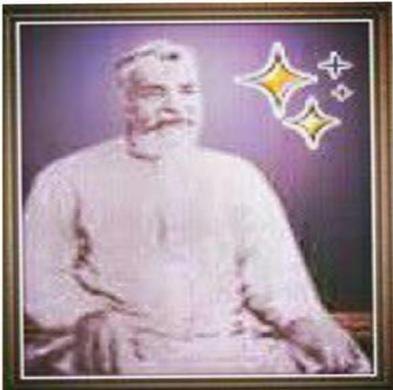
सत्संगी को तो तनाव से दूर रहना चाहिए। गुरुदेव कहा करते थे कि सामान्य व्यक्ति पर तो बुराई उतना प्रभाव नहीं डालती, परन्तु जिसकी चादर सफ़ेद है, जो सतोगुणी है, उन पर यदि काले रंग का कोई दाग पड़ जाता है तो वह दूर से दीखता है। सत्संगी पर बुराई का बड़ी जल्दी प्रभाव पड़ता है। इसलिए सत्संगी को सतर्क रहना चाहिए।

गुरु के उपदेश हम सुन लेते हैं परन्तु उन पर मनन और अमल नहीं करते। सारांश यही है कि मनुष्य चोले के महत्व को समझें और सांसारिक मोह त्याग कर 'तितिक्षा' को अपनाएं तथा सुख-दुःख, हानि-लाभ, यश-अपयश आदि से ऊपर उठकर 'उदासीन' हो जाएँ। तदुपरांत, संसार के हर प्राणी में ईश्वर का स्वरूप देखकर 'जगत प्रणाम' का भाव व्यवहार में लाएं।

इस प्रकार आपकी जो तैयारी हो चुकी होगी उससे गुरु के आदेश एवं निर्देशन में 'नाम' की साधना पूर्ण की जा सकती है। नाम साधना की सिद्धि ही अंततः प्राणी को दूसरे जन्मों यानी जन्म-मरण के चक्कर से निकालकर मनुष्य चोले का वास्तविक उद्देश्य प्राप्त करा सकेगी।

गुरुदेव आप सबका कल्याण करें।

00000000



गुरु के नूरानी रूप का (प्रकाश रूप का) ध्यान किया जाता है . चाहे ध्यान में पहले उसका स्थूल शरीर दिखता हो मगर वह नूरानी (प्रकाश) रूप है . अगर गुरु की तस्बीर का ध्यान करते हो तो यह तो मूर्ति पूजा हो गई . जिसका ध्यान करोगे वही मिलेगा . अगर तस्बीर या मूर्ति का ध्यान करते हो तो मरने के बाद वही मिलेगी . इज़्ज़त के तौर पर घर में तस्बीर का रख लेना और बात है . सामने बैठ कर जो ध्यान किया जाता है वह उसके नूरानी रूप का किया जाता है . वह प्रकाश बराबर सूक्ष्म होता जाता है और आगे जाकर सतपुरुष से मिला देता है . (सवाने - उमरी -पृष्ठ ९७)

मार्च-अप्रैल, 1994

संतों की महिमा और हमारे गुरुजन -

हमारे यहाँ का तप, साधन, आत्मिक अभ्यास

(ब्रह्मलीन परमसंत डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

हमारी पुण्यभूमि की एक विलक्षण विशेषता यह है कि इस पवित्र धरती पर जितने सारे धर्मावतारों, मत-प्रवर्तकों, संतों और भक्तों ने अपनी ईश्वर-प्रेम में सरोबोर जीवन लीला की है, सम्भवतः सारे विश्व भर में कहीं भी इतनी आधात्मिक विभूतियों का प्रादुर्भाव नहीं हुआ। शायद इसीलिए भारत को 'देवभूमि' कहा गया है। पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में तो संत-भक्तों की ऐसी बाढ़ सी आयी कि सारा देश ही भक्ति-आंदोलन से आप्लावित हो गया और दिशा-दिशा में संतवाणी की भावभीनी गूँज सुनाई देने लगी। उन्हीं महापुरुषों में भक्त रैदास (रविदास जी) का अपना विशेष स्थान है।

रविदास जी जूते बनाने का काम करते थे और चमड़ा भिगोने के लिए एक मिट्टी का पात्र जल भर कर रख लेते थे। राजा पीपा जी उनके भक्त थे। राजा पीपा पर रविदास जी की विशेष कृपा उमड़ी और उन्होंने उनसे कहा कि तुम यह पानी प्रसाद के रूप में पी लो। राजा को घृणा का आभास हुआ उन्होंने वह पानी अपने मुख में डालने के बजाय अपने वस्त्रों पर लुढ़का लिया।

राजा ने घर आकर अपना चोगा (वस्त्र) धोबी को धोने के लिए दे दिया। धोबी ने देखा कि दाग सहज नहीं छूट रहे हैं, कुछ मीठी वस्तु चिपकती सी लगती है। अतः उसने उन्हें चाट-चाट कर सफ़ाई करनी शुरू कर दी। सोचने लगा कि चोगा इतना निर्मल और उज्ज्वल धोकर भेजूँ कि राजा नाराज़ न हों। जितना वह उस उस चोगे को चाटता, उतना ही उसके भीतर में परिवर्तन होता जाता। वह रविदास जी के मिट्टी के कुंडे का पानी चाटकर निर्मल हो गए और पूर्ण साधु बन गए।

राजा को पता चला तो उसने साधु को बुलवाया। धोबी ने सारी बात कह सुनाई। राजा को वैराग्य हो गया। उसने राज-पाट सब कुछ त्याग दिया और पुनः रविदास जी के चरणों में गए और उनसे भीख माँगी कि वे उसे जूतों का पानी पुनःपिला दें। रविदास जी बोले कि - " वह अवसर तो चला गया। एक क्षण होता है जब जिज्ञासु अपना पात्र साफ़ करके उमंग के साथ चरणों में जाता है और गुरु भी खुश हों, तो ये दोनों बातें मिलकर जिज्ञासु का काम बन जाता है। अब तुम मेहनत करो। " राजा ने सब कुछ त्याग ही दिया था, फ़कीर बन गए। मेहनत करके बड़ी उच्च पदवी पर पहुँचे। असर तो हुआ परन्तु जो तुरन्त असर होने वाला था वह नहीं हो सका। बाद में मेहनत करनी पड़ी और वे भक्त पीपा के नाम से मशहूर हुए। आपकी वाणी गुरु ग्रंथ साहब में भी पाई जाती है।

इस प्रकार के संतों की महिमा वर्णनातीत है। भक्त-कवि अमीर खुसरो अपने पीर साहब, हज़रत मोईनुद्दीन चिश्ती के दर्शनों के लिए जा रहे हैं, साथ में बड़ा भारी क़ाफ़िला है जिस पर लाखों-करोड़ों रूपये का सामान लदा है। रास्ते में हज़रत को क़व्वाल मिलते हैं। खुसरो पूछते हैं कि, " पीर साहब से आपको क्या बख़शीस मिली, कुछ बताइये, उन्होंने आपको क्या प्रसादी दी?" क़व्वाल पैसे के पीर होते हैं, ईश्वर पूजा के नहीं। वह कहते हैं कि - " साहब क्या कहें, लड़की की शादी है, हमने हज़रत से भिक्षा माँगी, उन्होंने हमें टूटे जूते दे दिए हैं। उधर खुसरो उत्सुकता और व्याकुलता से कहते हैं कि - " ये जूते मुझे दे दो।" उन्होंने जूते लेकर अपने सिर पर रख लिए और कहा कि - " यह सारे क़ाफ़िले का सामान हाज़िर है, जितना चाहे आप ले लीजिये। आपका बहुत अहसान है मुझ पर कि आपके द्वारा मुझे मेरे पीर के जूते मिल सके।" यह तो सच्चा जिज्ञासु ही जानता है कि संत की कृपा, संत की वस्तु, संत की प्रसादी का क्या महत्व है?

गुरु अंगददेव जी वैष्णों देवी की यात्रा पर गए हैं। रास्ते में पता चला कि एक महान संत यहाँ रहते हैं। उन्होंने अपने मित्र से कहा कि - " आप आगे बढ़ो, उन संत के दर्शन करके मैं भी पीछे-पीछे आता हूँ।" अमीर-ज़ादे हैं, घोड़े पर सवार थे, घोड़े पर ही गए। गुरु नानक देव जी के घर पर पहुँचे। रास्ते में गुरुदेव मिले। अंगददेवजी ने पूछा कि - " गुरुदेव कहाँ रहते हैं।" गुरुदेव कहते हैं, " चलो, हम बताते हैं।" अंगददेव जी घोड़े पर सवार हैं और गुरुदेव लगाम पकड़ कर आगे-आगे चलते हैं। आगे जाकर कहते हैं, - "आप यहीं ठहरो" और स्वयं

मकान के पिछले दरवाज़े से अन्दर चले गए। अंगददेव जी ने द्वार खोला तो विस्मय में पड़ जाते हैं, यह तो वही संत बैठे हैं। कैसी महानता है ? मुझे घोड़े पर बैठा रहने दिया और खुद लगाम पकड़े-पकड़े पैदल चलते रहे। वह बहुत लज्जित हुए बैठ गए।

गुरु नानकदेव जी ने पूछा - " आपका क्या नाम है ?" वह तो प्रतीक्षा में ही थे कि कब यह "मेरी मुराद" मेरे पास आता है। नाम बताया कि, "मेरा नाम है "लैना"। (लैना का मतलब है किसी से कुछ लेना है।) तो गुरुदेव कहते हैं, " हमने देना है।" यही पहला मिलन है और इसी में सब कुछ दे दिया। अपने साथ खेतों में ले गए हैं। गुरु नानकदेव जी पहले खेती किया करते थे। खेती काटी है, घास की गठरी बाँधी और उस बरखुरदार से कहा है कि इसे उठाकर घर ले चलो। घास में पानी है, उस रईसज़ादे ने कीमती रेशमी अचकन पहना हुआ है। गुरु माता कह रही हैं - " यह आप क्या अन्याय कर रहे हैं ? सारा कींचड़ बच्चे के कपड़ों पर लग रहा है।" गुरुदेव कह रहे हैं - " यह गठरी घास की नहीं है, यह तो विश्व का भार इसके सिर पर रखा जा रहा है, इसे जगत की सेवा करनी है ।"

हमारे पूज्यनीय गुरुजन

यह है संत महिमा। यह तर्क से, व्याकरण से नहीं समझी जा सकती। यह तो परमात्मा की कृपा से किसी को अनुभव हो जाये तो वही समझ सकता है, अन्यथा हम कह सकते हैं की ये तो किस्से-कहानियाँ हैं। एक बालक दस-बारह साल का बारिश में भीगता हुआ आया है। बड़ी आंधी और तूफान है। एक मौलवी साहब के कमरे के सामने से गुज़र कर जा रहा है। उन्होंने पूछा - " अरे नन्हे, इस ठंड की बारिश में इस तरह आना।" जाओ, कपड़े बदल कर आओ। मैं अंगीठी जलाता हूँ।" बालक इन शब्दों से प्रभावित हुआ। वह तुरन्त ही कपड़े बदल कर बापस आ गया, अंगीठी जली हुई थी, मौलवी साहब ने अपनी रज़ाई बालक को उढ़ा दी। वह बालक कहता है कि रज़ाई ओढ़ते ही भीतर में न जाने क्या होने लगा। इतना आनन्द जीवन में कभी अनुभव नहीं किया था। वह बालक कौन था ? वह थे हमारे दादा गुरुदेव, पूज्य लाला जी, महात्मा श्री रामचंद्र जी महाराज। वह मौलवी साहब ही बाद में उनके गुरु बने। उन्होंने उसी दिन सब कुछ उस बालक, हमारे दादागुरु लालाजी महाराज को प्रदान कर दिया।

यह किसकी समझ में आ सकता है। 20 साल की आयु में मौलाना साहब ने पूज्य लालाजी महाराज को पूर्ण गुरु पदवी प्रदान कर दी थी। बीस-इक्कीस साल की आयु क्या होती है ? उसमें ही सब कुछ इजाजतें दे दीं। जो कुछ उनके पास था, सब कुछ लालाजी को दे दिया, और कहा कि " जाओ, इसका विस्तार करो । जितनी अधिक सेवा करोगे, उतना ही अधिक तुम्हे लाभ होगा।" उस बालक ने अपने गुरु से कुछ नहीं माँगा। आप सबने उनका जीवन -चरित्र पढ़ा है। उन्होंने बहुत अधिक आर्थिक कठिनाइयां सही, परन्तु अपने गुरुदेव से कभी कुछ नहीं माँगा। विश्व की सबसे बड़ी दौलत गुरुमहाराज ने उनको प्रदान कर दी। जिसको ईश्वर मिल जाता है उसके लिए और क्या पाना शेष रह जाता है ?

यह संतमत की विशेषता है कि यह विद्या एक शरीर से दूसरे शरीर में, मन से मन में (सीना-ब-सीना) प्रवेश करती है। यहाँ तर्क नहीं सिखाया जाता, यहाँ प्रवचन नहीं दिए जाते। स्वतः ही परस्पर प्रेम उत्पन्न हो जाता है तो काम हो जाता है। परन्तु सच्चे संत के पास यदि कोई व्यक्ति सच्ची लगन से जाता है तो वह व्यक्ति स्वयं संत स्वरूप ही हो जाता है। शर्त सिर्फ एक ही है कि योग्य पात्र हो और गुरु पूर्ण हो। यहाँ कुछ करने की ज़रूरत नहीं है। पूज्य लालाजी महाराज के छोटे भाई (जिनको पूज्य चाचा जी महाराज कहते थे) उनके पास लोग बैठते थे, किस्से-कहानी होते थे, वहाँ अपने-अपने स्वप्न बताये जाते थे, आँख भी बंद नहीं करते-कराते थे।

इन्हीं बातों में, किस्से-कहानियों में, चाचा जी महाराज आध्यात्मिक विद्या बांटा करते थे और जिज्ञासु कहा करते थे कि - " इन किस्से कहानियों के सुनने में पता नहीं हमारे मन की अवस्था क्या हो जाती है ? हम समझते थे कि जैसे हम अमृत पी रहे हों, हम ईश्वर के चरणों में बैठे हों।" जितनी भी मेहनत है, साधारण व्यक्तियों के लिए है। सूक्ष्म वृत्ति के व्यक्तियों के लिए जो तैयार हो गए हैं और ईश्वर कृपा से जिनको पूर्ण संत मिल गए हों, उनको कुछ करना धरना नहीं होता।

समाज में अनुशासनहीनता न फैल जाय इसलिए पूज्य दादा गुरु ने यह प्रचलित किया कि साधना अवश्य की जानी चाहिए, यम और नियम का पालन अवश्य किया जाना चाहिए। परन्तु सूक्ष्म वृत्ति के लोगों के लिए यह अनिवार्य नहीं है। पूज्य गुरुदेव महाराज

(परमसन्त डॉ०श्रीकृष्ण लाल जी महाराज) ने कुछ नहीं किया। वे भी बीस-इक्कीस वर्ष की आयु में पूर्ण आचार्य बन गए थे। जो भी एक बार दरबार में आ गया, वह खाली नहीं गया। भले ही उसको समय लगा हो, परन्तु खाली नहीं गया।

जितना गुरु महाराज करुणा के सागर थे, उतना ही वे अनुशासन प्रिय थे। अनुशासन हीनता वह बर्दाश्त नहीं करते थे। उत्तर प्रदेश के एक आयकर एडवोकेट जनरल थे, बड़े नज़दीकी थे पूज्य लालाजी महाराज के। उनसे कुछ ग़लती हो गयी। पूज्य गुरु महाराज ने बहुत कोशिश की, लालाजी महाराज के पाँव पकड़े, परन्तु लालाजी ने माफ़ नहीं किया। उनका कहना था कि एक मछली सारे तालाब को गन्दा कर देती है।

हमारे यहाँ का तप, साधन, आत्मिक अभ्यास

गुरुदेव कहा करते थे कि औरों का तप है धूप में बैठना, अग्नि के समीप बैठना और भी अन्य प्रकार के व्रत साधन करना। परन्तु हमारे यहाँ का तप यह है कि हम स्व-निरीक्षण करते हुए अपने दोषों को हटाएँ। इन दोषों की निवृत्ति के उपाय करना, हमारे यहाँ का तप है। लोग हमें गाली दें, हमारी बुराई करें और हम उसे सहन करें - यह है हमारे यहाँ का तप। यह नहीं कि किसी ने कोई साधारण सी अप्रिय बात की और हम आजीवन उसके शत्रु बन गए। यह हमारे यहाँ का साधन नहीं है।

हमारे यहाँ का साधन है - सहनशीलता, संतोष। ये गुण तभी आयेंगे जब हमारे भीतर में क्षमा का भाव होगा। हमारे यहाँ हम दूसरों के दोषों को नहीं देखते हैं, उनके गुणों को देखते हैं। दोष और गुण तो सभी में होते हैं। यदि साधक की वृत्ति दोष देखने की है तो वह साधक नहीं है। सच्चे जिज्ञासु का तो स्वभाव होता है और वह सोचता है कि शायद मेरी ही ग़लती होगी जिसके कारण से मुझे दूसरे की ग़लती दीखती है। और वास्तविकता यही है। पूज्य लाला जी महाराज यही कहा करते थे कि हमें दूसरे की ग़लती इसलिए दीखती है क्योंकि वह ग़लती हमारे भीतर भी है। एक बार चाचा जी से अपने अफ़सर के प्रति कुछ ग़लती सी हो गयी। अफ़सर ने बहुत भला-बुरा कहा। चाचा जी ने भी कुछ क्रोध में प्रतिक्रिया की। वह अफ़सर बीमार पड़ गया। पूज्य लालाजी बहुत नाराज़ हुए, घर से निकाल दिया। छोटे भाई थे, राम-लक्ष्मण की तरह, बड़ा स्नेह था एक दूसरे के लिए, उन्होंने उन्हें याद दिलाया, समझाया कि हमारे यहाँ की

तपस्या है लानतें सुनना, सहन करना, प्रतिक्रिया नहीं करना। किसी को श्राप दे देना - यह हमारे यहाँ का तरीका नहीं है। फिर पूज्य चाचा जी ने उस अफ़सर से माफ़ी मांगी।

भंडारे में आने का लाभ

भंडारे में हम सब एकत्र होते हैं - किस लिए ? इसलिए कि यहाँ इस यज्ञ में आकर हम अपनी त्रुटियों को पूज्य गुरु महाराज के चरणों में अर्पण करें। हमें यहाँ से प्राप्त क्या होता है ? इस यज्ञ की अग्नि में जो प्रकाश होता है उसकी प्रेरणा से, उसकी शक्ति से हमें जनता की सेवा करनी है। चाहे कम, चाहे अधिक करनी होती है, परन्तु स्वभाव तो बनाना ही होता है। हम यहाँ प्रेम, पवित्रता व निर्मलता के लिए प्रार्थना करते हैं। अगर हम ऐसा नहीं करते तो हमारा यहाँ आना बेकार है। यह तो ऐसा हो गया जैसे कि किसी जगह की सैर कर आये, खाना वगैरह खा-पी आये। यहाँ आकर, इस यज्ञ में हम सबको स्व-निरीक्षण करते रहना चाहिए। अपनी गलतियों को छोड़ने की कोशिश करनी चाहिए। गलतियाँ छूटती देरी से हैं, परन्तु कोशिश लगातार करनी चाहिए।

पुराने ज़माने में जब लोग तीर्थ यात्रा करने जाते थे तो अपने स्वाद को काबू करने के लिए उन्हें जो वस्तु खाने की सबसे अच्छी लगती थी उसे वहाँ जाकर छोड़ देते थे। यह नहीं कि जो वस्तु अच्छी नहीं लगती उसे छोड़ दिया। बुजुर्गों ने जो रिवाज़ बनाये थे, वे ग़लत नहीं थे, उनके पीछे विज्ञान था, सत्यता थी।

हमें त्याग करना है, त्याग करने का तरीका सीखना है। पूज्य लालाजी महाराज की जीवनी पढ़ें। उन्होंने कितना त्याग किया है ? वे त्याग की मूर्ति थे, पूर्ण तपस्वी थे। कैसा संतोष था। निरन्तर भीतर का स्नान करते थे। परमात्मा के चरणों में पूर्ण समर्पण था, तभी तो वह दूसरों से कहते थे कि यम और नियम का पालन करो। हमारा मन पत्थर की तरह कठोर है। इस कठोरता को ख़त्म करने के लिए पूज्य लालाजी महाराज ने पाँच मराकबे (साधन) बताये हैं। हम उन्हें पढ़ लेते हैं, सुन लेते हैं परन्तु अभ्यास कितना करते हैं ?

करुणा के लिए उन्होंने महात्मा बुद्ध का मराकबा बताया है कि ख़्याल से देखो कि अस्पताल में कैसे दुखी लोग पड़े हैं, संसार में लोग पारिवारिक जीवन में कैसे दुखी हैं, जेलों में

लोग सड़ रहे हैं और किस तरह लोग अन्य कठिनाइयों में फंसे हैं। यह चित्रण अपने मन पर खेंचिये और लोगों की मुक्ति व सुख के लिए प्रयास और प्रार्थना कीजिये। धीरे-धीरे करुणा आ जाएगी। जिस व्यक्ति के भीतर में करुणा नहीं, दया नहीं, सरलता नहीं, लचक नहीं, जो शीशे की तरह टूट नहीं जाता, वैसे कठोर हृदय से वह साधना करने का अधिकारी नहीं है। यहाँ तो ऐसा दिल चाहिए जो दूसरे का दुःख देखकर जब तक उसका दुःख दूर न करदे चैन न पाए।

संत में वही गुण होते हैं जो परमात्मा में होते हैं। परमात्मा भी जब किसी पर प्रसन्न होते हैं तो उसकी थोड़ी सी साधना से संतुष्ट हो जाते हैं। संत रूप में आकर प्रसादी प्रदान करते हैं। उस प्रसादी को ही 'गुरु प्रसादी' कहा गया है। हम लोग 'गुरु प्रसादी' शब्द रोज़ पढ़ते हैं परन्तु इसकी वास्तविकता नहीं समझते। जिसको सच्चा गुरु या संत मिल जाये और उसकी प्रसन्नता मिल जाये उसको तो सारा जहान मिल जाता है।

खोज जारी रहनी चाहिए कि हमें कोई सच्चा गुरु मिले और हम उसका सत्संग करें और उसकी सेवा करें। उसकी सेवा क्या है - उसके आदेशों का पालन करना। हाथ-पाँव की सेवा या रुपये-पैसे की सेवा का इतना महत्व नहीं है जितना कि अपने इष्टदेव के आदेशों का पालन करने का है। गुरु आपको दीक्षा देते समय क्या संकल्प लेते हैं आपसे, कि धर्म का जीवन व्यतीत करने का भरसक प्रयास करेंगे। यही करना है। संत का संग करें और उसके बताये हुए रास्ते पर चलने का प्रयास करें। इसी से आप मंज़िले मकसूद (इच्छित लक्ष्य) यानी अपने ध्येय पर पहुँच जायेंगे।

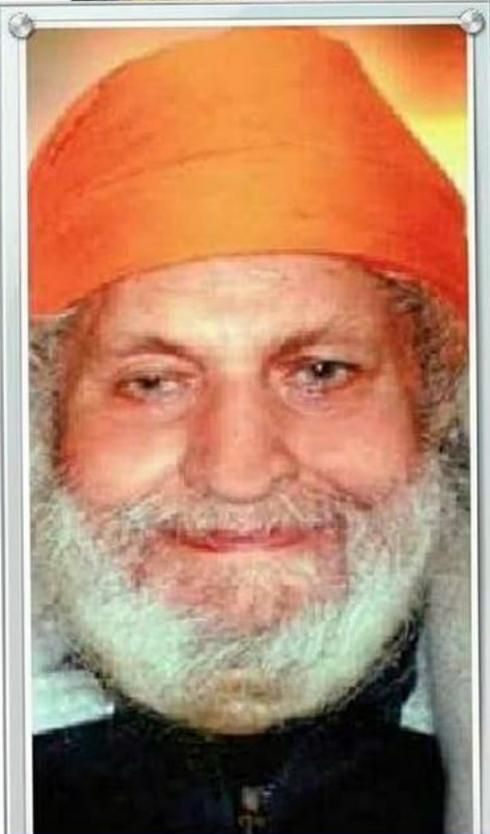
बड़ा सरल रास्ता है। कोई तप नहीं करना, कोई शरीर को, मन को, दुःख नहीं पहुँचाना है, घर से भागना नहीं है। अधिक से अधिक जितना मिले अपने इष्टदेव का सत्संग करना चाहिए। सत्संग शारीरिक भी होता है, मानसिक भी होता है। मानसिक संग से ज़्यादा लाभ होता है। जिनको गुरु से प्यार होता है, उनसे गुरु भी प्यार करता है। उन्हें गुरु सदैव मानसिक तौर पर अपने समीप रखता है। माँ-बाप जैसे पालन-पोषण से कहीं अधिक गुरु अपने नज़दीकी प्रिय शिष्यों की देखभाल करता है।

पूज्य गुरुदेव के समय में मुझे बाहर अधिक जाना पड़ता था। मैं भूल जाऊँ तो भूल जाऊँ, उनकी कृपा मुझे नितान्त बरसती हुई मिलती थी। मुझे अनुभव होता था कि वह

लगातार मेरे नज़दीक हैं और उनकी कृपा मुझ पर बरस रही है। एक बार उन्होंने कहा (और चार व्यक्तियों के नाम भी लिए) कि, ' जब भी हम किसी व्यक्ति को तवज्जोह देते हैं तो इन चार व्यक्तियों को हम सामने रख लेते हैं।' वह उनको अपनी तवज्जोह में सम्मिलित कर लेते थे। प्रत्येक गुरु का काम है कि वह सेवा करे, चौबीस घण्टे प्रार्थना करते रहना चाहिए कि हे प्रभु ! इन भाइयों पर कृपा करें। और दीनता से प्रार्थना करनी है। अपने ऊपर कुछ न लेते हुए कि मैं करता हूँ, इस सेवा का श्रेय गुरु या परमात्मा को ही देना है और होता भी यही है।

00000000000000

राम सन्देश : अक्टूबर , 1991



दीनता एवं सरलता ऐसे गुण हैं जो परमात्मा के चरणों की ओर ले जाते हैं . मनुष्य को प्रार्थना द्वारा सच्चे प्रेम की प्राप्ति होती है . सच्चा प्रेम क्या है ? प्रेम में पवित्रता है , उदारता है , प्रेम में एकता है . प्रेम परमात्मा से हो तो ऐसे हो जैसे मृग मरुस्थल में जल को खोजने के लिये व्याकुल होता है . उसी प्रकार से जिज्ञासु को परमात्मा की खोज में अपने आपको खो देना चाहिए जब प्रेम में डूबे साधक में किसी प्रकार की वेदना -संवेदना या अन्य कोई भी भाव तरंग नहीं रहती तो शरीर , मन , बुद्धि , अहंकार , आत्मा सब परमात्मा में लय हो जाते हैं .

परमसंत डॉ . करतारसिंह जी महाराज



सच्चा गुरु व शिष्य

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

एक दार्शनिक और मानव शास्त्र के ज्ञाता की अपेक्षाकृत सच्चे सतगुरु कहीं अधिक उच्च श्रेणी के होते हैं। जो वेदों के रहस्य को समझते हैं 'अवृजिन ' (दोषरहित) हैं, निष्पाप हैं, काम से निर्लिप्त हैं, जो शिक्षा देकर किसी प्रकार की अर्थ प्राप्ति की आशा नहीं रखते, वही सच्चे सन्त हैं। जिस प्रकार सूर्य प्रकाश व ऊर्जा देता है, चन्द्रमा शीतलता प्रदान करता है ,परन्तु बदले में कुछ नहीं लेता, क्योंकि भलाई करना उसका स्वाभाविक धर्म है, उसी प्रकार सतगुरु भी बिना किसी प्रतिदान के लोगों को सुख-शान्ति प्राप्त करने की युक्ति बताता है। ऐसे ही मनुष्य सच्चे गुरु हैं। सच्चा सतगुरु वह है जिसने अपनी आत्मा को मन के बन्धन से मुक्त कर लिया है और परमात्मा में लय हो गया है। उनके पास बैठने से हृदय में प्रेम तरंगें उठने लगती हैं। एक अलौकिक आनन्द छा जाता है, उनके पास से हटने का मन नहीं करता। उनके आस-पास का वातावरण ईश्वर प्रेम से समाविष्ट रहता है। ऐसी जगह जाकर देखना चाहिए कि बिना कुछ बताये उनके पास बैठने से मानसिक द्वन्द्व शांत होता है या नहीं, हृदय उनकी ओर आकर्षित होकर प्रेम रस से सरोबोर हो जाता है या नहीं।

यह भी देखना चाहिए कि उसने गुरुआई को अपनी जीविका का साधन तो नहीं बना लिया है। जो सच्चा गुरु है वह अपनी जीविका के लिए स्वयं उपार्जन करेगा। कुछ न कुछ कार्य करके वह अपना जीवनयापन करेगा लेकिन दान लेकर नहीं खायेगा। यदि वह दान लेकर खायेगा तो उसकी आध्यात्मिक कमाई समाप्त हो जाएगी। दिन रात आत्मानन्द में लीन वह सांसारिक भोगों से उदासीन रहता है। उसके जो भी सांसारिक कर्म होते हैं वह केवल कर्तव्य मात्र के लिए होते हैं। ऐसे लोगों के पास जाने से धीरे-धीरे आत्मा के आनन्द का अनुभव होने लगता है। वह भले ही आपसे बात न करें, उनके सामीप्य से आपकी आत्मा पर प्रकाश पड़ेगा। यह सब प्रक्रिया आनन्-फानन में नहीं होती। बदलाव धीरे-धीरे आएगा क्योंकि आपकी आत्मा पर

मन की तरंगों का पर्दा पड़ा हुआ है। आत्मा जो मन ओर इन्द्रियों से दबी पड़ी है शनैः-शनैः ऊपर आने लगती है ओर चैतन्य होने लगती है।

घूमफिर कर बात फिर वही आती है कि अपने अंतर में प्रवेश कैसे किया जाये ? इसके लिए मार्ग भी केवल एक ही दिखाई देता है कि किसी महापुरुष की खोज की जाये जिसने आत्मा का रहस्योद्घाटन कर लिया हो। जिसने आत्मा परमात्मा का रहस्योद्घाटन नहीं किया है वह आपको भी उस तक पहुँचने का मार्ग नहीं बता सकता है। गुरु अर्जुनदेव का कहना है कि इस विषय में किसी भी प्रकार का संदेह नहीं रहना चाहिए कि भवसागर पार करने के लिए गुरु का होना आवश्यक है।

संसार में हम जो कुछ भी सीखते हैं वो कोई न कोई सिखाता ही है, वही अध्यापक है, वही गुरु है। उसी तरह आध्यात्म मार्ग में चलने के लिए गुरु की ज़रूरत पड़ती है। उन्हीं की शिक्षा पर चलकर हम अपने अंतर में प्रतिफल हो रहे ' नाद ' को सुन सकने में समर्थ होते हैं ओर सुन्न महल में ज्योति प्रज्वलित कर पाते हैं। ऐसा साधन सद्गुरु ही बता सकते हैं। अतः उन्हीं की खोज करनी चाहिए। समय चाहे जितना लग जाये, घबराना नहीं चाहिए। सांसारिक सुखों की तलाश में तो व्यक्ति अपना जीवन लगा देता है, तब क्या अगर लगन के साथ गुरु की खोज करें तो क्या वह नहीं मिलेंगे ? चाहे दस जन्म लग जाये, गुरु की तलाश जारी रखना चाहिए। सबसे बड़ी बात यह है कि बिना बोले बिना पूछे वह आपके प्रश्नों का उत्तर देंगे। आपका प्रश्न क्या है, कहने की ज़रूरत नहीं है। उनसे आपका सम्पर्क जितना ही बढ़ता जायेगा आप अपनी कमज़ोरियों को समझकर उन्हें दूर करने में सक्षम हो जायेंगे।

उनके सानिध्य का प्रभाव यह होगा कि आप अपनी इन्द्रिय जन्य दुर्बलताओं को पराभूत कर सकेंगे। वह कभी रूपये-पैसे की मांग नहीं करते। हाँ, एक न्यास अवश्य होता है जिसमें अपनी सुविधा और सामर्थ्य अनुसार लोग कुछ धन एकत्र करते हैं जिसको गरीब बच्चों की पढ़ाई, लड़कियों की शादी, असाध्य रोग मन जो लोग दवा इलाज नहीं करा पाते उनकी सेवा में और असाध्य विधवाओं की सहायता में खर्च करने को कहते हैं। वे मान बढ़ाई के भूखे नहीं होते। वे केवल परमार्थ की शिक्षा देते हैं, अपने शिष्यों को आंतरिक सम्भाल भी करते रहते हैं। उनकी तालीम हृदय से हृदय को होती है ताकि अटूट रिश्ता जुड़ जाए और चारित्रिक हालत

सम्भल कर शिक्षा स्वयं अंतर में उतरती जाए। उनकी शिक्षा ऐसी होती है कि दूर परदेस में रहने पर भी मिलती रहती है। यही वह कड़ी है जो गुरु व शिष्य से जुड़ी होती है ' हेच न कुशद नफसरा जुलपीर, दरमन आ नफसरा सतगुरु '

" सिवा गुरु की मेहरबानी के कोई तेरे मन के विकारों को दूर नहीं कर सकता। ऐसे गुरु का पल्ला मज़बूती से पकड़ो, कहीं छूट न जाये। "

तन मन ताके दीजिये, जाके विषया नाहीं !

आपा सर से छाँड़ि के राखे साहिब माहीं !!

मन दिया तो सब दिया मन के संग शरीर !

अब देवे को क्या रहा यो कथ कहे कबीर !!

तन मन दिया तो सब दिया सर का गया है बार !

जो कबहुँ कहे नहीं दिया बहुत सहेगा मार !!

तन मन दिया तो क्या दिया, निज मन दिया न जाए !

कहें कबीर ता दास से, कैसे मन पतियाय !!

तन मन दिया आपना निज मन ताके साथ !

कहें कबीर न भय भया सुन सतगुरु परसंग !!

निज मन तो चरनन किया चरन कमल की ठौर !

कहें कबीर गुरुदेव बिन नज़र न आवे और !!

बाहर गुरु का दर्शन करो, अन्दर गुरु का साक्षात्कार करो और अपने आपको प्रकाश स्वरूप बना लो। टटोल टटोल कर परमार्थ की राह चल रहे हो, उससे कुछ फ़ायदा न होगा। रास्ते का भेदी साथ ले लो, रास्ता आसानी से कट जायेगा। क्या अब तुमने गुरु की महिमा जान ली ? अगर जान ली तो तुम मुबारक हो। (संत वचन भाग ७ पृ १००-१०४)

सभी धर्मों का विश्वास है कि संसार में जब-जब ऐसा अन्धकार छा जाता है कि धर्म का प्रकाश अन्धकार से धीमा पड़ने लगता है जनसाधारण से लेकर राजा, विद्वजन सभी अज्ञान की लपेट में आ जाते हैं, सत्य और वास्तविकता का ज्ञान नहीं होने पाता, चारो और त्राहि-त्राहि मच जाती है, नेकी बदी में परिवर्तित हो जाती है, धार्मिक अनुष्ठान और धार्मिक पुस्तकों का लोग मज़ाक उड़ाने लगते हैं, सत्य पर चलने वालों को उस समय के लोग प्रताड़ित करने में कोई कोर-कसर बाकी नहीं रखते। ऐसी अवस्था जब समाज व देश की हो जाती है तब परमात्मा की ओर से कोई पवित्र आत्मा संसार में आती है जो अपने प्रेम से लोगों का मन आकर्षित करके सन्मार्ग पर लाने की चेष्टा करती है।

अवतार तो अधर्मियों का नाश करके समयानुसार धर्म का मार्ग दिखाकर अपने निजधाम लौट जाते हैं, लेकिन अपने लक्ष्य को आगे बढ़ाने, उसके प्रसार और भूले-भटके लोगों को राह दिखाने के लिए अपने साथ किसी को लाते हैं। उन्हीं को संत कहते हैं, जो अपने गुरु के शेष कार्यों को प्रेम रूपी शस्त्र के सहारे लोगों को उचित मार्ग दर्शन करते हैं।

सन्त दो प्रकार के होते हैं - एक तो वह जो सचखंड से आते हैं और जीवों का उद्धार करने के लिए मनुष्य चोला धारण करते हैं। दूसरे वह जो उनकी संगति में रहकर आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त करके अभ्यास द्वारा उस स्थिति को प्राप्त करते हैं।

सचखंड से आने वाली आत्माएं अपने साथ कुछ ऐसी आत्माओं को लाती हैं जो अपनी किन्ही छोटी-छोटी इच्छाओं के शेष रह जाने के कारण सचखंड तक नहीं पहुँच पातीं और ब्रह्माण्ड में ठहरी रहती हैं। इन्हीं आत्माओं में से किन्ही एक दो को चुन लिया जाता है, जो अवतरित सन्त के निर्वाण प्राप्ति के बाद ब्रह्म विद्या का प्रसार करते हैं। ऐसे ही संतों में से एक थे डॉ०श्रीकृष्ण लाल भटनागर जिनको महात्मा रामचंद्र जी महाराज (लालाजी) अपने साथ लाये थे। वह उनके मुराद (गुरुमुख शिष्य) थे। अपने निर्वाणोपरांत लालाजी ने धर्मोपदेश प्रचार व प्रसार का कार्य उन्हीं के हाथों सौंपा था।

सन्त किसी प्रकार के दिखावे, रीति-रिवाज़ों, कर्मकाण्ड, रहनी-सहनी या चिन्ह, भेष आदि का प्रचार नहीं करते। वे जाति-पाति, राष्ट्र-देश आदि बन्धनों से मुक्त होते हैं। सन्तों की शिक्षा के अनुसार पाँच अवस्थायें होती हैं :

१ साधक - वह व्यक्ति जो दीक्षा प्राप्त करने के पश्चात् उनके बताये हुए नियमों का पालन करते हुए अंतर में ईश्वर प्राप्ति के मार्ग पर चलने का प्रयत्न करता है।

२ ज्ञानी - वह है जो ब्रह्मगति को प्राप्त कर लेता है। ब्रह्म पद सारे ज्ञान का मुख्य आधार है। तीनों गुण पाँचों तत्व की उत्पत्ति इसी स्थान से हुई है। अनेक योगी ज्ञानी इसी को सबसे ऊँचा स्थान मानते हैं। हमारे यहाँ सन्तमत में इससे भी आगे का स्थान माना गया है।

३ साधु - जो पारब्रह्म के स्तर पर पहुँच जाता है वही साधु है।

४ सन्त - यह वह अवस्था है जहाँ व्यक्ति परमात्मा से अभेद हो जाता है, बूँद सागर में मिलकर सागर बन जाती है।

५ शिष्य - उसे कहते हैं जो उनके बताये आध्यत्मिक मार्ग पर चलकर प्रथम स्तर पर ज्योति के दर्शन या शब्द को सुनता है।

' अक्वले माँ आखिरे हर मुंतहीस्त आखिरे माँ जेबे तमन्ना तिहीस्त '

(भावार्थ - मेरा प्रारम्भ तो वहाँ से होता है जहाँ औरों की समाप्ति है और मेरा समाप्त वहाँ है जहाँ इच्छाओं की जेब खाली हो जाती है।)

हर देश, जाति व धर्म के सन्तों का यही कहना है कि परमात्मा कहीं बाहर नहीं हमारे अन्दर ही है। ईश्वर एक है और वही सत्य है।

इसी तरह शिष्य भी कई प्रकार के होते हैं। प्रथम श्रेणी के शिष्य वे हैं जो गुरु के आशिक (प्रेमी) होते हैं। सिर्फ गुरु से मुहब्बत करते हैं और उनका अनुसरण करके अपनी स्थिति को बदलते जाते हैं। बिना कहे अपने शुद्ध मन से गुरु के भाव समझ जाते हैं और इस तरह भाव बदलते हुए वे स्वतः गुरु रूप बन जाते हैं। उन्हें गुरुमुख शिष्य (मुराद) कहते हैं।

दूसरी श्रेणी में वे लोग आते हैं जो गुरु के कहे पर तो चलते हैं परन्तु कुछ परेशानी का अनुभव करते हैं, फिर भी हृदय पर नियंत्रण करके चलते रहते हैं। इन दूसरी श्रेणी वालों को मोक्ष तो मिल जाता है परन्तु दो चार जन्म लग जाते हैं।

तीसरी श्रेणी के वे लोग हैं जो गुरु की बात एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल देते हैं परन्तु सत्संग बराबर करते रहते हैं। समय तो लगता है, परन्तु उद्धार इनका भी हो जाता है।

सत्संगी से आशय है अधिकारी होना और सत का संग करना। 'सत' कहते हैं सच्चाई या यथार्थ को और 'संग' नाम है प्रेम, मिलाप और संग रहने का। जो सत्य का जानने वाला हो, सत्य प्रिय हो और सत्य दर्शी हो वही सत्संगी कहलाने का अधिकारी है। सत्संगी का दूसरा नाम ही अधिकारी हैं, जिसको जिज्ञासा है, जो पात्र है, जो योग्यता रखता है और वास्तव में सन्त के साथ रहकर उनकी कृपाधार का लाभ उठाता है। पहले गुरु की वाणी को सुनते हैं, यह सगुण उपासना है। परन्तु जब वाणी पर मनन करके उसके अर्थ पर आ जाते हैं तब यह निर्गुण उपासना है। शब्दों का श्रवण वाह्य रूप है और उन शब्दों का अर्थ कल्पना का आन्तरिक रूप है जो निर्गुण है। इस प्रकार सत्संग में बैठकर लोग निर्गुण और सगुण दोनों उपासनाएँ एक साथ करते हैं, किन्तु उन्होंने अभी गुरु धारण नहीं किया है।

' अधिकारी ' - 'अधि' का अर्थ है अधिक और 'कारी' का अर्थ है करने वाला । श्रवण और मनन उसका गुण है। जब मनुष्य की रूचि ईश्वर की ओर होती है, उसके मन की इच्छाएं तथा आन्तरिक भावनाएं उसे ईश्वर की ओर प्रेरित करती हैं ओर उसी के अनुरूप वह कार्य करने लगता है तब वह अधिकारी की श्रेणी में आ जाता है। (सन्त मत प्रवेशिका ५५-५६)

सच्चा सत्संगी, व्यक्ति तभी कहलायेगा जब वह 'यम' ओर 'नियम' का पालन करेगा/ असत्य भाव ओर असत्य विचारों को छोड़ना 'यम' कहलाता है/ यम निष्कासन (निकालना) को कहते हैं/ सत भाव ओर सत विचार अपनाने को 'नियम' कहते हैं/ यम मिथ्या है ओर नियम सत्य है/ अपने हृदय के पात्र को मिथ्या विचारों से रहित करके स्वच्छ करना यम ओर उसमें सत्य विचार भरना नियम के अन्तर्गत आता है/

यह है सन्त ओर उनका मत। वास्तव में जो साधु और सन्त गुणों के झमेले से आगे जाने का प्रयत्न करे और कराये वही सन्त है और जिन उद्देश्यों को लेकर किया जाये वही संतमत है। ऐसा व्यक्ति सब मतों की वास्तविकता को जानकर दया की दृष्टि से सबको अपनाता है और किसी से विरोध इसलिए नहीं करता क्योंकि सब मत उसके अन्दर हैं। वह सब

सन्तों से ऊँचा है। जो जिज्ञासु उसके संपर्क में आते हैं बिना किसी भेद भाव के निःस्वार्थ होकर उनके आध्यात्मिक दृष्टिकोण को ऊँचा करना और कराना चाहता है।

0000000

सच्चा पश्चाताप और प्रार्थना

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ०करतार सिंह जी महाराज)

विश्व के महान धर्मों - सनातन हिन्दू धर्म, वैदिक आर्य, जैन, बौद्ध, सिख, राधास्वामी तथा ब्रह्म समाज - सभी के आधारभूत दर्शन शास्त्रों एवं वाङ्मय ने भारतीय संस्कृति का मूलभूत जीवन-सिद्धांत एकात्म भाव से एक ही माना है। इनकी आध्यात्मिक मान्यताओं एवं दार्शनिक मीमांसाओं के अनुसार आत्मा (जीव) का परमात्मा (ब्रह्म) में विलीन हो जाना ही मानव-जीवन की सर्वोच्च परिणति या अन्तिम गति है। जब तक यह गति प्राप्त नहीं हो जाती, जीवात्मा कर्म और उनके फलस्वरूप भोगों के चक्कर में जन्म- जन्मान्तर तक भटकती रहती है। इसी को "कर्म-सिद्धांत " की संज्ञा दी गयी है। साधक के जीवन में भी कर्मों, संस्कारों, विचारों का ताँता चलता रहता है। प्रश्न यह सामने आता है कि इन से छुटकारा कैसे मिले?

आज जो हमारा वर्तमान है, एवं इससे पहले हमारे जो जीवन थे, हमने उनमें अगणित गलतियाँ कीं हैं, लाखों बुरे कर्म किये हैं और अब भी करते जा रहे हैं। साधक जब मौन साधन में, पूजा उपासना में बैठता है तो वह चाहता है कि उसके ध्यान में किसी प्रकार के विचार न उठें परन्तु वह विवश हो जाता है क्योंकि विचारों का ताँता सा लगा रहता है। कई बार अधिक विचार आने के कारण वह साधना ही छोड़ देता है, पर ऐसा करना नहीं चाहिए।

विचारों से मुक्त होने के लिए दो मुख्य साधन हैं - (1) प्रायश्चित, (2) प्रार्थना ।

(1) प्रायश्चित

अपनी बुराईयों को याद करके सत्यता से प्रायश्चित करना चाहिए एवं दृढ़ संकल्प लेना चाहिए कि भविष्य में उन बुराईयों की पुनरावृत्ति नहीं करेंगे। परन्तु इन्द्रियों के वशीभूत मन कमजोर हो जाता है। मन का स्वभाव बन जाता है कि वह बार-बार गलतियाँ करता रहता है।

ऐसी स्थिति में बार-बार प्रभु से क्षमा मांगनी चाहिए। यदि कोई त्रुटि या आदत आपसे नहीं छूटती तो उसके लिए जब आप इष्टदेव की आराधना में बैठें तो निवेदन करें। उस त्रुटि को अपने इष्टदेव के सामने रख कर उससे मुक्ति के लिए शक्ति की प्रार्थना करनी चाहिए। परन्तु मन यहाँ भी धोखा देता है। कई बार निराश होकर लोगों ने जीवन दे दिया, आत्महत्या कर ली। यदि एक बार प्रभु या अपने गुरु के चरणों में प्रण लेने के उपरान्त वो गलती दोबारा होती है तो साधक अपने प्राण दे देता है।

सर्वप्रथम पश्चाताप करिये, दीनता से, रो-रोकर। महापुरुषों ने लिखा है कि एकान्त में बैठकर खूब रोड़ये, रो-रो कर अपनी अपनी गलतियों पर पश्चाताप करिये, अपने आपको अपने ही आंसुओं से भिगो डालिये। इससे वर्तमान यानी चेतन अवस्था में जो संस्कार पड़े हैं वो तो समाप्त होना आरम्भ हो ही जायेंगे, परन्तु अचेतन और अवचेतन अवस्था में जो संस्कार पड़े हैं, उन्हें भी ढीला करने में मदद मिलती है, पर उसके लिए समय लगता है। साधन उसके लिए भी यही है। पश्चाताप करते चले जाएँ और ईश्वर से प्रेम करें। मन में एक शून्यता (vacuum) आ जाती है। उस शून्यता में भरने के लिए कुछ चाहिए। यदि मन पश्चाताप से खाली होने के साथ ही ईश्वर प्रेम से उसे नहीं भरता, परमात्मा से अनुराग नहीं करता, तो शून्य में अन्य कुछ भी समा जाता है।

संक्षेप में, परमात्मा से प्रेम करें अनुराग द्वारा, और संसार से वैराग करें पश्चाताप द्वारा। परमात्मा से अनुराग के लिए हर समय प्रार्थना करते रहना चाहिए। प्रार्थना और आराधना में अपार शक्ति है। इनसे दृढ़ संकल्प का सामर्थ्य भी प्राप्त होता है।

संस्कारों से, वृत्तियों से, स्वभाव से, निवृत्त होना कोई साधारण बात नहीं है। इसके लिए बार-बार पश्चाताप करना चाहिए। इसके साथ-साथ हमारा जीवन शुद्ध और पवित्र होना चाहिए। जो पिछले बुरे कर्म अथवा पाप किये हैं उनके विचार साधनावस्था में अवश्य आयेंगे। इसीलिए कबीर साहब ने फ़रमाया है कि संसार में रहकर सर्वप्रथम राग और द्वेष दोनों का त्याग करें। यह बड़ा कठिन है।

दार्शनिक जो दूसरा साधन बताते हैं वह यह है कि 'जागरूक होकर' जीवन व्यतीत करना चाहिए। किसी की प्रतिक्रिया नहीं करनी चाहिए। प्रतिक्रिया शून्य अवस्था में भी नहीं होनी

चाहिए। हम आँखों से देखकर, कानों से सुन कर, जुबान से खाने में, तुरन्त प्रतिक्रिया करते हैं, विचारों की भी तुरन्त प्रतिक्रिया करते हैं। इस प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप अंतर में विचारों का ताँता सा लग जाता है। मनुष्य उन विचारों को छोड़ न पाने से पागल सा हो जाता है। जितने अधिक विचार उठेंगे, संस्कार उतने अधिक दृढ़ होंगे। इसलिए मौन को अपनाये बिना संस्कार कभी समाप्त नहीं हो सकते। निरन्तर शून्य मौन में रहने का प्रयास करना चाहिए।

(2) प्रार्थना

प्रार्थना में बड़ा बल है। जो लोग रामेश्वरम गए हैं वे जानते हैं कि भगवान राम ने विशाल सागर के ऊपर पत्थरों से पुल बनाया था जो साधारणतः असम्भव सी बात है। परन्तु उन्होंने पुल बनाने से पहले भगवान शिव और समुन्द्र की प्रार्थना की। हमें प्रेरणा देने के लिए, स्वयं पूजा-प्रार्थना करके उन्होंने यह आदर्श दिखाया कि प्रार्थना के बल पर हम कैसे अपना जीवन व्यतीत करें। उस समय उन्होंने भगवान के रूप में नहीं अपितु राम के रूप में प्रार्थना की और सागर पर पत्थरों का पुल बन गया।

ऐसे ही महाराजा रणजीत सिंह फ़ौज़ लेकर काबुल पर विजय प्राप्त करने जा रहे हैं, अटक के पास एक सागर समान गहरा दरिया आ जाता है। पानी बहुत गहरा तथा प्रवाह भी बहुत तेज़। उस समय पुल नहीं होते थे। महाराजा रणजीत सिंह की ईश्वर में बड़ी दृढ़ आस्था थी। उन्होंने पहले -पाठ किया ततपश्चात् प्रार्थना की और अपने घोड़े पर सवार होकर दरिया में कूद गए एवं पार हो गए। पीछे-पीछे फ़ौज़ भी उनका अनुसरण करते हुए दरिया पार कर गयी और उन्होंने काबुल पर विजय प्राप्त कर ली।

हाँ, प्रार्थना से पहले अपने आराध्य या इष्टदेव में अटल विश्वास का होना अनिवार्य है क्योंकि ईश्वर में यदि विश्वास न हो तो प्रार्थना कैसी ? भक्त प्रह्लाद का विश्वास देखिये। केवल एक बार थोड़ा सा घबराये हैं पर जब उन्हें अग्नि-स्तम्भ का आलिंगन करने के लिए कहा गया है तो उस समय भी जब उन्होंने प्रार्थना की तो प्रभु चींटी के रूप में प्रकट हुए। उससे उन्हें प्रेरणा मिली। दौड़े-दौड़े गए हैं और अग्नि-स्तम्भ का आलिंगन कर लिया।

प्रार्थना की सफलता के लिए कुछ बातों का ध्यान रखना आवश्यक है :

- 1। ईश्वर में पूर्ण विश्वास होना चाहिए कि वो हमारे दुखों की निवृत्ति कर देंगे।
- 2। ऐसा अनुभव करना चाहिए कि जिससे आप प्रार्थना कर रहे हैं आप उसके चरणों में बैठे हैं और वह आपकी प्रार्थना सुन रहे हैं।
- 3। प्रार्थना हृदय की गहराई से निकलना चाहिए।
- 4। प्रार्थना उचित होनी चाहिए। ऐसा नहीं कि सारा सँसार मुझे मिल जाये, या जैसा मैं चाहता हूँ परमात्मा सारे काम वैसे ही करवा दे। इसका मतलब तो यह होगा कि परमात्मा हमारा नौकर है।
- 5। प्रार्थना करते हुए यह देखें कि हमारी आकांक्षा पूर्ती से कहीं दूसरे को दुःख तो नहीं पहुँचता। तत्पश्चात ऐसी इच्छा जिसकी प्राप्ति से आपके साथ-साथ औरों को भी सुख मिलेगा, उसके लिए ही प्रार्थना करें।
- 6। सर्वोत्तम प्रार्थना यह है- " हे प्रभु ! सँसार में सबका भला हो।"

संत कभी भी अपने लिए कुछ नहीं माँगता। सच्चा जिज्ञासु भी कुछ नहीं माँगता है - " मोको कछु न चाहिए राम " - उसकी यही भावना रहती है। गुरु अर्जुनदेव जी के शब्दों में उसके उदगार यही होते हैं कि- " राज न चाहूँ, मुक्ति न चाहूँ, मन प्रीत चरन कमला रे।" अर्थात् सच्चे भक्त को राज पाठ नहीं चाहिए, यहाँ तक कि उसे मुक्ति भी नहीं चाहिए। वो मुक्ति को भी तुच्छ समझता है। वो कहता है कि, " मुझे केवल आपके चरणकमल की प्रीति प्रदान करें।" ऐसे भाव सिर्फ प्रार्थना के समय ही नहीं बल्कि सारा दिन ही बने रहने चाहिए और हमारे सारे कर्म भी इसी प्रार्थना के अनुरूप होने चाहिए।

ऐसी प्रार्थना से मन निर्मल हो जाता है, और जब हम सबके भले के लिए प्रार्थना करते हैं तो हमारे भीतर में जो स्वार्थ का संस्कार है वह समाप्त हो जाता है। लोभ, मोह, अहंकार,

आदि के संस्कार भी समाप्त हो जाते हैं एवं सच्ची दीनता व सच्ची सरलता आती जाती है। दीनता एवं सरलता ऐसे गुण हैं जो परमात्मा के चरणों की ओर ले जाते हैं। शिशु की तरह सरलता होनी चाहिए जिसमें किसी के प्रति राग न हो, किसी के प्रति द्वेष न हो। इससे निवृत्ति तभी सम्भव है जब प्रार्थना द्वारा सच्चे प्रेम की प्राप्ति हो जाये।

सच्चा प्रेम क्या है ? सच्चे प्रेम में पवित्रता है, उदारता है। प्रेम में एकता है, प्रेम में विभाजन नहीं होता। परमात्मा का दूसरा नाम ही प्रेम है। हम परमात्मा से प्रेम करते हैं और भाइयों या सँसार के अन्य लोगों से द्वेष करते हैं, यह तो कोई प्रेम -साधना नहीं है। प्रेम में तो सब समाप्त होकर केवल एकमात्र परमात्मा ही रह जाता है। वहाँ न मन रहता है और न मन की चतुड़ाई रहती है - ' फ़क़त तू ही तू है ' आगे चलकर यह भी ख़त्म हो जाता है। प्रेमी कभी-कभी दूसरों को समझाने के लिए कुछ शब्द बोल देता है, अन्यथा इस अवस्था में उसका मन, इन्द्रियाँ, वृत्तियाँ - सब शांत हो जाते हैं, केवल आत्मा ही प्रकाशमान रह जाती है।

इस शांत भाव की सुन्दर कल्पना को साकार रूप में दिखाने के लिए कवियों, चित्रकारों व मूर्तिकारों ने भगवान् शंकर अथवा गौतम बुद्ध के भव्य रूप को कैसी शांत, गम्भीर एवं प्रसन्न मुद्रा में बैठी मूर्तियों या चित्रों द्वारा प्रस्तुत किया है। जब प्रेम में डूबे साधक में किसी प्रकार की वेदना-संवेदना या अन्य कोई भी भाव- तरंगें नहीं रहती हैं तो शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार, आत्मा की पृथकता, सब ही समाप्त हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में कोई अवरोध अथवा कोई प्रयास नहीं होता और तब सच्चा योग होता है। सच्ची मौन साधना यहीं से प्रारम्भ होती है। इस प्रेमाग्नि में सारे संस्कार स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं। इस स्थिति को लाने के हेतु सिद्ध एवं सफल सहायक होते हैं -- प्रायश्चित और प्रार्थना

00000000000

राम सन्देश : अगस्त, 1991

राम सन्देश : जुलाई, 1993

सत्संग की साधना का स्वरूप

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

साधना में बैठते हुए करना यह है कि प्रेम स्वरूप परमात्मा के चरणों में प्रेममय होकर 'मनसा वाचा कर्मणा' स्थिर होकर बैठें। इसमें कोई विशेष कठिनाई नहीं है। संसार में बाकी जितनी पद्धतियाँ प्रभु प्राप्ति के लिए हैं, वे बड़ी विस्तृत हैं। हम जितना विस्तार करते गए, परमार्थ को गूढ़ बनाते गए। साधारण व्यक्ति की समझ में नहीं आता कि वह क्या करे ? बस करना यह है कि आप वैसे ही निश्चल रहें जैसे आप निद्रा में सोते हैं। उस समय आप कुछ भी तो नहीं करते। यदि आपका शरीर शिथिल है, मन तनाव रहित है तो आप निद्रा का आनन्द लेते हैं।

इस प्रकार हमें जाग्रत अवस्था में ही सुषुप्ति की अवस्था में रहना है। जाग्रत-सुषुप्ति को अपनाना है। इस प्रगाढ़ जाग्रत-सुषुप्ति में ही प्रभु की प्राप्ति होती है। जब तक हमारी जाग्रत-सुषुप्ति अवस्था नहीं होती, तब तक हमारी परमात्मा के साथ तदरूपता नहीं होती। हमें अपने को तनाव-मुक्त करना है। रात को देखिये, यदि मन में तनाव है तो आपको अच्छी नींद नहीं आएगी। जब आप शरीर ढीला छोड़ देते हैं तो निद्रा देवी आपको घेर लेती हैं। जागने पर आपको प्रसन्नता की अनुभूति होती है।

इसी प्रकार प्रभु के चरणों में जाकर अपने बल का प्रयोग नहीं करें। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक - इन तीनों में से किसी बल का प्रयोग न करें। केवल उसकी (प्रभु की, गुरु की) इच्छा पर छोड़ दें। जैसे किसी कलाकार के हाथ में लकड़ी या पत्थर दे देते हैं और वह कोई अवरोध नहीं करता, बोलता नहीं है तो बहुत ही सुन्दर तस्बीर या मूर्ती उसमें से निकलती है। इसी प्रकार से हम अपने आपको पूर्णतः उस प्रेमास्पद के चरणों में समर्पित कर दें। आप देखेंगे कि आपके भीतर में एक अजीब तरह की शांति और आनन्द की अनुभूति कुछ समय बाद होने लगेगी।

प्रभु दयानिधि हैं। उनके गुणों का गान करें और मन ही मन प्रभु के गुणों पर विचार करें, उन्हें अपनाने का प्रयास करें। शरीर को ढीला छोड़ दीजिये। मन में यदि विचार हैं तो मन से कह दीजिये कि इन विचारों की गुनावन थोड़ी देर के लिए न करे। कोई तनाव न हो। हमारे और परमात्मा के बीच अहंकार की जो दीवार है - उसे तोड़ दीजिये। अहंकार हमेशा विचारों के द्वारा काम करता है। हमारे विचार ही हमारी आत्मा और परमात्मा के बीच की दीवार है। हम अकारण ही संकल्प-विकल्प उठाते रहते हैं, समझते नहीं हैं तथा अपने ख्यालों को अधिक मज़बूत करते रहते हैं।

हमें अभ्यास करना है कि हमारे भीतर में विचार न उठें या कम से कम ही उठें। साधना यह करनी है कि हमारा मन हमारे अधीन हो जाए। परम-पिता परमात्मा ने हमें मन के रूप में बड़ा विचित्र उपकरण दिया है। हमें इसका सदुपयोग करना चाहिए। आवश्यकता हुई तो विचार उठा लिया, नहीं तो इस मन को शांत रखना चाहिए। जिस प्रकार से भगवान शिव की सेवा में उनका नन्दी बैल बैठा है, उतनी ही सरलता से हम मन रूपी नन्दी बैल को बैठाये रहें। जब भगवान को आवश्यकता होती है तो वे उस बैल की सवारी कर लेते हैं, नहीं तो वह उनकी सेवा में शांत बैठा रहता है।

मन का काम है कि यह अकारण ही कोई न कोई समस्या खड़ी कर लेता है। जो अवकाश - प्राप्त व्यक्ति हैं, जिनकी नौकरी समाप्त हो गयी है, पेंशन मिल रही है, बच्चे काम से लगे हैं, फिर भी वे चिंतित हैं। जैसा कि भगवान कृष्णा ने गीता में बताया है, जीने का तरीका यह है कि अनासक्ति से कार्य करें। संसार के प्रति अपनी पकड़ को ढीला करें। जो अतीत में हो चुका है उसे हम क्यों पकड़ें? उसे भूल जाइये। माँ-बाप को बच्चों की चिन्ता होती है। यदि परमात्मा में विश्वास है तो कल के लिए चिन्ता क्यों? यह हमारी भूल है। यह अहंकार है। यह हमारी नासमझी है। हमें ईश्वर का आश्रय लेना है। ईश्वर की गोद में बच्चे की तरह बैठना है। ईश्वर हमारा सच्चा पिता है। पिता के रहते हुई बच्चों को चिन्ता करने की क्या आवश्यकता? यह जीने का तरीका है। हमें वर्तमान में ही प्रभु को पाना है। यही आत्मिक उन्नति का समय है। इसलिए बाकी सबको छोड़कर, सभी समस्याओं को छोड़कर, हम प्रभु-चरणों का आश्रय वर्तमान में ही ले लें। यदि हमारी किसी से शत्रुता है तो उसे क्षमा कर दें। क्षमा ही परमात्मा का रूप है।

सत्संग में यदि आप परमात्मा की पूजा करना चाहते हैं तो आप को परमात्मा के गुणों की पूजा करनी चाहिए , जिसका मतलब है कि आपको परमात्मा के गुणों को सराहना है, उनको अपनाना है और उन्हें अपनाकर अपने व्यवहार में विकसित करना है। परमात्मा का गुण है - क्षमा करना । उसी प्रकार से क्षमा करना आपका स्वभाव बन जाए । आपको दुनियाँ में कोई कितनी ही उत्तेजना दे, आपसे शत्रुता करे, उसे आप क्षमा कर दें। यदि सत्संगी यह कहता है कि उसने ऐसा किया, वैसा किया, तो सत्संगी और सामान्य व्यक्ति में क्या अन्तर है ? यदि आप अपने आपको सत्संगी समझते हैं, तो आपको इन विचारों से ऊपर उठना पड़ेगा। आपके व्यवहार में एक सामान्य व्यक्ति के व्यवहार से अधिक नहीं तो कम से कम कुछ अन्तर तो होना ही चाहिए। आप कहते हैं कि वह मेरे साथ ऐसा व्यवहार करता है तो मैं भी वैसा व्यवहार उसके साथ क्यों न करूँ ? ऐसे शब्द सत्संगी भाइयों के मुँह से नहीं निकलने चाहिए।

भगवान् महावीर के पास एक राजा गया और बोला कि - " एक दूसरा राजा मुझसे ईर्ष्या करता है और मुझे परेशान करता है। उसके पास मुझसे कम धन है । वह मुझसे चाहता है कि मेरा धन भी उसे मिल जाए।" भगवान् महावीर ने कहा - " इसमें क्या आपत्ति है तुम्हें। तुम सन्यासी बन जाओ और अपना धन उसे दे दो। उसकी संतुष्टि हो जायेगी।" ऐसा होना चाहिए एक सत्संगी का व्यवहार। सत्संगी को तो बलिदान देना ही पड़ेगा। यदि वह भी वही कार्य करता है जो एक सामान्य व्यक्ति करता है तो सत्संग का क्या उपयो ग। हमें तितिक्षा अपनानी होगी।

वास्तविक लाभ तब जानना चाहिए कि जब हमारे भीतर में भी वही गुण समा जाएँ जो ईश्वर के होते हैं। ईश्वर के गुणों को सराहें और उन गुणों को अपनाने का प्रयास करें। गुरु-दर्शन या ईश्वर-दर्शन यही है कि ईश्वर के, गुरु के, जो गुण हैं वे सब हममें समा जाएँ। आत्मा या जीव तथा परमात्मा में इतना ही अन्तर है कि परमात्मा सागर है, जीव उसकी एक लहर या बूँद है। केवल मात्रा का अन्तर है - गुणों में अन्तर नहीं है। इस वक्त हो क्या रहा है ? विकारों के कारण हमारे गुण छिप गए हैं। हमारे गुणों का सूर्य अस्त हो चुका है। साधना यही करनी है कि जो गुण ईश्वर में हैं, साधक वही गुण सीख लें। साधक अपने भीतर में उन गुणों का विकास करें। वह पुरातन विचारों से धीरे-धीरे मुक्त हों , शुद्ध हों और सद्गुणों,

सदविचारों को अपना कर अपने सब कार्य करें। धीरे-धीरे अपने मन को प्रभु के चरणों में लय करते चले जाएँ। इस प्रकार आगे चलकर हम जब चाहेंगे निर्विचार हो जाएंगे और जब हम चाहेंगे तब सन्सार के साथ व्यवहार कर लेंगे। कोशिश यह करनी है कि हम निर्विचार और निर्विकार हों।

इसलिए पूजा से पहले हम स्तुति करते हैं, भजन आदि के द्वारा प्रार्थना करते हैं, परमात्मा के गुणों को याद करते हैं, उसके गुणों को सराहते हैं। उसके लिए वायुमंडल या वातावरण बना लिया जाता है। इस प्रकार से हमने परमात्मा की नज़दीकी प्राप्त कर ली। अब उसकी प्रार्थना करें। हमें जो मांगना है, उससे मांगें। फिर उसकी प्रसादी लेने के लिए अपने आपको उसके प्रति समर्पण कर दें। उसकी कृपा की गंगा में स्नान करें, डुबकी लगाएं। यदि आप अपने मन को और दृढ़ करना चाहते हैं तो थोड़ा-थोड़ा अभ्यास भी करें - आज्ञा-चक्र पर (या जैसा भी आपके गुरु ने आपको बताया हो) फिर प्रसाद अर्पण करें और प्रसाद प्राप्त करें।

प्रसाद चढ़ाने और लेने का तरीका यह है कि पहले प्रसाद को परम-पिता परमात्मा के चरणों में बड़ी दीनता से अर्पित करना चाहिए। प्रसाद को जब बांटा जाय, तब बाटने वाला अपने इष्टदेव में लय होकर बांटे। जो भी प्रसाद को ले वह अपने गुरुदेव, अपने इष्टदेव के ध्यान में लय होकर प्रसाद प्राप्त करे। ऐसे प्रसाद से रोगियों के रोग तक ठीक हो जाते हैं। परन्तु हम लोग हंसी मज़ाक में प्रसाद बांटते हैं और लेते हैं। इसलिए निवेदन है कि शांति पूर्वक प्रसाद प्राप्त करें। ऐसा न करने से प्रसाद की महत्ता घट जाती है।

बालक नामदेव जी ने प्रभु के चरणों में प्रसाद चढ़ाकर प्रार्थना की है कि - "मेरे पिताजी से तो आप नित्य प्रसाद ले लेते हैं, मुझसे क्यों नहीं लेते/? वह प्रसाद लेने का प्रभु से हठ करते हैं और बच्चों की स्वाभाविक सरलता से प्रभु से कहते हैं कि - "यदि आप सीधे तरीके से नहीं मानते तो मैं डंडा लिए आता हूँ" भगवान तो सरलता और प्रेम के भूखे हैं। नामदेव जी डंडा ले आये और प्रभु ने प्रकट होकर दूध पी लिया। हमें प्रसाद अनुरोध से, दीनता से, बच्चों जैसी सरलता से ही समर्पित करना चाहिए।

ऐसा करने पर वास्तव में परम पिता परमात्मा और हमारे पूर्वज सन्त हमारे प्रसाद को स्वीकार कर लेते हैं। जब प्रसाद लें तो अन्दर से, शांति से लें। सत्संग में जब तक

बैठें कम से कम तब तक तो नितान्त शांत रहें ही। यहाँ ईश्वर की जो कृपा बरस रही है, उसका अनुभव करें और उसी भावना से अपने घर वापस लौटें। थोड़े देर के लिए ही सही, कृपा का अनुभव तो करें। बच्चे तो शोर मचाएंगे ही, उन्हें मचाने दें। परन्तु हम बड़े तो शान्त रहें, इसका ध्यान अवश्य रखें। सब मिलकर ईश्वर से प्रार्थना करें, गुरुदेव से प्रार्थना करें कि - " हे प्रभु ! हे गुरुदेव ! आप हमारी इस तुच्छ भेंट को स्वीकार करिये।

साधकों को अभ्यास करने के साथ-साथ मनन और अध्ययन भी करना चाहिए। अपने इष्टदेव के, गुरुदेव के, प्रवचन पढ़ने चाहिए। थोड़ा पढ़िए, मनन अधिक करिये और देखिये कि उस प्रवचन के भाव क्या हैं? जैसे अपने पढ़ा कि मौन रहना है - अब मनन करिये कि मौन क्या है, हम मौन क्यों रहें, इससे क्या लाभ होगा या क्या हानि हो सकती है ? जिस बात पर हम मनन करते हैं वह बात हमारे मन पर दृढ़ हो जाती है, हमारे चित्त पर अंकित हो जाती है और हमारा स्वभाव बन जाती है। आम तौर पर सत्संगी लोग मनन नहीं करते, किन्तु मनन करना चाहिए। सत्संग में सुन लिया और बाहर जाकर निकाल दिया, इससे क्या लाभ ? कुछ लोग हैं जो नोट करते हैं पर उनकी नोट की कापियां भी अलमारी में पड़ी रहती हैं।

गुरु महाराज का, पूज्य लाला जी महाराज का, जो साहित्य है वही हमारे लिए गीता है, रामायण है/ कबीर साहब, गुरु नानक देव जी की जो वाणी है, उन्हें भी हमें पढ़ना चाहिए/ इन सब पर मनन करना चाहिए और उनकी गहराई पर जाना चाहिए / इनके शब्दों में जो गंगा छिपी है उसमें भीतर घुस कर स्नान करें/ जैसे सागर में घुसकर मोती निकाले जाते हैं, वैसे ही अपने इष्टदेव के वचनों की गहराई में जाएँ/ आप जितना इष्टदेव की वाणी पर मनन करेंगे, उतना ही आप उनके नज़दीक होते चले जायेंगे/

एक बात और है कि हमारे मन में यह थोथा विचार है कि केवल आँखें बंद करके बैठने से ही लाभ होता है। यह ठीक है कि जैसे प्रातः स्नान करते हैं, शरीर साफ़ हो जाता है, स्फूर्ति आ जाती है, ताज़गी आ जाती है, इसी प्रकार प्रातःकाल स्नान करने के बाद कुछ समय ईश्वर का चिन्तन करने से, पूजा करने से, कुछ और ताज़गी आती है। परन्तु जिनको समय नहीं मिलता, जैसे स्त्रीयां हैं उन्हें समय नहीं मिलता तो वह बेचारी परेशान रहती हैं। उन्हें परेशान रहने की कोई आवश्यकता नहीं है। सुबह से शाम तक जो भी कार्य हम करते हैं उन

सभी को ईश्वर की पूजा का रूप दें, एक यज्ञ बना दें। ईश्वर से लौ लगाए रहें। वह जो आमतौर की पूजा की जाती है, उससे यह सौ गुनी अच्छी पूजा है।

प्रतिक्षण हम उसकी याद में रहें। यहाँ तक कि कहीं लड़ाई -झगड़ा भी हो जाए तो भी ईश्वर की याद में रहें। ईश्वर को याद रखोगे, तो लड़ाई नहीं होगी, और यदि हुई भी तो समाप्त हो सकेगी। गुस्सा आ जाय, तो ईश्वर को याद करें। गुरु महाराज को हमेशा अपने सामने देखें। सबके साथ सुन्दर व्यवहार करें। हमारा जितना भी व्यवहार हो, सेवा का रूप लिए हो। हमारी सेवा प्रत्येक को आनन्द देने वाली हो। हमारी पूजा दूसरे को प्रसन्नता देने वाली हो, शांति देने के लिए ही हो, किसी के शोषण के लिए न हो।

संक्षेप में, साधना का सफल रूप यही हो कि अपनी दिनचर्या को ही पूजा का रूप दे दीजिये, यज्ञ का , दान का रूप दे दीजिये। दान क्या देना है? सबके साथ मधुरता का व्यवहार करियो। मधुर बोलियो, प्रेम से बोलियो। प्रेम का व्यवहार करियो। जितनी आप सेवा करते हैं उसका मुनासिब पैसा तो लीजिये, किन्तु ज़्यादा नहीं। दफ्तर में जाते हैं, छः-सात घंटे काम करना है तो उस अवधि में काम करते हुए आपको होश नहीं रहना चाहिए। पूरा काम करना चाहिए। किन्तु आप अखबार पढ़ते हैं, चाय पीते हैं, काम कम या नहीं करते, तो आपकी कमाई ईमानदारी की नहीं है। पवित्र नहीं कहलाएगी। इसलिए जो भी क्षेत्र अपनी रोज़ी का हो, चाहे दफ्तर में या दुकानदारी में - उसे शुद्ध भाव से पूजा समझकर करें। हमें हर एक काम ईश्वर की हज़ूरी और ईश्वर की प्रसन्नता के लिए, ईश्वर का ही काम समझ कर करना चाहिए।

बच्चों के साथ बैठें तो उन्हें ईश्वर की सन्तान समझकर ही उनके साथ खेलें या पूजा करें। पति है तो उसे भगवान् विष्णु का रूप मानें और पत्नी है तो उन्हें लक्ष्मी रूप में रखें। सन्सार को प्रभु-मय समझकर ही प्रसन्नता से कार्य करें। पड़ोसियों की दीन-दुखियों की, आप जिनसे भी संपर्क में आयें उन सभी की ईश्वर की पूजा के रूप में सेवा करें। आपका ऐसा स्वभाव बन जाए। ऐसा होना चाहिए हमारी साधना का व्यावहारिक स्वरूप।

गुरुदेव आपका कल्याण करें।

0000000000000000

सत्संग साधना से जीवन का उद्धार

(बहमलीन परमसंत डॉ०करतारसिंह जी महाराज)

साधना कराने वाला विचार- विमुक्त होकर बैठे। वह यह समझे कि मैं कुछ भी नहीं हूँ। गुरुदेव की, ईश्वर की, कृपा बरस रही है। आप भी विचारों से मुक्त होकर कोशिश करते रहें कि आपका मन जितना भी हो सके कम से कम इधर-उधर भागे। आप दृढ़ता के साथ बैठें। गुरु और शिष्य में जो द्वैत का भाव है, वह जाता रहे। यह ख्याल नहीं करना कि हम दो हैं या एक। कबीर साहब कहते हैं कि - "एक कहूँ तो है नहीं, दूजा कहूँ तो गार, जैसा है तैसा रहे कबीर विचार।" यह द्वन्द है। मन ही तो कहेगा कि वह एक है। वह तो एक से अनेक हो जाता है। परमात्मा तो द्वैत से परे है, इसलिए वह भी दो नहीं है। वह जैसा है वैसा ही रहता है - ऐसा कबीरदास जी कहते हैं। यह प्रश्न भी खत्म हो जाता है कि प्रभु एक है या दो। यह सब भाव खत्म हो जाते हैं।

यदि गुरु यह ख्याल करके बैठता है कि मैं गुरु हूँ, तो सूफ़ी लोग कहते हैं कि ऐसे गुरु की गरदन काट देनी चाहिये। शिष्य यदि यह भावना लेकर बैठता है कि मैं हीन हूँ तो वह भी गलती करता है। हमें सब भावनाओं से मुक्त होकर बैठना है। हमारे यहाँ का साधन 'प्रेम' का साधन है। हमें अपने आपको परमात्मा में लय कर देना है। इसमें द्वैत नहीं होता, परन्तु थोड़े दिन के लिए एक दूसरे से प्रेम करते हैं, जिससे यह प्रेम बढ़ते-बढ़ते हमारा स्वभाव बन जाता है। हम अपने में गुरु का, परमात्मा का रूप देखें। हमारे कानों में जो स्वर पड़े वह ऐसा मालूम हो कि ॐ कार की ध्वनि है। सबमें वही ध्वनि है। ॐ, ॐ की आवाज़ है। अनहद शब्द की झंकार है। भीतर ही नहीं, बाहर भी। भीतर में, बाहर में, सब ओर ईश्वर ही ईश्वर दिखाई दे। हमारी जिह्वा से जो शब्द निकलें, मधुर शब्द निकलें। वे ईश्वर का प्रेम लिए हुए हों। हम जो भी व्यवहार करें वह दैवी- गुणों को लेकर करें, अप्रयास हो, प्रयास न करना पड़े। यह सहज समाधि है। आँखें बन्द हैं, तब भी प्रेम है, हम बात-चीत कर रहे हैं, उसमें भी प्रेम है, व्यवहार कर रहे हैं, उसमें भी प्रेम है। सारा सँसार हममें समाया है और हम सारे सँसार में समाये हैं। यह 'विश्व-भावना' हो जाती है। परमात्मा के साथ एकता हो जाने पर सबके साथ एकता हो जाती है।

महात्मा बुद्ध को क्या कष्ट था ? उन्होंने 18 बार जन्म लिया। वह ज्ञानी थे। जिसको आत्मा परमात्मा का ज्ञान होता है उसको बुद्ध कहते हैं। परन्तु उनके भीतर तो व्याकुलता थी। संसार के दुःखों को देखकर वह दुःखी होते हैं और सोचते हैं कि कोई ऐसी आसान पद्धति मिल जाय जिसको पाकर सारा संसार मेरी तरह बुद्ध बन जाये, ज्ञानी बन जाये। यानी जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाये। शारीरिक रोगों से बच जाये, आत्मिक कठिनाइयों से मुक्त हो जाये। वह प्रेम की राह बताते हैं। क्या हमने भी कभी सोचा है कि हमारे पड़ोसी को आनन्द मिले, वह सुखी रहे ? यह प्रेम की निशानी है। महात्मा बुद्ध के पास धन-दौलत है, सब सुख हैं। परन्तु वे दुःखी हैं, उन्हें चैन नहीं है। उन्होंने कितना कष्ट उठाया, कितना तप किया तब जाकर उन्होंने इस रास्ते को बताया। उनको एक पद्धति सूझी, पद्धति का मतलब है साधन, सरल साधना। उनके हृदय में इच्छा थी कि संसार को कोई एक सरल रास्ता बतला दें जिससे निर्वाण प्राप्त हो सके, मोक्ष प्राप्त हो सके। यह विश्व-प्रेम है। यह हमारे जीवन का लक्ष्य है, हमारा आध्यात्मिक प्रेम है। प्रेम महान है, बहुत ऊँचा है।

हमको इस बात से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिये कि हम प्रातः -साँय साधना में बैठ गए, कभी-कभी सत्संग में भी सम्मिलित हो गए। यह प्रेम साधना नहीं है। हमारे वंश के महापुरुषों की यह विशेषता है, सुन्दता है, बरकत है, कि जितना और जैसा प्रेम इस सत्संग में पाया जाता है, वह प्रेम बाहर अन्यत्र नहीं है। परन्तु हमें इस प्रेम को सारे संसार में प्रकाशित करना होगा। यह केवल मेरा ही काम नहीं है। मैं यह नहीं कहता कि मैं यह नहीं कर सकता। पर यह काम आप सबका भी है। काम का मतलब यह नहीं कि आपको बाहर जाकर किसी मंच पर प्रवचन देना होगा या प्रचार करना होगा। आपको अपने जीवन को प्रेममय बनाना होगा। आपके सम्पर्क में जो भी आये उसके साथ आपका जो भी व्यवहार हो, प्रेममय हो, उसमें ईश्वर के प्रेम का विकास हो। आपका घर में कुछ रूप है, दफ्तर में, क्लब में, राजनीति

में, कुछ और रूप है - ऐसा व्यक्ति साधना का जो लक्ष्य है 'प्रेम' उसका अधिकारी नहीं बन सकता। प्रेम एक ही रूप होना चाहिये।

मैं राजनीति में जाने को मना नहीं करता। महात्मा गाँधी की तरह आत्मिक शांति प्राप्त कर उसकी सुगन्ध फैलाइये। कितनी वेदना, कितनी उत्तेजना मिली महात्मा गाँधी को पर उन्होंने

अपने आदर्श को नहीं छोड़ा। हमें भी चाहिए कि हम अपने परिवार में रहें, दफ्तर में रहें या अन्य किसी स्थान पर जायें, हमारा व्यवहार प्रेम का हो। प्रेम की ज्योति प्रकाशित रहे। आप सबको अगरबत्ती की तरह बनना है। अगरबत्ती अपनी सुगन्धि चारों ओर फैलाती है। इसी तरह हम-आप सबको अपने प्रेम को चारों ओर फैलाना है। हमारा अन्तिम लक्ष्य प्रेम है। आत्मिक प्रेम प्रेम ही परमात्मा है। हम प्रेम में स्थित रहें। संसार की आँधियाँ आयें, दुःख-सुःख आयें, परन्तु हमारे भीतर की स्थिति स्थिर रहे। आप प्रेम की सुगन्धि में विपरीत स्थिति में भी स्थिर रहें। महात्मा बुद्ध ने इस स्थिति को दो भागों में बाँटा है। कोई संस्कार न हो, कोई विचार न हो। यह प्रेम का, मोक्ष का रूप है। यह प्रेम भक्ति के बिना प्राप्त नहीं हो सकता। प्रेम के लिए सन्तोष, सहनशीलता, सत्यता की आवश्यकता है।

साधना के साथ-साथ महापुरुषों की वाणी, उनके जीवन-चरित्र का भी अध्ययन करना चाहिए, उन पर विचार-मनन करना चाहिए। वास्तव में यदि गुरु के साथ सच्चा प्रेम है तो और कुछ करने की ज़रूरत नहीं है। पूज्य लालाजी महाराज (आचार्य दिगन्त महात्मा रामचंद्र जी महाराज) ने पूज्य गुरुदेव (परमसंत महात्मा श्रीकृष्ण लाल जी महाराज) से गीता पढ़ने के लिए कहा। गीता लाई गयी। एक दो दिन गीता का उपदेश दिया, फिर कहने लगे - "छोड़ो, भीतर की गीता पढ़ो।" यह उन लोगों के लिए है जो अपना पूरा जीवन गुरु के लिए न्यौछावर कर देते हैं। उनके लिए तो यह बात सरल है परन्तु सामान्य व्यक्ति के लिए यह बड़ा कठिन है। हमें गुणों को धारण करना है। महापुरुषों की वाणी को पढ़कर उस पर विचार करना है। ईश्वर का गुणगान करना है। यही तो परमार्थ है। यह कहना कि गुरु करेगा, ऐसा नहीं। या तो हम अपने आपको गुरु पर पूर्णतः न्यौछावर कर दें या बीच का रास्ता अपनायें। भक्ति को भी अपनायें, इन नियमों का पालन करें और ज्ञान भी प्राप्त करें।

एक महापुरुष से एक भक्त ने पूछा - कौन सी साधना करनी चाहिए ? इसका उत्तर है कि साधक की जैसी वृत्ति हो, जिस प्रकार के उसके संस्कार हों, उसका व्यवसाय हों - उसके अनुसार वह आचार-व्यवहार को अपनाये। भक्ति जितनी हो सके करे, तब जाकर वह प्रेम के आयाम में प्रवेश पा पायेगा। उससे पहले नहीं। यह प्रेम का रास्ता है। मीरा जी का प्रेम देखिये। उन्होंने सब कुछ न्यौछावर कर दिया उस साँवले-सलौने भगवान पर। जो मीरा जी जैसी या हनुमान जी जैसी साधना नहीं कर सकते, वे साधारण साधन अपनायें - जैसे आचार-व्यवहार

सुधारना, भक्ति करना और बुद्धि का सदुपयोग करना। चाहे आचार-व्यवहार हो, चाहे भक्ति, बुद्धि, ज्ञान की साधना हो, हमें अपने गुरु पर विश्वास करना चाहिए। जैसा वह कहें वैसा करना चाहिए। वह आपको बतला देंगे कि आपको किस प्रकार का साहित्य पढ़ना चाहिए। यदि शेष सब ठीक है, केवल प्रेम उत्पन्न नहीं होता, जब सत्संग में बैठते हैं तो चक्षुओं से अश्रु प्रगट नहीं होते, तो ऐसे भाइयों के लिए उचित होगा कि वे प्रेमी लोगों का संग करें। मीरा जी, सूरदास जी के भजन, उनका जीवन-चरित्र पढ़ें। गुरु अंगददेव जी ने कोई साधना नहीं की। केवल अपने इष्टदेव गुरु नानकदेव जी की सेवा की, उनकी आज्ञा का पालन किया, अपने को गुरु के समर्पित किया। भगवान दक्षिणमूर्ति के पास जो भी जिज्ञासु आता था, वह मौन रहते थे, बोलते नहीं थे। जिज्ञासु को कहा जाता था कि वह भी मौन होकर बैठ जाए। ईश्वर- कृपा या गुरु-कृपा जो मौन में होती है, वह प्रवचनों द्वारा नहीं होती। प्रवचनों से मार्गदर्शन तो होता है, कुछ रस भी मिलता है, परन्तु वास्तविक अनुभूति, वास्तविक ज्ञान, मौन से ही मिलता है। बाहर का मौन महत्वपूर्ण है परन्तु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है अन्दर का मौन। मौन के दरवाजे से गुज़र कर ही हम आत्मा के दरवाजे तक, परमात्मा के पास तक, पहुँच सकते हैं। तो हमें यह प्रयास करना चाहिए कि सत्संग में बैठे हों, या सत्संग न हो रहा हो, हम मौन रहने का अभ्यास करें। आन्तरिक मौन रहने का अभ्यास करें। इससे एक असीम शक्ति उदय होती है। जो व्यक्ति हर वक्त बोलता रहता है, वह जो भी बोलेगा सही नहीं होगा। जो व्यक्ति कभी-कभी बोलता है और भीतर में शांत रहता रहता है वह जो भी बोलेगा वह सही बोलेगा। इसलिए आन्तरिक मौन का जितना भी अभ्यास हो सके, करना चाहिए।

भीतर में आपका मन इष्टदेव के चरणों में लगा हुआ है - बस इतना ही करना है। आगे चलकर यह भी छूट जाता है। केवल मौन रहता है। यदि ईश्वर की कृपा हो जाय तो आत्मा की अनुभूति हो जाती है। इस मौन के लिए प्रयास नहीं किया जाता। जहाँ प्रयास किया जायेगा, वहाँ मन होगा। जब हम पूर्ण रूप से अप्रयास हो जाते हैं, तब भगवान आते हैं। जब हम दीन होकर, बलहीन होकर, अपने आपको प्रभु के चरणों में समर्पण कर देते हैं, कुछ आशा या इच्छा नहीं रखते, तब ईश्वर की कृपा होती है। हो सकता है कि किसी पर ईश्वर की कृपा पहले हो जाए और किसी पर बाद में हो। परन्तु होती है अवश्या। उसकी कृपा, उसका फ़ैज़ प्रतिक्षण हम पर बरस रहा है।

मौन रहना बहुत कठिन है। ईश्वर के निराकार रूप की अनुभूति केवल मौन में ही हो सकती है। "जाप मुआ, अजपा मुआ, अनहद हूँ मर जाय" कबीर साहब कहते हैं कि जो जाप है, भगवान का नाम है, जो अजपा है, जो अप्रयास हो रहा है। भीतर में जो अनहद के शब्द हैं, वो भी ईश्वर के प्रेम में लय हो जाते हैं। आत्मा जो हमारे शरीर में है, वह परमात्मा में लय हो जाती है। फिर मनुष्य जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाता है। जो ऊँचे अभ्यासी हैं, वे जो भी साधना करते हैं उसके साथ-साथ मौन का अभ्यास भी बढ़ाते जाते हैं। जितना भी मौन साध सकें, साधें। भीतर का मौन। इसका मतलब यह नहीं कि हमने तो मौन रखा है, वैसे तो हम बोलते नहीं, कलम दवात ली और कागज़ पर लिख दिया। मगर हमारे भीतर में संकल्प-विकल्प उठ रहे हैं। मौन का मतलब है - निर्विचार, कोई संकल्प नहीं। कुछ भी नहीं, कोई बुरा विचार नहीं, कोई अच्छा विचार नहीं। यह कब होता है, जब साधक अपने आपको ईश्वर के चरणों में समर्पित कर देता है। Self surrender यानी अपनी कोई इच्छा नहीं रखता, अपनी कोई आशा नहीं रखता। कोई भी घटना घटित होती है, यदि वह प्रतिकूल है तो भी वह प्रसन्न है और यदि अनुकूल है तो वह प्रसन्नता के भाव नहीं रखता। तो मौन का भाव है की अपनी कोई इच्छा न रहे। यही मौन जाकर आत्मा में लय हो जाता है। जितना समय मिले, जितना आप रह सकते हों, उतना मौन रहिये। इसका प्रयास करने से आपकी वाणी में शक्ति आएगी। आप जो बोलेंगे, गलत नहीं बोलेंगे। जब ज़रूरत हो बोलो और फिर अन्दर में लय हो जाओ। गुरुदेव के चरणों में मन लगा रहे। मन जो है वह प्रभु ने एक बड़ा विचित्र उपकरण दिया है। हमें इसको अपने आधीन करना है। हम इसके आधीन न हों। हम जब चाहें इसका उपयोग कर लें और जब चाहें इसे मौन कर लें। इसको ऐसा साधा जाय कि यह शांत बैठा रहे। परन्तु हमारे भीतर में क्या होता है ? चारों ओर भाग दौड़, अशान्ति। ऐसा व्यक्त शान्ति कैसे पा सकता है ? तो हमें मौन की साधना करनी होगी। हमारी सम्यक बोली होनी चाहिए। ऐसी बोली निकालिये जिससे किसी को हानि न हो, दुःख न पहुँचे।

हम प्रमादी न बन जाएँ, सुस्त न हो जाएँ। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश दिया कि - 'वीर बनो' इस संसार रूपी कुरुक्षेत्र में वही लड़ सकता है जो वीर है। हम वह भोजन करें जिससे हमारा शरीर स्वस्थ रहे। खाना पौष्टिक हो, जल्दी पचने वाला हो। उतना खाओ जिससे शरीर स्वस्थ रहे और ईश्वर का भजन भी हो सके। कम सोओ। नींद भी उतनी लीजिये जिससे

आपके शरीर को आराम मिले। इतना मत सोओ कि आप प्रमादी बन जाँँ संसार के प्रति अपने दायित्व को भूल जावें। इतना भी न जागें कि आपके दिमाग में खुशकी हो जाये। जितना शरीर को आवश्यक है, उतना ही हमें सोना चाहिए। दृढ़ योग नहीं करना चाहिए। दृढ़ योग करने से बहुधा बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

महर्षि रमन बहुत कम बोलते थे। जो भी जिज्ञासु उनके पास जाता था, वह भी चुप करके बैठ जाता था। अपने प्रश्न अपने मन में रख लेता था, क्योंकि संसार में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जिसके मन में कोई दुविधा न हो। उनके पास बैठने से ही जो भी प्रश्न होते थे, उनके उत्तर स्वयं उनके बोले बिना मिल जाते थे। आप भी ऐसा करके देख सकते हैं। चाहें आप संत के पास बैठें, चाहें आप परमात्मा की सेवा में बैठें, चुप करके बैठ जाइये। 10, 15, 20 मिनिट मौन होकर बैठ जाइये। जो भी प्रश्न आपके हों, उनके उत्तर आपको मिल जायेंगे।

गीता हमें सिखाती है कि हमारे मन में आसक्ति न हो। अनासक्त जीवन व्यतीत करने की कोशिश करें। महात्मा गान्धी ने गीता का जो अनुवाद किया है उस पुस्तक का नाम ही उन्होंने 'अनासक्त योग' रखा है। गीता का सार ही यह है कि हम मोहग्रस्त न हों। यह बात कहने में तो सरल लगती है परन्तु हमारा जीवन इतना मोहग्रस्त हो गया है कि हम इससे मुक्त नहीं हो पा रहे हैं।

कबीर साहब कहते हैं - " मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर, तेरा तुझको सौंपते क्या लागत है मोर।" यही गीता का उपदेश है। मेरा अपना कुछ भी नहीं है। जिस शरीर से मेरा सम्बन्ध है, वह शरीर भी तो मेरा नहीं है। धन-दौलत भी मेरी नहीं है। विचार भी मेरे नहीं हैं। हम यह भी जानते हैं कि हमारे साथ कुछ नहीं जायेगा। तब भी हम यह समझते हैं कि संसार में जो कुछ भी है सभी हमारा है। अज्ञान के कारण हम मोहग्रस्त हो रहे हैं। इसीलिए भगवान अर्जुन से कहते हैं कि - 'अज्ञान का त्याग करो, अभिमान का त्याग करो और मोह का भी त्याग करो।' आत्मस्थित होकर अथवा परमात्मा में लय होकर, इस धर्मक्षेत्र में वीर बन कर, साहसी बन कर, इस संग्राम में जूझना चाहिए। यह जीवन एक संग्राम है। वही जूझ सकता है जो वीर है, जिसमें आसक्ति नहीं है। अर्जुन जैसे वीर मूर्छित हो जाते हैं, आपका और मेरा तो

कहना ही क्या है ? हमें छोटी सी तकलीफ़ आ जाती है तो हम अपने आपको भूल जाते हैं, गीता के उपदेश को भूल जाते हैं। भगवान राम की मर्यादा और उनके उपदेश भूल जाते हैं।

भगवान अर्जुन से कहते हैं - हे वीर ! मेरे मित्र, और कुछ मत करो, कर्म और कर्मफल में आसक्ति का त्याग कर दो। मुझमें, मेरे चरणों में समर्पण कर दो। तुम तनिक भी आसक्ति मत रखो। तुम क्यों चिन्ता करते हो ? मैं तुम्हारी चिन्ता करूँगा। बच्चा है, माँ की गोद में जाता है, अचिन्त होकर, निर्भय होकर। तुम बच्चे की तरह रहो। माँ के रहते हुए क्या बच्चा भय खाता है ? क्या उसे भविष्य का कोई भय या चिन्ता होती है ? वह माँ को गोद में आनन्द से रहता है। तुम भी अपने आपको मेरे में लय कर दो। मेरे में लय क्या करोगे ? ये जो पाँच तत्व और तीन गुण हैं वे मेरे में लीन कैसे होंगे ? केवल आत्मा ही परमात्मा में लय हो सकती है। भगवान समझा रहे हैं कि ये पंचतत्त्व और तीन गुण हैं - ये नश्वर हैं, अस्थायी हैं, इनको छोड़ो। आसक्ति का त्याग करो, सत्यता की अनुभूति करो। आत्मा को परमात्मा में लय करके तुम सदा के लिए अमर हो जाओ, मोह-रहित हो जाओ।

जितने भी महापुरुष हुए हैं उन सबने हमें अपने जीवन से शिक्षा दी है कि हम किस प्रकार से अनासक्त जीवन व्यतीत करें। गुरु गोविन्द सिंह जी, गुरु नानक देव जी, भगवान राम, स्वामी रामदास जी - इन सबके जीवन के उदाहरण हमारे सामने हैं जिनका हमें अनुसरण करना चाहिए। आप सबसे अनुरोध है कि महापुरुषों के जीवन का अध्ययन करें। उनका जीवन हमारे लिए शास्त्र हैं, उपदेश हैं। उनके जीवन का अनुसरण करें। गीता के उपदेश को, भगवान राम की मर्यादा को, सन्तों के जीवन को अपनायें। उनके जीवन का अनुसरण करने से हमारा जीवन भी दुःख-रहित हो जायेगा। चाहे जितने भी कष्ट जीवन में आ जाएँ, हमारे भीतर की शान्ति विचलित नहीं होगी, हमारा मन विक्षिप्त नहीं होगा। हमारा मन विक्षिप्त तभी होता है, तभी दुःखी होता है, जब हम अज्ञान में होते हैं। हमारे में अज्ञान तब तक है जब तक हमारे में आसक्ति है, सच्चा प्रेम नहीं है, सच्चा ज्ञान नहीं है। इसलिए आप सबसे अनुरोध है, करबद्ध प्रार्थना है, केवल बातों को सुना ही न जाय, किताबों की केवल पूजा ही न की जाय, किताबों में जो कुछ ज्ञान है, उस ज्ञान की गंगा में स्नान किया जावे। अपने भीतर में शान्ति रखें। कितनी भी दुःखद घटना आ जाय, कितना भी सुःख आ जाय, हमारी समता भंग न हो। जब तक

समता नहीं बनेगी, मानसिक सन्तुलन नहीं बनेगा, तब तक हमें सच्ची शान्ति नहीं मिलेगी। भगवान ने अर्जुन को यही समझाया है - ' मोह को छोड़ें, आसक्ति का त्याग करें। '

" मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर, तेरा तुझको सौंपते क्या लागत है मोर।" - मेरा कहने योग्य मेरे पास कुछ भी नहीं है। यह शरीर नष्ट हो जाता है। मुझे क्या दुःख है ? तेरी चीज़ तुझे वापस सौंप दी। मुझसे क्या मतलब ? कोई मोह नहीं। इस शरीर के साथ जो सम्बन्ध हैं, वो मेरे थोड़े ही हैं, सभी आपके हैं। तेरे चरणों में समर्पित हैं। मुझे दुःख काहे का ? यदि मेरा होता तो मेरे साथ जाता। वह तो मरने पर साथ नहीं जाता। तो अज्ञान छोड़कर मोह का त्याग करें। मोह का त्याग करने से समता आएगी। मानसिक सन्तुलन आ जायेगा। अनुकूल तथा प्रतिकूल सभी परिस्थितियों में हमारा चित्त आनन्दमय रहेगा। जब तक चित्त आनन्दमय नहीं रहता, तब तक आत्मा की अनुभूति नहीं हो सकती। यह सत्यता है कि जब तक भीतर में प्रसन्नता नहीं आती, आनन्द नहीं आयेगा, तब तक आत्मा की समीपता नहीं होगी। आनन्द, सुख और सच्ची प्रसन्नता कब मिलेगी ? जब हम सन्तोष को अपनायेंगे। भगवान कृष्ण ने गीता में तीन प्रकार के तप कहे हैं - शरीर का तप, मन का तप और बुद्धि का तप।

स्वामी रामदास जी ने मन के तप के लिए तीन बातें अपनाना बताई हैं :

(1) तितिक्षा - हम सुःख को भी हज़म करें, दुःख को भी हज़म करें। तितिक्षा के दो अर्थ होते हैं। एक तो गर्मी-सर्दी को सहन करें। दुःख-सुःख आ जाय तो हमारा शरीर उसे सहन कर ले। किन्तु वास्तविक तितिक्षा तो है - 'मस्ती'। यदि कोई हमें गाली दे तो हमें दुःख न हो, और यदि कोई हमारी स्तुति करे तो हमें अहंकार न हो। महात्मा बुद्ध का जीवन इसका उदाहरण है। भगवान बुद्ध समता के स्वरूप थे। केवल उनकी तस्बीर देखने से ही हमें कितनी शान्ति मिलती है, उनके भीतर में कितनी शान्ति होगी ? यह तो सँसार है, इसमें हमें सब ओर से उत्तेजनार्थ मिलेंगी ही। बाहर के लोग कम, परिवार के लोग अधिक उत्तेजना देते हैं। तो हमें तितिक्षा को, सहनशीलता को, अपनाना चाहिए।

(2) उदासीनता - कोई आशा मत रखिये, कोई इच्छा मत रखियो। इच्छा रखेंगे और यदि इच्छा की पूर्ति नहीं हुई, तो हमारे मन को दुःख होगा। प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता है कि सँसार के जितने सुख हैं सब मेरे पास आ जाएँ और जैसा मैं सोचता हूँ, सारा सँसार उसके अनुकूल

चलो यह सोचना मूर्खता है। हमें उदासीनता अपनानी चाहिए। हमें शास्त्र के अनुकूल, गुरु के उपदेश के अनुकूल तथा अपने भीतर की चेतना के अनुकूल, अपना कर्तव्य करना चाहिए। क्या परिणाम होगा, इसकी चिन्ता मत कीजिये। आप अपने व्यवहार से, अपनी मधुर वाणी से, संसार की सेवा करें। यह संसार स्थायी नहीं है। महात्मा बुद्ध ने इसे 'अनित्यता का बोध' कहा है। परमात्मा के सिवाय कोई वस्तु नित्य नहीं है। यह शरीर, ये सम्बन्धी, धन, मकान, दुःख-सुःख कोई सदैव रहने वाले नहीं हैं। सब अनित्य हैं। जिसको इस अनित्यता का बोध हो जाता है, वह उदासीन हो जाता है। उदासीनता का मतलब है कि भीतर में यह समझ, यह ज्ञान, आ जाना चाहिए कि यह संसार तो नित्य रहने वाला नहीं है, स्थायी नहीं है। तो फिर इसके प्रति मोहग्रस्त क्यों होना चाहिए ? हम इससे आसक्ति क्यों रखें ? संसार से मन हटाकर ईश्वर से अनुराग किया जाय। यदि संसार से उदासीनता की जाएगी और ईश्वर के साथ प्रेम नहीं किया जायेगा, तो मन में निराशा, दुःख उत्पन्न हो जायेगा जिसे हर आदमी बर्दाश्त नहीं कर सकेगा। इसलिए उदासीनता के साथ ईश्वर से अनुराग होना चाहिए।

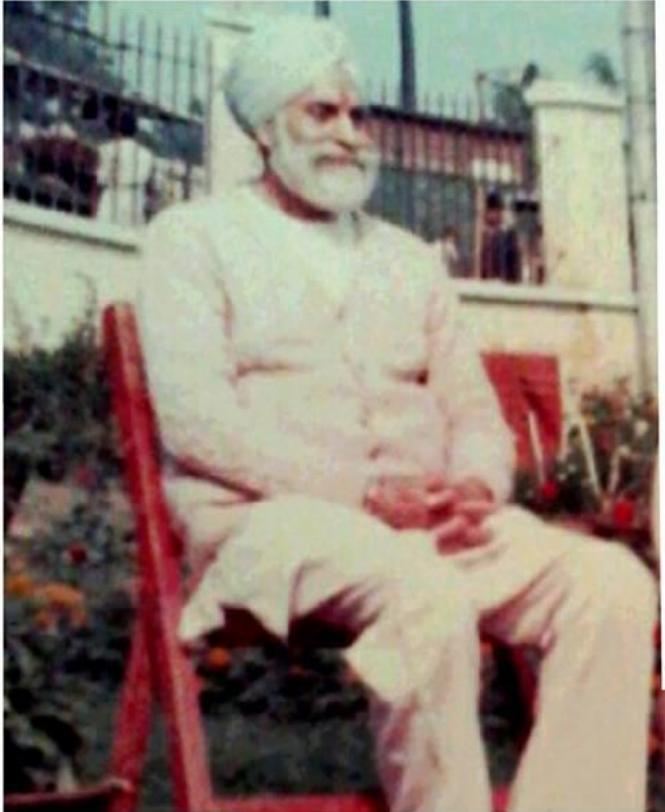
(3) नमस्कार - किसको ? सारे जग को, सारे विश्व को। क्यों ? प्रत्येक रूप में ईश्वर व्यापक है। हम इन रूपों को नमस्कार नहीं करते वरन इन रूपों में जो आत्मा और परमात्मा व्यापक है, विद्यमान है, उसको नमस्कार करते हैं। जब आप श्रद्धा और विश्वास के साथ सभी को नमस्कार करेंगे तो आपके हृदय में किसी के प्रति ग्लानि नहीं होगी चाहे कोई आपके प्रति कितनी ही बुराई क्यों न करे। भगवान् राम के हृदय में रावण के प्रति द्वेष भावना नहीं है। उसके हृदय में भी वही आत्मा और परमात्मा है। जब आपका सबके साथ प्रेम होगा, आप सब में ईश्वर का रूप देखेंगे, सब कार्य ईश्वर के लिए ही करेंगे। सबको सुःख और आनन्द पहुँचाने के लिए कर्म करेंगे तो आपके चित्त में कितनी प्रसन्नता उत्पन्न होगी ?

यह मन का तप है जिसे भगवान् कृष्ण ने गीता में समझाने की कोशिश की है। उसको तीन सरल शब्दों में स्वामी रामदास जी ने ऊपर समझाया है। हमें भी अपनी इस जीवन-यात्रा में कुछ तप करना पड़ेगा। भगवान् ने जो तप बताया है - तितिक्षा, उदासीनता, नमस्कार, ईश्वर प्रेम, सबका सम्मान करना, सबकी इज्जत करना - ऐसा करने से प्रत्येक व्यक्ति को वास्तविक सुःख और आनन्द की अनुभूति हो सकती है। ईश्वर के साथ प्रेम कीजिये या ईश्वर के जो प्रेमी हैं उनकी सेवा करिये - एक ही बात है। जिस व्यक्ति के भीतर में ईश्वर के गुण व्यक्त हैं, उस

व्यक्ति की सेवा करिये। केवल सेवा करने से ही हमारा उद्धार हो जायेगा। उस व्यक्ति के जीवन का अनुसरण कीजिये तथा वैसे ही बन जाइये। बड़ा सरल साधन है। ईश्वर कृपा से आपको यदि कोई ऐसा व्यक्ति मिल जाय जिसका रोम-रोम ईश्वर प्रेम से रंगा हुआ है, तो आप ऐसे व्यक्ति की सेवा करें। इससे हमारे जीवन का उद्धार हो जायेगा।

ईश्वर आप सबका कल्याण करें।

0000000000000000



⋮

अभ्यासी को परमार्थ के रास्ते पर ज़ल्दी नहीं करनी चाहिये . ज़रा गौर तो कीजिये कि विद्या सीखने में पंद्रह और अठारह वर्ष सहज में गुज़र जाते हैं, जब कि विद्यार्थी कुल वक्त अपना इसी काम में खर्च करता है . फिर परमार्थ के काम में जब कि उसमें सिर्फ दो या तीन घंटे बमुश्किल लगाये जाते हैं , किस तरह ऐसी ज़ल्दी तरक्की हो सकती है . यह उसकी बड़ी मेहर है कि ऐसी थोड़ी मेहनत पर भी अपनी दया से हर एक को मालामाल करते रहते हैं और सच्चे अभ्यासी को अन्तर में सहारा हमेशा बख्शते रहते हैं .

हे सत्पुरुष ! तेरी विशेष दृष्टि सदा हम पर बनी रहे .



सद्गुणों को अपनाना सीखें

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ०करतारसिंह जी महाराज)

परमार्थ-पथ पर चलने वाले व्यक्ति का आचार- व्यवहार सामान्य व्यक्ति से कुछ पृथक होना चाहिए। जो स्वयं को सत्संगी कहता है, संसार उसको सर से पाँव तक देखता है - कोशिश करता है कि उसमें कोई कमी दीखे। कमी तो हम सब में है और सत्संगी स्वयं भी अनुभव करते हैं कि जैसा ऊँचा व्यवहार हमारा होना चाहिए वह होता नहीं है।

बाबा फरीद जी कहते हैं कि कोई व्यक्ति यदि तुम्हारी पिटाई करे तो तुम उसके घर जाकर उसके हाथ-पाँव दबाओ। उसकी सेवा करो। हम सब यही कहेंगे कि यह कैसे हो सकता है कि हमें कोई मारे और हम उसके हाथ-पाँव दबायें। हमें ऊँची आवाज़ में भी कोई बोले तो हमें अच्छा नहीं लगता है, फिर यह कैसे होगा ? हम उसके घर जाकर उसकी सेवा कैसे करेंगे ? परन्तु जो व्यक्ति फरीद जी के इस आदेश का पालन करते हैं, वे महान हैं, वे ईश्वर स्वरूप हैं। यह सत्य है कि सामान्य व्यक्ति ऐसा व्यवहार नहीं कर सकता परन्तु जो सत्संग में सम्मिलित हुआ है, जिसने परमार्थ-पथ पर चलने की शपथ खाई है, उसका व्यवहार सामान्य संसार से पृथक आदर्श व्यवहार होना चाहिए। वह आदर्श है कि जो गुण परमात्मा के हैं, सत्संगी को उन गुणों को अपनाना होगा, उसे उन्हें अपने व्यवहार में विकसित करना होगा।

हज़रत ईसा भी कहते हैं कि बुराई का अवरोध नहीं करो। ठीक है, जो कुछ हो रहा है, ईश्वर की तरफ़ से हो रहा है, ऐसा समझ कर कोई तर्क मत करो, उसे स्वीकार करो। ईसा भी यही कहते हैं कि जो तुमसे बुराई करे उससे तुम मित्रता का व्यवहार करो। उदाहरण देते हैं कि कचहरी में आपके खिलाफ़ डिक्री हो गयी। जो कोट आपने पहना हुआ था वह डिक्री में ले लिया गया। ठण्डे देशों में एक कोट के ऊपर दूसरा गाउन (चोगा) पहनते हैं। हज़रत ईसा कहते हैं - "ठीक है। कोट तो चला गया। कोट के ऊपर जो दूसरा बड़ा कोट 'चोगा' वह भी दे दो"। हम ऐसा नहीं कर सकते।

ईसा मसीह ने आगे कहा है कि तुम दूसरों के ऐबों (बुराइयों) को छुपाना, उनकी आलोचना या निन्दा न करना। अगर तुमने ऐसा नहीं किया तो परमात्मा भी तुम्हारे ऐबों को

क्षमा नहीं करेगा। यदि तुम चाहते हो कि परमात्मा तुम्हें क्षमा कर दे, तो तुम्हारी भी सहज - वृत्ति होनी चाहिए कि तुम्हारे विरुद्ध कोई कितना भी विरोध करे, तुम उसे क्षमा कर देना। यही आपकी सहजवृत्ति बन जाये। सामान्यतः हमारे विरुद्ध कोई भी बात हो तो हम उसका उतना ही विरोध कर देते हैं। क्षमा करना तो दूर रहा।

ऐसी अनेको बातें हैं जो सत्संगी को अपनानी चाहिए। पर उनमें से दो महत्वपूर्ण बातें हैं - प्रतिक्रिया न करना और क्षमा की भावना रखना। इन दो बातों पर सभी को ध्यान देना चाहिए। ये बातें पारिवारिक जीवन में, सामाजिक जीवन में, दफ्तर, दुकान आदि हर जगह काम आती हैं। परिवार में कई लोग शिकायत करते हैं कि हमारे सम्बन्धी हमसे सहयोग नहीं करते, हमारी आशा के विरुद्ध व्यवहार करते हैं। व्यक्ति यदि संत-महापुरुषों के आदेशों का पालन करेगा तो यह बात उसके मुख से निकलेगी ही नहीं। उस परिवार में जिसमें सभी सदस्य दीक्षित हों, उनमें आपस में तनाव रहे - यह बात शोभनीय नहीं है।

तो यदि हम इन दो बातों - प्रतिक्रिया न करना और क्षमा की भावना - को अपनाते हैं तो हमारा निजी जीवन, हमारा आन्तरिक जीवन बड़ा शान्तिमय रहेगा। परिवार तथा समाज में हमारा व्यवहार बड़ा सुन्दर होगा। यह बड़ा कठिन है कि कोई हमारी निन्दा करे, हमारी बुराइयाँ करे, हमें गालियाँ दे

और हम उसे क्षमा कर दें। बुराई का बदला नेकी में दें, यह तो हमसे सम्भव होता ही नहीं। बुद्धि तो इसको स्वीकार नहीं करती। परन्तु जो लोग इन बातों को मानने को तैयार नहीं हैं, वे परमार्थ से दूर हैं। परमार्थ में जो लचक होती है, वह दीनता के रूप में प्रकट होती है। प्रभु को दीनता बहुत प्रिय है।

तो सत्संगी को जिसे इस रास्ते का पन्थाई कहते हैं, इसीलिए कहते हैं कि उसे दीन बनना है। इस रास्ते पर वह चले जो अपना सर हथेली पर रख कर चल सकता हो। यहाँ तर्क काम नहीं देगा। वैसे समझाया जा सकता है कि बुराई का बदला नेकी में दें। परन्तु जो अधिक तर्क करते हैं वो ऐसा नहीं मानते। लेकिन वो भी कोशिश तो करें। यह बात ग़लत नहीं है कि हम से कोई बुराई करे और हम बुराई का बदला नेकी में दें। पर ऐसा कौन कर सकता है ? एक उच्च मनोबल वाला ही ऐसा कर सकता है, कमज़ोर व्यक्ति नहीं। कमज़ोर व्यक्ति थोड़ी सी बात में

ही तुरन्त उत्तेजित हो जाता है। साधक भले ही शरीर से दुर्बल हो परन्तु मानसिक शक्ति उसमें बहुत होती है, क्योंकि उसके साथ आत्मिक शक्ति होती है। व्यक्ति यदि ऐसा करेगा तो अपने आप में बड़ा प्रसन्न रहेगा। क्योंकि यदि क्रोध आता है, हमारे मन में किसी के प्रति विपरीत भावना रहती है, तो हम कैसे आशा करें कि हमारे चित्त में शांति रहेगी। कभी नहीं रहेगी।

तो इन तीन गुणों को हमें अपनाना होगा। तर्क से इसका खंडन नहीं करें। खूब सोच-विचार करें, इस पर मनन करें। आपको यदि शान्ति की इच्छा है तो कम से कम परिवार में तो इसे अपनायें। परिवार से बाहर न सही। सत्संग भी हमारा एक परिवार है, उसमें तो अपनायें। हमारे व्यवहार में दीनता होनी चाहिए। दीनता यह नहीं कि किसी से अपना काम निकालने के लिए थोड़ी देर हम उससे मीठे शब्दों का प्रयोग करें। यह दीनता नहीं है। दीनता एक सहज अवस्था है। वह कुदरती प्रकट होती है। हमें कोई उलटी-सीधी बात कह देता है तो हमें बर्दाश्त नहीं होती, या कोई हमारी आशा के विपरीत बात कहता है तो हमें वह बात अच्छी नहीं लगती। या कोई ताने या क्रोध के शब्दों में बोलता है तो अगर वह बात किसी बड़े ने कही तब तो हम स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु हमें मन में बुरा लगता है। पर जिसको हम अपने से छोटा समझते हैं वह यदि यह बात कहता है तो हमें बड़ा ही बुरा लगता है।

लोग-बाग कहते हैं कि पूजा में मन नहीं लगता। तो पहले हमें मन को साधना है। उसे योग्य बनाना है। मन योग्य होगा तो ईश्वर के चरणों में उसका ध्यान अवश्य लगेगा। लोग कहते हैं कि साधना में बैठते हैं तो मन स्थिर नहीं होता। मन तो प्रेम से ही लगेगा। ईश्वर के साथ हमारा साधारण प्यार भी नहीं है। लोग टी।वी। देखने में या अन्य बातों में बड़े मस्त हो जाते हैं हम उसके साथ स्नेह नहीं कर सकते, बात-चीत नहीं कर सकते। पर प्रभु के साथ हमारा इतना लगाव क्यों नहीं है कि हम प्रभु का ध्यान भी करें ?

हमारा व्यवहार शुद्ध नहीं है। योग्य व्यवहार नहीं है, इसीलिए योग्य विचार नहीं उठते। जो विचार उठते हैं उनसे सत्संगी दुखी होता है। साधारण व्यक्ति भी ऐसे विचार उठाये तो उसे भी दुःख होता है। सत्संगी कहता है मैंने दीक्षा ली है, पूजा में भी बैठता हूँ तब भी ऐसे विचार क्यों आते हैं? गुरुदेव फ़रमाया करते थे कि केवल दीक्षा से काम नहीं चलेगा। इसके लिए तो तप करना पड़ेगा।

सब भाइयों को चाहिए कि अपने भीतर टटोलें कि आपके विचार और व्यवहार पूज्य गुरु महाराज, उनके बुजुर्ग पूर्वजों की रहनी-सहनी के अनुसार हैं या नहीं। पूज्य गुरु महाराज की जीवनी है, उनके पत्र हैं। विशेषकर उनके जो पत्र हैं उनमें से कुछ पत्रों में इतना गहरा सबक लिखा है, इतनी गहराई में गए हैं, कि जब आप उन्हें पढ़ेंगे व मनन करेंगे तो आप देखेंगे कि हमने तो अभी मन्ज़िल की यात्रा ही शुरू नहीं की है। इसीलिए मैं बार-बार कहता हूँ कि हममें गंभीरता (seriousness) नहीं है, हम जैसे सँसार के दूसरे काम करते हैं वैसे ही हमने सत्संग को भी समझ लिया है।

किसी को क्या दोष दिया जाये ? इसके लिए साधक को तप करना पड़ता है। पूज्य दादा गुरुदेव (पूज्य लालाजी महाराज के शब्दों में - " यह ऐसा नहीं है कि जैसे हम किसी क्लब में मनोरंजन के लिए जाते हैं। " यहाँ भी लोग मनोरंजन के लिए आते हैं, ऐसा तो नहीं है। पर यहाँ आकर हमारे जीवन में एक परिवर्तन आना चाहिए। Transformation होना चाहिए। परिवर्तन कैसा हो ? जो ईश्वर के गुण हैं, हमारा जीवन उन गुणों को अपनाये। वे गुण हमारे व्यवहार में रम जाएँ। जीवन बार-बार नहीं मिलता है हमें। परन्तु वास्तविकता यही है कि जैसा जीवन हमारे दादा गुरुदेव या गुरु महाराज चाहते थे, वैसा जीवन किसी का नहीं बना। वो सत्संगी को एक आदर्श पुरुष कहलाना चाहते थे।

मनुष्य स्त्री व पुरुष दोनों को ही कहा जाता है, परन्तु 'पुरुष' एक विशेष शब्द है। पुरुष शब्द परमात्मा और स्त्री माया के लिए प्रयोग होता है। महापुरुष चाहते हैं कि हमारा आदर्श, हमारा व्यवहार और हमारा जीवन भी उस अकाल पुरुष परमपिता परमात्मा की तरह का हो। साधना करने वाला चाहे स्त्री हो या पुरुष, सबको ईश्वरमय बनना है। इसमें जल्दी नहीं करनी चाहिए। मन्ज़िल कहाँ है, किसी ने नहीं जाना। चलते चलिए। गुरु महाराज कहा करते थे कि इस रास्ते पर थकना नहीं चाहिए। मन्ज़िल कहाँ है कोई नहीं जानता, ईश्वर जानता है, चले चलो। परन्तु सँसार के प्रति जितनी जल्दी थकावट आ जाये, उतना ही अच्छा है।

लोग कहते हैं कि शरीर छोड़ने के बाद परलोक में उद्धार होगा। वो तो देखा जायेगा। परन्तु अभी ही क्यों न अपने जीवन में, अपने परिवार में, समाज में, परलोक या स्वर्ग बनायें ? अरविन्द जी के कितने ऊँचे विचार हैं, वो कहते हैं कि मोक्ष चाहे न मिले, मोक्ष की लालसा

नहीं करेंगे। वो सारे विश्व की, पशु-पक्षी, वनस्पति - सबके हेतु मोक्ष का विचार करते थे तथा इसके लिए साधना-प्रार्थना करते थे। उन्होंने ने एक रसायनशाला में बुद्ध भगवान के अनुरूप मनन किया। वे एकान्त में मनन करते रहे कि समस्त विश्व का कल्याण कैसे हो ? किस प्रकार से सारे विश्व को स्वतंत्र करें ? परन्तु परमात्मा की इच्छा कुछ और ही थी। उन्हें दीर्घ आयु नहीं मिली सो इस विषय को अधूरा छोड़ गए। पूरा नहीं कर पाए अपने जीवन में।

सोचने की बात है कि हम कैसे स्वार्थी हैं - केवल अपने लिए ही सोचते हैं, अपने शरीर, मन, बुद्धि के लिए या अधिक से अधिक अपने परिवार के सुख की ही बात सोचते हैं। हमने कभी अपने पड़ोसी के लिए सोचा ही नहीं। यह सारा विश्व हमारा पड़ोसी ही तो है। हज़रत ईसा कहते हैं कि अपने पड़ोसी से प्रेम व्यवहार और सेवा उसी प्रकार करो जैसी अपनी चाहते हो। पड़ोसी का अर्थ सारा समाज है, विश्व है। उसमें मित्र भी आ जाते हैं, शत्रु भी।

ऐसे महापुरुषों की साधना कितनी ऊँची है ? अरविन्द जी की साधना थी कि सभी को मोक्ष मिले, सभी का कल्याण हो। उन्होंने ने लिखा है कि रूस में जब क्रान्ति आयी तो उन्होने तीन साल तक एक प्रकार के विचार का गूढ़ चिन्तन या गंभीर मुआयना लगातार किया कि किस प्रकार से उस वक्त के बादशाह ज़ार से (जो बहुत ही ज़ालिम था) उसके राज्य की जनता को मुक्ति मिले। हालांकि संत को भले-बुरे को नहीं देखना चाहिए। परन्तु वो उस समय मुक्तिदाता के स्तर पर थे कि किस प्रकार मानव को सुख पहुँचे, उसका उद्धार हो। उन्होंने लिखा है कि वे तीन साल तक वहाँ शक्तिपात करते रहे। आत्मिक शक्ति देते रहे। उस बक्त लेनिन था। बताया नहीं किसी को पर वह तीन साल तक शक्तिपात करते रहे - अपने देश के लिए नहीं, रशिया के लिए। और वह क्रान्ति सफल हुई। यह उनका योगदान था। बाकी बातें और भी थीं जिसके कारण यह क्रान्ति सफल हुई।

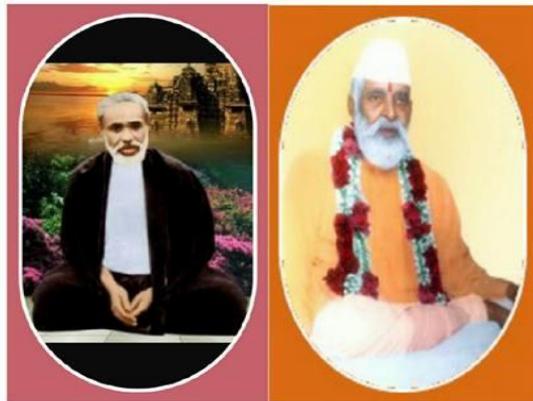
ये देखें कि उनका सोचने का ढंग क्या था ? वैसे तो सभी कहते हैं कि ' सबका भला करो भगवान '। यह कहना तो ठीक है, परन्तु हमारे हाथ-पाँव भी तो ऐसा करके दिखायें, हमारी मन व बुद्धि भी तो ऐसा काम करे। भगवान से हम कहते हैं 'सब पर दया करो भगवान'। भगवान कैसे करेगा दया - वो हम सबके द्वारा ही तो दया करेगा। तो देखना यह है कि क्या

हमारी वृत्ति में दया आ गयी है, सहज करुणा आ गयी है। यदि नहीं तो यह रोज-रोज की प्रार्थना करना ही है।

हम जब प्रार्थना करें तो यह सोचें कि जो कह रहे हैं वो हम अपने आप को सम्बोधन कर रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति के पास शक्ति है कि वह दूसरे में अपने गुणों को रमा सकता है। हम केवल वाचक या नाम-मात्र के लिए सत्संगी नहीं बनें, वास्तव में सत्संगी बनें। सत का संग जो अपनाता है, तभी सत्संगी कहलाता है। सत्संगी तो वह है जो ईश्वर के गुणों का संग करे, उन गुणों को अपनाये, उन्हें अपने व्यवहार में व्यक्त करे।

मेरा आपसे यही आग्रह है कि क्षमा करना, निन्दा न करना, दीनता और परोपकार जैसे कुछ ईश्वरीय गुण अपना लें और सचमुच उन्हें अपने व्यवहार में लायें, तो परमार्थ में आपकी उन्नति अवश्य होगी।

0000000000



पीर से उलफत हो मुझको और बनों
उनकी मुराद
'राम' के 'श्रीकृष्ण' की अनुपम कृपा
के वास्ते



अभ्यासियों को तीन बातें अवश्य
करनी चाहिए :-

- १.) जहाँ तक हो गुरु का सत्संग करें
- २.) आंतरिक अभ्यास – ध्यान ,
भजन सुमिरन और मनन करते रहें .
- ३.) अपने मन के ख्यालों पर हमेशा
निगाह रखें और बुरे ख्यालों को हटा
कर अच्छे ख्याल कायम करते रहें .

निश्चित है कि फ़ायदा होगा . मालिक
की याद से गाफ़िल न हों और मन में
धीरज रखें . सब उल्टी सीधी हालतें
आएँगी और चली जाएँगी . आँधी
आती है , वर्षा लाती है , शीतलता छोड़
जाती है .

महात्मा डॉ . श्रीकृष्ण लाल जी महाराज

सभी धर्मों का मूल सिद्धान्त

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ०करतारसिंह जी महाराज)

सभी धर्मों के मूल सिद्धान्त का जब हम अवलोकन करते हैं तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि धर्म के सार तत्व को समझने के लिए गुरु की आवश्यकता पड़ती है। कोई भी सच्चा सन्त सद्गुरु कभी किसी भी धर्म की आलोचना नहीं करता और न धर्म के विरुद्ध आचरण करने को कहता है। वह तो हमें उसके तह में जाकर, उसके गुणों को ग्रहण करने के लिए प्रोत्साहित करता है। सभी धर्मों के अवलोकन के पश्चात् एक ही निष्कर्ष निकलता है कि हर धर्म का मूल सिद्धान्त तो एक ही है - मानवता में प्रेम का प्रसार और हर व्यक्ति में परमपिता परमेश्वर के दर्शन करना। आज विश्व में भ्रातृ भाव बढ़ाने के लिए जगह-जगह धर्म सभायें हो रही हैं। इस तरह की सभाओं का परिणाम सुखद तो तब हो जब हम सभी एक स्वर से कहें और उसको ग्रहण करें कि सभी धर्म एक समान हैं, उनमें कोई भेद-भाव नहीं है। सबका उद्देश्य केवल ईश्वर-प्राप्ति है। ईश्वर प्राप्ति हेतु मानव - मात्र की सेवा करना। सत्य बोलो, सत्य देखो, सत्य सुनो, सबसे प्रेम करो। यदि ऐसी भावना प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर हो जाए, तो विश्व में जो हाहाकार मचा है, लोग एक दूसरे के रक्त के प्यासे हो उठे हैं, यह सब मिट जाये और आपस में प्रेम का प्रसार हो जाये। वर्तमान समय में सभी लोग भाई-चारा और आपस में प्रेम की बातें बहुत जोर शोर से कर रहे हैं, किन्तु यह सब मौखिक है।

बड़े-बड़े धर्म सम्मेलन हो रहे हैं, लोग तरह-तरह के प्रभावशाली भाषण दे रहे हैं जो केवल उपदेश तक ही सिमित रह जाते हैं। उनकी कभी भी लोगों ने प्रयोगात्मक रूप से अपनाने की चेष्टा नहीं की। झूठ, असत्य, हिंसा और घृणा की भावना आज दिनोदिन बढ़ती ही जा रही है। इसका कारण क्या है ? इसका कारण एक ही है कि अधिकतर सन्त उपदेश तो देते हैं परन्तु स्वयं अपने व्यक्तिगत जीवन में यम-नियम का पालन नहीं करते। अधिकतर तो वैभशाली सुखमय जीवन व्यतीत करने के लिए ही सन्त बन बैठे हैं। आवश्यकता है धुरधाम पर पहुँचे हुए शरीरधारी सन्त सद्गुरु की जिनका चुम्बकीय आकर्षण मनुष्य को इस तरह अपने में बाँध ले कि व्यक्ति उस प्रेम की परधि के बाहर न निकल सके और नित्य सत्य, अहिंसा व प्रेम की गंगा में स्नान करता रहे। सच्चे सतगुरु के अभाव में सभी धर्म गरीब हैं। इसके अतिरिक्त सबसे

बड़ा अभाव है सुरत शब्द योग (AudibleLife Stream) का। इसके जिज्ञासु और बताने वाले गुरु दोनों का ही प्रायः अभाव हो गया है। बिना 'सूरत शब्द योग' के आध्यात्मिक जाग्रति असम्भव है। आध्यात्मिक मार्ग की यह वह शक्ति है जिसकी चेतना के अभाव में मानव जीवन अपूर्ण है। भले ही विश्व के सभी धर्म व मठ मिल कर एक हो जाएँ, परन्तु ये दो अभाव ऐसे हैं जिनके बिना वास्तविक आध्यात्मिक प्रगति हो ही नहीं सकती। बिना आध्यात्मिक भावना के उदय हुए व्यक्ति सत्य, अहिंसा व प्रेमानन्द की रसानुभूति का पान करेगा, ऐसा सम्भव नहीं है। यही तो उसको घृणा, द्वेष, हिंसा और आपसी बैर भाव से अलग करने में सफल होगी। धार्मिक सम्मेलन व मठों के एकीकरण से सामाजिक उत्थान भले ही हो जाये, प्रेम का प्रसार तो नहीं हो सकता ।

सभी धर्मों का अगर ऐतिहासिक अवलोकन किया जाए तो देखने में यही आता है कि सबमें कमोवेश अन्धविश्वास, पूर्वानुमान, भावात्मक अतिरंजिता, अनुष्ठानिक धर्मक्रिया, तात्विक चिन्तन व नीति परक सिद्धांत का ही समावेश है। कमोवेश वह इन्हीं तत्वों पर अवलम्बित हैं। धर्म, भक्ति और जो भी शुभ कार्य होते हैं वह सब इन्हीं के अन्तर्गत होते हैं। इनमें से किसी में थोड़ा बहुत सुरत शब्द योग पर भी प्रकाश डालते हैं, बाकी तो प्रायः इसको भूल ही गए हैं।

प्रश्न यह उठता है कि सच्चा धर्म कौन सा है ? धर्म एक व्यक्तिगत अनुभव है जिसका आधार अनुभूति है। कोई भी व्यक्ति नहीं बता सकता कि सौन्दर्य क्या है, व्यक्तिगत बुद्धि और वस्तु के बीच का यह सम्बन्ध है जो अनुभव से होता है। सौन्दर्य वह आनन्द है जो उस सम्बन्ध से प्रस्फुटित होता है जसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। सौन्दर्य वह प्रेम है जो हृदय की असीम प्रकाश किरण है। धर्म भी उसी प्रकार प्रकाश किरण है , प्रेम है, और है असीम आनन्द। सच्चे सम्बन्ध का अस्तित्व तभी है जब आत्मा असीम में आनंदमयी हो उठती है। सम्बन्ध रीति-रिवाजों व पंथ में नहीं मिलते। इसीलिए कहना पड़ता है कि धर्म व्यक्तिगत अनुभव है और हर व्यक्ति के अनुभव अलग-अलग होते हैं। इस तरह सबके धर्म भी

अलग-अलग होते हैं। धर्म वाह्य अभिव्यक्ति नहीं है, इसको कह कर नहीं बताया जा सकता। वह पूर्णरूपेण आन्तरिक अनुभव है। इसीलिए इसे जाति-पाँति, देश-काल व व्यक्ति विशेष में बाँधा नहीं जा सकता। इसे एक व्यक्ति से दूसरे को समर्पित नहीं किया जा सकता और न

पुस्तकों में ही लिखा जा सकता है। धर्म मानव जीवन का अभिन्न अंग है। पुरातन काल में जिस तरह से मनुष्य में अपने स्वजनों, पड़ोसियों के सुख-दुःख में सह-भागी बनाने की भावना थी, वैसी भावना आज भी है। मन का अत्याचार आज भी उसे पीड़ित करता है। मनुष्य स्वयं अपने द्वारा पैदा की हुई चुनौतियों या परेशानियों से छुटकारा पाने के लिए दैवी सहायता की याचना की वाध्यता अनुभव करता है। मनुष्य की इस व्याकुलता का कल्प प्रेम जो उसे परमात्मा की ओर उन्मुख करता है। वाह्य आकर्षण व उपकरण व जीव जन्तु व पुस्तक आदि से प्रेम करके वह खुशी पाता है, परन्तु इससे उसे संतुष्टि नहीं होती, उसका अन्तर्मन तो व्याकुल रहता है उस विराट शक्ति की आनन्दानुभूति के लिए जो प्रतिपल प्रकृति में दृश्यमान हो रहा है। इन सबसे जो अनुभूति होती है वही उसका धर्म है। इसीलिए समयानुसार धर्म में भेद-विभेद होते चले गए जो पुरातनकाल में मनुष्य का धर्म था आज के मनुष्य के धर्म से एकदम भिन्न है।

सदियों बाद भी यह निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता कि कौन सा धर्म सच्चा व यथार्थ है। अनुभव का अनुपात तो व्यक्ति का अपना होता है जो उसके लिए यथार्थ होता है। बिना यथार्थ वस्तु की अनुभूति के यदि हम एक लम्बी अवधि तक विचार-विमर्श, कल्पना तथा आत्म सुझाव के आधार पर नीव डालें भी तो यह वैसा ही होगा जैसे रेत में घर बनाना। यह कभी भी कसौटी पर खरा नहीं उतर सकता। यथार्थ द्वारा पोषित धर्म ही विकसित होता है।

इस तर्क वितर्कों को देखते हुए प्रश्न उठता है कि आखिर वह कौन सा धर्म है जो हर कसौटी पर सही उतरता है। गुरु और शिष्य जिसे दोनों एक समान अनुभव करते हैं वही धर्म है जिसका सारांश प्रेम है। इसके अभाव में वास्तविकता भी विलीन हो जाती है। अन्य सभी दृष्टिगोचर होने वाली वस्तुयें मायावी हैं। इस भेद से साक्षात्कार 'धुर' तक पहुँचे हुए गुरु ही करा सकते हैं। वह प्रेम के अथाह समुन्द्र होते हैं। उनको सत्य धर्म का पूर्ण अनुभव होता है जिस आधार पर वह लोगों को समझाते हैं। एकाग्रचित्त विचार करने पर हम भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रेम के सिवा और कोई धर्म नहीं है।

प्रीति नीति परमारथ स्वारथ / कोई न राम सम जान यथारत //

श्रद्धा प्रेम का दूसरा नाम है और प्रेम गुरु की यादगार बनाये रखने को कहते हैं। क्योंकि वह अपनी शक्ति, असीम, अनन्त, निःस्वार्थ प्रेम के सहारे व्यक्ति को अन्धकार रूपी अज्ञान से निकालकर उसके हृदय में श्रद्धा प्रेम का बीजारोपण कर अनन्त ज्ञान का प्रकाश भर देते हैं। प्रेम के इस बीजारोपण से अन्तर में प्रस्फुटित पुष्प की सुगंध में मदमस्त हो हम एकदम कहने लगते हैं - यही सच्चा धर्म है। सच्चा धर्म असीम और बन्धन रहित होता है। प्रेम की अनौखी अमृत बूँद पीकर जीवन शाश्वत हो जाता है। अतः असली धर्म व्यक्ति के अनुभव की चीज़ है जिसे वह तभी अनुभव करता है जब वह प्रेम की स्वाति बूँद चख लेता है। संस्थाएं बनती हैं, मिट जाती हैं, परन्तु नीति व्यवहारकुशलता सदा जीवित रहती है जो चिरजीवी है। इस तरह स्पष्ट है कि असली धर्म रीति रिवाज़ों के बन्धन से परे की वस्तु है जिसका अनुभव आत्मा के सूक्ष्मेतर स्थान पर ही किया जा सकता है जब रहस्यमय मिलन परमात्मा से हो जाता है। उसकी वाणी सुनाई पड़ने लगती है। व्यक्ति को अनुभव होने लगता है कि विश्व में प्रेम के सिवा कुछ नहीं है। बेसुध हो जाता है वह प्रिय के प्रेम में

" बेखुदी छा जाये ऐसी, दिल से मिट जाये खुदी !

उनसे मिलने का तरीका, अपने खो जाने में है !"

इस तरह हम देखते हैं कि प्रेम ही वह शाश्वत धर्म है जो चहुँ दिशि चमक रहा है, किन्तु हमारी आँखें उसे देख नहीं पा रही हैं, देखती हैं उस मायावी प्रकाश को और उसी में खोई हुई हैं। उस शाश्वत धर्म को जो प्रेम से चारों ओर प्रकाशित हो रहा है तभी देख पायेंगे जब गुरुदेव अपनी असीम शक्ति से शिष्य में असीम ज्योति जगा देंगे। ऐसा तभी होगा जब शिष्य भी अपनी सत्ता को गुरु में लय करके सत्ता रहित हो जायेगा।

कृष्णा भगवान कहते हैं - "न वहाँ सूरज प्रकाश करता है, न चन्द्रमा, न आग, लेकिन फिर भी वहाँ प्रकाश है, जहाँ पहुँचने पर मनुष्य दुनियाँ में लौट कर नहीं आता - वह मेरा परम धाम है। " " तू तू करता तू भया, मुझमें रही न हूँ "

अर्थात् गुरु से प्रेम उस पराकाष्ठा पर पहुँच जाए कि गुरु और शिष्य दोनों का भेद ही न रह जाये। यही हिन्दू धर्म अर्थात् वेदों का उपदेश है और यही धर्म है।

सभी में एक 'वही' रूप देखें

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

परमात्मा के कई रूप हैं। भिन्न-भिन्न महापुरुषों ने परमात्मा के रूप को, परमात्मा के गुणों को, परमात्मा के अस्तित्व को, भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्णन किया है। प्रत्येक व्यक्ति के अपने संस्कार होते हैं। उन संस्कारों के अनुसार वह भक्ति, साधना, द्वारा ईश्वर की ओर बढ़ता है - उसका तरीका अलग-अलग होता है। इसीलिए गीता के दूसरे अध्याय में भगवान कृष्ण ने ज्ञान की शिक्षा दी है। अर्जुन विद्वान था, शास्त्रज्ञ था, परन्तु ज्ञानी नहीं था। इसलिए जब जब ज्ञान की, सांख्य दर्शन की, बात उसे समझाई गयी तो वह भगवान से पूछता है - 'प्रभु, मुझे बतलाइये कि स्थितप्रज्ञ का व्यवहार कैसा होता है ? भगवान ने एकात्मता का वर्णन किया तो अर्जुन पूछता है, " एकात्मता में रहकर अर्थात् ईश्वर से तदरूप हुआ उच्च कोटि का ज्ञानी/सँसार के साथ काम कैसे करता है ?"

अर्जुन के सामने कुरुक्षेत्र का मैदान था। उसके सामने चुनौती थी। लाखों आदमी खड़े थे, एक दूसरे का वध करने के लिए। वह उनको देखकर कहता है - " ज्ञानी पुरुष वहाँ जाकर कैसे लड़ाई लड़ता होगा ?" भगवान उसे समझाते हैं कि वह व्यक्ति सब परिस्थितियों में 'सम अवस्था' में रहता है। दुःख आ जायें तो विक्षिप्त नहीं होता, सुख आ जायें तो ज़्यादा फूलता नहीं - वह सामान्य भाव से एक-रस रहता है। हानि-लाभ, सर्दी-गर्मी, दुःख-सुख, उसके जीवन में कोई अन्तर नहीं लाते। अर्जुन प्रश्न किये जा रहा है और भगवान इतने दयालु हैं कि उसे उत्तर दिए जा रहे हैं।

भगवान ने उसे ईश्वर-प्राप्ति के कई साधन बताये। पहले 'ज्ञान' बताया। फिर दूसरे अध्याय में 'सांख्य' बताया। फिर तीसरे, चौथे और पाँचवे में 'कर्म' ले लिया। हमारे शास्त्रों में दो मुख्य साधन हैं - एक ज्ञान का और दूसरा कर्म का। कर्म का मतलब यह है कि 'कर्म-साधना' से भी मुक्ति हो सकती है। व्यक्ति सत्कर्म करे, पर शास्त्रानुसार करे, गुरु के आदेशानुसार करे, किन्तु कर्म के फल के साथ बंधन न रखे। कर्म करे तो धर्मानुसार, समाज के हित के लिए, निस्वार्थ होकर, यज्ञ की भाँति करे। उसका जो फल हो, भला या बुरा, उससे विक्षिप्त न हो।

फल आशानुसार अच्छा हो जाये तब भी उसमें अहंकार नहीं आना चाहिए और यदि आशा के प्रतिकूल हो जाये तो निराशा नहीं होनी चाहिए। यह बहुत कठिन है। कोई व्यक्ति बिना यह सोचे हुए काम नहीं करता कि इसका फल अमुक होगा। वह यह हमेशा ख्याल रखता है कि मैं जो भी कर्म करूँ उसका फल मेरी आशा के अनुकूल हो।

शास्त्र कहते हैं कि व्यक्ति या तो ज्ञान पद्धति को अपनाये या कर्म योग आदि को। दोनों में यदि कोई भी पद्धति नहीं अपनाता तो उसको शास्त्रों में 'राक्षस' कहा है। वास्तविक ज्ञान यही है कि जितनी भी साधनायें बनती हैं - ज्ञान की, कर्म की, भक्ति की, योग की या सन्यास की - सबका सार यही सिद्ध करता है कि साधक साधना करते-करते उस आयाम में पहुँचता है जहाँ वह यह अनुभव करता है कि वह और परमात्मा एक है। वास्तव में परमात्मा और संसार सब एक हैं। इसी को 'सत' कहते हैं। सतनाम का नाम भी सत है। शास्त्रों में बहुत से उदाहरण हैं। यहाँ दो तीन उदाहरण दिए जाते हैं। भगवान स्वयं ही रस है और स्वयं ही रस पान करते हैं, रस लेते हैं। यह प्रत्येक व्यक्ति के समझ में नहीं आता कि भगवान स्वयं ही रस हैं और रसास्वादन भी स्वयं ही करते हैं। यह क्या लीला है ? मछली भी आप है और मछली को पकड़ा जाता है तो वह भी प्रभु आप ही करवाते हैं। आप ही कर्ता - यानी कर्म करने वाले भी आप हैं और जो किया वह भी आप हैं और जिस पर क्रिया की जाती है वह भी आप हैं। कैसी अद्भुत लीला है यह ?

साधना करते-करते व्यक्ति सुषुप्ति की दशा में पहुँचता है। जैसे रोज़ ही आपको यह अनुभव होता है कि गाढ़ निद्रा में कोई भी विचार नहीं होता। कुछ देर में आप उठते हैं तो कहते हैं कि आज आपको बड़ी सुखद नींद आयी, बहुत आनन्द आया। इसी प्रकार व्यक्ति साधना करते-करते निर्विचार हो जाता है तथा उस स्थान पर जहाँ एकता है, वह वहाँ पहुँच जाता है। परन्तु सावधान रहें कि कभी-कभी यह सुषुप्ति जड़ता बन जाती है। इस अवस्था में मूर्ख व्यक्ति भी सुखी रहता है और ज्ञानी भी, पर बीच के जो लोग हैं, खास कर राजसी वृत्ति वाले, वे दुखी रहते हैं, अशान्त रहते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति यही कहता है कि हमारा मन नहीं लगता। इतने साल हो गए, अशान्ति बनी हुई है, शान्ति नहीं मिलती। उसका कारण है कि न तो उन्होंने पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया है

और न ही उनमें भक्ति है। स्पष्ट कहें तो उन्हें बुरा लगता है। जिसको ज्ञान की प्राप्ति हो गयी है वहाँ तो एकता का आनन्द मौजूद रहता है - परमात्मा व आत्मा एक है। अशान्ति वहाँ होती है जहाँ एक से अधिक व्यक्ति हों। जहाँ दो होंगे वहाँ अशान्ति और राग द्वेष स्वाभाविक है - जब तक दोनों ज्ञानी न हों।

हम देखते हैं कि परिवार में स्त्री पुरुष खामखाही में छोटी-छोटी बातों पर लड़ पड़ते हैं। कभी एक दिन कुछ खोटी-खरी बात हो जाये तो महीनों तक सुलह-सफ़ाई नहीं होती। क्या ऐसे किया जाता है एक दूसरे से स्नेह ? और उनके मन में राग-द्वेष कितना है कि भाई-भाई में एकता की अनुभूति नहीं होती। माता-पिता में बच्चों के साथ एकता नहीं है, एक दूसरे के साथ राग-द्वेष की भावना रखते हैं।

यह भगवान की लीला नहीं है। यह मनुष्य की अपनी बनाई हुई है। भगवान ने तो एकता दी है - आत्मा दी है जो प्रत्येक व्यक्ति के भीतर में है और वही आनन्द का स्रोत भी प्रत्येक व्यक्ति में है। परन्तु वह अपने अहंकार के कारण उस स्रोत तक नहीं पहुँच पाता। इसीलिए गुरु महाराज ने कहा है कि, " जहाँ अहंकार है वहाँ न तो ईश्वर का प्रेम मिल सकता है, न संसार के सुख मिल सकते हैं, न सच्चा नाम मिल सकता है/ वहाँ न ही सच्ची भक्ति ठहर सकती है और न ही सच्चा ज्ञान।"

यह तो 'सुहागन' की स्थिति बतलायी है गुरु महाराज ने। यह वह स्थिति है जहाँ साधक और सिद्ध यानी परमात्मा और साधक दोनों एक हैं। सुषुप्ति में यदि कोई महापुरुष नज़र आता है तो उसकी सहायता मिल जाती है, वह महापुरुष रास्ता देखे हुए होता है तो साधक को इस अंधकार से निकाल देता है। (सुषुप्ति में होश नहीं होता)। सुषुप्ति कोई उत्तम अवस्था नहीं है। यह तब उत्तम अवस्था बनती है जब इसके साथ में ईश्वर के भी गुण होंगे। बिना गुणों के भक्ति नहीं हो सकती। ईश्वर की प्राप्ति का कोई भी रास्ता अपनायें, पर यदि सद्गुणों को नहीं अपनायेंगे तो आप किसी भी प्रकार की पद्धति अपना लें, आपको सफलता नहीं मिलेगी, भक्ति नहीं मिलेगी। भक्ति का यह अर्थ नहीं कि किसी किसी तस्बीर की पूजा करो।

कोई भी साधना करो - सद्गुणों को तो अपनाना ही होगा। यह मानो नीव है। वैसे भी देख लीजिये कि जो व्यक्ति सद्व्यवहार करता है, जिसके हृदय में सदविचार उठते हैं और जो

सद्गुणों को अपनाता है तो उसके भीतर में शान्ति उत्पन्न हो जाती है। इसीलिए भगवान् कृष्ण गीता के बारहवें अध्याय में अपने भक्त के लिए गुणों के लक्षण बताते हैं और कहते हैं कि मुझे वे भक्त प्रिय है जिसमें ऐसे गुण हैं। यहाँ भक्त के अर्थ हैं - साधक के, जिसके लिए बहुत से गुण भगवान् ने बताये हैं - तेरहवें श्लोक से लेकर बीसवें श्लोक तक। तेरहवें श्लोक में ही भगवान् ने बहुत कुछ बता दिया है जिसमें सबसे पहला गुण है - 'अद्वेषता' अर्थात् उसके मन में किसी के प्रति भी तनिक भी द्वेष की भावना न हो। शत्रु या विरोध करने वाले के प्रति भी द्वेष भावना न रहे।

हम जो रोज़ अखबार पढ़ते हैं हमारे भीतर में जैसी भावना होती है उसी के अनुसार पढ़ते हैं। जो सूचना हमारी भावना के अनुकूल होती है, उससे हमें खुशी होती है और जो घटना हमारी भावनाओं के प्रतिकूल होती है, उससे हमें दुःख होता है। राग और द्वेष उत्पन्न हो जाता है। जबकि पहला ही गुण जो भगवान् अपने भक्त में देखना चाहते हैं वो है - अद्वेषता अर्थात् किसी से द्वेष न होना।

इसी श्लोक में जो अन्तिम गुण बताया है वह है - क्षमा का। व्यक्ति क्षमाशील हो पर ऐसा नहीं कि केवल अपने बेटे और घरवाली को क्षमा कर दें। हज़ारात ईसा तो कहते हैं कि जो तुम्हें दुःख दे उसे क्षमा करो क्योंकि परमात्मा का मुख्य गुण ही क्षमा है। वे साधक को बताते हैं कि Seventy times seven यानी यदि हज़ार बार भी क्षमा करना पड़े तो भी क्षमा किये जाओ। तुम्हारा स्वभाव ही क्षमा का होना चाहिए न कि द्वेष या बदले की भावना का।

ऐसी ही क्षमा का एक और उदाहरण है। स्वामी रामानुज जी गंगा स्नान करने आते हैं। एक पठान भी घाट की सीढ़ियों के ऊपर आकर बैठा हुआ था। वह स्वामी जी से नफ़रत करता था। जब स्वामी जी स्नान करके सीढ़ियों पर चढ़कर ऊपर आ रहे थे, पठान उन पर थूक देता है। स्वामीजी पुनः गंगा स्नान करके कपड़े बदलते हैं और लौटते हैं तो पठान फिर थूक देता है। इसी प्रकार पठान द्वारा यह शरारत बारबार करने पर भी रामानुज जी को क्रोध नहीं आया और न उन्होंने उस पठान के प्रति कोई बुरी भावना प्रकट की। अन्त में पठान को अपनी करनी पर लज्जा आयी और वह रामानुज के चरणों में जा पड़ा। रामानुज जी तो दुष्ट पठान में भी एक आत्मा-परमात्मा का दर्शन करते रहे।

ऐसा होता है - क्षमा की उदारता का गुण/ और उसको अपनाने का सच्चा रूप/ वास्तव में क्षमा के द्वारा ही उदारता, सहनशीलता एवं द्वेष न होने के गुण भी साथ-साथ आते जाते हैं/ भगवान के बताये यही गुण साधक की उन्नति में सहायक होते हैं/ क्योंकि इन गुणों के द्वारा ही वह दुई के विचार पर विजय प्राप्त करके केवल प्रभु के स्वरूप का आनन्द ले सकता है/

000000

ॐ



परमार्थ में उन्नति तब तक नहीं हो सकती जब तक साधक के अंतर में कोमलता नहीं आती . जब तक साधक में " मैं " और " मेरापन " का भाव है तब तक परमार्थ रस का पाना असंभव है . सब कर्म दीनता तथा निश्काम भाव से दूसरों के कल्याण हेतु करने चाहिये . सर्व कार्य ईश्वर की पूजा समझकर करने चाहिये तथा उनका फल ईश्वर के चरणों में अर्पण कर देना चाहिये . साधक को काम , क्रोध , लोभ , मोह तथा अन्य विकारों का त्याग करना चाहिए . जब तक इन विकारों का विनाश नहीं होता , अहंकार का विनाश सुगम नहीं है . इन सब विकारों से मुक्ति प्राप्त करना है . इसके बाद ही अन्तर में सम अवस्था आयेगी .

राम सन्देश : अगस्त 1982

समय थोड़ा है

(ब्रह्मलीन परमसंत डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

मनुष्य शरीर ही एक ऐसा उपकरण है जिसके बिना आत्मा या परमात्मा का साक्षात्कार नहीं हो सकता। देवतागण भी ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि उन्हें मनुष्य चोला मिले ताकि वे मोक्ष का साधन कर सकें। केवल इस मनुष्य रूपी उपकरण से ही आध्यात्मिकता का साधन हो सकता है। ईश्वर कृपा से हमें जो मनुष्य शरीर प्राप्त हुआ है, हमें उसका सदुपयोग करना चाहिये। परन्तु हमने इसको आलसी बना दिया है, यह सँसार में मोहग्रस्त हो रहा है। शरीर और इंद्रियों के सुःख में फँसा हुआ है। कुछ बुद्धि से विचार करने लगता है तो मन के विकारों में फँस जाता है। कबीर साहब कहते हैं कि साधना, बुद्धि का विकास, आध्यात्मिक पढ़ाई, ये सब तो बचपन से ही शुरू कर देनी चाहिये। यदि किसी कारण बचपन निकल गया, युवा अवस्था आ गई तो अब हमें होश में आना चाहिये। युवा अवस्था भी निकल गई, जरा अवस्था यानी बुढ़ापा आ गया, मृत्यु सामने दीख रही है। अब हमें होश आना चाहिये। तब भी होश नहीं आया, यमराज के दूत आ गए अब तो कुछ कर लो। मनुष्य का स्वभाव ऐसा बन गया है कि वह शरीर से भले ही दुःखी हो, आर्थिक कठिनाइयाँ हों, सँसार जूते लगाता हो, फिर भी वह सँसार से इतना मोहग्रस्त होता है कि वह मरना नहीं चाहता है। कोई व्यक्ति मरना नहीं चाहता। हमारी आयु कट रही है। किसी वक़्त भी मौत के मुँह में गिर सकते हैं। इस सँसार में चारों तरफ़ उतेजनायें हैं, कोई सुःख नहीं है। फिर भी मनुष्य को होश नहीं है। वह साँसारिक सुखों के क्षणिक आनन्द में लिप्त है।

हम यह जानते हैं कि मृत्यु कुछ नहीं है, यह जीव एक शरीर छोड़कर दूसरा बदलेगा। परन्तु फिर भी व्यक्ति उससे डरता है। कैसी यातनायें मिलेंगी, कैसी मृत्यु होगी। सुःख की कोई नहीं सोचता, दुःख की ही सोचता है। मन में पाप भरे होते हैं। इन्सान अगर बैठकर

सोचने लगे कि बचपन से लेकर अब तक मैंने कितनी गलतियाँ की हैं तो वो पागल सा हो जाता है। इसीलिये प्रत्येक व्यक्ति मौत से बहुत घबराता है।

तो पहला काम जो हमें करना है वह यह है कि हमें सचेत हो जाना है। यह साधना का श्री गणेश है। परन्तु हम गुरु कृपा के बिना पूर्ण रूप से सचेत नहीं हो पाते। हम जान बूझकर माया की निद्रा में फँसे हुए हैं। माया भी कई प्रकार की होती है। पैसा, स्त्री, बच्चे, सम्बन्धी - ये भी माया हैं और हमारे भीतर में जो विचार उठते रहते हैं वे भी माया का रूप ही हैं। अधिकतर व्यक्ति अपने विचारों में ही त्रस्त रहता है। इस माया से छूटना बड़ा मुश्किल है। संध्या में बैठकर उपासना करते हैं -- कहते हैं साहब, क्या करें ? विचार आते रहते हैं।

जीव भी क्या करे ? कमजोर है। अपने बलबूते से निकलना बड़ा कठिन है। यदि भीतर में सच्ची जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है, व्यक्ति सचेत हो जाता है, रोता है, तब भगवान की कृपा से ऐसा व्यक्ति मिल जाता है, जो हमें रास्ते पर लगा देता है और अपना बल हमें देता है। उसको हम 'गुरु' कहते हैं। वह हमारा मार्ग दर्शन करता है, हमें रास्ता बतलाता है कि हम किस प्रकार से माया से मुक्त हों।

गुरु महाराज (महात्मा श्रीकृष्ण लाल जी महाराज) बताया करते थे कि मनुष्य चोला यदि लगातार चार -पाँच बार मिलता है और इन चारों -पाँचों जन्मों में यदि व्यक्ति आलस्य, प्रमाद को छोड़कर खोज करता रहे, सचेत होकर प्रभु के चरणों में रोता रह , तब जाकर कहीं गुरु मिलता है। सच्चा गुरु जो होता है वह परमात्मा ही होता है। गुरु और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है।

गुरु यदि मिल भी जाय तो उसकी पहिचान कैसे हो ? सच्चा गुरु कौन है और दूसरा (झूठा) गुरु कौन है ? कबीर साहब ने अपनी वाणी में सच्चे गुरु और दूसरे व्याक्तियों की पहिचानें बताई हैं। सच्चा गुरु वही है जिसमें शास्त्रों में वर्णित वे गुण हों जो हम महापुरुषों में सुनते आये हैं। कबीर साहब सावधान करते हैं कि परख करने में गलती न हो। जिस प्रकार गुरु शिष्य की परीक्षा लेता है उसी प्रकार शिष्य को भी अधिकार है कि वह गुरु की परीक्षा ले। गुरु के पास बैठने पर शान्ति मिलती है या नहीं, मन एकाग्र होने लगता है या नहीं, बिना गुरु के श्री मुख से कहे हमें हमारी त्रुटियाँ दिखने लगती हैं या नहीं, उनके पास बैठने से हमें अपनी

बुराईयों को छोड़ने की प्रेरणा मिलती है या नहीं, और उनके पास बैठने से बुराईयाँ छूटती भी हैं कि नहीं ?

जब तक भीतर से बुराईयाँ नहीं छूटेंगी, विकार दूर नहीं होंगे, मन स्थिर नहीं होगा, शान्त नहीं होगा, आप चाहें जितनी उपासना करते रहें आपको अपने स्वरूप का, परमात्मा का, गुरु के वास्तविक रूप का, साक्षात्कार नहीं हो सकता। विकार छूटने चाहिये। उस महान व्यक्ति (गुरु) के पास बैठने से क्या हमारे विकार सामने आते हैं और क्या उसके पास बैठने से हमारा मन शान्ति, आनन्द और सुःख की अनुभूति करता है ? यदि ऐसा है तो सोचना चाहिये कि हो सकता है कि वह व्यक्ति हमारे आदर्श की प्राप्ति में सहायक हो। और आगे बढ़िए। देखिए वह व्यक्ति पैसे का, सम्मान का भूखा तो नहीं है ? हाथ -पाँव की सेवा कराने का इच्छुक तो नहीं है ? लालची तो नहीं है ? स्वयं माया में ग्रस्त तो नहीं है ? उनका जीवन आदर्श जीवन है या नहीं ?

तो गुरु करने से पहले गुरु की पहिचान कर लेनी चाहिये, इसमें कोई हर्ज नहीं है। किन्तु , एक बार गुरु धारण करके फिर उनमें पूर्ण श्रद्धा और विश्वास ले आना चाहिये। कबीर साहब ने ईश्वर की तुलना में गुरु का दर्जा बड़ा बताया है क्योंकि गुरु हमें ईश्वर से तदरूप करा देते हैं। उनका विश्वास है कि बिना गुरु के माध्यम के ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती, इसलिए उन्होंने गुरु को मुख्य रखा है। गुरु और ईश्वर एक हैं। ईश्वर ही गुरु में पूर्ण रूप से समाया हुआ है। गुरु में ईश्वर रूपी ज्योति जगमगा रही है। भगवान कृष्ण गीता में विश्वास दिलाते हैं कि जब भी संसार में असन्तुलन होता है, परमात्मा स्वयं मनुष्यों के उद्धार के लिए आते हैं। ऐसी ही महान आत्मार्ये गुरु रूप धारण करके उद्धार के लिये आती है।

यदि सच्चा गुरु मिल गया तो फिर क्या करना है ? सेवा। किस प्रकार की सेवा ? हाथ पाँव की ? नहीं ऐसी सेवा उसे नहीं चाहिये। वो चाहेगा कि आप अपने आदर्श के प्रति सदा जागृत रहें। उस आदर्श की प्राप्ति के लिए वह कुछ उपाय बतायेगा। इन उपायों को सोच समझकर, उसके उपदेशों का पालन करना, यही गुरु की सर्वोत्तम सेवा है। पैसे की सेवा साधारण सेवा है, हाथ -पाँव की सेवा उससे कुछ और अच्छी है परन्तु गुरु के आदेशों का बिना शंका के,

शत -प्रतिशत, बिना चूँ -चरा किये पालन करना ही सर्वोत्तम सेवा है। ऐसी सेवा से ही मनुष्य का उद्धार हो जाता है।

गुरु का सत्संग मिल , यह तो सर्वोत्तम है। यदि न मिले तो जो गुरु -मुख हैं, रास्ता काफ़ी चल चुके हैं और आत्मा का साक्षात्कार करने वाले हैं, उनका संग करना चाहिये। वो नहीं हैं, तो जो ईश्वर का नाम लेवा हैं, चाहे वो किसी भी संप्रदाय के हों, उनका संग करें। यदि वे भी नहीं मिलते तो गीता, रामायण, गुरु ग्रन्थ साहिब , वेद उपनिषद जैसे शास्त्रों का जिनमें भी हमारी श्रद्धा हो, अध्ययन करना चाहिये। नों प्रकार की भक्ति में से यह भी एक प्रकार की भक्ति हैं। तो कुछ न कुछ करना चाहिये। ऐसा करते -करते, धीरे -धीरे हमारी श्रद्धा बढ़ती चली जायगी और परमात्मा ने चाहा तो उसकी प्राप्ती जल्दी ही हो जायेगी ।

कहने का मतलब यह है कि समय को व्यर्थ नहीं गँवाना ह । प्रत्येक व्यक्ति यह समझे कि उसका थोड़ा सा ही समय शेष रह गया है। यह याद रखना चाहिये कि मृत्यु को किसी का लिहाज़ नहीं है । परमार्थ के पथ पर चलना प्रारम्भ कर देना चाहिये। साथ ही साथ ईश्वर की कृपा के लिए भी प्रार्थना करते रहना चाहिये ।

00000000000



यदि किसी को परमात्मा की प्राप्ती करना है तो उसे यह करना होगा कि उसकी वाणी में मधुरता हो , व्यवहार शुद्ध हो , प्रेममय हो , मंगलमय हो . अपने लिए नहीं , दूसरों के लिए . पहले दूसरों को सुःख पहुंचायेंगे , दूसरों को आनंद देंगे , तब हमें सुःख - शांति का अनुभव होगा . प्रभु को दीनता प्रिय है . जैसे परमात्मा सबके साथ एक जैसा व्यवहार करता है , एक जैसा पालन - पोषण करता है , सब को प्रेम प्रदान करता है , सबको आनंद देता है , उसी तरह जिज्ञासु को भी इन गुणों का प्रतीक बनना होगा .

समर्पण का महत्वपूर्ण पर्व है - गुरु पूर्णिमा

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

देखा जाय तो संसार के देशों में ऐसा कोई धर्म, सम्प्रदाय नहीं है जहाँ गुरु की महानता और महत्व के प्रति व्यास पूजा या गुरु पूर्णिमा जैसा सुन्दर पर्व मनाने की प्रथा न हो। हमारे यहाँ, हमें यह दिन जीवन के चरम लक्ष्य की ओर ले जाने वाले पूज्यतम मार्गदर्शक अर्थात् गुरु की विशेष पूजा करने का अवसर प्रदान करता है।

गुरु तो अपने शिष्यों की हर प्रकार सेवा करने के कारण पूज्य ओर हमारी कृतज्ञता के अधिकारी सदैव से ही होते हैं। परन्तु इस शुभ दिन प्रत्येक शिष्य/साधक का विशेष प्रयास होता है कि वह अपनी प्रगाढ़ श्रद्धा को अपने सद्गुरु के प्रति आभार-स्वरूप प्रकट करे। गुरु भी विशेष उदारतापूर्वक अपने प्रिय शिष्यों पर भगवत-प्रसादी की अमृतवर्षा करते हैं।

ये जो पुष्प या पुष्प-हार गुरु को भेंट किये जाते हैं इनमें वास्तव में तो साधक का अहंकार समर्पित होना चाहिए। दीक्षा के समय यों तो सभी साधक अपने तन-मन-धन गुरुदेव के चरणों में अर्पित करने का वचन देते हैं, परन्तु वास्तव में हम स्वनिरीक्षण करके देखें कि क्या हम दे पाते हैं?। तन और धन की भेंट तो सच्चे सद्गुरु चाहते ही नहीं। यदि शिष्यों की खुशी के लिए कुछ स्वीकार करते भी हैं, तो वह नाम-मात्र ही लेते हैं। वह तो 'मन' अर्थात् 'अहंभाव' की भेंट लेना चाहते हैं, जिससे शिष्य का उद्धार हो जाये।

इसी प्रकार हम उनके प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए उनका चरण स्पर्श भी करते हैं। गुरुवाणी का एक बड़ा सुन्दर शब्द (पद) है कि यदि जीवन का लक्ष्य प्राप्त करना है तो गुरु के चरणों को छुओ। गुरु के चरण केवल उनके शरीर के चरण नहीं हैं (इनसे भी लाभ होता है)। गुरुवाणी में जो संकेत है उसके अर्थ ये हैं कि उनके आत्मिक गुणों को अपने रोम-रोम में रमा लो, अपने भीतर में गुरु के सच्चे स्वरूप को बसा लो। हम जब तक गुरु के जो आत्मिक गुण हैं उनको अपनायेंगे नहीं और अपने अनात्मिक अवगुणों को त्यागेंगे नहीं, तब तक विशेष

आध्यात्मिक प्रगति नहीं होगी। गुरु, जो ईश्वर का प्रतिनिधि स्वरूप है, उसके चरणों में माथा टेकने का मतलब यही है कि हम सबसे पहले अपने अहंकार को, अपनी बुराइयों को, उनके चरणों में अर्पण कर दें। उनके सदवचनों की प्रसादी लें, निर्मलता लें, उनके गुणों को अपनाय और हम वैसे ही हो जायें। वास्तव में वैसे तो हम हैं भी, पर अहंकार के कारण हम समझते हैं कि हम शरीर, मन या बुद्धि हैं। कोई समझता है कि मेरी बुद्धि तीव्र है, मैं तो अपनी बुद्धि के चातुर्य से दूसरों को प्रभावित कर लेता हूँ। ये सब मन की बातें हैं, जो हमारे रास्ते की रुकावट हैं, हमारे अहंकार को पोषित करती हैं।

गुरु पूर्णिमा पर्व के विषय में कहा जाता है कि भगवान व्यास के मन में इच्छा उत्पन्न हुई कि सब लोग गुरु की पूजा करते हैं, सो मैं किस की पूजा करूँ ? इससे पहले यह घटना हो चुकी थी कि नदी में स्वच्छन्द भाव से गोपियाँ स्नान कर रहीं थीं। तभी युवा पुत्र शुकदेव वहाँ से निकले। गोपियाँ उसी प्रकार से क्रीड़ामग्न निसंकोच भाव से निर्वस्त्र- सी अवस्था में नहाती रहीं। कुछ ही देर में पीछे-पीछे कुछ वृद्ध संतों की टोली भी उधर से गुज़री तो गोपियों ने तुरन्त पर्दा कर लिया।

मुनियों को गोपियों का यह व्यवहार देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। अतः ठहर कर उन्होंने गोपियों से प्रश्न किया कि।

" हम लोग इतने बृद्ध हैं, आपके पिता समान हैं। आपने युवा शुकदेव से पर्दा नहीं किया, हमसे पर्दा क्यों किया ?" इस पर गोपियों ने उत्तर दिया कि, " महाराज जी, शुकदेव के हृदय में स्त्री-पुरुष की भावना ही नहीं है, किसी प्रकार की द्वन्द भावना नहीं है। उनके हृदय में केवल परमात्मा हैं। किन्तु आपके हृदय में अभी तक स्त्री-पुरुष का भेद-भाव है। इसलिए हमने ऐसा किया।"

उन गोपियों के उत्तर ने व्यास जी को सोच में डाल दिया। इसी दशा में उन्होंने मुनि-विद्वानों से पूछा कि वे स्वयं किसकी पूजा करें ? उत्तर मिला कि इस समय आपको स्पष्ट ही हो गया होगा कि शुकदेवजी के समान गुरु-पदवी योग्य अन्य कोई और नहीं है। तब उन्होंने शुकदेवजी को ऊँचे आसन पर बैठाकर उनकी पूजा की है। इसमें विशेष बात क्या

है ? बात वही है जो मुनियों ने व्यास जी को सुझाई थी, बताई थी। व्यास जी तो स्वयं महान ज्ञानी थे, जो शास्त्र की बातें लिखते तथा ज्ञान का उपदेश देते थे, परन्तु उनके भीतर भी द्वैत था। इस मलीनता को दूर करने के लिए उन्होंने सत्य को अपनाया और उन्होंने अपने सुपुत्र शुकदेव जी के चरणों की पूजा की और उनको गुरु का सम्मान दिया। ज्ञानी हृदय की द्वैत भावना दूर हुई।

जहाँ प्रेम है, वहाँ अहंकार और अज्ञान नहीं रहता। सूफियों की भाषा में - ' तर्क दुनियाँ, तर्क उकवा, तर्क मौला, तर्क तर्क ' - अर्थात् " दुनियाँ को मन से तर्क करो, छोड़ो, फिर गुरु के ख्याल को छोड़ो, फिर ईश्वर के ख्याल को भी छोड़ो और अन्त में फिर छोड़ने के ख्याल को भी छोड़ दो।"

गुरु नानकदेव जी ने अपने प्रिय शिष्य अंगद देव जी (अंगद का मतलब होता है जिसने अपने आपको जला दिया है) को अपने स्थान पर गुरु नियुक्त किया है, उन्हें अपने स्थान पर बिठाया है और विधिवत नारियल, पुष्प आदि लाये हैं, उनसे उनकी पूजा की है और चार बार उनकी परिक्रमा करके उनके चरणों में चढ़ाई है। फिर उन्होंने अपने नाम से 'गुरु ' शब्द हटाकर केवल 'नानक' रहने दिया है और उन्हें 'गुरु अंगद देव' कहकर सम्बोधित किया है। ये होता ही आया है कि जब गुरु अपने उत्तराधिकारी शिष्य को अपना स्थान देता है तो उसकी पूजा करता है।

पाँचवे सिख गुरु अर्जुनदेव जी रात को जब सब सो जाते थे, तो वे अपने गुरु के पैरों को गर्म पानी से धोते थे। उनकी दाढ़ी लम्बी थी, उस दाढ़ी से वे उनके पाँव पोंछते थे। शिष्य तो अपने गुरु की सेवा प्रेम से करते ही हैं, गुरु भी अपने शिष्य से अत्यंत प्रगाढ़ प्रेम करते हैं।

हमारे दादा गुरुदेव पूज्य लालाजी (महात्मा रामचन्द्र जी महाराज) के दर्शन जिन्होंने किये हैं और उनकी संगति प्राप्त की है, वे जानते हैं कि वे रात्रि को 10-11 बजे आते थे। सब लोग फर्श पर सोये हुए होते थे, कोई खाली जगह न मिलने पर जहाँ जूते पड़े होते थे, वे वहाँ चुपचाप सो जाते थे।

महापुरुषों की लीला हमेशा से होती आयी है। वे इसलिए लीला करते हैं कि हमें उनके जीवन से प्रेरणा मिले। यदि वे ऐसा न करें तो हमें प्रेरणा कैसे मिलेगी ? केवल शब्दों से प्रेरणा नहीं मिलती। उनका जीवन हमारे लिए एक मिसाल होता है। वो हमारे दिशा-बोध के लिए प्रकाश-स्तम्भ होते हैं, ध्वज जैसे होते हैं जिसके पीछे-पीछे हम लोग चलें।

पूज्य गुरुदेव (महात्मा डॉ०श्रीकृष्ण लालजी महाराज) की सेवा में सेवक शुरू-शुरू में दिल्ली से सिकन्दराबाद गया, बड़ी गर्मी थी। उन दिनों शायद सिकन्दराबाद में पंखे नहीं लगे थे। खस-खस की टट्टी लगी थी। आपने मुझे ठंडा पानी पिलाया और कहा कि " आप थोड़ी देर लेट जाइये, मैं अभी आता हूँ" यह कहकर वे घर के अन्दर चले गए। तब घर में न तो कोई नल हुआ करते थे और न कोई जल-प्रदाय (water supply) के साधन ही हुआ करते थे। बस एक कुआँ था, गहरा सा। आपने उसमें से दो बड़ी-बड़ी बाल्टियाँ पानी भरा और स्नानगृह में रख दिया। अपने हाथ से उठाकर मेरी चप्पलें बाहर रख दीं। एक धुली हुई धोती और तौलिया भी वहाँ लटका दिया। फिर आकर मुझसे कहा कि, "आप स्नान कर लीजिये, फिर भोजन करेंगे।" ऐसे प्रेमिल और कृपालु होते हैं, ये गुरुजना। संत ऐसे ही आत्मस्थित रहते हुए संसार का काम करते हैं।

भगवान राम का जीवन आप सब जानते हैं। उन्होंने मनुष्य के रूप में साधारण साधक बन कर वशिष्ठ जी, विश्वामित्र जी और बाल्मीकि जी से उपदेश लिया। उपदेश लेकर वह कहीं चले नहीं गए। उन्होंने अपने जीवन का उदाहरण देकर बता दिया कि जीवन कैसे जीना चाहिए। एक समय ऐसा था कि जब भगवान राम को पता था कि 2-4 घंटे में ही वे राजगद्दी के उत्तराधिकारी होने वाले हैं। आपको चक्रवर्ती राजा घोषित किया जा रहा है, परन्तु शीघ्र ही उन्हें उससे वंचित करके बनवास दे दिया जाता है। अचानक आज्ञा होती है कि 14 वर्ष के लिए बनवास करो। एक ओर महान सुख, दूसरी ओर महान दुःख। वे संसार को दिखाते हैं कि कैसे ऐसी अवस्था में भी अत्यन्त शान्त और समभाव में रहते हुए बिना किसी अन्य विपरीत भाव के जीवन जिया जा सकता है।

सीता जी जो अत्यन्त कोमल हैं, जिनके पाँव तले फूल बिछते थे, गद्दे ओर कालीन रहते थे, उनको भी कह दिया जाता है कि वन में चली जाओ, वनवासी पति की हर प्रकार से

सेवा करो। जंगल से लकड़ी, भोजन आदि का प्रबन्ध करो, आदि-आदि। वास्तव में उन्होंने अपनी स्वयं की इच्छा से ऐसा जीवन स्वीकार किया। वो महान स्त्री थीं, एक आदर्श जीवन जीकर सबको प्रेरणा देती हैं कि संकट के समय भी अपना कर्तव्य ओर धर्म तथा धैर्य नहीं छोड़ना चाहिए।

जितने भी महापुरुष हुए हैं (भगवान राम, श्रीकृष्ण जी तथा अन्य संत आदि) वे प्रत्येक साधक को प्रेरणा देते हैं कि हम अपने अहंकार को छोड़ें ओर दीनता को अपनायें। पुरातन काल में न जाने कितने ऐसे महापुरुष हुए होंगे जिन्होंने परमज्ञानी होते हुए भी दीनता को अपनाया। जब तक दीनता नहीं आएगी, साधना नहीं होगी। परमसंत कबीर साहब को ही लीजिये। कितने दीन बने, मानो सारा संसार उनसे अच्छा है, बस वही बुरे हैं -

" बुरा जो देखन में चला, बुरा न दीखा कोय !

जो घर खोजा आपना, मुझ से बुरा न कोय !!"

गुरु नानक देव जी भी कहते हैं - " जेता सागर नीर भरा, तेते अवगुन मोहिं "

और उन्हीं की दीनता है कि, " निंदौ , निंदौ मोकहि निंदौ "

आज का पवित्र दिन अपने पूज्य गुरुदेव के चरणों में पुनः समर्पण करने (rededication) का दिन है। यह शरीर भी आपका, यह मन भी आपका ओर सब कुछ आपका, परन्तु यह सब कहने भर के लिए नहीं, सचमुच मन से समर्पण होना चाहिए।

हम तो यह सब भूल ही जाते हैं। सत्संग खत्म होते ही खाने-पीने में, बातों में लग जाते हैं तथा सब भूल जाते हैं। ये मन की वृत्ति है। किसी का दोष नहीं है। चाहिए यह कि हम क्षण प्रति क्षण जाग्रत रहें और प्रयास करें कि हमारा मन प्रत्येक क्षण गुरु-चरणों में लीन रहे।

आज हम सब मिलकर पूज्य गुरुदेव की जीवन-लीला का स्मरण करें। उन्होंने अपने जीवन से जो उदाहरण हमारे सामने रखे हैं, हम वैसा आदर्श जीवन जियें, जीने का अधिक से अधिक प्रयास करें। हम उनके पद-चिन्हों पर चलने का पुनः संकल्प करें।

गुरु सेवा का सर्वोत्तम रूप - सेवा कई प्रकार की होती है। हाथ-पाँव की सेवा, धन की सेवा, परन्तु मन की सेवा बहुत ऊँची है। यानी जो कुछ आपके इष्टदेव कहें, वही हुक्म है। उनकी आज्ञा का पालन करें। यदि यही बात ध्यान में रखें कि जो भी गुरु महाराज के आदेश हैं - उन्हीं का पालन करते चले जायें तो मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि आत्मा का साक्षात्कार दूर नहीं है।

परन्तु हम ऐसा करते नहीं हैं। हम उनकी बातों की तरफ ध्यान नहीं देते, अपनी मनमानी करते हैं। दीक्षा लेते समय जब हमने तन, मन, धन देने का वचन दिया तो हमारा अब इन चीज़ों से मोह क्यों है? परन्तु है कोई ऐसा व्यक्ति जिसको अपने शरीर से मोह न हो, अपनी धन-सम्पत्ति या स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों के प्रति आसक्ति न हो या जिसने अपने विचारों को छोड़ दिया हो ?

काफी समय हो गया है। आपसे बारम्बार यही अनुरोध करूँगा कि जो आपके इष्टदेव के आदेश हों, उनके पालन में कभी संकोच या विलम्ब नहीं करना चाहिए। विश्वास मानिये कि इसी सेवा के द्वारा आप आत्म-साक्षात्कार करके अपना जीवन सफल कर लेंगे, मानव जीवन को धन्य और सार्थक कर सकेंगे।

गुरुदेव आप सब पर कृपा करें। उनकी कृपा तो हम सब पर बरसती ही रहती है। सूफ़ियों में इसे 'फ़ैज़ ' कहते हैं। इसे हर वक़्त ग्रहण करते रहना चाहिए। सूर्य तो प्रकाश देता है पर यदि हमारे घर की खिड़की बंद हो तो हम उस प्रकाश यानी फ़ैज़ से वंचित रह जाते हैं।

इस कृपा को ग्रहण करने का साधन ही हमारे यहाँ कराया जाता है। यह ज़रूरी नहीं कि गुरु शारीरिक रूप में ही आपके पास बैठा हो। आपका ध्यान उसकी तरफ हो तो वह भी गुरु का संग है।

मेरे से जो सेवा हो सकती है, जैसी भी मैंने आज तक की है, अच्छी या बुरी, उसे स्वीकार करें और मेरे लिए भी प्रार्थना करें कि मैं भी आपकी योग्य सेवा कर सकूँ - हाथ-पाँव से, शरीर से, मन से तथा आत्मा से, हम सब मिलकर प्रार्थना करें कि आज के पावन पर्व पर गुरुदेव हमें शक्ति दें कि जैसा वे हमसे आशा रखते थे वैसे हम बनें - अपना जीवन सफल करें।

मेरी शुभकामनायें आपके साथ हैं, गुरुदेव आपका कल्याण करें ।

00000000000

राम सन्देश जुलाई-सितम्बर, 2013

सरलता, सत्संग और सेवा - श्रेष्ठ साधना

(ब्रह्मलीन परमसंत डॉ०करतारसिंह जी महाराज)

हर परमार्थी को तीन बातों का विशेष रूप से पालन करना होता है - पहली बात है सरलता, दूसरी सत्संग और तीसरी सेवा। हम जितने भी स्त्री-पुरुष हैं, सबके मन में कुछ है, व ज़वान पर कुछ है तथा व्यवहार में कुछ और है। हम भीतर बाहर एक नहीं हैं। भले, ही हम परमार्थी हैं पर व्यवहार में स्वार्थी हैं। भगवान कृष्ण की हमारे लिए एक महान देन है कि उन्होंने अर्जुन को प्रतीक बनाकर हमें यह सिखाया है कि हमें कैसा व्यवहार करना चाहिए? मुख्य बात कर्म की जो भगवान ने बताई है वह यह है कि स्वार्थ को तो प्रेम -यज्ञ में आहुति बना कर डाल दो। व्यवहार ऐसा होना चाहिए जैसा महात्मा गाँधी जी ने अपने शब्दों में कहा है - " यदि कोई ग्राहक आपकी दुकान पर आता है तो उसको ग्राहक मत समझो, ईश्वर समझो। वो व्यक्ति वास्तव में ईश्वर ही है, ऐसा मानकर आप जिस प्रकार से ईश्वर की सेवा करेंगे, उसी प्रकार उसको महान अतिथि समझकर, अपना इष्ट समझकर उसकी सेवा करो। उसका शोषण नहीं करो। अपने स्वार्थ के कारण समाज का शोषण मत करो। अपने कर्म को, अपने व्यवहार को सेवा का रूप दो। गाँधी जी गीता के पुजारी थे, भगवान के भक्त थे।

आदिकाल से संतों ने, महापुरुषों ने, हमें जताया है कि - " ऐ तुच्छ मनुष्य ! तू स्वार्थी है। पिछले जन्मों के कारण वर्तमान जन्म में तू स्वार्थ का व्यवहार कर रहा है।" हम जो यज्ञ करते हैं वह सबके भले के लिए ही करते हैं। यह एक साधना है स्वार्थ को छोड़ने की। उस यज्ञ में हम स्वार्थ की आहुति डालते हैं। दार्शनिक मनुष्य शास्त्र पढ़ता है, बातें करता है लेकिन व्यवहार में वैसा बनता नहीं है। व्यवहार और साधना में वास्तव में कोई अन्तर नहीं है पर हम अपने व्यवहार और साधना में अन्तर रखते हैं और इसलिए दुखी होते हैं।

लोग कहते हैं कि हम क्या करें, इनकम टैक्स की चोरी नहीं करेंगे तो भूखे मर जायेंगे। नम्बर दो का काम नहीं करें तो दुनियाँ में रह नहीं सकते। ये सब कमज़ोर आदमियों की बातें हैं। मान लेना चाहिए कि हम सब गलतियाँ करते हैं। लेकिन जिसको साधना करनी है उसे तो जीवन की बाज़ी लगाकर आना है। जिसके मुख से ऐसे वचन निकलते हैं, वह साधक नहीं है।

तो चाहे हम गीता में देखें या रामायण और उपनिषदों में देखें, सब में कर्मों पर विशेष जोर दिया गया है। दो ही मुख्य साधन बताये गए हैं - ज्ञान का साधन या कर्म का साधन। इन दोनों में से जो व्यक्ति कोई भी रास्ता नहीं अपनाता वह आलसी वृत्ति का है। वो साधना के इस पथ पर आने का अधिकारी नहीं है। महापुरुष कहते हैं कि हमारे कर्म सेवा का रूप लिए हों, ईश्वर की पूजा का रूप लिए हुए हों। हम स्व-निरीक्षण करें और देखें कि क्या हमारे कर्म साधना के अनुरूप हैं ? बिल्कुल नहीं। लोग कहते हैं हमें मन में बुरे विचार आते हैं। अपना स्व-निरीक्षण करो। साधना के लिए बलिदान देना होगा, त्याग करना होगा।

भगवान कृष्ण ने ऐसे ही नहीं कहा कि त्याग करो, मन को काबू में करो। भगवान कहते हैं कि वायु भले ही मुठ्ठी में बन्द हो जाये परन्तु मन काबू में नहीं होता, उसे काबू करना बड़ा कठिन है। बड़ी सत्यता है इसमें। हम में से कितनों ने अपने मन को काबू में किया है ? रास्ता वही है जो भगवान हमें बताते हैं। उन्होंने बड़े सादा शब्दों में अर्जुन को बताया है कि जब मन को वश में करना है तो पहले वैराग का साधन करो और उसका अभ्यास करो। पर इसमें बड़ा समय लग जाता है।

सेवा से पहले सरलता मन में आनी चाहिए - सरलता, जैसे शिशु की स्थिति होती है। वो न किसी से राग करता है न द्वेष। जो भी व्यक्ति उसे गोद में लेता है वो उससे प्यार करता है। प्यार लेता है और प्यार देता है। दोनों गुण उसमें हैं। आप प्यार करते हैं, उसका माथा चूमते हैं, वह भी आपका मुख चूमता है। आप थप्पड़ लगाते हैं, वह भी थप्पड़ लगाता है। उसके और हमारे व्यवहार में ऐसी सरलता होती है मानो रासलीला कर रहे हों। इस सरलता के लिए ही गीता का श्री गणेश किया गया है कि राग-द्वेष को छोड़ो। द्वंदों को छोड़ो। हम नहीं छोड़ते, बड़ा कठिन लगता है। तो हममें बच्चे जैसी सरलता आनी चाहिए अर्थात् मन में कपट नहीं होना चाहिए, मन में किसी के प्रति घृणा नहीं होनी चाहिए।

मन में किसी का भय नहीं होना चाहिए। ये सरलता, ये गुण आते हैं - महापुरुषों की सेवा में बैठकर, अपने जीवन का विश्लेषण करके। सनातन -शास्त्रों को पढ़कर ये गुण आते हैं। दार्शनिक तौर पर तो ठीक है पर हम इन गुणों को अपने व्यवहार में नहीं ला पाते। इन्हें व्यवहार में कैसे अपना पायें - यह बड़ी समस्या है।

हमारे पूज्य दादा गुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज फतेहगढ़ में रहते थे, फरुखाबाद पास ही में पड़ता है। वहाँ एक मिशनरी अस्पताल था जहाँ नर्स काम करती थीं। वे कोई वेतन नहीं लेती थीं। खाने को सादा भोजन मिल जाता था और पहनने को दो जोड़ी सादा कपड़े, या कभी कोई काम पड़ गया तो दो चार रूपये मिल जाते थे। अन्यथा वे निशुल्क सेवा करती थीं और मरीजों के साथ ऐसा व्यवहार करती थीं जैसे देवी-देवता परलोक से आये हों। गुरु महाराज उनकी सेवा देखकर बहुत प्रभावित होते थे। अन्य अस्पतालों से तुलना करें तो पायेंगे कि उन अस्पतालों में व्यवहार कितना खराब है। दुर्व्यवहार से तंग आकर कई लोग तो प्रायः अस्पताल जाना ही छोड़ देते हैं। यदि वाकफियत न हो तो नए आदमी या गरीब आदमी को तो धक्के ही खाने पड़ते हैं।

ऐसी ही एक विभूति हमारे देश में बाहर से आयीं थी। वे युगोस्लाविया की रहने वाली थीं। उन्हें ईश्वर ने भीतर से प्रेरणा दी कि तुम भारत जाओ और बंगाल प्रान्त में जाकर सेवा करो। उन्होंने भूगोल नहीं पढ़ा था, उन्हें नहीं मालूम था कि भारत कहाँ है। उन्होंने अपने इष्टदेव से प्रार्थना की कि वो उन्हें शक्ति दें और उनका मार्गदर्शन करें। तब वह 14-15 साल की थीं और हमारे देश की भाषा नहीं जानती थीं। वो भारत आयीं और बंगाल में कलकत्ता पहुँचीं। कुछ साल उन्होंने बंगाली भाषा और लिपि को पढ़ा। तत्पश्चात कलकत्ते के एक मशहूर स्कूल लोरेटो कान्वेंट में पढ़ीं। इसके बाद इसी स्कूल में बंगाली पढ़ाने के लिए अध्यापिका भी नियुक्त हुईं।

उसके कुछ समय पश्चात उनको पुनः भीतर से आवाज़ आयी कि जिस काम को करने के लिए वो भारत आयीं थीं, वह काम करें। उस वक्त बंगाल की जो स्थिति थी उसको देखकर रोंगटे खड़े हो जाते थे। हमारे यहां सबसे ज़्यादा वेश्यायें कलकत्ते में ही मिलती हैं। सबसे ज़्यादा गरीबी भी वहीं है। कुंवारी लड़कियाँ गलती कर बैठती थीं और अपने बच्चों को सड़कों पर छोड़ जाती थीं। इनकी संख्या बहुत थी, और भी बहुत सा दुराचार था। कुष्ठ रोग से पीड़ित भिखारी थे

जिनको समाज हाथ नहीं लगाता था। कुष्ठ रोग तब संक्रामक माना जाता था। यदि संतान को यह रोग हो जाता था तो माता-पिता उसे भी घर से बाहर निकाल देते थे। उनको नौकरी नहीं मिलती थी। भिक्षा माँगकर वे अपना गुज़ारा करते थे।

इनको ईश्वरीय आवाज़ आयी कि ऐसे लोगों की सेवा करो जिनको समाज तिरस्कृत समझता है, हाथ ही नहीं लगाता। तब उन्होंने उस स्कूल के प्रिंसिपल से आज्ञा माँगी, आँखों से आंसुओं की धारा बह निकली। प्रिंसिपल वहीं का रहने वाला था सो उसने प्रभावित होकर उन्हें आज्ञा दे दी। इन्होंने पहले सेवाधाम बनाया। निशुल्क सेवा करती थीं। केवल पाँच रुपये जेब में थे जब वे स्कूल से आयीं थीं। यही सेविका बाद में मदर टेरेसा कहलार्यीं जिन्हें देश की श्रेष्ठतम उपाधि - भारत रत्न तथा विश्व के सर्वोच्च नोबेल पुरस्कार से विभूषित किया गया।

उन्होंने घास-फूस की एक झोपड़ी बनाई। उनके पास जो पाँच रुपये थे वो उसी पर लगा दिए। सड़क से पहले पांच व्यक्ति जो दम तोड़ रहे थे, उन्हें उठाकर लायीं। वे भी चकित हो गए कि हम तो मर रहे हैं और ये हमें उठाकर ले आयीं हैं। वे पीड़ित लोग जो मौत से घबरा रहे थे, काँप रहे थे, उस बहन की आवाज़। उसकी प्रेम की वाणी को सुनकर उनमें कुछ ढाढ़स बंधा कि हमारा भी कोई इस संसार में है। उनमें से कुछ की एक दो दिन बाद ही मृत्यु हो गयी तो उनका क्रियाकर्म अपने हाथों किया। जो हिन्दू थे उनको जलाया, जो मुसलमान थे उनको दफनाया। इस तरह करते-करते उन्होंने कलकत्ते में ही एक सेवा-धाम बनाया। उनसे प्रभावित होकर बंगाल की स्त्रियों ने उन्हें 'टेरेसा' नाम दिया। वे सबकी माँ बन गयीं।

उस सेवाधाम का बंगाली भाषा में नाम रखा गया 'हृदय-मन्दिर'। मन्दिर जहाँ भगवान रहते हैं, जहाँ उनका प्रेम है, उनकी दया है। काली मन्दिर के पुजारियों ने बड़ा विरोध किया कि माँ आकर सनातन धर्म को दूषित कर देंगी, लोगों को ईसाई बना देंगी। ५-६ महीने विशेष विरोध रहा। परन्तु माँ के काम को देखकर सब इतने प्रभावित हुए कि पुजारी भी माँ के पास जाने लगे। कुछ तो यही समझने लगे कि वे काली माँ ही हैं। दोनों मन्दिरों की दीवार के साथ दीवार लगती हैं। उसके बाद किसी ने उनका विरोध नहीं किया। वे लाबारिस नवजात शिशुओं को उठाकर ले आतीं और माँ की तरह उनका पालन-पोषण करतीं। वे शिशु उन्हीं की

गोद में खेलते। जैसे माँ अपने बच्चों को भोजन कराती हैं, वैसे ही वे उन बच्चों को भोजन कराती थीं।

धीरे-धीरे माँ के साथ और कई लोग, विशेषकर बहनें सेवा में सहयोग देने आनी लगीं जिन्हें 'सिस्टर' कहते थे। उनका नाम पड़ गया ' मिशनरीज़ ऑफ़ चैरिटी ' अर्थात ' सेवा करने वाली देवियाँ ' / उनका काम धीरे-धीरे बढ़ता गया। उनके पास पैसा नहीं था। वह सादा सफ़ेद साड़ी जिसमें हरे रंग का बॉर्डर होता था, पहनती थीं। उन्होंने कभी किसी से कुछ माँगा नहीं, किसी के सामने हाथ नहीं फैलाया। कुछ ऐसी ईश्वर की कृपा होती थी कि जितने रुपये-पैसे की ज़रूरत होती थी, लोग खुद आकर दे जाते थे, माँगने की ज़रूरत नहीं पड़ती थी।

जिस प्रकार उस हृदय मन्दिर में अन्य लोग रहते थे, वे स्वयं भी वैसे ही वहाँ रहती थीं। खाना भी उनकी तरह ही दाल-भात खाती थीं, कोई अलग से उनके लिए खाना नहीं बनता था। वे रेल के तीसरे दर्जे के डिब्बे में यात्रा करती थीं, किसी उच्च श्रेणी में नहीं। वह इस तरह बहुत सालों तक सेवा करती रहीं जिससे उनका नाम सारे भारत में फैला और बाद में सारे विश्व में।

हमारे देश की सरकार ने जो पहला पुरुस्कार उन्हें दिया वह ' पद्म श्री ' था राष्ट्रपति जी के सामने जब वे पुरुस्कार लेने गयीं तो सादा सी साड़ी पहने थीं। पुरुस्कार लिया पर कोई अहँकार नहीं। उस समय पण्डित जवाहरलाल नेहरू देश के प्रधान मंत्री थे। नेहरू जी ने अपनी बहिन श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित से पूछा, " आज जब आपने टेरेसा को पुरुस्कार लेते देखा तो आपके मन की क्या प्रतिक्रिया थी? बहन सहजता से पूछती हैं कि, " भैया, आपकी क्या प्रतिक्रिया थी।" नेहरू जी कहते हैं कि, " मैं उस वक़्त ऐसे समाज में बैठा था कि अपने आंसुओं को रोक रहा था, मेरे आंसू आना चाहते थे। मैंने यह अनुभव किया कि मदर टेरेसा ने पद्मश्री का पुरुस्कार नहीं लिया बल्कि किसी नन्हे निराश्रित बच्चे को, जिसका कोई वारिस नहीं, अपनी गोद में उठा लिया हो। बहन विजयलक्ष्मी जी की प्रतिक्रिया भी कुछ इसी प्रकार की थी। मदर टेरेसा इतनी महान बन गयीं थीं कि उनकी सेवा भावना और उनके कार्य से बड़े-बड़े लोग भी प्रभावित होते थे क्योंकि उनकी सेवा में कोई स्वार्थ नहीं था, उन्होंने अपने लिए कोई बंगला या कोठी नहीं बनवायी, कोई बैंक बैलेंस, कहीं कुछ नहीं।

कम से कम पचास लाख लोगों की सेवा में मदर टेरेसा और उनके साथी लगे थे। कई स्कूल चल रहे थे, कई आश्रम थे। कोई भय नहीं, प्रेम ही प्रेम था। पीड़ित लोग आते थे, कुष्ठ रोगी भी आते थे, सबकी सेवा होती थी। यह नहीं देखा जाता था कि कोई हिन्दू है या मुसलमान या ईसाई। जो बहनें वहाँ काम करती थीं उनकी पहले एक साल तक शिक्षा होती थी कि वो क्यों आयीं हैं वहाँ काम करने। जब माँ को विश्वास हो जाता था कि वे संकल्पवान हैं, उनमें दृढ़ता है, तब वो उन्हें अपने संगठन में लेती थीं। वे संकल्प लेती थीं कि " मुझे ईश्वर के दर्शन करने हैं तो मन्दिर या गिरजाघर जाकर नहीं अपितु इन रोगियों की सेवा करते हुए ही दर्शन करने हैं। मेरे लिए ये व्यक्ति ही ईश्वर हैं। मुझे ऐसे सेवा करनी है जैसे मैं ईश्वर की सेवा में हूँ।" यह उनकी प्रतिज्ञा थी तथा इसी का अभ्यास किया जाता था।

भगवान अर्जुन को समझा रहे हैं कि वैराग और अभ्यास एक दिन में नहीं आता। इसके लिए दृढ़ संकल्प लिया जाता है। संकल्प को साक्षात् रूप लेने में समय लगता है। बार-बार हम गिरेंगे और उठेंगे। इसी का नाम अभ्यास है। ' try again' 'try again' कोशिश करते रहोगे तो सफलता मिलेगी। संकल्प को दृढ़ करने के लिए बार-बार सेवा करें।

कुछ बुजुर्ग लोग मेरे पास आते हैं और कहते हैं कि उनके चार-चार लड़के-बहुएँ हैं लेकिन कोई उनकी सुध नहीं लेता। ये भावना कि हमारा कोई नहीं है, बहुत दुःख देती है। मदर टेरेसा की मुख्य बात यही थी कि जो असहाय, पीड़ित लोग उनके पास आते थे वे यह अनुभव करते थे कि हमारा भी कोई है।

परमार्थ के रास्ते में सेवा एक मुख्य अंग है। कुछ लोग घृणा के साथ दान करते हैं। - ' ये ले दो रोटी खा ले, ये ले दो पूरी ले ले' । हम कभी भी भिखारी में भगवान के दर्शन नहीं करते। वैसे हमारे यहाँ दानी पुरुष भी बहुत हैं। मेरे पिता जी के एक मित्र बम्बई में थे। वो 500 व्यक्तियों को रोज़ खाना खिलाते थे। उन्हें खाना खिलाकर वही खाना आप भी खाते थे। बहुत से ऐसे लोग भी हैं, परन्तु घृणा करने वाले भी काफ़ी हैं। ईश्वर समझ कर कोई नहीं खिलाता। कभी भगवान भी भिखारी का रूप धर कर आ जावें तो उनका भी तिरस्कार कर दें। इसलिए हम दान करने का वास्तविक पुण्य- लाभ प्राप्त नहीं करते।

पूजा में केवल आँख बन्द करने को ही महत्व नहीं देना चाहिए। पूज्य गुरु महाराज जी कहा करते थे कि ये जो आँख बन्द करते हैं। यह महाशक्ति की पूजा है ताकि हम माँ से शक्ति का दान लेकर लोगों की सेवा कर सकें। वास्तव में सेवा ही असली साधना है।

हम गीता पढ़ लेते हैं, सदग्रंथ पढ़ लेते हैं, परन्तु भगवान ने हमें जो आदेश दिया है कि हम किस प्रकार कर्म करें, उस पर ध्यान नहीं देते, उस पर कभी मनन नहीं करते। हम अपने कर्मों को वैसा बनाने का प्रयास नहीं करते। हमें भगवान ने जीवन जीने की कला सिखाई है। हम कहते हैं कि हम भगवान के अनुयायी हैं, भक्त हैं परन्तु सच्चा अनुयायी कोई बिरला ही होगा। यदि हम इस प्रकार कर्म करें तो आप सब लोग मदर टेरेसा की तरह बन सकते हैं। कुछ करने की ज़रूरत नहीं, व्यवहार से ही ईश्वर का साक्षात्कार हो जाता है। वास्तव में हमारा व्यवहार ही हमारा 'test' (परीक्षा) है। किताबें पढ़ते रहें पर परीक्षा में तभी सफलता मिलेगी जब हम परीक्षा के प्रश्नों के योग्य उत्तर देंगे। साधना में हम तभी सफल होंगे। व्यवहार हमारा एक परीक्षा-केंद्र है। जो यहाँ व्यवहार में सफल नहीं होता, भले ही उसको प्रकाश के दर्शन हो जायें या किसी अन्य स्वरूप के दर्शन हो जायें। उससे तो अभिमान हो जायेगा। हमें तो सेवा ही करनी होगी।

भगवान ने कहा है कि कर्म करो/ कर्म को विकर्म बनाओ, विकर्म को भी अकर्म बना दो। भगवान गीता में स्वयं बताते हैं कि मैं जो कर्म करता हूँ वो अकर्म हैं। इसका फल नहीं है, संस्कार भी नहीं बनता है - ये है व्यवहार। सेवा करो परन्तु बदले में कुछ लेने का आशय न हो। सेवा कोई प्रसद्धि या पद पाने कि लिए न हो। कोई पैसा इकठ्ठा करने या अपना कोई मकान-सम्पत्ति बनाने के लिए न हो। मदर टेरेसा को नोबेल पुरस्कार मिला, हमारी सरकार ने उन्हें भारत रत्न की उपाधि से सम्मानित किया उन्हें पेंशन, रुपया आदि सब मिलता था, केवल दीन दुखियों की, मानव -मात्र की सच्ची सेवा करने के अभिनन्दन स्वरूप।

कहने का आशय है कि ऐसे महान व्यक्ति के जीवन का अनुसरण करना चाहिए, यही सत्संग करना है। सत्संग का मतलब यह है कि जो सत्पुरुष हों, जो ईश्वरमय हों, जिनका जीवन ईश्वरमय हो, जिनके शरीर से ईश्वर की रश्मियाँ निकलती हैं, ऐसे सिद्ध संतों -साधुओं के सानिध्य में रहकर उनके गुणों को ग्रहण करना एवं उनके उपदेशों को आत्मसात करना। ये

स्थिति थी मदर टेरेसा की। वो संत थीं जिन्होंने 65 साल से भी अधिक समय तक सेवा कार्य किया। वे 82-83 वर्ष की आयु में भी सेवा कार्य करती रहीं और कोई विशेष आराम उन्होंने अपने लिए नहीं माँगा। उनके पास जो लोग बैठते थे उनको शांति मिलती थी। ऐसे व्यक्ति को ही संत कहते हैं। ऐसे व्यक्ति का संग ही प्रेरणा देता है और ईश्वर प्रसादी देता है। उनके आश्रम में सेवा करने वाली बहनें जो सन्यासिनी और पुरुष सेवक जो सन्यासी कहलाते थे, वे सब त्याग, वैराग्य, ज्ञान व सेवा की मूर्ति हैं - प्रभु की वरद और कृपापात्र विभूतियाँ हैं। वे वास्तव में प्रभु रूप ही हैं।

गुरुदेव सबका कल्याण करे।

0000000000000000

राम सन्देश : जुलाई-सितम्बर, 2014



आत्मा अपने प्रीतम ईश्वर को प्यार करती है और उससे जा मिलना ही उसका परम ध्येय है . माया के लपेट में आकर वह शैतान के इस झमेले में पड़ गई जिसका नाम दुनियाँ है और वह बहिर्मुखी हो गई है , यांनी दुनिया और उसके नाशमान पदार्थों में सुःख ढूढती है और अपना असली रूप और असली वतन भूल चुकी है . लेकिन उनमें अपने प्रीतम को नहीं पाती इसलिए उसे दुःख मिलता है . जब हम दुनिया को प्यार करते हैं तो अपने प्रीतम से दूर हैं . चतुराई , बुद्धि , इंद्री भोग ये सब मन के रूप हैं . जब हम इनमें फंसते हैं , तो दुनिया को प्यार करते हैं . इसका नशा अहंकार है .

राम सन्देश : अप्रैल-जून, 2013

सर्व रोग की औषधि - "नाम "

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

" ॐ राम, जय राम, जय, जय, राम " इस प्रार्थना को थोड़े शब्दों में समझ लीजिये। ॐ शब्द की जितनी भी व्याख्या की जाय उतनी ही कम है - इस शब्द से ही सारी रचना हुई है। 'ॐ राम' परमात्मा सर्व-व्यापक है, 'राम' जो सबमें रमा हुआ है। प्रत्येक के मन में, तन में, रोम-रोम में वह व्यापक है। 'जय राम' उस महान प्रभु की जो हमारा सच्चा पिता है, हम जय जयकार (स्तुति) करते हैं। 'जय, जय राम' अर्थात् तन, मन, धन से हम परम पिता परमात्मा के चरणों में अपने आपको समर्पित करते हैं।

स्वामी रामदास जी का जीवन जिन्होंने पढ़ा है वे जानते हैं कि उन्होंने 'समर्पण' का केवल शाब्दिक अर्थ ही नहीं बताया है। 'समर्पण' किस प्रकार का होता है - यह उन्होंने अपने जीवन के व्यवहार से दिखाया है, समझाया है। उनके तथा अन्य महापुरुषों के अनुसार समर्पण का अर्थ यह है कि हम अपनी गति को परमात्मा की गति में मिला दें। हम एक यन्त्र बन जाएँ, जैसे प्रभु हमें चलायें, हम वैसे ही अपने को यन्त्र-वत् चलने दें। परन्तु केवल इतना कहने से ही तृप्ति नहीं होती, यह तो जीवन-यात्रा का अन्तिम चरण है। साधना का 'श्री गणेश' कहाँ से होता है ? 'ईश्वर सर्वव्यापक है ' - हम कहते भले ही रहें लेकिन जब तक हमें इसकी अनुभूति नहीं हो, हम इस बात को स्वीकार कैसे कर लें ?

सब महापुरुष यही कहते आये हैं कि परमात्मा की कृपा, परमात्मा की प्रेम-वृष्टि। प्रतिक्षण सब पर एक जैसी पड़ती है। हमें केवल इस वृष्टि को ग्रहण करने का ढंग सीखना है जो बड़ा ही सरल है। सुख आसन पर बैठ जाइये, या ज़मीन पर, कुर्सी या खाट पर, जैसे भी आपको आराम मिले, बैठें। शरीर ढीला हो और इस ख्याल को लेकर बैठें कि ईश्वर की कृपा बरस रही है। अधिक से अधिक पाँच मिनट लगेंगे कि आपको इस कृपा-वृष्टि की अनुभूति होने लगेगी। दो, चार, दस दिन तक अभ्यास करते रहने पर आपको यह अनुभूति काफ़ी मात्रा में होने

लगेगी। यहाँ तक कि आपको अनुभव होगा कि आपका तन, मन बाहर और भीतर से उस कृपा की फुहार में कपडे की तरह भीग गया है, यह कोई अन्धविश्वास की बात नहीं है। बच्चे से लेकर बूढ़े तक - प्रत्येक व्यक्ति इस अभ्यास को कर सकता है। समर्पण का श्रीगणेश यहीं से होता है।

धीरे-धीरे परमात्मा की उपस्थिति का भान होने लगता है। जैसे ही हमें यह पता लग जाता है कि वह हमें देख रहा है, हम उसकी सेवा में बैठे हैं, तब हमारे भीतर भय और भाव उत्पन्न हो जाता है। भाव प्रेम और श्रद्धा को उत्पन्न करता है। भय इस प्रकार का नहीं जैसे बकरी शेर से डरती है। भय इस प्रकार का कि जैसे एक स्त्री जो कुछ कर्म करती है अपने पति को प्रसन्न करने के लिए करती है और सदैव यह सोचती रहती है कि मैं कोई ऐसी बात न करूँ जिससे मेरा पति अप्रसन्न या असंतुष्ट हो जाए। इसी प्रकार से एक ऐसा साधक जिसे अनुभूति होने लगती है वह कभी कोई ऐसा कर्म नहीं करेगा जिसके कारण परमात्मा उससे असंतुष्ट या नाराज़ हो। बच्चे जब देखते हैं कि कक्षा में अध्यापक बैठे हैं तो वे शरारत करने में संकोच करते हैं। जिस वक्त हमें यह अनुभूति होने लगेगी कि परमात्मा हमारे पास है, वह हमें देख रहा है, तब हम बुराई करने में संकोच करेंगे। इसीलिए महापुरुष कहते हैं - "जो तू सुख चाहे सदा, सरन राम की लेय।"

दुनियाँ में जिस आदमी को देखो वो किसी न किसी कारण से दुखी है। हम लोग महापुरुषों की सेवा में बरसों से जाते आये हैं और अपनी तकलीफों को उनसे कहते रहे हैं। यह कोई नई बात नहीं है। ऐसा नहीं है कि आजकल के लोग ही ऐसा करते हैं, शुरू से ही ऐसा होता आया है। महापुरुषों ने सारे दुखों की निवृत्ति के लिए एक ही बात कही है - 'सर्व रोग की औषधि नाम । समस्त बीमारियों, सांसारिक व्याधियों, की एक ही औषधि है - ईश्वर का नाम, ईश्वर-प्रेम, परमात्मा की शरण लेना यानी अपने आपको पूर्णतया उनके चरणों में समर्पित कर देना। जब हम ईश्वर से प्रेम करने लगते हैं तो प्रकृति की ओर से जो भी दुःख आता है वह हमें दुःखमय प्रतीत नहीं होता। हमें वो ईश्वर की प्रसादी के रूप में अनुभव होता है।

दुःख -सुख की मिलौनी का नाम ही संसार है। परन्तु जब हम ईश्वर से प्रेम करने लग जाते हैं तो हमें ईश्वर की शक्ति मिल जाती है जिससे हमारा मन शुद्ध होने लगता है, बुद्धि

में विवेक आ जाता है, आत्मा की समीपता आ जाती है। तब हम दुःख-सुख को यह समझते हैं कि यह तो भगवान की 'रास-लीला' है। दुःख-सुख तो सापेक्ष शब्द है। वास्तव में दोनों में आनन्द आता है। जो खिलाड़ी खेलते हैं जब उनकी जीत होती है तो वे प्रसन्न होते हैं पर यदि वे हार भी जाएँ तो भी खुश ही रहते हैं। दोनों टीमों के कैप्टन खेल शुरू होने से पहले आपस में हाथ मिलाते हैं और खेल खत्म होने पर भी हाथ मिलाते हैं। यह नहीं कि जो टीम हार जाती है वह भाग जाती हो, नहीं वो इसमें भी प्रसन्नचित रहते हैं। यह 'खेल भावना' है। कभी कोई हारता है, कभी जीतता है। इसीलिए कहते हैं "Life is a Game Play it with sporting spirit (जीवन एक खेल (क्रीड़ा) है, इसे अच्छी तरह प्रेम से, खेल भावना से खेलो) /

राम नाम की शरण लेने से, ईश्वर के चरणों के करीब होने से, हमें शारीरिक और मानसिक बल मिल जाता है। बौद्धिक बल यानी विवेक और वैराग्य उत्पन्न हो जाते हैं और सबसे अधिक बल यह है कि हमारी आत्मा निर्लेप होने लगती है। तब ईश्वर की समीपता की अनुभूति होने लगती है। भीतर में कुछ शान्ति, कुछ आनन्द सा अनुभव होता है। विश्वास बढ़ता है। इस अनुभूति को दृढ़ करने के लिए सच्चे संतों का सत्संग करना चाहिए, महापुरुषों के जीवन-चरित्र पढ़ने चाहिए, गीता, रामायण जैसे महान ग्रंथों के अध्ययन करना चाहिए तथा अपने जीवन को मर्यादा में ढालना चाहिए।

ईश्वर का नाम लेने के साथ-साथ हमें मनन -चिन्तन भी करना चाहिए। आखिर हम कौन हैं ? ईश्वर कौन है ? इस संसार में हम किस लिए आये हैं ? हमारा कर्तव्य क्या है ? शास्त्र कहते हैं कि आत्मा ओर परमात्मा के अतिरिक्त जितना भी भौतिक ज्ञान या जानकारी है, वह अविद्या है। विद्या या ज्ञान वह है जो आत्मा ओर परमात्मा से सम्बन्धित है। जिस व्यक्ति के मन में ये प्रश्न नहीं उठते कि वह कौन है, संसार में किस लिए आया है, यहाँ आकर उसे क्या करना है, ईश्वर के साथ उसका क्या सम्बन्ध है, आदि शास्त्र ऐसे व्यक्ति को मूर्ख बताते हैं और सोया हुआ समझते हैं।

ईश्वर के सामीप्य की अनुभूति हो जाने पर हमारे भीतर उपर्युक्त प्रश्न उठने शुरू हो जाते हैं। 'मैं कौन हूँ ? यह पहला प्रश्न उठता है। शंकराचार्य जी कहते हैं कि जिस व्यक्ति में यह जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि ' मैं कौन हूँ ' उसे ज्ञान हुआ कि 'तत्त्वमसि ' अर्थात् तुम

तो वही हो जो ईश्वर है (Thou art That) परन्तु अज्ञानवश हम भूले हुए हैं और समझते हैं कि हम यह शरीर हैं। अगर कोई पढ़ा-लिखा आदमी होगा तो ज़्यादा से ज़्यादा कहेगा - " मैं मन हूँ, जो सोचता हूँ वही करता हूँ, जो मेरी आदतें हैं मैं वही हूँ" और इससे से बढ़कर कोई विद्वान होगा तो वो कहेगा -" मैं बुद्धि हूँ "। अधिकांश लोग सोये हुए हैं। उनको यह मालूम ही नहीं कि "मैं कौन हूँ"? महान परमात्मा, अंशी, जो हमारा आधार है, हम उसके अंश हैं - वे यह नहीं समझ पाते। वह परमात्मा है, हम आत्मा हैं। वह सागर है, हम उसकी एक बूँद हैं, मात्रा में भले ही अन्तर हो, परन्तु गुण में हम और परमात्मा दोनों एक जैसे हैं। परन्तु हम पर आवरण चढ़े हुए हैं। जब तक वे आवरण दूर होकर ईश्वर के गुण प्रकाशित नहीं होंगे, तब तक हमारे भीतर में अशांति रहेगी और संसार में दुखों का अंत नहीं होगा।

" मोहे अपनी शरण में ले लो राम "

'नाम' का मतलब यही है कि हम 'राम' की शरण लें। शरण का मतलब ही यह है कि हमारा सम्बन्ध ईश्वर से हो जाय, हमें ईश्वर से प्रेम हो जाय और हमारी आत्मा ईश्वर में लय हो जावे। 'नाम' एक सीढ़ी है, 'नामी' (ईश्वर) तक पहुँचने की। कबीर साहब के कहने के मुताबिक यह काठ की माला जाप नहीं है। 'नाम' वो सरेस है जिससे लकड़ी के दो टूटे टुकड़े जोड़े जाते हैं। 'नाम' वह है जो हमारी आत्मा को परमात्मा से मिला देता है। 'नाम' वह साधन है, वह क्रिया है, जिसके द्वारा हमारी आत्मा परमात्मा में लय हो जाती है और हमें यह निरन्तर ज्ञान और अनुभूति हो जाती है कि हम तो वही हैं जो हमारे पिता (ईश्वर) हैं। हज़रत ईसा कहते हैं - " I and my Father are one " (मैं और मेरे पिता एक ही हैं) // परन्तु साथ ही वे हमें यह उपदेश भी देते हैं कि, " Be Perfect as your Father is Perfect in Heaven " (जिस प्रकार परमात्मा पूर्ण है, ऐ मनुष्य ! तू भी वैसा ही पूर्ण हो) तब तू परमात्मा के समीप जा सकता है, उससे पहले नहीं।

पूर्णता तक पहुँचने के लिए ही 'नाम' की सीढ़ी पकड़ते हैं। 'नाम' एक ऐसी सीढ़ी है जिसमें प्रार्थना, उपासना, गुरु व ईश्वर से प्रेम, ज्ञान व योग - सभी आ जाते हैं। जितनी पद्धतियाँ हैं सब 'नाम' में समा जाती हैं। 'नाम' का मतलब है ईश्वर-प्रेम या वह साधना जिसके द्वारा हम अपने आपको परमपिता परमात्मा में लय कर देते हैं। जब तक हम पूर्ण नहीं होते तब तक हम

परमात्मा से दूर रहेंगे और जो दुःख-सुख हमें भासते हैं, वे भासेंगे। इसलिए इन सब बातों की जो औषधि है - वह 'नाम' है, ईश्वर प्रेम है।

हम पूर्ण कैसे हों ? मनुष्य का विकास लाखों सालों में हुआ है। उसके भीतर में सभ्यता का सारा इतिहास लिखा है। चित्त पर इस जन्म से लेकर पिछले सारे जन्मों की छाया पड़ी हुई है। जब तक हम इस छाया से निवृत्त नहीं होते, तब तक हम पूर्ण नहीं हो सकते। पहला साधन है कि हम उस परमपिता परमेश्वर के समीप हों, उसके प्रेम की जो वृष्टि हम पर हो रही है, उसकी अनुभूति करें। दूसरा साधन यह है कि हम अपने जीवन को ही एक साधना बना लें। केवल ५-१० मिनट सुबह-शाम बैठना ही काफी नहीं है। उससे केवल थोड़ी शान्ति अवश्य मिलती है, आत्मा बलवान होती है, लेकिन उससे साधना पूरी नहीं होती।

सारे दिन तो हम अपने भीतर में कूड़ा-करकट इकठ्ठा करते रहते हैं। अपनी आँखों, कानों, वाणी तथा मन के संकल्प-विकल्पों द्वारा अपने चित्त पर छाया डालते रहते हैं। पुराने संस्कारों के कूड़े के ढेर पर और कूड़ा डालते हैं और फिर आशा करते हैं कि हमें सुख का जीवन प्राप्त हो जाय। इसलिए हमें अपनी सारी दिनचर्या को ही, यानी प्रातः से लेकर रात तक सारा समय, साधनामय बना देना चाहिए। हम अपने हाथ, पाँव, विचार और वाणी के द्वारा जो भी काम करें, उसमें हमें ईश्वर की उपस्थिति का भान होता रहे ताकि हम सचेत रहें कि हमसे कोई बुराई न हो जाय। हम जो भी कर्म करें, अपने सच्चे पिता की प्रसन्नता के लिए ही करें। ऐसा करने में हमें कुछ दिन कठिनाई होगी लेकिन आगे चलकर यह हमारा स्वभाव बन जायेगा।

इस साधना के द्वारा हमारे जो पुराने संस्कार हैं उन्हें हम धो डालें और आगे के लिए कोशिश करें कि नए संस्कार न बनें। इसके लिए भगवान् कृष्ण ने हमारे ऊपर बड़ी कृपा करके अर्जुन को जो उपदेश दिया है, हमें उस उपदेश पर चलना चाहिए। यानी कर्म और कर्म-फल के साथ हमारी आसक्ति न हो। हमारा स्वभाव ही बन गया है कि हम हर वक्त अपनी परेशानियों में ही डूबे रहते

हैं - जैसे बच्चे पास होंगे या नहीं, बच्ची की शादी होगी या नहीं, आदि। हम परमात्मा के ऊपर भरोसा ही नहीं रखते। हम जो कर्म करते हैं उनके साथ हमारा बन्धन होता है। हमने किसी को यदि पचास रूपये दिए तो हम चाहते हैं कि वह हमारे प्रति कृतज्ञता प्रकट करे। यदि कोई बड़ा

अफसर है तो वह आशा रखता है कि जो भी उसके पास से गुज़रे वो उसको सलाम करे। प्रत्येक व्यक्ति अनेकों इच्छाएँ रखता है और इन इच्छाओं की अग्नि में जलता रहता है। मनुष्य चाहता है कि सारे संसार का धन उसके पास आ जाय और यह आशा करता है कि संसार उसकी इच्छा के अनुसार चले। ये दोनों बातें पूरी नहीं होतीं, अतः उसे निराशा होती है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि किसी कर्म और कर्मफल के साथ बन्धन मत रखो। यह बड़ा कठिन है।

अपने कर्म व कर्मफल के साथ बन्धन न हो एवं दूसरा क्या करता है, उसके कर्म के साथ भी बन्धन न हो। हम दिन भर केवल अपनी ही नहीं वरन दूसरों की भी प्रतिक्रिया करते रहते हैं। सुबह से लेकर रात तक अखबार पढ़ते हैं, खबरें पढ़ते हैं और सारे दिन प्रतिक्रिया करते रहते हैं कि फलानी जगह यह हो गया, उन्होंने यह कर दिया, यह नहीं किया, आदि ऐसी अनेकों बातें करते रहते हैं। यदि कोई हमसे दुर्व्यवहार करता है तो हमारे दिल पर जो चोट लगती है उससे हम इतने विचलित हो जाते हैं कि बहुत देर तक अपने को ठीक नहीं कर पाते। भगवान तो कहते हैं कि अपने व दूसरों के कर्म तथा कर्मफल के साथ अपना चिपकाव छोड़ दो। धीरे-धीरे ईश्वर प्रेम आता जायेगा, पुराने संस्कार धुलते जायेंगे और नए संस्कार आप बनने नहीं देंगे। आपका चित्त भीतर में निर्मल होता चला जायेगा।

जितना आपका चित्त निर्मल होता जायेगा, उतना ही आनन्द, शान्ति और सुख आपको अपने भीतर में अनुभव होगा। एक दिन ऐसा आ सकता है कि आप भीतर में गंगाजल की तरह बिल्कुल निर्मल बन जाएँ। वह असली स्थान है - आनन्द का, शान्ति का। इन सदविचारों को अपनाने का अभ्यास करें। इसके साथ-साथ महापुरुषों का सत्संग करना तथा अच्छे-अच्छे धार्मिक साहित्य को भी पढ़ना चाहिए। महापुरुषों के जीवन-चरित्र से हमें सीख (शिक्षा) लेनी चाहिए।

थोड़ा सा अभ्यास है जो यदि हम लोग करें तो जो हम शिकायत करते हैं कि हमें दुःख हैं - शारीरिक, पारिवारिक व आर्थिक - ये बातें हमारे भीतर में उठेंगी ही नहीं। ऐसा व्यक्ति हमेशा सुख की ही अनुभूति करता है। कोई व्यक्ति ऐसा नहीं जो भीतर में यह इच्छा न रखता हो कि मुझे कोई दुःख न हो, कोई बीमारी न हो, मेरी कभी मृत्यु न हो, मुझे कभी कोई

कठिनाई न हो। इस चाह की पूर्ति के लिए एक ही रास्ता है और वह है - ईश्वर प्रेमा जो ईश्वर की हज़ूरी से प्रारम्भ होता है और अन्त में हम सब वैसे ही हो जाते हैं जैसे ईश्वर हैं।

कहा जाता है कि यह कहने में आसान है, मगर करने में कठिन है। परन्तु एक बड़े महान सुख को पाने लिए कुछ कठिनाई का सामना तो करना ही पड़ेगा, मेहनत तो करनी ही पड़ेगी। एक बच्चा बी।ए। पास करने के लिए 14-15 वर्ष मेहनत करता है। तो क्या हम उस परमात्मा को पाने के लिए जो सब सुखों का भण्डार है, जिसकी प्राप्ति के बाद कोई दुःख नहीं रहता, मृत्यु भी नहीं आती है, हमें किसी कारण कोई कष्ट नहीं होता, उस महान सुख की प्राप्ति के लिए हम थोड़ी सी कठिनाई को बर्दाश्त नहीं कर सकते ? यह हमारा प्रमाद है। जैसे हमें प्रातः बिस्तर में ही बैड टी (चाय) मिल जाती है, वैसे ही परमात्मा भी प्लेट पर रखा हुआ मिल जाय - इस विचार को, इस प्रमाद को हमें छोड़ना पड़ेगा। मेहनत करनी ही पड़ेगी। जो मेहनत करते हैं वे पाते भी हैं और सुखी भी हैं। जो मेहनत नहीं करते उनके पास सब कुछ होते हुए भी वे भीतर में दुखी हैं।

उपासना (साधना) आरम्भ करते समय इस धारणा को लेकर मौन होकर बैठें कि हम प्रभु के चरणों में बैठे हैं और उनकी कृपा हम पर बरस रही है। आप प्रभु के जिस रूप की भी पूजा करते हैं, जैसे कोई भगवान् शिव की पूजा करता है, कोई भगवान् कृष्ण की, कोई माँ की - तो उसी प्रभु के इस ख्याल में बैठें कि आप अपने इष्टदेव के चरणों में बैठे हैं, और दीन भाव से उनकी कृपा की भिक्षा माँगें। आप ईश्वर का या अपने इष्टदेव का जो नाम लेते हों, व नाम मन ही मन लेते रहें। भगवान् हमें विश्वास दिलाते हैं कि ' जो जिस तरह भी मुझे याद करेगा उसकी साधना की याचना मेरे पास ही पहुँचेगी। मैं सब रूपों में हूँ '। इसलिए किसी को निराश नहीं होना चाहिए।

जो भी साधक जिस प्रकार की भी साधना करता है उसको चाहिए कि उसमें पूर्ण श्रद्धा रखे और दृढ़ संकल्प के साथ परमात्मा के उस रूप को पकड़ो। मन्दिर जाते हैं तो ठीक है, कोई बात नहीं। देवी की पूजा करते हैं, ठीक है, करते रहिये। भगवान् शिव को मानते हैं तो मानिये। भगवान् कृष्ण को मानते हैं तो उनकी पूजा करिये। गुरु को मानते हैं तो गुरु का बताया हुआ

ध्यान करिये। आत्मा सब में है, परमात्मा सब में है। इसलिए सभी की पूजा, जिस भी रूप में आप करें, ईश्वर के चरणों तक पहुँचती है।

धन्ना भक्त ने पत्थर के सालिग्राम की पूजा की और उन्होंने दर्शन दिए। उनके साथ बैठकर खाना खाया, साकार रूप में। नामदेव जी के हाथों से दूध पिया, नदी के दूसरे किनारे से उठकर रविदास जी की झोली में आ विराजे - यानी भगवान की मूर्ति उसमें प्रकट हो गयी। रामकृष्ण परमहंस साक्षात् दुर्गा माँ से वार्तालाप किया करते थे। इसमें कोई सन्देह नहीं करना चाहिए कि आप जो साधना कर रहे हैं वह सही है या नहीं। उसमें आपको पूर्ण विश्वास होना चाहिए। सब पूजा भगवान् की ही है। किसी भी नाम या रूप को लीजिये, सब उसी के रूप हैं, उसी के नाम हैं। यही सब समस्याओं का समाधान एवं सकल रोगों का उपचार है।

00000000



बिना रहबर (पथ प्रदर्शक) को साथ लिए, बिना गुरु किए रास्ता तय नहीं होता. निर्गुण का ध्यान कैसे हो सकता है? इसलिए उस महापुरुष की शरण लो जिसने ईश्वर का सक्षात्कार कर लिया है. उसका स्थूल शरीर मंदिर है जिसमें निर्गुण परमात्मा विराजता है. उससे प्रेम करने से, उसका ध्यान करने से तुम्हें भी आत्मदर्शन होगा. इसलिए हमारे यहाँ के तरीके में गुरु धारण करते हैं. गुरु की पूजा को ही मुख्यता देते हैं. गुरु और ईश्वर को दो नहीं मानते.

महात्मा डॉ. श्रीकृष्ण लाल जी महाराज



राम संदेश : जून , 1988

सर्वभूतों के प्रति कृतज्ञता - 5 यज्ञ

(ब्रह्मलीन परमसंत डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

हर एक मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह सुःख चाहता है। प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता है कि उसका जीवन कुशल मय हो, आनन्द मय हो, किसी प्रकार का दुःख न आये, किसी प्रकार की चिन्ता न हो, सुःख ही सुःख हो। वह मौत के भय से मुक्त होना चाहता है। मरना भी नहीं चाहता। ऐसा जीवन चाहता है जिसमें किसी प्रकार का दुःख न हो। वो सुःख ही सुःख, आनन्द ही आनन्द चाहता है। उसकी यह चाह झूठी नहीं है, सच्ची है। यह उसका स्वभाव है। आत्मा परमात्मा की अंश है। परमात्मा सत -चि त -आनन्द है जो सत्य है, हमेशा रहने वाला है। जिसकी उत्पत्ति नहीं, मृत्यु नहीं। जो अमर है, अटल है, सत्य ज्ञान है। तीन गुणों से परमात्मा मुक्त है, उसे किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं है। निरन्तर आनन्द की गंगा बह रही है। हमारी आत्मा उसी परमात्मा की अंश है। परन्तु आत्मा हमारे पिछले संस्कारों के आवरण से ढकी हुई है। वह उस बन्धन से मुक्त होना चाहती है और अपने असली स्वरूप को, आनन्द स्वरूप को देखना चाहती है। वह मनुष्य चोले में ही इन आवरणों से मुक्त होकर अपना असली स्वरूप देख सकती है। मनुष्य चाहता है कि मैं इन संस्कारों से, इन बन्धन से मुक्त हो जाऊँ परन्तु ऐसा बन नहीं पाता। सौ में से भले ही एक ऐसा व्यक्ति मिले जिसके हृदय में सन्तोष हो और जो यह कह सके कि ईश्वर का शुक्र है, मैं सब तरह से सुखी हूँ। साँसारिक व्यक्तियों को तो छोड़िये, जो परमार्थ के रास्ते पर चल रहे हैं वे भी दुःख का अनुभव करते हैं। पूर्ण सुःख उनको भी नहीं है।

मनुष्य की आत्मा परमात्मा की अंश है। जो गुण परमात्मा के हैं वे ही प्रत्येक व्यक्ति में हैं। फिर भी मनुष्य दुःखी क्यों है ? परमात्मा सर्व व्यापक है, कण -कण में, मनुष्य के रोम -रोम में है। फिर भी हमें उसकी अनुभूति क्यों नहीं होती ? हमारे में वे गुण क्यों नहीं विकसित होते जो परमात्मा के हैं ?। मनुष्य अपने अहंकार के कारण अति समीप होते हुए भी उस परम सत्ता से, उस ज्ञान , शक्ति और आनन्द से वंचित रहता है।

तो करना क्या है ? इस अहंकार को त्यागना है और दीनता को अपनाना है। हज़रत ईसा ने कहा है कि ईश्वर से प्रेम करो, उसकी उपासना करो और ईश्वर के जितने रूप हैं, विशेषकर मनुष्य, उनसे भी प्रेम करो। अपनी सन्तान को सब प्रेम करते हैं परन्तु यह प्रेम नहीं मोह है जो बदलता रहता है। परन्तु प्रेम नहीं बदलता। यह सारा सन्सार ही ईश्वर का स्वरूप है। इस विशाल सन्सार में यदि हम किसी एक के प्रति भी द्वेष करते हैं तो क्या हम ईश्वर से प्रेम कर सकते हैं ? हज़रत ईसा कहते हैं कि यदि तुम ईश्वर से प्रेम करना चाहते हो तो ईश्वर की जनता, चाहे वो अमीर हों या गरीब, चाहे वो तुमसे मित्रता करते हों या शत्रुता, सबके साथ ऐसा प्रेम करो जैसा तुम मुझसे करते हो। वो सब मेरे ही तो रूप हैं ।

मनुष्य जब तक अपने अहंकार को नहीं त्यागेगा, दीनता को नहीं अपनायेगा एवं स्नेह के साथ ईश्वर की पूजा नहीं करेगा, तो वह उपासना नहीं है। ईश्वर की उपासना यह है कि सब के साथ प्रेम करो। चाहे कोई हमारे साथ कितनी भी बुराई करता हो उससे भी वैसा ही प्रेम करो जैसा ईश्वर से करते हो।

शास्त्रों में लिखा है कि प्रेम को धीरे -धीरे बढ़ाते जाओ। पहले सर्वभूतों (जल, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, सितारे) के साथ और जितनी भी प्रकृति आपको नज़र आती है, सबके साथ प्रेम करो, सबके साथ सेवा का व्यवहार करो। यह जो आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, वायु, जल हैं, यदि ये न हों तो हमारा जीवन कैसे कायम रह सकता है ? क्या हमने कभी इन सर्वभूतों के प्रति कृतज्ञता प्रकट की है ? तो प्रेम की पहली कक्षा है कि ये जो सर्वभूत हैं उनके प्रति हमारा स्नेह होना चाहिये। जो व्यक्ति इस प्रथम यज्ञ में आहुति देता है, परमात्मा के उस रूप के साथ उसकी तदरूपता हो जाती है।

दूसरी सेवा मनुष्य की है। यह दूसरा यज्ञ है। धीरे -धीरे व्यक्ति यह समझे कि यह जितना सन्सार है, मुझे सहायता करता है। मैं उसके आश्रित रह रहा हूँ। जब वह इस बात को अपने भीतर में धारण कर लेगा तो उसका व्यवहार सबके साथ एक जैसा होगा। अब जब सब भूतों के साथ तदरूपता हुई, सभी मनुष्यों के साथ स्नेह हुआ तब यह विचार होने लगता है कि ये सब मेरे ही तो रूप हैं। यह सब एक प्रकार के यज्ञ हैं।

तीसरा यज्ञ बताया है पितरों के प्रति, माता - पिता या दूसरे महापुरुषों के प्रति। उनका जीवन हमें स्मरण कराता है कि इस संसार की लीला क्या है ? ये शरीर रहने वाला नहीं है। उनकी याद हमें बताती है कि तुम भी उनके पास पहुँचने वाले हो। नींद में मत रहो, शुभ कर्म करो। यदि शुभ कर्म नहीं करोगे तो शान्ति से नहीं रहोगे और मरने के बाद तुम्हारा श्राद्ध भी कोई नहीं करेगा। हम सतर्क रहें, पता नहीं यह शरीर कब छूट जाये।

जिसको सच्चा गुरु मिल गया है, वह कितना भाग्यशाली है कि उसके जीवन में गुरु एक नया दौर ले आया है। बौद्ध मत में जब साधना पर बैठते हैं तो पहले महात्मा बुद्ध के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं, फिर संघ यानी बुद्ध मत के प्रति और फिर इनके उपदेश के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं। किन्तु हम लोग ऐसा नहीं करते। हमारी चौथी कृतज्ञता गुरु के प्रति यह होनी चाहिये कि हम अपना जीवन वैसा ही बना लें जैसा हमारे गुरु महाराज ने हमें आदेश दिया है। हमारी कृतज्ञता केवल शब्दों के द्वारा प्रकट नहीं होनी चाहिये, हमारे व्यवहारिक जीवन द्वारा प्रकट होनी चाहिये। उनके प्रति अपने जीवन की आहुति दे दो - काम , क्रोधादि सब विषयों का त्याग कर दो। सब इंद्रियों को अपने वश में करो। किसी की निन्दा मत करो, सबकी सेवा करो। गुरु के प्रति कृतज्ञता यही है कि उसका जो उपदेश है अथवा हमारे प्रति उसका जो आदेश है, उसका पालन करें। उसके प्रति यदि हमें अपने जीवन का बलिदान भी देना पड़े तो दें। तब हम अपने इष्टदेव के प्रति कृतज्ञ हो सकते हैं।

उसके बाद आता है - परमपिता परमात्मा में समर्पण। जब ये चारों यज्ञ सफल हो जाते हैं तब इस पाँचवे यज्ञ में देर नहीं लगती यानी हमारी आत्मा परमात्मा में विलय हो जाती है। योग हो जाता है। एक तो होती है जड़ समाधि - जब हम कहते हैं कि हम रोज पूजा में बैठते हैं, घंटा भर सबेरे और घंटा भर शाम, तब भी ध्यान नहीं लगता, मन की चंचलता नहीं जाती। ऐसा इसलिए है कि हमारा सारे दिन का व्यवहार ईश्वर -मय नहीं है। इसका कारण यही है कि हमने पूरी तरह से अपने जीवन की आहुति न तो प्रकृति के चरणों में अर्पण की है, न पितरों के प्रति और न गुरु के उद्देश्यों के प्रति।

मनुष्य का जीवन एक बलिदान होना चाहिये। ईश्वर के प्रेम -यज्ञ में आहुति का रूप होना चाहिये। भगवान कहते हैं कि मनुष्य जितने भी कार्य करे आहुति के रूप में होने चाहिये।

कोई आकाँक्षा न हो यानी हम कोई इच्छा न रखें। हमारे जितने भी कार्य होते हैं उनमें यह भावना छिपी रहती है कि चाहें सारा संसार दुःखी हो जाय, परन्तु हमें सुःख पहुँचे। आप अपने व्यवहार का स्वनिरीक्षण करके देख लीजिये। यदि इसके विपरीत हो तो आप भाग्यशाली हैं कि आपके कर्म में अपने निजी हित की कोई आशा नहीं है, कोई इच्छा नहीं है, बल्कि आपके भीतर में यही इच्छा है कि किसी तरह से दूसरे को सुःख पहुँचे, शान्ति मिले, आनन्द मिले। कर्म यज्ञ की आहुति में निष्काम भाव से रत तभी हो सकेंगे जब आप अपने सुःख की चिन्ता छोड़ देंगे।

कबीर साहब कहते हैं कि परमात्मा रूपी सागर तो सर्वव्यापक है। भीतर में भी और बाहर भी। स्पन्ज (sponge) को अगर पानी में डालो तो वह भीग जाता है। उसके अन्दर और बाहर पानी ही पानी हो जाता है, परन्तु मनुष्य एक चट्टान या पत्थर की तरह है, वह नहीं भीगता। ईश्वर रूपी सागर के प्रेम रूपी जल में मनुष्य रह रहा है परन्तु इसकी गति पत्थर की तरह है। पत्थर सागर में बरसों पड़ा रहता है मगर वैसा का वैसा ही रहता है। मनुष्य की भी यही गति है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार और इन्द्रियाँ - ये सब मिलकर मनुष्य को ऐसा जकड़े हुए हैं कि आत्मा में जहाँ भगवान बैठे हुए हैं, उसकी सुरत जाकर समाती नहीं है, लय नहीं होती।

परमात्मा तो आपके भीतर ही है - कहीं दूर नहीं है। इतना नज़दीक कि आप सोच भी नहीं सकते। परन्तु तब भी आश्चर्य और दुःख की बात है कि हम परमात्मा से दूर रहते हैं। तो कोशिश करें। अपने जीवन को महापुरुषों के बताए हुए रास्ते पर चलाकर अपने अहंकार को सच्ची दीनता में बदल दें। कबीर साहब कहते हैं - " मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर/" अपनत्व छोड़ दीजिये। " कबीर हम सब से बुरे, हम से भले सब कोय, जो ऐसा कर जाने, मीत हमारा सोय "। कबीर साहब कहते हैं कि जिस व्यक्ति को ऐसा ज्ञान हो गया, जिसके भीतर में प्रकाश (enlightenment) हो गया, आत्मा की अनुभूति हो गयी, भीतर की आँखें, अन्तर के कपाट खुल गये, वह सारे विश्व को ही, खुली आँखों परमात्मा का रूप देखता है। खुली आँखों का मतलब है कि अब मन भी मानने लगा, बुद्धि भी मानने लगी और आत्मा परमात्मा से मिलकर एक हो गई। यह तो हम सभी जानते हैं कि परमात्मा है, परन्तु सबको उसका भान नहीं होता, ज्ञान नहीं होता। कबीर साहब फ़रमाते हैं कि जो व्यक्ति ऐसा अनुभव

कर लेता है कि परमात्मा सब में ही विराजमान है, वह मुझसे श्रेष्ठ है, मेरा सच्चा मीत या मेरा गुरु है। गुरु ही हमारा सच्चा मित्र होता है।

तो प्रयास करें कि अपने अहंकार को परमात्मा के चरणों में अर्पण कर दें। इसके लिए कई रास्ते बताये गये हैं। यह भक्ति से भी, ज्ञान से भी कर्म से भी हो जाता है। भगवान कृष्ण ने गीता में एक ही रास्ता बताया है कि सब धर्मों को छोड़ कर केवल एकमात्र मेरी शरण में आ जा। अर्जुन को स्वतंत्रता दी है कि तुम्हें जो रास्ता अच्छा लगता है तुम वह ही रास्ता अपनाओ परन्तु समता सब में अपनानी है। दुःख -सुःख से, द्वन्दों से ऊपर उठना है जब तक द्वन्द हैं तब तक मन है, अहंकार है और जब ये खत्म हो जाते हैं तब एकता (सूफियों की वहदियत) आती है। ये तभी खत्म होते हैं जब हमारा रोम -रोम एकता को अपना लेता है। हमारी वृत्ति एकता की हो जाती है। भिन्न- भिन्न रूपों को देखते हुए उस स्थिति में हम एकता की अनुभूति करते हैं - मनुष्यों के साथ, सर्वभूतों के साथ भी, सन्तों के साथ भी और यम के साथ भी। कहीं भिन्नता है ही नहीं।

" उर धारे जो अन्तर नाम, सर्वमय देखे भगवान/" उस नाम को, उस आत्मा के कण को अपने रोम -रोम में बसायें। नाम रूपी अमृत को हृदय में बसायें। वह नाम हमारे रोम -रोम में उतर जाय, हमारा सहज स्वभाव बन जाय। तब क्या होता है ? हम सब जगह अपना या परमात्मा का रूप देखते हैं। प्रयास के साथ नहीं, सहज अवस्था में। यह नाम की अन्तिम सीढ़ी है, वही रूप है जो आत्मा का है, परमात्मा का है। जब वह हमारे रोम -रोम में समा जाता है, हमारे हृदय में उतर जाता है, वह नाम हमारे कण -कण में व्याप्त हो जाता है। तब आप पूर्णतयः परमात्मा से तदरूप हो जाते हैं। तब परमात्मा तो आप हो ही गये, आत्मस्वरूप हो ही गये। आत्मा आत्मा को देखती है - "सर्वमय देखें भगवा ।" सब में ही भगवान के दर्शन होते हैं। उस स्थिति में कोई संस्कार नहीं रहता। यह स्थिति अभ्यासी को भी कभी -कभी क्षण भर के लिये आजाती है। परन्तु जिस स्थिति का वर्णन गुरुदेव कर रहे हैं वह तो सहज अवस्था है। वहाँ आत्मा, परमात्मा या जिज्ञासु में कोई अन्तर नहीं है।

गुरु नानक जी कहते हैं कि बिना सदगुणों को अपनाए हुए सच्ची भक्ति नहीं होती, भक्ति में सफलता नहीं मिलती। भक्ति तो हम सब लोग करते ही हैं परन्तु हमारी भक्ति

सफल क्यों नहीं हो रही ? उच्च कोटि के सन्त कृष्ण मूर्ति जी, जो ईश्वर को नहीं मानते थे, कहते हैं कि इस रास्ते में सद्व्यवहार (moral conduct) की अति आवश्यकता है। इसीलिये हमारे यहाँ यम -नियम का पालन कराते हैं। और कुछ नहीं हो सकता तो चौबीसों घंटे अपने मन को देखते रहो कि इसमें किसी के प्रति घृणा की, ईर्ष्या की, भावना तो नहीं है, किसी को दुःख पहुँचाने की इच्छा तो नहीं है। ईश्वर बनना है, आत्मस्वरूप बनना है, आत्मा का साक्षात्कार करना है, ईश्वर के दर्शन करने हैं तो ईश्वर के उन गुणों को जो शास्त्रों में लिखे हैं या महापुरुषों ने बतलाए हैं, अपनाने का प्रयास करना चाहिये ।

अपने जीवन को यज्ञ का रूप, बलिदान का रूप दें, सब को सुःख पहुँचाने का प्रयास करें - ईश्वर मिल जायेंगे। जो समाधि, जो साधना, जो अभ्यास, जो एकाग्रता या स्थिरता जिसके परिणामस्वरूप हमारे भीतर ईश्वर के गुण विकसित नहीं होते, उस पर विश्वास नहीं करना चाहिये। हममें ईश्वर के गुण विकसित होने चाहिये । आप सबका लक्ष्य सन्त बनना है। सन्त ही सतस्वरूप का नाम है। ईश्वर ही सत्य का दूसरा नाम है ।

गुरुदेव सबका कल्याण करें ।

0000000000000000



मौन की अवस्था को स्थिर बनाने के लिए नियमित उपासना का त्याग नहीं करना चाहिए . मौन की साधना के लिए पहले मन को कोमल , संवेदनशील बनाना चाहिये ताकि प्रभु की ओर से जो प्रसादी आ रही है उसे साधक ग्रहण करने योग्य हो सके . प्रभु के प्रति भक्ति तो भाव , भावुकता और उपासना से बढ़ेगी . निस्वार्थ सेवा तथा शुभ कार्य एवं सात्त्विक जीवन भी मौन साधना में सहायक होते हैं . आत्मा के मौन का आभास तब ही होता है जब मन और बुद्धि दोनों स्थिर हो जाते हैं . आत्मिक मौन को ही वास्तविक मौन कहते हैं .

सदगुरु डॉ . करतारसिंह जी महाराज

साधना का अर्थ है- मन को साधना, ईश्वर जैसा बनना

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉकरतारसिंह जी महाराज)

यह मन बड़ा दुष्ट और धोखेबाज़ है। हम सब भाग्यवान हैं कि हमको मनुष्य चोला मिला है। हमारा ध्येय है अपने आपको ईश्वर जैसा, आत्मा जैसा बनाना। परन्तु खेद की बात है कि हम इस लक्ष्य को भूले हुए हैं और मन के पीछे पड़े हुए हैं। मन की वृत्ति है कि ये प्रति क्षण मनुष्य को गलत रास्ते पर डालता है, आत्मा के विरुद्ध काम करता है, परमात्मा के विरुद्ध काम करता है। इसीलिए महापुरुष कहते हैं कि मनुष्य का मुख्य साधन है कि वह अपने मन पर विजय प्राप्त करे। 'मन जीते जग जीत' जिस व्यक्ति ने अपने मन पर विजय प्राप्त कर ली, तो समझ लो उसने सारे संसार पर विजय प्राप्त कर ली। परन्तु खेद की बात है कि पढ़े-लिखे व्यक्ति भी मन के विचारों में, दुर्व्यवहारों में, फँसे रहते हैं। गुरु की या ईश्वर की कृपा का एहसास न करते हुए, उनके आदेश का पालन न करते हुए, अपने मन के पीछे लगे रहते हैं।

'साधना' क्या है ? साधना यही है कि हमको अपने मन को साधना है। "मन के साथे सब सधै"। मन तीन गुणों में फँसा है - तम, रज और सता। हमें इन तीन गुणों पर विजय प्राप्त करनी है। हमारे यहाँ पूर्णमासी, एकादशी आदि-आदि के व्रत रखे जाते हैं। इसलिए नहीं कि उस दिन अच्छा खाना खायें। बल्कि इसलिए कि हम देखें कि क्या हम गुरु के आदेशों का पालन कर रहे हैं ? क्या हम ईश्वर की छत्र-छाया में रहते हैं अर्थात् क्या हम ईश्वर की मौजूदगी हर वक्त महसूस करते हैं ? कोई नहीं करता। ईश्वर सर्वव्यापक है। आपके भीतर भी है और बाहर भी। वह इतना दयानिधि है, इतना कृपालु है, तब भी हम उसकी अनुभूति नहीं कर पाते। इसका कारण क्या है ? कारण है कि हम मन के पीछे लगे हुए हैं। मन का स्वभाव हो गया है अहंकार के पीछे लगना। हमें इस अहंकार रूपी राक्षस पर विजय प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए। "मन के साथे सब सधै"। जब हम अपने मन पर विजय प्राप्त कर लेंगे, मन गुरु के आदेश के अनुसार चलेगा, तब साधना के उच्च-कोटि के फल का अनुभव होगा। उसमें मनुष्य को आत्मिक आनन्द की अनुभूति होगी। अपनी आत्मा की अनुभूति होगी। गुरु के दर्शन

होंगे। " मन जीते जग जीत "। हमारी सारी साधना अपने मन की है, हर वक्त हम अपने मन के पीछे लगे हुए हैं। मन हमें हमेशा सत्यता के विरुद्ध ले जाता है। वह तीन गुणों में फंसा हुआ है - तम, रज और सत। जब हमारा मन इन तीन गुणों से मुक्त होकर, बुद्धि के आधीन होकर और बुद्धि आत्मा के आधीन होकर चले तब समझना चाहिए कि हमने साधना में कुछ प्राप्त किया है।

इसीलिए हमारे यहाँ मौन-साधना पर विशेष ध्यान देते हैं। मौन किसका ? इस मन का मन अपने अतीत को भूल जाये। मन अपने तीन गुणों - तम, रज और सत, से मुक्त हो जाये। मन में सतगुण आ जायें। वो सतबुद्धि का आसरा लेकर सतगुणों को अपनाये। सतगुणों को अपनाने से निर्मलता आ जाएगी, कोमलता आ जाएगी और अपने आप में एक भाव आ जायेगा कि आप प्रभु के लिए पागल होते जायेंगे। 'तुम बिन रहयो न जाय " मैं तेरे वगैर रह नहीं सकता - यह हालत हो जाएगी। इस वक्त क्या है ? हम लोग दार्शनिक बातें करते हैं, परन्तु वास्तविकता नहीं है। साधना का मतलब है - मन को साधना। मन को ईश्वर जैसा बनाना है। तब आप स्वतंत्र हो जायेंगे। किसी प्रकार का कष्ट, दुःख वगैरा नहीं होगा। मन को साधना है। मन को तीन गुणों से अतीत करना है। स्वतन्त्र करना है। हम सब अहंकारी हैं। यह मन अहंकार रूपी रावण का रूप है। इस अहंकार से मुक्त होने की कोशिश करें।

" कहो नानक, मैं नाहीं कोई गुण, राख लियो शरणाई " महापुरुष कहते हैं - हे परमात्मा ! हे प्रभु ! मेरे में कोई गुण नहीं है। नानक जी इतने महान होते हुए भी कहते हैं - "हे प्रभु ! मेरे में कोई गुण नहीं है, मुझे अपनी शरण में ले लो। कृपा करो, कुछ मेहर उतारो, डूबते पात्र तारे " आपने भगवन् राम के रूप में, डूबते पत्थरों को भी तैरा दिया। ये कठिन बात है कि पानी के ऊपर पत्थर तैरने लगे। आप जो चाहे कर सकते हैं। आपसे प्रार्थना है, नम्र निवेदन है, कि कृपा करके आप हमारे अवगुणों को छीन लें हर लें। हम अपने आप अपने अवगुणों से मुक्त होने में असमर्थ हैं। कितने वर्ष हो गए, हमारी मृत्यु दरवाजे पर खड़ी है, परन्तु हमारे भीतर में अभी तक अवगुण ही अवगुण भरे हैं। एक भी सच्चा गुण हममें नहीं है। हमारे भीतर में ईश्वर है, आत्मा भीतर में है, आत्मा की, परमात्मा की छाया पड़ रही है। परन्तु हमारा मन रूपी रावण इतना कठोर है कि ईश्वर से प्रसादी नहीं लेता। हमारे महापुरुष, चाहे किसी भी धर्म के हों, हमें प्रेरणा देते हैं कि कोई काम शुरू करें तो पहले ईश्वर का नाम लें, ईश्वर को याद करें। ॐ अक्षर

को लेकर, पंजाबी में 'एक ओमकार सतगुरु प्रसादा हे प्रभु ! तू ही एक है, तू ही पिता है, तू ही माता है। मैं जैसा तू है, इस शरीर में रहते हुए, वैसा ही बन जाऊँ ।

“तू तू करता तू भया, मुझमें रही न हूँ ! आपा परका मिट गया, जत देखूँ तत तू !!!”

ईश्वर कहीं दूर नहीं है। आपके भीतर में भी है, आपके बाहर में भी है। परन्तु खेद की बात है कि मनुष्य को परमात्मा ने बुद्धि भी दी है, ज्ञान भी दिया है परन्तु फिर भी वह सच्चे ज्ञान की प्राप्ति नहीं करता। इसीलिए वह इस दुनियाँ में फँसा रहता है। बार-बार जन्म लेता रहता है। “ बहुत जनम बिछड़े थे माधो, ये जनम तुम्हारे लेखे ” मनुष्य चौरासी लाख योनियों में से गुज़र रहा है, इनके दुःख-सुख उसने देखे हैं, तब भी वह सचेत नहीं होता। आखिर में महापुरुषों की शरण में आकर, उनके चरणों में आकर, उनकी रज बनता है और तब कहता है - “ कहो नानक मैं नाहीं कोई गुण।” किरपा करो प्रभु, मेरी रक्षा करो। शख लियो शरणाई’ मुझे अपनी शरण में रख लो, मुझे अपने चरणों की रज प्रदान कर दो। मुझे इस संसार से, इसके तीन गुणों - तम, रज, सत - से अतीत कर दो। मेरे में आत्मिक गुण डालो। मैं आपका बेटा हूँ।

हज़रत ईसा परमात्मा को कहते हैं - मैं आपका बेटा हूँ। इसका मतलब है दीनता। दीनता को अपना लो। प्रभु के पवित्र चरण पकड़ लो और प्रभु जैसे बन जाओ। जब तक परमात्मा जैसे नहीं बनोगे, जीवन के लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाओगे। हमारे जीवन का लक्ष्य है - परमात्मा जैसा बनाना। भिन्न-भिन्न शास्त्रों में, पुस्तकों में लिखे जो ईश्वर के गुण हैं, उनको बार-बार पढ़ो, उन पर बार-बार मनन करें और उनको अपने जीवन में उतारो ।

“तू तू करता तू भया, मुझमें रही न हूँ !

आपा फिरका मिट गया, जत देखूँ तत तू !!

जब आप परमात्मा के गुणों को अपना लेंगे और वैसे बन जायेंगे तब आपको भीतर बाहर वही परमात्मा नज़र आएगा, परमात्मा की अनुभूति होगी।

“ अन्दर बाहर ऐको जानो, ऐ ही गुरु ज्ञान बताई !

कहो नानक’ बिन आपा चीनें मिटें न भरम की खाई!!!

जब तक रावण रूपी अहंकार का भीतर में त्याग नहीं करेंगे, तब तक महापुरुषों जैसी दीनता, सरलता, आत्मिक सुन्दरता, प्रभु के गुण आपके भीतर विकसित नहीं होंगे, प्रकट नहीं होंगे। मनुष्य को ये चोला मिला है और इसमें गुण है कि यदि वो परमात्मा के आदेशों के अनुसार चले, सच्चे गुरु के आदेशों के अनुसार चले, तो वो अपने जीवन में सच्चा परिवर्तन ला सकता है, वो ईश्वर जैसा बन सकता है। जो गुण प्रभु ने मनुष्य को प्रदान किये हैं, किन्हीं अन्य जीवों को प्रदान नहीं किये हैं। किन्तु खेद की बात है कि मनुष्य अपना समय खो रहा है, वह अपने जीवन के लक्ष्य - ईश्वर जैसा बनना - उसको भूलता जा रहा है और सँसार की वस्तुओं में फँसता जा रहा है।

फरीद जी भी यही कहते हैं कि हम सब सँसार रूपी कीचड़ में फंसे हुए हैं। इससे निकलना आसान काम नहीं है। इसीलिए कहते हैं कि सच्चे गुरु को अपनाओ और उसके आदेशों के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करो। अपने मन के पीछे न भागें। मन पर विजय प्राप्त करके, गुरु के चरणों की रज बन जाँ। ऐसा बनने का अवसर प्रभु ने मनुष्य को ही प्रदान किया है। चौरासी लाख योनियाँ हैं। जब तक चौरासी लाख योनियों में से एक योनी इस तरफ नहीं लगायेंगे, प्रभु के चरणों की रज नहीं बनेंगे। ये चौरासी लाख योनियाँ खत्म नहीं होंगी। परन्तु हम सब दोषी हैं, अहंकारी हैं। मैं ये हूँ, मैं वो हूँ - सारा दिन यही करते रहते हैं। महापुरुष क्या कहते हैं ? " राख लियो शरणाई " मैं तुम्हारे चरण पकड़ता हूँ, मुझे शरण दो, मुझे शरणागत रख लो। अहंकार रूपी रावण का परित्याग करना पड़ेगा और भगवान राम की दीनता को अपनाना होगा।

रावण ने सीता जी का अपहरण करके अपने कब्जे में कर लिया है और भगवान राम अपने छोटे भाई लक्ष्मण और हनुमान जी को साथ लेकर जाते हैं और करबद्ध होकर प्रार्थना करते हैं कि हे भगवान् रूप महापुरुष इन पर कृपा करो, इनको आत्मिक ज्ञान का दान प्रदान करो। भिक्षा माँगते हैं। कितनी दीनता है ? हमें होश में आना चाहिए, अपने भीतर के अहंकार को देखना चाहिए, उसका त्याग करना चाहिए। यदि हम दूसरे के भीतर में दोष देखेंगे तो वो दोष हमारे अपने ही हो जायेंगे। सब में परमात्मा के दर्शन करें।

सब में रब रहेया प्रभु एको, पेख पेख नानक बिगसाई !

परमपिता परमात्मा कण-कण में बसा हुआ है। वह प्रत्येक व्यक्ति में है। उसके दर्शन करके अपने मन में एक कोमलता आ जाती है। परन्तु हम सारा दिन अज्ञान रूपी कीचड़ में फँसे रहते हैं। अज्ञान को ही देखते रहते हैं। आत्मा या गुरु के अधीन काम नहीं करते। महापुरुष प्रेरणा देते हैं - "गुरु परमेश्वर एको जानो " गुरु को अपनाओ, ईश्वर के दर्शन करने हैं, ईश्वर जैसा बनना है, तो पहले गुरु को रिझाओ। गुरु की आज्ञा का पालन करो। वैसा बनने की कोशिश करो।

पिछले कई सप्ताह से आपसे विशेषकर करबद्ध प्रार्थना करता रहता हूँ, परन्तु मुझे खेद है कि न तो मैं ही वैसा बन सका जैसा मैंने आपको कहा था और न आप ही वैसा कर सके। यह रास्ता कठिन है। किसी महापुरुष की चरण रज लेनी होगी। लेकिन हम झूठ बोलते हैं, दूसरों के दोष देखते हैं।

00000000000



हे प्रभु ! निज प्रेम दे कर सबके दुःख हर लीजिए '
श्रीकृष्ण' के 'करतार' की अविरल कृपा के वास्ते



परमात्मा से प्रेम करें अनुराग द्वारा और संसार से वैराग करें पश्चाताप द्वारा . परमात्मा से अनुराग के लिए हर समय प्रार्थना करते रहना चाहिये . प्रार्थना और आराधना में अपार शक्ति है . संस्कारों से , वृत्तियों से , स्वभाव से निवृत्ति के लिए बार - बार पश्चाताप करना चाहिए . इसलिए कबीर साहब ने फ़रमाया है कि संसार में रहकर सर्वप्रथम राग और द्वेष , दोनों का त्याग करें . जागरूक होकर जीवन व्यतीत करें . किसी की प्रतिक्रिया न करें . मौन को अपनाए बिना संस्कार कभी समाप्त नहीं हो सकते . निरन्तर मौन में रहने का प्रयास करें *****
सद्गुरु डॉ . करतारसिंह जी महाराज

साधना में शरीर और मन स्वस्थ रहना चाहिये

(ब्रह्मलीन परमसंत डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

ईश्वर कृपा प्रत्येक वस्तु पर, प्रत्येक व्यक्ति पर एक जैसी पड़ती रहती है। यह कोई अंधविश्वास की बात नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति इसकी अनुभूति स्वयं कर सकता है। इतना ही करना है कि सिद्ध आसन में या उस आसन में जिसमें सुख मिले, बैठ जाय, शरीर सीधा परन्तु ढीला हो, मन में विकार न हो। एक प्रार्थना का भाव लेकर बैठें, हृदय की झोली फैलाकर बैठें। आप चाहें तो परमात्मा का कोई नाम भीतर में लेते रहें। इतना करना है और इस कृपा वृष्टि के नीचे बैठना है। आप देखेंगे कि २-३ मिनट के बाद आपको ऐसा मालूम होगा कि आपके शरीर को एक सूक्ष्म सी शक्ति छू रही है। इस अभ्यास को यदि आप बढ़ाते चले जायें, आपका शरीर इतना सूक्ष्म हो जायेगा जैसे कपास होती है, और यदि भीतर में मन पवित्र है तो समय पाकर आप अपने अस्तित्व को भी देखेंगे कि उसका भी भान नहीं होता। केवल एक आनन्द का प्रवाह चल रहा है। यह एक इतना सरल साधन है कि प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह स्त्री हो, बच्चा हो, वृद्ध हो, पुरुष हो - सब कर सकते हैं। चाहें आप ईश्वर को देवी देवता, साकार, निराकार किसी भी स्वरूप में मानते हों, यह ख्याल करके बैठ जाइये कि हम अपने इष्टदेव के चरणों में बैठे हैं और उनकी कृपा हम पर बरस रही है। आप जो भी ईश्वर का रूप समझें, उसके सामने बैठ जाइए। कृपा आपको अवश्य अनुभव होगी। चाहें गुरु का ख्याल करके बैठ जायें, कृपा ईश्वर की बरसती है। यह इतना सरल, सहज और आसान साधन है कि यदि कोई व्यक्ति इसको मन लगा कर, भक्ति भाव से, प्रेम से, कुछ महिनों करे तो उसके भीतर में क्रान्ति आ सकती है। लोग बाग पूछते हैं कि क्या उन्हें ईश्वर के दर्शन हो जायेंगे ? यह सत्य है। ईश्वर के दर्शन का मतलब यह है कि आपके भीतर में भी वही गुण आ जायेंगे जो ईश्वर के गुण हैं। यदि साधना करने के पश्चात् आपके भीतर में दैवीगुण उत्पन्न नहीं होते हैं, तो आपकी साधना में कहीं कमजोरी है और इस कमजोरी के लिए आप अपने गुरु को भी दोष दे सकते हैं।

मैं पुराने अभ्यासियों से निवेदन करूँगा कि जो साधन आपको दीक्षा देते वक्त बताया गया है उसके साथ इस अभ्यास को भी और बढ़ाइये। इस अभ्यास को बढ़ाने से आप अनुभव करेंगे कि आप प्रत्येक व्यक्ति में अपने इष्टदेव के दर्शन कर पायेंगे। आपकी द्रष्टि ईश्वरमय या

गुरुमय हो जायेगी। ईश्वर की उपस्थिति का भान प्रतिक्षण होने लगेगा। भीतर में एक प्रकार की शांति की अनुभूति होने लगेगी। पहले यह अनुभूति बाहर शरीर पर होगी। धीरे-धीरे जब शरीर सूक्ष्म होता चला जायेगा, मन स्थिर होने लगेगा, इसकी अनुभूति भीतर में भी होने लगेगी। मन तब स्थिर होता है जब यह पवित्र होता है, शुद्ध होता है, सात्विकता एवं सत्यता को अपनाता है। भीतर की अनुभूति और बाहर की अनुभूति मिलकर एक योग की स्थिति उत्पन्न कर देती है। योग का मतलब है - मिलन। हम ईश्वर से बिछुड़े हुए हैं, हमारी आत्मा ईश्वर से बिछुड़ी हुई है। मन में बीच में एक दीवार खड़ी कर दी है। जब यह दीवार टूट जायेगी तो आत्मा और परमात्मा एक हो जायेंगे। ईश्वर की अनुभूति हो जायेगी

आनन्द भी हो परन्तु चरित्र निर्माण भी साथ-साथ हो। भीतर में क्रान्ति भी आये। जो गुण ईश्वर के हैं, हमारे इष्टदेव के हैं, वे गुण हमारे अन्दर आने चाहिये। विचार करें कि क्या बात है यह परिवर्तन क्यों नहीं आ रहा? सबसे बुरा अवगुण प्रमाद का है। हम ईश्वर की स्मृति भूल जाते हैं। इसीलिये महापुरुषों ने कहा है कि ईश्वर की स्मृति ही जीवन है, विस्मृति मृत्यु है। जीवन का अर्थ क्या है? जब हम ईश्वर का स्मरण करते हैं तो मन की दीवार टूट जाती है और आत्मा परमात्मा एक हो जाते हैं, उसकी अनुभूति होती है। स्मृति का मतलब है कि जैसे ही हम ईश्वर के नाम का स्मरण करें, ईश्वर के गुण और स्वभाव हमारे रोम-रोम में अंकित हो उठें, हमारा सारा शरीर रोमान्चित हो उठे, सब ईश्वरमय प्रतीत होने लगे, सब में ईश्वर के दर्शन हों, उसकी अनुभूति हो। ईश्वर के गुण हैं - "सत-चित-आनन्द"। हमारी भी स्थिति "सत-चित-आनन्द" हो जाय।

सीधा-साधा व्यक्ति इन बातों को बहुत ज़ल्दी पकड़ लेता है और उसको अनुभूति शीघ्रता से होती है। परन्तु जो बुद्धिजीवी लोग हैं उनके मन में संकल्प-विकल्प अधिक उठते हैं, तर्क अधिक होता है। बात को वैज्ञानिक स्तर पर तौल कर फिर कहीं मानते हैं। परन्तु यदि एक बार वे किसी बात को पकड़ लेते हैं तो फिर उसे कभी नहीं छोड़ते। अब मैं जो आपकी सेवा में निवेदन कर रहा हूँ उसको तब मानिए जब आपको इसकी अनुभूति हो जाय। इस पर तनिक विचार करके उस पर थोड़ा सा अभ्यास करके देखें। अनुभूति प्रत्येक व्यक्ति को अवश्य होनी चाहिये।

ईश्वर की कृपा इतनी अधिक बरस रही है कि हम लोग इसकी परवाह नहीं करते। ईश्वर कृपा का आनन्द लेने के लिए दो - तीन बातें करनी होंगी। यदि पूर्ण लाभ लेना चाहते हैं तो शरीर को स्वस्थ रखने का प्रयास करें। आम भ्रम है युवकों में कि युवावस्था में ईश्वर का नाम लेने की क्या आवश्यकता है, जब बूढ़े होंगे तब ऐसा काम कर लेंगे। और बृद्धजन कहते हैं कि बुढ़ापे में स्वास्थ्य की तरफ ध्यान देने की क्या आवश्यकता है, अब तो मौत सामने खड़ी है। दोनों ग़लती पर हैं। सब सदगुणों के समूह का नाम 'ईश्वर' है। सदगुणों को अपनाने से हमारे भीतर में शान्ति, आनन्द तथा सुःख का अनुभव होता है। इसमें क्या आपत्ति है ? इसी तरह बुढ़ापे में लोगों के शरीर में दर्द, पीड़ाएँ होती हैं। मोतिया उतर आता है, दिखाई नहीं देता। साधना करने बैठते हैं, आसन नहीं लगता, बात- बात में क्रोध आ जाता है जहाँ तक हो सके प्रत्येक व्यक्ति को अपना स्वास्थ्य ठीक रखना चाहिये। यह भी पूजा का एक अंग है। अस्वस्थ शरीर, अस्वस्थ मन - यही नर्क है। ईश्वर के समीप जाने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने शरीर को स्वस्थ रखें। स्वस्थ शरीर ही साधना कर सकता है। कम खाना चाहिये, कम सोना चाहिये, कम बोलना चाहिये। भोजन सात्विक, पौष्टिक एवं तुरन्त हज़म होने वाला हो। शराब, तम्बाकू आदि से परहेज़ करना चाहिये। अपने व्यवसाय के अनुसार यथायोग्य व्यायाम या सैर करनी चाहिये। शरीर स्वस्थ रखना - यह भी पूजा का एक महत्वपूर्ण अंग है। जिसका शरीर स्वस्थ नहीं, मन स्वस्थ नहीं, वह भीतर में प्रसन्न नहीं रह सकता।

उसके बाद मन को पवित्र करिए। हम गंगा और अन्य पवित्र स्थानों पर स्नान करने जाते हैं कि वहाँ स्नान करने से हम पवित्र हो जायेंगे। बाहर की पवित्रता है, इसका भी अपना स्थान है। परन्तु भीतर में भी पवित्रता होनी चाहिये। भीतर में राग -द्वेष की भावना न हो, घृणा और ईर्ष्या की भावना न हो। झूठ बोलने की, किसी को हानि पहुँचाने की, आदत न हो। भीतर में प्रेम की ज्योति प्रकाशित या विकसित होती रह। सबसे प्रेम करें क्योंकि प्रेम सर्वव्यापक है। आपकी दृष्टि ऐसी होनी चाहिये कि सब में ईश्वर के दर्शन करें। जब सबमें ईश्वर के दर्शन करेंगे तो भीतर में बुराईयाँ अप्रयास ही खत्म होती चलीं जायेंगी। चित्त, बुद्धि एवं हृदय निर्मल होने चाहिये। मन में कोई बुरी भावना न हो, चित्त में पुराने संस्कार न हों। बुद्धि तर्कमय न हो। जब हम इन तीनों से मुक्त हो जाते हैं तब कहीं पवित्रता आती है। भीतर में पवित्रता हो, तत्पश्चात् प्रसन्न रहने का प्रयास करें। विनोबा जी ने लिखा है कि प्रसन्नता के

अभ्यास से भी ईश्वर के दर्शन हो जाते हैं। प्रसन्नता सांसारिक वस्तुओं से नहीं। प्रसन्नता किसको आयेगी - जिसके भीतर में निर्मलता होगी, सन्तोष होगा, तृप्ति होगी। जिसके भीतर में सन्तोष होगा, वही तृप्त होगा प्रयास करने के पश्चात भी यदि इच्छित वस्तु की प्राप्ति नहीं होती तो ईश्वर की गति में अपनी गति को मिला देना चाहिये। सन्तोष हो और यह विचार हो कि प्रभु जो भी करते हैं वह हमारे हित के लिए ही करते हैं।

शरीर स्वस्थ है, मन निर्मल है, भीतर में प्रसन्नता है। निर्मल चित्त होने के बाद मन स्थिर हो जाता है, एकाग्र हो जाता है, संकल्प -बिकल्प नहीं रहते। संकल्प -बिकल्प से मुक्त स्थिति में ही प्रसन्नता की अनुभूति होती है। प्रसन्नता के बाद मानसिक शान्ति की अनुभूति होती है। तत्पश्चात आत्मा की अनुभूति होती है। यह कठिन काम नहीं है। थोड़ा सा प्रयास करने की आवश्यकता है। माताओं को अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखना चाहिये। बच्चों के स्वास्थ्य, उनकी प्रसन्नता, उनमें अच्छे गुण हों, उनके लिए घर में, परिवार में योग्य वतावरण बनाना चाहिये। कोशिश करें कि जहाँ तक हो सके आपका शरीर रोगी न हो, मन रोगी न हो। ईश्वर जिस परिस्थिति में रखे , उसमें हम सन्तुष्ट रहें। इन बातों का अभ्यास करें। आपको ईश्वर की अनुभूति हो सकती है, आत्मा का साक्षात्कार हो सकता है।

000000000000

राम संदेश : मई , 2009



साहिब में बन्दा तेरा

(ब्रह्मलीन परमसंत डॉ०करतारसिंह जी महाराज)

हमें अपने कर्तव्य के प्रति सदैव सजग रहकर सोचते रहना चाहिये। ईश्वर की याद निरन्तर बनी रहे। एक क्षणभर भी ईश्वर से पृथक नहीं होना चाहिये। महापुरुष कहते हैं- "आँखा जीवा, बिसरे मर जावा " , यानी स्मृति मेरा जीवन है तथा विस्मृति मेरी मृत्यु है " तू तू करता तू भया, मुझ में रही न हूँ आपा पिरका मिट गया, जित देखां तत तू" इस स्मृति का, इस याद का, इस साधना का परिणाम क्या है ? उसको (परमात्मा को) निरन्तर याद करें, उसके स्वरूप को, उसके गुणों को याद करें। उसकी जो कृपा हम पर बरस रही है, आनन्द की वृष्टि हो रही है, उसका स्मरण करें यही हमारे जीवन का लक्ष्य है।

आप परमात्मा के अंश हैं। परन्तु हम भूले हुए हैं। इस भूल से हमें मुक्ति प्राप्त करनी है तथा साधना करते हुए, उसको याद करते हुए - " तू -तू " करते हुए, हमें वही बनना है जो परमपिता परमात्मा है। वह आपका सहज स्वरूप है ही , परन्तु हम भूले हुए हैं। हमारा वास्तविक रूप है कि हम परमपिता परमात्मा के अंश हैं, परमात्म ही हैं। "तत्त्वमसि " तुम तो वो ही हो। क्यों भूले हुए हो कि तुम ब्रह्म हो, परमात्मा हो ? इस भूल को मिटाना है। परन्तु यह भूल कहाँ है ? हम माया में, सँसार के आकर्षण में फँस गये हैं।

हमारा शरीर भी फँसा है, मन और बुद्धि भी फँसे हैं हमारा पूर्ण अस्तित्व आत्ममय होते हुए भी अनात्मिकता में जीवन व्यतीत करता है। इस कारण हम दुःखी हैं। सत्संग में आकर हमें अपने आप को पहिचानना है । अपने कर्तव्य को देखना है। इस शरीर को छोड़ने से पहले हमें अपनी पहिचान करनी है। इसके लिए साधना की आवश्यकता है। साधना में हम आँख बंद करके जो तरीका हमें बताया गया है उसके अनुसार अभ्यास करते हैं, ठीक है, शुभ है । परन्तु हमें साधना के साथ -साथ अपने जीवन में भी सुधार लाना है । हमारा अंतःकरण हमारे पापों, हमारे कुकर्मों के कारण इतना मलीन हो चुका है। इसको धोना है, गँगा स्नान करना है, बाहर का नहीं भीतर का स्नान करना है।

हमारी संस्कृति के महान मार्गदर्शक भगवान कृष्ण ने गीता के 12 -वें अध्याय में 13- वें से लेकर 20-- वें श्लोकों में सच्चे भक्त के गुणों का वर्णन किया है। मैं बारम्बार आपसे निवेदन किया करता हूँ कि हमें स्वनिरीक्षण करके अपने दोषों, अपनी कमियों को सच्चाई के साथ देखना चाहिये। सँसार के साथ हम बेशक झूठ बोलते हैं, बोलते रहेंगे, उसका विशेष महत्व नहीं है। परन्तु हम तो स्वयं अपने साथ भी झूठ बोलते हैं ? हम स्वनिरीक्षण कर, सत्यता के साथ, अपने आपको देखें कि मेरे भीतर में कौन सी कमियाँ हैं कोई तीसरा आदमी नहीं देख सकता। गुरु महाराज फ़रमाया करते थे कि अपने अवगुणों को देखिये, प्रभु -चरणों में बैठकर रोड़ो। उन प्रेम अश्रुओं से जो गंगा - स्नान होगा उसके द्वारा आपके दोषों की निवृत्ति होगी।

गुणों का पहला श्लोक है - अद्वेष्ठ मैत्री। सँसार में जितने भी लोग हैं - मनुष्य, पशु , बनस्पति, पत्ते - सबके साथ मैत्री। किसी के साथ भी द्वेष भाव नहीं रखना। चाहें कोई व्यक्ति आपको कितना भी प्रकोप दे, आपके मन में उसके प्रति द्वेष न ह । शेख फरीद जी कहते हैं कि जो तुम्हारे साथ अत्याचार करे, मार - पीट करे, तुम उसके घर जाओ और उसके पाँव दबाओ। क्या हम ऐसा कर सकते हैं ? द्वेष भावना खत्म करने के लिए हमें बड़ी तपस्या करनी पड़ेगी। हम मित्रों के साथ प्रेम कर सकते हैं, परन्तु शत्रु के साथ मित्रता करना बड़ा कठिन है। हमारे मन से एक क्षण क्या पूरे जीवन भर द्वेष नहीं निकलता। हम तो सांसारिक व्यक्ति हैं , मेरा बड़ा अनुभव है कि अच्छे - अच्छे योगियों के मन से भी द्वेष भावना नहीं निकलती। हृदय में जब तक निर्मलता, स्वच्छता, कोमलता नहीं आयेगी, ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस हृदय में तो ईश्वर को रहना है। मलिन हृदय में ईश्वर की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

‘हज़रत ईसा भी यही कहते हैं - क्षमा करो, क्षमा करो/ अपने मित्रों को, पति अपनी पत्नि को, पत्नि अपने पति को, बाप बेटे को क्षमा करें। यही नहीं जो तुम्हें दुःख दें, उत्तेजना दें, तुमसे शत्रुता करें उनको क्षमा कर दो, उनसे प्रेम करो, उनकी सेवा करो। Love thy neighbour (अपने पड़ोसी से प्रेम करो) अपना चित्त निर्मल रखो - forgiveness, love, service(क्षमाशीलता, प्रेम और सेवा) " ना कोई बैरी, ना ही बेगाना, सगल संग हमको बन आई " हमारा कोई दुश्मन है ही नहीं। सारा विश्व ईश्वर -रूप है। जब हम किसी की सेवा करते हैं, किसी से प्रेम से बोलते हैं तो हम ईश्वर की सेवा करते हैं, ईश्वर से बोलते हैं। सारा सँसार ही हमारा मित्र है। हमने देखा है कि ईश्वर का प्रेम उत्पन्न होने पर लोग जाकर वृक्षों का

आलिंगन कर लेते हैं। हमारे देश में मूर्ति पूजा होती है। कौन कर सकता है पत्थर में भगवान के दर्शन ? हम कहते हैं - भगवान सर्वव्यापक हैं, तो पत्थर में भगवान क्यों नहीं हो सकते ? नामदेव जी पत्थर की मूर्ति को दूध पिला सकते हैं। धन्ना भक्त को सालिगराम जी में भगवान के दर्शन होते थे। ये किस्से कहानियाँ नहीं हैं। किस्से कहानियाँ तब मालुम होते हैं क्योंकि हमारा हृदय पत्थर है, इसमें कोमलता है ही नहीं, भगवान के प्रति मित्रता है ही नहीं। हमारे यहाँ पीपल, बड़, तुलसी जी की पूजा होती है। वो हृदय कितने कोमल हैं जो बनस्पति की भी पूजा करते हैं। ऐसे लोगों से हमें प्रेरणा मिलती है।

अहंकार हमारा सबसे बड़ा दुश्मन है, सबसे बड़ा रोग है। कोई व्यक्ति नहीं जिसमें अहंकार न हो। किसी में किसी प्रकार का अहंकार है, किसी में किसी प्रकार का अहंकार है। सच्ची दीनता किसी में है ही नहीं। प्रभु को दीनता अति प्रिय है। ये अहंकार छोटे -मोटे व्यक्ति तो क्या, बड़े -बड़े व्यक्ति को भी अपना शिकार बना लेता है। हम हामी भरते हैं कि मैं ये हूँ, मेरा शरीर बलवान है, मैं सत्संगी हूँ। बहुत सारे लोग सत्संग का भी प्रचार करते हैं। मैं सत्संगी हूँ, ऐसा हमारे यहाँ बोला नहीं जाता। मौन साधन होता है, शब्दों का प्रयोग नहीं होता। हमारे व्यवहार से भले ही कोई समझ ले कि हम सत्संगी हैं, परन्तु हम प्रचार नहीं करते। हमारे यहाँ जो साधना है, जो रहने -सहने का तरीका है, इसको ' मलामते' कहते हैं। हमारे पूर्वज अपने आप पर कोई दोष लगा लेते थे ताकि लोग आकर्षित न हों, हमसे दूर रहें।

एक और गुण बतलाया है - सम दुःख -सुःख। हम सँसार में रहते हैं। सँसार में रहने पर दुःख भी आयेगा, सुःख भी आयेगा। हम सुःख में भी विचलित हो जाते हैं, दुःख में भी विचलित हो जाते हैं। जो व्यक्ति विचलित हो जाता है, उसके भीतर में स्थिरता नहीं रहती। उसको कभी भी साधना का लाभ नहीं हो सकता। सांसारिक यातना तो मिलेगी। हमारे जीवन का लक्ष्य है - परमात्मा की प्राप्ति। भगवान कहते हैं कि मेरे प्रेमी सुःख - दुःख दोनों ही अवस्थाओं में सम अवस्था में रहें। सच्चे जिज्ञासुओं की स्थिति समता की है। दुःख का कितना बड़ा तूफान आजाए, सुःख की कितनी ही वृष्टि हो जाए, सच्चा साधक सदा सम रहेगा।

महापुरुष भी कहते हैं कि बिना गुणों के भक्ति नहीं हो सकती - । " बिन गुण कीते भक्ति न होय"। ये रास्ता बड़ा कठिन है। अग्नि के ऊपर चलने का है। और कुछ नहीं तो

हमारे सत्संग में जो हमारे सत्संगी भाई -बहिन हैं उनके साथ तो हमारा प्रेम बढ़े। हम क्यों एक दूसरे के दोष देखते हैं ? जब हम किसी के दोष देखते हैं तो उस व्यक्ति को पीड़ा होती है कि फलां व्यक्ति मेरे में दोष देखता है। लेकिन उसको भी उचित होगा कि वह मनन करे कि मेरे में कौन से अवगुण हैं और उन अवगुणों से दूर होने की चेष्टा करे। उसको तो ऐसा करना चाहिये। परन्तु हमारे लिए और भी अनुचित है कि हम कौओं की तरह दूसरे के अवगुण देखें। आप मेरे सच्चे मित्र तभी होंगे जब आप मुझे बतायेंगे कि मेरे में ये दोष हैं। मेरी सच्ची साधना यह होगी कि आप मेरे जो दोष बतायेंगे उन्हें मैं दूर करने का प्रयास करूँगा, ये मेरी साधना है।

आप यहाँ (भण्डारे में) आये हैं, स्वनिरीक्षण करते हुए अपने मोह को त्यागने की कोशिश करें तथा सदगुणों को अपनाने का अभ्यास करें। सत्संग के बाद जितना समय आपको मिले, बातें मत करें और खास तौर पर बुरी बात तो बिलकुल मत करिये। जितना समय आपको मिलता है, ईश्वर की याद में रहिए, नाम लेते रहिए। बेशक आपकी आँखें खुली रहें, ज़रूरी नहीं कि आँखें बंद करके करें। ईश्वर की उपस्थिति का भान बना रहे। ईश्वर की कृपा बरस रही है। इस कृपा - वृष्टि का भान सदा बना रहे। अन्दर से भगवान का जो नाम आप लेते हैं, लेते रहिये। लगातार प्रवाह चलता रहे। भण्डारे में आने का मतलब यहीं है कि एक क्षण की भी विस्मृति न हो। " आँखा जीवां बिसरे मर जावां "/- स्मृति मेरा जीवन है, विस्मृति मेरी मृत्यु है।" स्मृति का मतलब है कि मेरा सम्बन्ध मेरे इष्ट देवता के साथ, मेरे परमात्मा से जुड़ा है। इसीलिये मैं बार -बार निवेदन कर रहा हूँ कि जो वृष्टि हम पर हो रही है उसका अनुभव आप खाते -पीते, बोलते -चालते, सोते -जागते, चलते -फिरते - प्रतिक्षण करते रहिए। उस कृपा-वृष्टि से वंचित न हों। शुक्र है, शुक्र है, शुक्र है।

ॐ राम, ॐ राम, ॐ राम बड़ी दीनता के साथ, मधुरता के साथ, सरलता के साथ, ईश्वर को याद करें। यही गंगा स्नान है, यही भण्डारे का लाभ है। वो जीव भाग्यशाली हैं जिनको यह मनुष्य चोला, ये शरीर मिलता है। किन्तु हम लोग इस शरीर की प्राप्ति के लिए, परमात्मा की ओर से इस पवित्र उपहार के लिए कृतज्ञ नहीं होते और इस का सदुपयोग नहीं करते। शरीर के साथ इंद्रियां भी होती हैं। शरीर तो मिला है कि हम साधना करें। अपनी आत्मा को परमात्मा में विलय कर दें ताकि जन्म -मरण के चक्कर से हमेशा - हमेशा के लिए छुटकारा मिल जाय। परन्तु मनुष्य इन इंद्रियों के भोगों में फँस जाता है और अपने जीवन के लक्ष्य,

अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति, को भूल जाता है। कोई जिव्ह्या के रस में फँसा है, कोई आँख के दृश्यों में फँसा है, कोई अपने कानों से निन्दा -स्तुति सुनता है। ये मुख्य इन्द्रियाँ हैं। बाकी इंद्रियां भी फंसाने वाली हैं। हम सब इन्द्रियों के सुःख में, शरीर के आराम और सुःख में फँसे हुए हैं।

हम इन इंद्रियों में इतने फँस गये हैं कि हम अपने कर्तव्य को जो हम ईश्वर से कह कर आए थे कि जिस वक्त हमें मनुष्य चोला मिल जायेगा तो हम निर्मल होकर, गंगा स्नान कर, सदगुणों को अपना कर, घोर तपस्या कर, अपनी आत्मा को परमात्मा के चरणों में विलय कर देंगे, भूल गये हैं। हम अज्ञान रूपी माया में फँस जाते हैं और अपने लक्ष्य को भूल जाते हैं। यह किसी एक व्यक्ति का दोष नहीं, हम सबका दोष है।

आप सब भाग्यवान हैं कि आपको मनुष्य चोला मिला है। इसी चोले में आप अपने आप को पहिचान सकते हैं। Know thyself। महर्षि रमण कहते हैं - "अपने आपको जानो कि आप कौन हैं, शरीर हैं, प्राण हैं, मन, बुद्धि आनन्द हैं या क्या हैं ?

यह सँसार परीक्षा-क्षेत्र है। हम अज्ञान में या माया में इतने अधिक फँसे हुए हैं कि अपने कर्तव्य के प्रति ही सोये हुए हैं। आप अपने सारे दिन का जीवन देखिए कि क्या है ? बोलते हैं तो जुबान का रस लेते हैं, खाते हैं तो जुबान का रस लेते हैं। किसी की बुराई देखकर उसकी निन्दा करते हैं। कानों से बुराई सुनते हैं। आँखों से बुरी -भली चीजें देखते हैं। नाक से सुगंधि आदि लेते हैं। शरीर के स्पर्श से आनन्द महसूस करते हैं। हम सब इन इंद्रियों के सुःख -दुःख में फँसे हुए अपना पवित्र -कीमती समय खो देते हैं। बड़े -बड़े ऋषि -मुनि, देवता, गुरु आते हैं, हमें चेतावनी देते हैं। हमें अपने कर्तव्य के प्रति सचेत होना चाहिये।

महात्मा गाँधी के आश्रम में सुबह यह भजन पढ़ा जाता था - " उठ जाग मुसाफिर भोर भई ।।।।।"। यानी जीवन में भोर 'सुबह ' हुई है, बड़े भाग्य हैं। उठकर भगवान का नाम लो। कहाँ सो रहें हो बिस्तर में। महापुरुष हमें चेतावनी देते हैं। लेकिन जब सूर्य उदय होने का समय होता है, या उससे पहले, उसी वक्त व्यक्ति को प्रमाद आता है। थोड़ा और सो लें। प्रमाद जीव का स्वभाव है। सूर्य उदय हो जाता है। धूप निकल आती है। दफ़्तर का समय हो जाता है। परमात्मा कहाँ है ? पता नहीं। इन्हीं बातों में मनुष्य फँसा रहता है। जो उसका कर्तव्य है, उसका धर्म है उसे भूल जाता है। जागते हुए भी मनुष्य सोता रहता है।

यही बात मैं आज सुबह से आपकी सेवा में निवेदन करता आ रहा हूँ। हम अपनी प्रगाढ़ -निद्रा से जागें,अपने लक्ष्य के प्रति जागरूक हों। महापुरुष कहते हैं कि अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अपने जीवन की बाज़ी लगा देनी चाहिये। ध्रुव को जब उसके जगत -पिता ने अपनी गोद में नहीं बैठाया तो वह अपनी तपस्या के बल से अपने सच्चे पिता की गोद में जा बैठा और ध्रुव तारे के रूप में आज भी आकाश में प्रकाशित है। जो भी व्यक्ति अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक हो वह ध्रुव -सफलता प्राप्त कर सकता है। हममें पुरुषार्थ की कमी है। अपने कर्तव्य के प्रति हमारी जो प्रगाढ़ निद्रा है, उसके प्रति हमें जागरूक होना चाहिये। भगवान के जो शब्द आज सुने हैं, उन पर मनन करें, निध्यासन करें। ये मानव शरीर बार -बार नहीं मिलता। हज़ारों -लाखों वर्ष लगते हैं इस मनुष्य चोला को पुनः प्राप्त करने में। ईश्वर का शांति पाठ किया, पवित्र उपदेश सुना।तो सत्संग में आने का लाभ तभी होगा जब हम इन बातों को ध्यान से सुनकर इन पर मनन करेंगे और इस उपदेश को अपने जीवन में उतारने का प्रयास करेंगे। ईश्वर आपको शक्ति प्रदान करें ।

00000000000000



रहनी - सहनी का ठीक करना
 अपने ख्यालों को हमेशा शुद्ध करते जाओ . ख्यालों पर क़ाबू पाने की कोशिश करो. बुद्धि को दुनियावी ख्यालों से हटा कर संतों की वाणी , शास्त्रों के उपदेश और परमात्मा के नाम में लगाओ.मन कई ख्वाहिशात पर क़ाबू पाओ और उसको गुरु के ध्यान में लगाओ . इंद्रियों का आचार ठीक करो. कोशिश करो कि इन्द्रियां दुनियावी गिलाजत (गंदिगी देखने के वजाय हर जगह ईश्वर को देखें . यही रहनी - सहनी का ठीक करना है .

महात्मा डॉ . श्रीकृष्ण लाल जी महाराज



सुःख - दुःख

“ पाँच तत्त को तनु रचिओ जानहु चतुर सुजान

जिह ते उपजिओ नानका लीन ताहि में मान ”

यह शरीर पाँच तत्वों- आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी, का बना हुआ है। जब इसकी मृत्यु होती है, तब ये पाँचों तत्व पंच-महाभूतों में मिल जाते हैं। भाव आकाश में, जल जल में, अग्नि अग्नि में, आदि। प्रश्न उठता है कि इन तत्वों को चलाने वाला कौन है? ये सब आत्मा से बल लेते हैं। यदि आत्मा न हो तो तत्व निर्बल हो जाते हैं। आत्मा के ऊपर आवरण पड़ा हुआ है, वह जीवात्मा कहलाता है और इसी जीवात्मा की उत्पत्ति होती रहती है। जैसे - जैसे कर्म होते हैं वैसे - वैसे ही जीव की उत्पत्ति होती है। बुरे कर्म करने वाले पशु योनी को प्राप्त होते हैं। शुभ कर्मों वाले अच्छी योनियों को प्राप्त होते हैं, आदि। परन्तु मोक्ष प्राप्ति तभी होती है जब पाँचों तत्व अपने तत्वों में लीन हो जाते हैं और जीव आत्मस्वरूप होकर परमात्मा में लीन हो जाता है।

आत्मा या परमात्मा सर्व - व्यापक है। उसके बिना यह पाँच तत्वों का पुतला जड़ होता है। चेतनता मिलती है आत्मा की शक्ति से। महापुरुष कहते हैं कि भवसागर पार करने के लिए सर्व -व्यापक ईश्वर का नाम लेना चाहिये :

“ घटि - घटि में हरि जु बसे सन्तन कहिओ पुकारि

कहु नानक लिह भजु मना भौ निधि उतरहिं पारि / ”

मनुष्य यह अनुभव करता है कि वह पाँच तत्वों का ही पुतला है। वह अपने आप को आत्मा या परमात्मा से पृथक समझता है, यही उसकी भूल है। यदि वह इस भूल को अनुभव कर लेता है तब वह ज्ञान की ओर बढ़ता है और जब ऐसा ज्ञान पक्का हो जाता है तब वह आत्मस्वरूप हो जाता है। आत्मा के साक्षात्कार होने के पश्चात् उसे ईश्वर का पूर्ण ज्ञान हो

जाता है। इस स्थिति में आकर परमार्थी और ईश्वर में अभेदता आ जाती है। वह एक हो जाता है।

जब अभेदता आ जाती है तथा आत्मा में परमार्थी को सहज अवस्था प्राप्त हो जाती है, तब उसको सुःख-दुःख का आभास नहीं होता। दुःख से तो सब का मन विक्षिप्त हो जाता है परन्तु सुःख से भी प्रसन्नता के कारण मन में स्थिरता नहीं रहती। यही दुःख का कारण है। परन्तु सहज अवस्था प्राप्त परमार्थी को दोनों ही प्रभावित नहीं करते।

जब तक मनुष्य की सुरति, शरीर तथा मन पर अपना घर बनाए हुई है, तब तक इसको सुःख -दुःख अवश्य प्रतीत होते हैं। ज्ञान मार्ग पर चलने वाले साधु तितिक्षा की इस स्थिति तक पहुँच जाते हैं उनमें सहन शक्ति आ जाती है। सुःख - दुःख को वह सहन कर लेते हैं परन्तु उनको प्रतीत अवश्य होता है कि सुःख - दुःख क्या है ? जिन महापुरुषों ने आत्म साक्षात्कार कर लिया है उनको सुःख - दुःख का अनुभव ही नहीं होता। सुख - दुःख दोनों एक दूसरे से सापेक्षिक (relative) अवस्थाएँ हैं।

सुःख - दुःख माया की वस्तु है। इससे भी ऊपर एक अवस्था है जो "सुःख - रूप " कहलाती है। वह आत्मा का अपना रूप है। वही शिव रूप है। इसका अनुभव परमार्थी को स्वयं ही हो जाता है। यदि शरीर का दुःख अनुभव होता है तो उसकी सुरति अभी तक शरीर तक ही सीमित है। यदि अन्तर में दुःख या हर्ष होता है तब परमार्थी की सुरति मन पर अनुभव होती है। जब इन सब से परमार्थी मुक्त हो जाता है तब उसे न दुःख अनुभव होता है और न सुःख अनुभव होता है, जो हो रहा है वह ईश्वर की लीला है। तब जाकर आत्म -अनुभव होता है।

" फरीदा दुःख -सुःख इक कर दिलते लाहि विकार

अल्ला भावे सो भला तां लभी दरबार "

नानक देव जी फ़रमाते हैं -

" सुःख -दुःख जिह परसे नहीं लोभ मोह अभिमान

कहु नानक सुन रे मना सो मूरत भगवान ।।"

अर्थात् जो परमार्थी सुःख -दुःख में भेद प्रतीत नहीं करता या जिस पर सुःख - दुःख का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वह भगवान की स्वयं मूर्ति है। ऐसे पुरुष में न लोभ होता है, न मोह होता है, न अहंकार होता है। वह तो अनुभव करता है कि परमात्मा ही सब कुछ है। ऐसे व्यक्ति के वाह्य या अन्तर में किसी किस्म का कोई विक्षेप नहीं होता। वह सदैव शांत रहता है। किसी तरह की कोई उत्तेजना नहीं होती। यही शिव रूप या ईश्वर का वास्तविक रूप है। प्रकृति या माया में परिवर्तन आता रहता है। जिसमें परिवर्तन आएगा उसमें विक्षेप और उत्तेजना भी आयेगी। जिस मन में हलचल रहती है उसमें शांति कहाँ ? परमार्थी को शिव रूप बनना है, तभी माया या प्रकृति के कोप से बचाव होगा। जिसने आत्मा का साक्षात्कार कर लिया उसको तो सब ओर ईश्वर या अपना ही रूप अनुभव होता है। ऐसे महापुरुष की कोई निन्दा करे या स्तुति, उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। परमार्थी की यदि कोई तारीफ़ करे तो उसे अपने पथ से कुपथ नहीं होना चाहिये और यदि उसकी कोई निन्दा करे तो भी उसको अपना साहस नहीं छोड़ना चाहिये। लोग उसके लिए क्या कहते हैं, इसकी उसे परवाह नहीं होनी चाहिये। उसको तो महापुरुषों और ईश्वर की स्तुति करते रहना चाहिये और गुरुजनों के गुणों को अपनाना चाहिये। यदि अपने में कोई त्रुटि है तो उसे दूर करना चाहिए।

इस तरह जब परमार्थी अपने लक्ष्य पर पहुँच जाता है तो उस पर हर्ष या शोक कोई प्रभाव नहीं डालते। वह किसी को अपना विरोधी नहीं समझता, उसके सब अपने ही मित्र हैं।

“ हरख सोग जाके नहीं बैरी मीत समान - कहु नानक सुन रे मना मुक्ति ताहि ते जान ”

जिस मनुष्य ने माया का त्याग किया और वैराग को अपनाया है वही मनुष्य वास्तविक परमार्थ का अधिकारी है। यह कहना कि संतमत में त्याग और वैराग की आवश्यकता नहीं, भूल है। जो ऐसा कहता है वह प्रमादी (आलसी) है। पूर्ण सफलता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि प्रभु प्राप्ति के पथ में जो रुकावट आये उसका सामना किया जाए। यदि परमार्थी लोभ, मोह आदि की कीचड़ में फँस जाये तो उसको ज्ञान द्वारा वास्तविकता को समझकर कर उससे दूर रहना चाहिये।

सुहागिन

(ब्रह्मलीन परमसंत डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

" नानक सदा सोहागणी, जिन जोती जोत समाय "

सुहागिन उस स्त्री को कहते हैं जिसका पति कभी मरता नहीं। हमारा पति परमात्मा, अमर है। उसका न आदि है, न अन्त है। प्रभु से तदरूपता स्थापित करना ही वास्तव में सुहागिन बनना है। अपने आप को मिटा देना अर्थात् खुदी को खत्म कर, खुदा से मिल जाना ही सुहागिन बनना है। यह सम्भव कैसे हो ? मनुष्य के भीतर में कभी भी समाप्त न होने वाले जीवन अथवा कभी समाप्त न होने वाले सुःख की स्वाभाविक चाह छिपी है। वह मृत्यु रहित एवं कभी कम न होने वाले आनन्द से परिपूर्ण जीवन चाहता है। सांसारिक वस्तुओं को चाहें जितना प्राप्त कर लिया जाये, उनमें स्थायी सुःख व आनन्द नहीं है क्योंकि वे नशवर हैं।

भगवान राम को उदासीनता उत्पन्न हुई, वे चुप रहने लगे। उनके पिता महाराजा दशरथ को उनकी मानसिक दशा देखकर अत्याधिक दुःख हुआ। वह उनको साथ लेकर महर्षि वशिष्ठ के पास गये एवं निवेदन किया कि वे इस बालक को अपनी शरण में ले लें। वशिष्ठ जी ने भगवान से पूछा कि उनकी उदासीनता का कारण क्या है ?

भगवान राम ने निवेदन किया कि इस सँसार का सार क्या है ? इस प्रश्न ने मुझे अशांत किया हुआ है। यहाँ कोई भी वस्तु स्थायी रहने वाली नहीं है, हर वस्तु परिवर्तनशील है। परिणाम स्वरूप सर्वत्र दुःख ही दुःख व्याप्त हैं। इसलिए मन में शान्ति नहीं है।

महर्षि वशिष्ठ ने जो मार्ग हम सबकी प्रेरणा के लिये भगवान राम को बतलाया। उसमें चार बातें प्रमुख थीं - (१) सत्य, (२) संतोष, (३) विचार, एवं (४) शान्ति ।

इन्हें विस्तार से समझाने हेतु उन्हें उपदेश दिया - आप अभी तो बाल्यावस्था में हैं, पहले इन बातों के सार को भली प्रकार समझ लें, तत्पश्चात् संतुष्टि न होने पर भले ही घर बार छोड़ कर सन्यास लेने की बात सोचें ।

(१) सत्य : - सत्य के कई अर्थ हैं। एक तो यह कि कथनी और करनी में सच्चाई का व्यवहार । सत्य का वास्तविक अर्थ है आत्मा -परमात्मा के असली स्वरूप का ज्ञान। इसके अतिरिक्त अन्य सब माया है, अज्ञान है, मिथ्या है।

(२) संतोष : - संतोष के भी अनेक अर्थ हैं। प्रभु ने जिस हाल में रखा है उसमें संतुष्ट रहना, इसका सर्वश्रेष्ठ व्यवहारिक रूप है। अब प्रश्न यह उठता है कि जिसने प्रभु को देखा ही नहीं, वो कैसे संतुष्ट हो जायेगा ? यदि उसे दुःख हो रहा हो और आप कहें कि आप दुःखी ही रहो और इसी हाल में संतुष्ट रहो तो यह कहाँ तक संभव है ? एक महान दार्शनिक ने लिखा है कि - "मैं ऐसे परमात्मा को नहीं मानता हूँ जो संसार को दुःख देता है। " यह आधुनिक युग के पत्येक पढ़े - लिखे व्यक्ति की मानसिक दशा है।

इसे थोड़ा गहराई से सोचें कि वर्तमान में जो कुछ भी हम भोग रहे हैं, उसका कारण क्या है ? इसका भेद यही है कि हर परिणाम का कोई कारण होता है (for every effect there is a cause)। इस समय हम जो भी सुःख -दुःख भोग रहे हैं वो हमारे अपने पिछले संस्कारों के फलस्वरूप ही ह । हम बुराई के बदले बुराई और नेकी के बदले नेकी ही भोगते हैं, अर्थात् कारण तो हम स्वयं ही हैं। पूर्व में किए कार्यों का तो हमें ज्ञान नहीं होता। वर्तमान में उनका परिणाम भोगने पर हम दुःखी होते हैं। ये भोग तो हमें भोगने ही होंगे। गीता में भगवान कृष्ण ने अर्जुन को यही उपदेश दिया है।

अतः हमें अतीत को याद करके दुःखी नहीं होना चाहिये बल्कि वर्तमान में सतर्क रहना चाहिये कि और नए संस्कार न बनें ताकि भविष्य में और दुःख न मिले। करना यह है कि पुरानी गलतियों को , संस्कारों, को बार -बार याद करके दुःखी होने की अपेक्षा भविष्य के लिए सतर्क और जागरूक रहना चाहिये ताकि नये संस्कारों को बनने से रोका जा सके और इस दुःख से छुटकारा मिल जाए।

जो साधक इस अवस्था से ऊपर उठ जाते हैं उन्हें गुरुजन - "जेहि विधि राखे राम, तेहि विधि रहिये " - का सबक समझाते हैं -अर्थात् जिस स्थिति में, जिस तरह, भगवान हमें रखें, हमें उसमें सन्तुष्ट रहना चाहिये क्योंकि यह सब भगवान की ही लीला हो रहीं है।

जब साधक मन के स्थान से उठकर तुरिया अवस्था में जाता है तब यह भेद समझ में आता है कि सँसार में एक पता भी प्रभु की इच्छा के बगैर नहीं हिलता। यह बात साधना के उपरान्त तुरिया अवस्था में पहुँचने पर ही समझ में आती है। राम तो स्वयं भगवान ही थे, तथापि विपरीत होनी की दशा में उनकी उदासी देख कर महर्षि वशिष्ठ भी कह उठते हैं - " प्रभु, आप भी उदास हो रहे हैं ? वास्तव में यह सब लीला तो प्रभु ! आप ही की हैं/ आप तो सब जानते हैं फिर भी यह भोग आप भोग रहे हैं।"

कौन दुःखी है, कौन सुखी है ? ये दोनों परिस्थिति -सापेक्ष हैं, मन की ही अवस्थाएँ हैं। व्यक्ति जब आत्मा के स्थान पर पहुँच जाता है तो वहाँ ये सब बातें समाप्त हो जाती हैं। सुःख -दुःख तो अहंकार को भासता है। जब अहंकार अपने उदगम स्थान, आत्मा में लय हो जाता है तो उस आत्मिक अवस्था को समझना कठिन है क्योंकि यह विषय अनुभूति का है। भगवान कृष्ण ने गीता में दुःख -सुःख दोनों में सम -अवस्था में रहने को ही सन्तोष कहा है।

(३) विचार :- ज्ञान मार्ग में विचार से तात्पर्य है - "आत्म -विचार " । गीता में विचार से अर्थ है अपने गुरु से उपदेश सुनना , उस पर मनन करना, उसे अपने व्यवहार में विकसित करना। गुरु की बताई हुई बातों को हृदय में उतारना। भगवान राम को गुरु वशिष्ठ द्वारा ज्ञान की शिक्षा दी गई थी जिसका अर्थ है - "आत्म विचार " । आप विचार करें कि - "मैं कौन हूँ"? क्या मैं यह मन हूँ, शरीर हूँ, प्राण हूँ, बुद्धि हूँ, अहंकार हूँ या परमात्मा ही हूँ ? मेरे इस सँसार में आने का प्रयोजन क्या है और मेरा कर्तव्य क्या है ?

प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने आप को पहिचाने। "तत्त्वमसि " - तुम तो वही हो जो परमात्मा है। तुम यह शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार, आनन्द नहीं हो। तुम तो आत्मा हो - साक्षात् परमात्मा हो। - " मन तू जोत स्वरूप है, अपना मूल पहिचान।" मनुष्य जब ऐसा उपदेश सच्चे गुरु से सुनता है तो उसके मन में स्थिरता और शान्ति आ जाती है।

(४) शांति :- अशांत व्यक्ति आत्मा के आयाम में प्रवेश नहीं कर सकता। क्रोध की अवस्था में परमात्मा की अनुभूति असंभव है - जैसे १०५ डिग्री बुखार होने पर स्वादिष्ट भोजन भी रसहीन लगते हैं। 'शांति - शांति '- कहने मात्र से शांति नहीं मिल सकती। भगवान राम स्वयं तो शान्तिपूर्ण थे ही, उन्होंने हमें प्रेरणा देने के लिए ऐसी लीला की और हमें मार्गदर्शन कराने

के लिए ही वशिष्ठ जी ने उन्हें उपदेश दिया। शांति कब प्राप्त होगी ? पहले हमारा आचार - विचार शुद्ध होना चाहिये।

इस हेतु भगवान बुद्ध ने आठ तरीके बताए जिनमें से विशेष हैं - शुद्ध कमाई, शुद्ध विचार , शुद्ध वायुमण्ड , शुद्ध संगति, शुद्ध साधना/ शोषण व घूस की कमाई खाने वाला व्यक्ति कभीभी आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता। हमारे यहाँ यम - नियम हैं , बौद्धों में पंच- शील बताए गये हैं जैसे सत्य बोलना, हिंसा नहीं करना,आदि।

साधना के लिए जीवन को संवारने के लिए गंगा स्नान करें, भीतर में जो मलिनता है उसे धो डालें। जब तक अंतःकरण निर्मल नहीं बन जाता तब तक आत्मा का प्रकाश भीतर में विकसित नहीं होगा। बाहर से गुरु कुछ देने की कितनी ही कृपा करें, वह ग्रहण नहीं हो पायेगी। यदि बिना माझे हुए, बिना साफ किए बर्तन में दूध डाला जाये तो वह भी खराब हो जाता है ।

ज्ञान मार्ग के चार साधन बताये गये हैं - सत्य, सन्तोष, विचार एवं नाम अर्थात् ईश्वर के साथ अटूट प्रेम। प्रेम के अभाव में ज्ञान उदय नहीं होता और प्रेम के बिना भक्ति में रस नहीं आता। लोग कहते हैं कि भक्ति तो मन की साधना है, उसमें रस आ सकता है परन्तु ज्ञान साधना में रस नहीं आता। यह वास्तविकता नहीं है। ज्ञान साधना के साथ यदि हम प्रेम को अपनाते हैं, अर्थात् सब प्राणीमात्र में ईश्वर के दर्शन करते हुए उनसे सद्व्यवहार करते हैं तो हमारा जीवन आनन्दमय हो सकता है। हम जब पत्थर, वनस्पति, पशु, मनुष्य सब में ईश्वर के दर्शन करते हैं तथा सब की इसी भाव से सेवा करते हैं तो इससे बढ़ कर प्रेम और क्या होगा ? इसी भाव की अनुभूति होने पर ज्ञानी भी स्वाभाविक रूप से साधन करते - करते स्वयं प्रेमी बन जाता है, भक्त हो जाता है ।

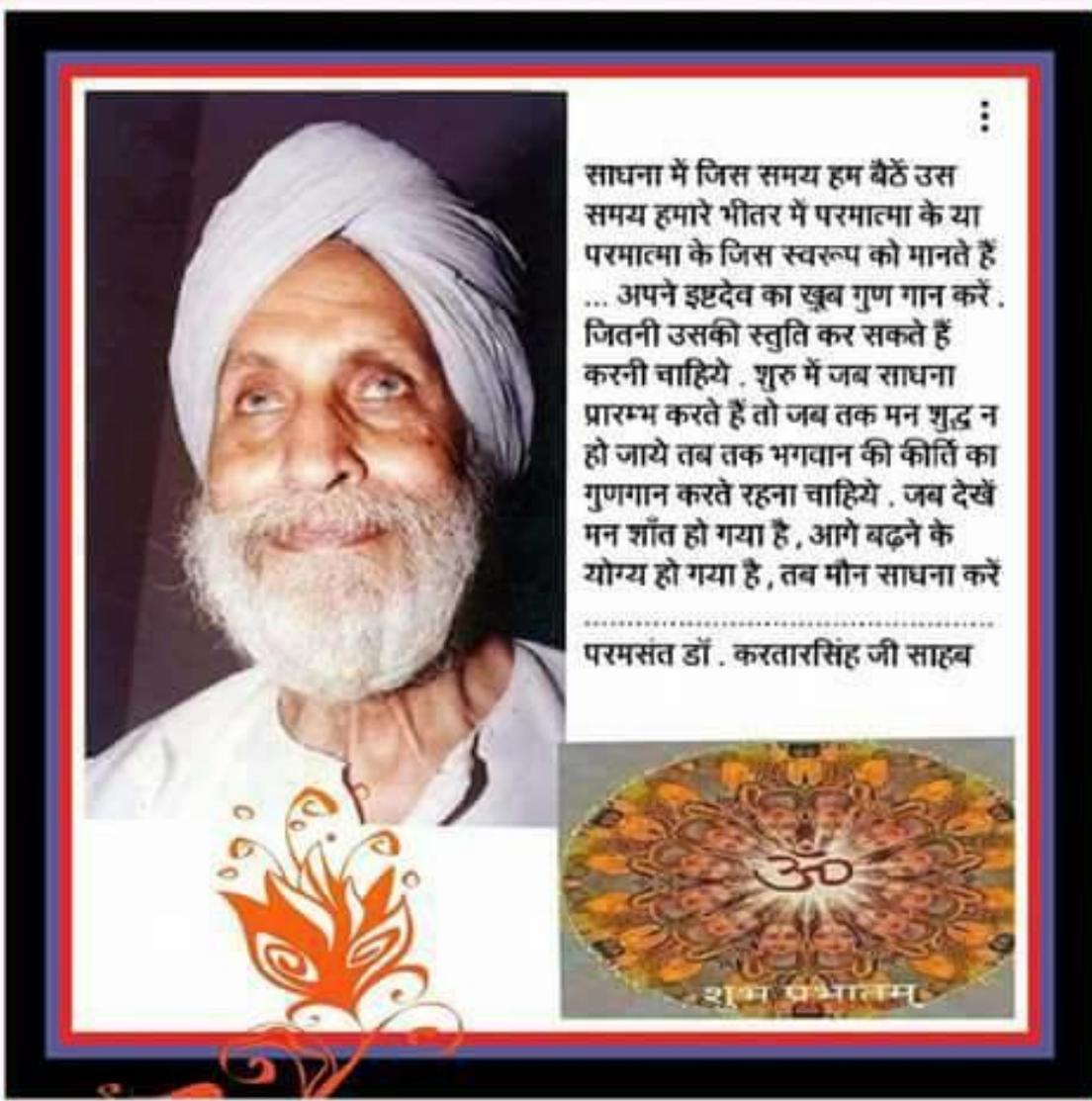
महर्षि अरविंद जी के अनुसार व्यक्तिगत मोक्ष भी एक स्वार्थ है। वह तो सारे सँसार को मोक्ष दिलाना चाहते थे। गुरु नानक देव जी का विचार था कि यदि कोई व्यक्ति ईश्वर स्वरूप हो जाता है तो उसके भीतर से ईश्वर प्रेम व आनन्द की तरंगें निकलती हैं और इन तरंगों से उस व्यक्ति के आसपास के वतावरण में सभी प्राणियों का उद्धार हो जाता है । पूज्य गुरु महाराज कहा करते थे कि जब किसी साधक को सफलता मिलती है तो उसके वंश की पिछली

सात पीढ़ी और आने वाली सात पीढ़ियों का उद्धार हो जाता है। ऐसे व्यक्ति के भीतर से ईश्वर प्रेम की रश्मियां सारे विश्व में फैल जाती हैं अप्रयास ही सारे वातावरण का उद्धार होता है।

हमारा प्रत्येक कर्म संसार की प्रसन्नता के लिये होना चाहिये। हमें मन, वचन और कर्म से दूसरों को सुख पहुंचाने का निरन्तर प्रयास करना चाहिये। एक सच्ची सुहागिन की भाँति अपने प्रियतम प्रभु की प्रसन्नता के लिए प्रभु के बनाये हर जीव की, बदले की आशा किये बिना, सेवा करके सुख पहुँचाना चाहिये ।

अपने गुरु के बताये हुए मार्ग पर चलते हुए, प्रभु से तादात्म्य स्थापित करना ही वास्तव में सुहागिन बनना है /

00000000000000000000



साधना में जिस समय हम बैठें उस समय हमारे भीतर में परमात्मा के या परमात्मा के जिस स्वरूप को मानते हैं ... अपने इष्टदेव का खूब गुण गान करें . जितनी उसकी स्तुति कर सकते हैं करनी चाहिये . शुरु में जब साधना प्रारम्भ करते हैं तो जब तक मन शुद्ध न हो जाये तब तक भगवान की कीर्ति का गुणगान करते रहना चाहिये . जब देखें मन शांत हो गया है , आगे बढ़ने के योग्य हो गया है , तब मौन साधना करें

परमसंत डॉ . करतारसिंह जी साहब

राम संदेश : सितम्बर १९८४

सेवा

(गुरुदेव डॉ० करतारसिंह जी साहब)

अंग्रेजी में कहते हैं " service leads us nearer to God "। सेवा करने से हम ईश्वर के समीप होते हैं। गुरु नानक देव कहते हैं कि ईश्वर के चरणों में वही व्यक्ति स्वीकार होगा जो सेवा का जीवन व्यतीत करेगा। भगवान कृष्ण गीता में समझाते हैं कि हमारा पूर्ण जीवन सेवा का रूप बन जाए अर्थात् हम ईश्वर में लय होकर कर्मक्षेत्र में जूँझें। हम जो भी कर्म हाथ पाँव से, मन से, ज़वान से करें, वे दूसरों के हित में हों, दूसरों की प्रसन्नता के लिए हों तथा उस कर्म और कर्मफल के साथ कोई असक्ति न हो।

हम किसी प्रकार की आशा न रखें। पूजा के रूप में, सेवा के रूप में, आराधना के रूप में, ईश्वर जैसे स्वयं ही आए हुए हों, प्रत्येक काम हम उसकी सेवा समझ कर करते रहें। हम सब पढ़ते हैं, सब जानते भी हैं परन्तु हमारी वृत्तियाँ, हमारे संस्कार ऐसे हैं कि हम जो भी काम करते हैं, आशा रख कर, इच्छा रख कर और अपने लाभ को सम्मुख रखकर ही करते हैं। ऐसा व्यक्ति चाहे कितने समय तक भी साधना करता रहे उसको फल तो मिलेगा क्योंकि प्रत्येक कर्म का फल होता है, परन्तु उसको दरगाह (ईश्वर के दरबार) में प्रवेश नहीं मिलेगा। यह जीवन मिला है ईश्वर प्राप्ति के लिये। गुरुदेव कहते हैं कि एक क्षण के लिए वह नाम मिल जाए यानी ईश्वर का प्रेम मिल जाए, ईश्वर का आशीर्वाद मिल जाए, ईश्वर हमें अपने चरणों में एक क्षण के लिए लगे लें तो हमारे जीवन में पूर्ण क्रांति आ जायेगी। ईश्वर चाहता है कि प्रत्येक व्यक्ति उसके रूप जैसा ही बन जाए, वैसा ही बन जाए जैसा वह स्वयं है। परन्तु मनुष्य ही वैसा नहीं बनता। आदिकाल से ही मनुष्य की वृत्ति प्रतिकूलता की और जाती रही है। ईश्वर या सदगुरु की कृपा जिस पर होती है वही इस रास्ते पर चलता है। बिना ईश्वर की कृपा के इस रास्ते पर नहीं चल सकता और बिना रास्ता चले ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसके लिए ईश्वर की या संतों की कृपा अति आवश्यक है। क्या ईश्वर या

सतगुरु की कृपा किसी अन्याय पर आधारित है ? नहीं , ईश्वर तो न्याय स्वरूप है , न्यायकारी है । कमी हमारे में होती है । केवल शारीरिक तौर से गुरु के पास रहने से या उनके दर्शन से कोई विशेष लाभ नहीं होता । जब तक व्यक्ति सतगुरु या परमात्मा के चरणों में मन से नहीं रहता उसको विशेष लाभ नहीं होता । सेवा के तीन अर्थ हैं , तीन रूप हैं । हाथ -पाँव से सेवा करना अच्छा है , पैसे से सेवा करना उससे कम दर्जा रखती है । लाला जी (परमसंत महात्मा रामचंद्र जी) के मुखार बिंद से निकले हुए शब्द यह हैं कि जो गुरु के आदेशों के अनुसार चलता है और अपना जीवन बनाता है , तन , मन , धन उन्हीं का समझते हुए उनके आदेशों के अनुसार चलता है , वही सच्ची सेवा करता है ।

हमारे यहाँ आँख बंद करके बैठ जाने (साधना करने) पर विशेष महत्व नहीं है । वास्तविकता यह है कि हमारा मन कोमल बनना चाहिये । इसमें करुणा उत्पन्न होनी चाहिये , इसमें प्रेम उत्पन्न होना चाहिये , दया उत्पन्न होनी चाहिये और बिना सेवा के ये गुण उत्पन्न नहीं हो सकते । साधना करना अच्छी चीज़ है । ईश्वर का नाम जितना भी लें उतना ही थोड़ा है । परंतु नाम लेते लेते यदि हम अभिमानी हो जाते हैं , हठी हो जाते हैं , हम ईर्ष्या रखते हैं , द्वेष रखते हैं तो यह नाम लेना नहीं है । इसीलिये सभी महापुरुषों ने सेवा को ही आधार बनाया है । सेवा को ही मुख्य रखा है । एक महापुरुष ने मुझसे पूछा कि क्या आपने गुरु महाराज की हाथ -पाँव से सेवा की ? हमने कहा कि साहब , वह तो हमसे सेवा लेते ही नहीं थे । जो व्यक्ति हाथ -पाँव से सेवा नहीं करता सम्भावना है कि वह कोरा रह जायेगा । उसके भीतर में सच्ची दीनता नहीं आयेगी , कोमलता नहीं आयेगी । जिसके भीतर में दुःखी जीवों के प्रति दया और करुणा उत्पन्न नहीं होती , वह भले ही आँखें बन्द करके बैठा रहे , उसके अन्दर अहंकार उत्पन्न हो जाता है । सेवा भी दर्जे -ब -दर्जे बढ़ती चली जाती है । पहले माता -पिता की सेवा करते हैं , फिर अध्यापक की करते हैं , और जब गुरु की सेवा में आते हैं तो संसार की सेवा गुरु रूप समझ कर , ईश्वर रूप समझ कर करते हैं । गुरु महाराज का जीवन देखिए । डाक्टरी का व्यवसाय है । दस -दस , पंद्रह -पंद्रह दिन घर छोड़ कर चले जाते थे भाई -बहिनों की सेवा करने के लिए । दिल्ली के अस्पतालों के बरामदे में गरमी में बैठे रहते थे । अपना व्यवसाय खराब होता था । उन्हें इसकी चिन्ता नहीं थी । मुख्य ध्येय मन में यही रहता था कि जिस मरीज़ को लाये हैं उसका दुःख दूर हो जाय ।

अपनी जीवन को साधना रूप बनाना है और सर्वोत्तम सेवा यही है कि गुरु महाराज के आदेशों का बिना किसी संकोच के पालन करना । यह कहना कि परिस्थितियाँ ऐसी थी , उन्होंने तब ऐसा कहा था , अब वह परिस्थितियाँ नहीं हैं , अब ऐसा कर लें तो क्या हर्ज़ है , यह मन की सेवा है , गुरु की सेवा नहीं है । गुरु हमारे मन की बात जानते हैं कि हमारे अन्दर आज्ञा पालन का गुण आगया है या नहीं । जब तक हम स्वयं गुरु की आज्ञा का पालन नहीं करेंगे , हम दूसरों से कैसे आशा रख सकते हैं कि वह हमारी आज्ञा का पालन करेंगे ।

तो अति विस्तार से न कहता हुआ , शक्ति बाबू को मैं मुबारिकबाद देता हूँ । हमारे यहां रिवायत है कि जो गुरु के आदेश के अनुसार चलता है उसका दीन (परलोक) भी बनता है और उसकी दुनियाँ भी बनती है । पूज्य लालाजी महाराज को किसी व्यक्ति ने पूज्य गुरु महाराज के विषय में पत्र लिखा कि वह तो पारिवारिक जीवन में ही फँसे रहते हैं , यह कैसे आपके लाड़ले बेटे हैं ? पूज्य लालाजी महाराज गुरुदेव (डॉ । श्रीकृष्ण लालजी) को बहुत प्यार करते थे । उन्होंने उस पत्र लिखने वाले को समझाया कि हमारे यहां दो रास्ते हैं । संसार के सुखों को , भोगों को , वस्तुओं को उपभोग करते हुए , उसका सार समझते हुए , धीरे -धीरे उससे उपराम होते जाते हैं । और आगे लिखा कि मेरे यहां की तालीम यहीं सिखाती है और पूज्य गुरु महाराज का नाम (श्री कृष्ण) लेकर लिखा कि वह यही रास्ता अपना रहा है और उसको यह ज्ञान हो जायेगा कि ये जो सांसारिक वस्तुएँ हैं इनमें सार नहीं है । धीरे -धीरे उनको छोड़ता हुआ एक दिन ऐसा आयेगा कि वह सार को पकड़ेगा , ज्ञान को पकड़ेगा और आत्मस्वरूप हो जायेगा । खत लिखने वाले को लिखा कि यदि आपको यह रास्ता पसन्द है तो ठीक है , यदि आपको यह पसन्द नहीं है तो दूसरा रास्ता अपना लें अर्थात् जैसे ही आप आध्यात्म की ओर बढ़ें , आप सब कुछ त्याग कर संन्यासी हो जाएँ । यह दूसरा रास्ता कठिन है क्योंकि शरीर से तो त्याग हो जाता है परन्तु मन से त्याग नहीं होता और सच्चे संन्यासी सन्यास की दीक्षा तब तक नहीं देते जब तक व्यक्ति ब्रह्मचर्य , ग्रहस्थ और बानप्रस्थ आश्रम से निकल नहीं जाता अर्थात् जब उस व्यक्ति का मन सांसारिक वस्तुओं से विमुक्त हो जाता है तब जाकर सन्यास या त्याग की दीक्षा देते हैं । ऐसा नहीं कि जो गेरुए कपड़े पहिन ले वह त्यागी या संन्यासी हो गया । संन्यासी बनना है मन से ।

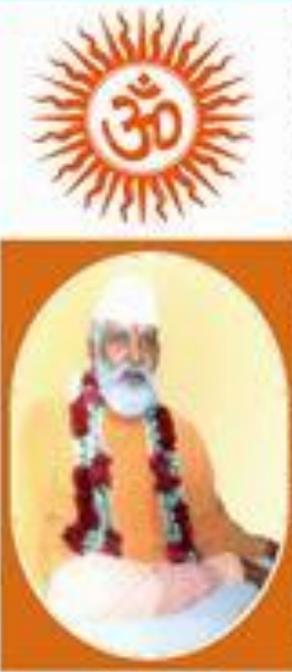
शक्ति बाबू पर पूज्य गुरु महाराज की विशेष कृपा थी । इसी प्रकार बेटी सीता पर भी । यह उन्हीं की इच्छा थी कि दोनों का योग हो । गुरु महाराज का शरीर तो अब है नहीं परन्तु उनका जैसा जीवन था , आदेश थे , उनका अनुसरण करना ही उनकी सेवा है । आपको सब प्रकार की खुशियां , प्रसन्नतायें प्राप्त हों सब मिलकर आशीर्वाद दें कि शक्ति बाबू , जैसा गुरु महाराज चाहते थे , जैसी आशायें वह हम सब से रखते थे , वे अपने जीवन में वैसे बन जायें । वास्तविक मकान जो बनना है वह तो हृदय का है । उसकी नीव गुरु महाराज ने रख दी है । और उस नीव पर मकान बनाना इनका काम है । शक्ति बाबू का स्वभाव बड़ी ही सेवा का भाव लिये हुए है । गुरु महाराज का आशीर्वाद उनके हृदय में अंकित है । जैसे वे पक्के दुनियादार बने और फिर दीनदार बने , वही आशा प्रिय शक्ति बाबू से हम सबकी है । इनके मन में बलिदान , सेवा , प्रेम , मधुरता सारे ही गुण , एक ओर सांसारिक और दूसरे योग्य संन्यासीयों के हैं । मेरी गुरु महाराज के पवित्र चरण कमलों में करबद्ध प्रार्थना है कि शक्ति बाबू को अपना मार्गदर्शन करते रहें । जो गुण उनमें थे उन गुणों से ये प्रेरणा लेते रहें और दुनिया भी खूब भोगें परन्तु गुरु देव की प्रसादी समझ कर तथा अपने व्यवसाय से गुरु महाराज की सेवा करते रहें ।

मेरा अपना अनुभव अब यह कहता है कि हमें भाईयों की सेवा की तरफ़ अधिक ध्यान देना चाहिये । प्रेम की तरफ़ अधिक ध्यान देना चाहिये । सेवा का ही दूसरा नाम प्रेम है । जब तक भीतर में प्रेम न हो व्यक्ति सेवा नहीं कर सकता । हृदय के मुरझाये कमल तभी खिलेंगे जब हम सेवा करेंगे , निष्काम भाव से , निर्मल भाव से । हृदय में निर्मलता होनी चाहिये , कोई आशा नहीं रखनी चाहिये । गुरु महाराज के बताए हुए रास्ते पर चलना है । उनका जीवन ही हमारा मार्गदर्शन करेगा ।

जो परमार्थ के रास्ते पर चला है उसको दूसरों की सेवा करनी चाहिए । पहले परिवार की सेवा करनी चाहिये । परिवार में कुशलता होनी चाहिये , आनन्द व प्रसन्नता का जीवन होना चाहिये । प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे को योगदान दे । परिवार में प्रसन्नता होगी तो हम बाहर भी सेवा कर पाएँगे। इसका विस्तार करते चले जाना चाहिये । आस पास -पड़ोस में जो दुःखी लोग हों या जो दुःखी लोग हमारे पास आवें , हमें उनकी सेवा करनी चाहिये । हमारा शरीर , बुद्धि , मन सब ईश्वर के चरणों में लग जाया हृदय में राम बसैं , मन में प्रेम हो , तन सेवा में लगा

हो -- ये तीन काम यदि हम कर सकें तो भगवान कृष्ण का गीता में जो आदेश है उसकी पूर्ति हो जाती है और कुरुक्षेत्र या धर्मक्षेत्र में हम विजय प्राप्त करते हैं । यही हमारे जीवन का लक्ष्य है । " मन जीते जग जीत " यानी संसार में रहकर अपने मन पर विजय प्राप्त करना है । मन पर तभी विजय प्राप्त कर सकेंगे जब इसको ईश्वर के गुणों के साथ रंग दिया जायेगा । ईश्वर का स्वभाव ही सेवा करना है। देखिए ईश्वर कितनी सेवा सारे संसार की करता है । हम परिवार की सेवा नहीं कर पाते । ईश्वर की पूजा करने का मतलब है कि ईश्वर के गुणों को सराहना और अपनाना । हमारे भीतर में भी ये गुण आने चाहिये । हमारा तन , मन , धन सबके लिए हो । वास्तव में हमारा है ही क्या ? ईश्वर की ही वस्तु ईश्वर के ही चरणों में अर्पण करनी है । जो इस जीवन में कर जाते हैं वो सफल होकर जाते हैं , जो तिजोरी में बन्द करके जाते हैं वह पीछे झगडे छोड़ कर जाते हैं । सेवा से मन में आनन्द मिलता है , एक सन्तोष मिलता है , तृप्ति मिलती है । परन्तु आज कल चारों ओर शोषण हो रहा है । जिज्ञासु जो इस रास्ते पर चला है , वह इसके असर से बच तो नहीं सकता है तब भी उसको प्रयास करना है कि इस जीवन रूपी यज्ञ में अपना सर्वस्व ही आहुति दे दें । जब तक मन साफ नहीं होगा , निर्मल नहीं होगा , तब तक मन में कोमलता नहीं आ सकती ।

XX



सब लोगों (अभ्यासियों) को अपनी हलत की समझ नहीं होती . जब तक कपड़ों का अथा अंश रज से निकलकर सत पर नहीं आ जाता , हलत का अंदाज़ नहीं होता . तब में आलस , कायेंद्रि भोग और गुरुसा बटुत होता है . रज में दीनी और दुनियावी स्वादितात होती है और मनुष्य उसके पूरा करने की कोशिश करता है . सत में धर्म से प्यार , इन्द्रिय दमन , दया और दान होता है . तीनों हलतों साथ - साथ रहती हैं , कभी किसी का उभार और कभी किसी का उभार होता रहता है . अभ्यास किए जाओ और परमात्मा से प्रार्थना किये जाओ .
(महात्मा डॉ. श्रीकृष्ण लाल जी द्वारा २९-१२-१९६१ को लिखे गये पत्र से)

राम सन्देश : जुलाई-सितम्बर, 2018

स्वभाव बदलो, सतवृत्ति अपनाओ

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ०करतारसिंह जी महाराज)

प्रत्येक अभ्यासी जब आता है तो कहता है कि उसका मन उसके वश में नहीं है, संकल्प-विकल्प उठते रहते हैं, साधना में मन नहीं लगता। साधना करने के लिए उत्साह और उमंग नहीं है। ये बातें साधना में बाधा डालती हैं। पूज्य गुरु महाराज के प्रवचन या अन्य महापुरुषों की जीवनियाँ पढ़कर हम चाहते हैं कि जो आंतरिक अवस्था उनकी थी, वह अवस्था थोड़े ही दिनों में हमारी भी हो जाये। चाह तो अच्छी है और परमपिता परमात्मा कृपा करें कि आप जैसा बनना चाहते हैं, वैसे बन जाएँ। परन्तु हमें वास्तविकता को भी देखना चाहिए। हमारे मन की क्या हालत है ? हमारे जीवन का विस्तार कैसे हुआ है ? कितने जन्म हमने इस जन्म से पूर्व लिए हैं, उन सबके संस्कार हमारे चित्त पर जमा हैं। इस जीवन में भी हम अपने विचारों के द्वारा और अधिक संस्कार एकत्रित करते जा रहे हैं।

साधना यह है कि हमें अपने चित्त को निर्मल करना है। मलिन बर्तन को माँजना है, साफ़ करना है। जितना कूड़ा-करकट हमारे भीतर में पड़ा है, वह सब हमें बाहर निकालना है। अपने भीतर के अवगुणों को देखकर हमें लज्जा आती है। समाज के सामने हम अपना कोई और रूप व्यक्त करते हैं, मगर भीतर में हम अपने आप को छिपा नहीं सकते। जब तक हमारा चित्त निर्मल नहीं होगा, हम सच्चे जिज्ञासु नहीं बन सकते।

चित्त निर्मल करने के दो मुख्य साधन हैं। एक है - भक्ति के द्वारा और दूसरा ज्ञान के द्वारा। भक्ति के साधन से मन निर्मल करने के लिए किसी महापुरुष की सेवा में जाते रहे। उनसे स्नेह करें, उनके जीवन का अनुसरण करें और उनके आदेशों का पालन करें। अपने आपको उनके चरणों में समर्पित कर दें, अर्थात् जैसा वे चाहें हम वैसा करें। अपनी मनमानी नहीं करें। उन महापुरुष की सेवा में बैठकर आपका यह मन धीरे-धीरे निर्मल होता चला जायेगा। हम सत्संग में भी जाते हैं, अपने पूज्य गुरुदेव के प्रवचन एवं पुस्तकें भी पढ़ते हैं, परन्तु व्यवहार में हम मनमानी करते हैं। हमारे स्वभाव में हठ है, जिद्द है, ईर्ष्या है, द्वेष है। सत्संग तो यह नहीं सिखाता। पूज्य गुरुदेव तो यह नहीं सिखाते। सत्संग का अर्थ है - 'सत' का संग। प्रेम का संग। प्रेम का हम संग करते हैं पर हमारे भीतर में ईर्ष्या है, द्वेष है, घृणा या

अन्य दूसरी बुरी भावनाएँ हैं - जैसे किसी का शोषण करना, किसी को गुमराह करना, जीवन में धर्म को छोड़कर अधर्म की कमाई करना, इत्यादि अनेकों अवगुण हैं। जिस व्यक्ति ने अपने आप को सत के या प्रेम के चरणों में समर्पित कर दिया है यदि उसमें ये बातें, ये अवगुण होते हैं, तो इसका मतलब है कि उसे अपने प्रीतम परमात्मा के प्रति श्रद्धा और विश्वास नहीं है। वह अपने इष्टदेव की बातों को मानने के लिए तैयार नहीं है और अपनी मनमानी करता है। हमारा यह मन साधना में बड़ी बाधा डालता है। इस मन को माँजना है। इसको वैसा बनाना है जैसे आपके गुरु हैं। इसे ईश्वरमय बनाना है।

पूज्य लालाजी महाराज कहते थे कि लोग-बाग कई प्रकार के तप करते हैं। अग्नि के सामने बैठ जाते हैं, तेज़ धूप, गर्मी में बैठ जाते हैं। ऐसा तप करना तो सरल है परन्तु इस मन को काबू में लाना बहुत कठिन है। इसके लिए तपस्या करनी पड़ती है, आहुति देनी पड़ती है।

ये साधारण बातें हैं कि काम, क्रोध आदि पर काबू पाओ। मन का जो अपना विशेष रूप है वह है 'अहंकार'। जो मैं सोचता हूँ वही ठीक है, जैसा मैं चाहता हूँ, संसार वैसा ही करो। यदि ऐसा नहीं होता तो हमें दुःख होता है। हम गुरुमत नहीं बनते। जैसा गुरु कहता है हम उसके अनुसार नहीं चलते, हम मनमत करते हैं। कौन करता है यह मनमत ? यह हमारा अहंकार है। मुसलमान लोग इसको 'मूज़ी' कहते हैं - गिरा हुआ। इसका प्रभाव किसी के भीतर में अधिक, किसी के में कम होता है, परन्तु कोई भी व्यक्ति इससे बचा नहीं है। हमसे अवगुण कराने वाला जो राजा है वह है - अहंकार। मन को माजने का अर्थ है कि हमें इन सबसे मुक्त होना है। अवगुणों से मुक्त इस मन को गुरु-प्रेम, ईश्वर-प्रेम अपने इष्टदेव के प्रेम से रंगना है। इस मन रूप चुनरी को इतना रंगना है कि इसमें एक भी दाग न रहे। हमारे भीतर में प्रेम ही प्रेम हो, सरलता ही सरलता हो, दीनता ही दीनता हो।

भक्ति या ज्ञान, कोई भी साधना जो आपको अच्छी लगे उसे अपना लें। परन्तु गम्भीरता के साथ, व्याकुलता के साथ अपनाएँ। क्योंकि यह मनुष्य शरीर बार-बार नहीं मिलेगा। हमारे खान-पान में, वाणी में, रहनी-सहनी में कितनी ही कमज़ोरियाँ हैं, बड़े ही अवगुण हैं। पाँच तत्वों की साधना करने से निवृत्ति नहीं मिलेगी। पूज्य दादा गुरुदेव का आदेश है कि पहले उन बुराइयों को लो जो साधारण हैं, जिन्हें आप आसानी से छोड़ सकते हैं। उनको छोड़ने में सफलता मिल

जाने पर हमें उत्साह मिलेगा। यदि अपने किसी बड़ी बुराई को लिया छोड़ने के लिए और वह नहीं छूटी तो आपको बड़ी निराशा होगी। निराशा इस मार्ग में बड़ी बाधा है। स्व-निरीक्षण करते रहें और किसी ऐसे महापुरुष के पास जाते रहें जिनके प्रति आपके मन में श्रद्धा है, जिनकी बात आप मानते हैं। उनका शारीरिक संग भी करें। वो सत-स्वरूप हैं, उनके श्री-चरणों में बैठें। उनके शरीर से सत की, पवित्रता की, निर्मलता की, प्रेम गंगा की शीतलता की, तरंगें, रश्मियाँ प्रतिक्षण निकलती रहती हैं। उनके पास बैठने से हम ईश्वर-प्रेम रूपी गंगा में स्नान करते हैं। हमारे अवगुण धीरे-धीरे धुलते चले जाते हैं। इसके साथ-साथ यदि हम उन महापुरुष के आदेशों का गम्भीरता के साथ पालन भी करें, तो हो सकता है की प्रभु आप पर कृपा करे और आपके सब अवगुण धीरे-धीरे धुलते जाएँ और आपका बर्तन, आपका चित्त मंज जाये, निर्मल हो जाये और उसमें ईश्वर का प्रेम भर कर आप ईश्वरमय हो जाएँ, आनन्द-रूप, आत्म-रूप बन जायें।

धर्म को अपनाना, आचरण को शुद्ध बनाना, सदविचार, सदव्यवहार, मधुर वाणी बोलना - ये साधना रूपी भवन की नींव हैं। जो कुछ आपके भीतर में होगा, वही बाहर भी व्यक्त होगा। यदि आपके भीतर में मधुरता होगी तो आपके बाहर भी मधुरता व्यक्त होगी। भीतर में यदि कोई विकार है तो आप कितनी ही कोशिश कर लें, वह आपकी वाणी और व्यवहार में व्यक्त हो ही जायेगा।

तो हमसे जो बुराइयाँ होती हैं, हमारे भीतर में जो कूड़ा-करकट, मलीनता भरी हुई है जिसके कारण हमें प्रभु के दर्शन नहीं होते, आत्मा की अनुभूति नहीं होती, उन त्रुटियों के कारण हमारे विचार बनते हैं, हमारी वाणी निकलती है, हमारा पतन होता है। साधन यही है कि हमारे विचार शुद्ध हों, पवित्र हों, ईश्वरमय हों, हमारी वाणी मधुर हो, हमारा व्यवहार दूसरों को सुख पहुँचाने वाला हो। प्रेम में आहुति दी जाती है, बलिदान दिया जाता है। अपने सुख की चिन्ता न हो, दूसरों को सुख, शान्ति, आनन्द मिले।

हमें अपने इस चित्त को खूब माँजना है। यदि संस्कार रह जाते हैं तो दूसरा जन्म अवश्य होगा। हम वहीं जायेंगे जहाँ हमारे संस्कार हमें ले जायेंगे। हमें अपना चित्त बिलकुल निर्मल करके यहाँ से जाना है। मोह नहीं, आत्मिक प्रेम उत्पन्न होना चाहिए जिसमें कोई विकार न हो, अतीत की स्मृति न हो। सादगी हो, ताज़गी हो, नवीनता हो।

तामसिक तथा राजसिक वृत्ति का त्याग करके 'सत' वृत्ति को अपनाना चाहिए। हम इन तीन गुणों से जकड़े हुए हैं - तमोगुण, रजोगुण और सतोगुण। यदि हमारे भीतर में 'तम' है तो हमारी वृत्तियाँ तमोगुणी हैं जिससे हमें खूब क्रोध आता है, बदले की भावना उठती है। रजोगुण यानी राजसिक वृत्ति वाला कभी तो सबसे प्रेम करता है, खूब सेवा करता है और कभी मामूली सी बात पर झगड़ा कर लेता है, यानी उसमें उतार-चढ़ाव आते रहते हैं - नेकी की तरफ भी और बुराई की तरफ भी। अधिकांश लोग राजसिक वृत्ति के होते हैं। सतोगुणी वृत्ति का व्यक्ति शान्त रहता है, वह दूसरों को दुःख नहीं पहुँचाता। परन्तु यह तीनों प्रकार के गुण बन्धन हैं। स्वामी रामकृष्ण जी कहते हैं कि तमोगुण लोहे की ज़न्जीर है, रजोगुण चाँदी की ज़न्जीर है और सतोगुण सोने की ज़न्जीर है। परन्तु ये तीनों ही बन्धन हैं। तीनों गुण खत्म होते हैं आत्मा में जाकर - 'सत्य' में। बाहर भी सत्य है, भीतर भी सत्य है। सत्य का ही दूसरा नाम 'प्रेम' है, आत्मिक आनन्द है। बौद्ध मत में संस्कारों को खत्म करना, विसर्जन करना ही 'मोक्ष' या 'निर्वाण' कहलाता है। हमें चाहिए कि हम तम और रज का त्याग करके सात्विक वृत्ति को अपनायें। जन्म-मरण के चक्र से वही व्यक्ति बचेगा जो सत स्वरूप हो जायेगा, जहाँ आत्मा ही आत्मा है।

सतवृत्ति के साथ अन्तर में कोमलता तथा सरलता आनी चाहिए। साधना करते-करते यदि हमारे हृदय में कोमलता नहीं आती तो हम अभी राजसिक वृत्ति में हैं। अपने सुख के लिए तो सभी इच्छुक होते हैं, परन्तु दूसरे को सुख, शान्ति, आनन्द और सन्तोष देना, तन-मब-धन से उसकी सेवा करना, जब हम ऐसा करते हैं तब हम कोमलता की ओर बढ़ते हैं। सारे संसार के लिए प्रार्थना करनी चाहिए - हे प्रभु! सबका भला हो। आप बच्चे की तरह सरल बन जायें। सबसे स्नेह लें, सबको स्नेह दें। हम भीतर में कुछ हैं और बाहर में कुछ और हैं। यह सरलता नहीं, बनावट है जो खत्म होनी चाहिए।

सत्य बोला जाये परन्तु उसके साथ हमारी वाणी कड़वी न हो। उसमें मिठास होनी चाहिए। सत्य वाणी के साथ यदि कड़वापन आता है तो सत्य का स्वरूप बिगड़ जाता है। आपके सत्य के कड़वेपन से दूसरे को इतना दुःख पहुँचता जिसका आपको अहसास नहीं होता। जब आप किसी से कठोर शब्द बोलते हैं तो आप ऐसा पाप करते हैं जैसे आपने किसी का बध कर दिया हो। राजसिक वृत्ति वाला व्यक्ति इन बातों की चिन्ता नहीं करता। दूसरों को दुःख देकर उसे आनन्द

मिलता है। परन्तु सात्विक वृत्ति वाला व्यक्ति स्वयं आप तो दुःख उठा लेता है, दूसरे को दुःख नहीं देता। हमारे शब्दों में मधुरता का संगीत होना चाहिए। यदि भीतर में मधुरता होगी तो आपको शान्ति का अनुभव होगा।

अपनी वाणी से किसी का दिल नहीं दुखाना चाहिए। यह बड़ा पाप है। कड़वे शब्दों में विष होता है। आपके कड़वे शब्द दूसरों को और स्वयं आपको भी जला देते हैं। सत्य में मधुरता छिपी है, अव्यक्त है, मनुष्य में जैसे परमपिता परमात्मा का स्वरूप निर्गुण और निराकार है परन्तु उसमें सगुण और साकार रूप छिपे हैं। परमात्मा भी हमको स्नेह करता है, प्यार करता है। भले ही हम अनुभव न करें। अहंकार के कारण हम उस स्नेह को स्वीकार नहीं करते।

मनुष्य में दूसरे का दुःख देखकर अपने अन्तर में दुःख उत्पन्न हो और यह भावना आये कि किसी तरह से उस दुखी मनुष्य को उसके दुःख से निवृत्ति दिलाई जाये। यह कोमलता हमारे व्यवहार में सहज हो जाये। अप्रयास ही हम दूसरों की सेवा करें। दूसरों को दुखी देखकर हम उनके दुखों की निवृत्ति करने का प्रयास करें। हम तो प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभु ! सबका भला करो, परन्तु हम यह प्रार्थना कभी नहीं करते कि सबका दुःख हमें दे दो और हमारा सुख औरों को दे दो। कितना ऊँचा आचरण है कि सबके दुःख मुझे दे दो ?

किसी को खुश देखकर मन में ईर्ष्या न आये, मनुष्य स्वयं अपने मन में हर्षित हो। यह हमारा स्वभाव बन जाये। यह ईर्ष्या कई रूप लेकर व्यक्त होती है। खास तौर पर यदि हमारा कोई रिश्तेदार आगे बढ़ जाता है तो मन में ऐसी ईर्ष्या आती है। सच्चे जिज्ञासु के मन में ऐसी वृत्ति उत्पन्न नहीं होती। वह दूसरों के सुख को देखकर सुखी होता है, और दूसरे के दुःख को देखकर दुखी होता है।

सबकी भलाई में मनुष्य अपनी भलाई समझे। यह गीता का, हमारे सारे साहित्य का सार है। जो ज्ञान साधना करते हैं वे अपने आपको कहते हैं - "मैं ब्रह्म हूँ"। ब्रह्म में सारा विश्व समाया हुआ है। विश्व का सारा सुख-दुःख मेरा ही है। आत्म-स्थित होकर उनको दुःख-सुख, गुण-अवगुण प्रभावित नहीं करते। वे सबको अपना ही समझते हैं। भक्त को कुछ प्रयास करना पड़ता है, साधना करनी पड़ती है। सच्चे जिज्ञासु को, जिसने सात्विक गुणों को अपना लिया है,

उसकी वृत्ति बन जाती है कि वह दूसरों को सुख पहुँचाने का प्रयास करे। वह दूसरे के दुःख में दुखी, दूसरे के सुख में हर्षित होता है। यह उसका स्वभाव बन जाता है।

गुरु महाराज का आदेश है कि सद्गुणों को अपनाते चले जाइये एवं ईश्वर को भूलें नहीं। ईश्वर के स्वरूप को कभी नहीं भूलें और ईश्वर के उन गुणों को भी न भूलें जिन्हें अपना कर हमें उनके चरणों में जाना है। राम के स्वरूप को अपने रोम-रोम में समाहित कर लें। तभी आप कह सकेंगे - "तन में राम, मन में राम, रोम-रोम में रामहि राम।"

जब ऐसी अवस्था परिपक्व हो जाती है तब परमार्थी वेग से परमार्थ की ओर बढ़ता है, और कुछ ही समय में वह आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है। जब मलीनता खत्म हो जाती है, सद्गुण आ जाते हैं, सतवृत्ति बन जाती है, ईश्वर-प्रेम को आप धारण कर लेते हैं, तब अधिक समय नहीं लगता। आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है, परमात्मा के दर्शन हो जाते हैं।

तो साधना में सद्गुणों को अपनायें। सदविचार, मधुर वाणी, सदव्यवहार हो और इनके साथ प्रभु की स्मृति बनी रहे। प्रभु के गुणों की स्मृति बार-बार करते रहें। परमात्मा के अनगिनत नाम हैं, अनगिनत गुण हैं। उसके जितने गुण आप याद करेंगे उतने ही वे गुण आपके भीतर अंकित होते जायेंगे। भक्ति में हम भाव बनाते हैं - पिता- पुत्र का, स्वामी-सेवक का, पति-पत्नी का, वात्सल्य का, प्रीतम-प्रेयसी का। जो भी भाव आपको अच्छा लगे, उस भाव को अपना लें। भक्ति में भगवन्त के चरणों में बैठकर उनकी सेवा करते हैं, उनका उपदेश सुनते हैं, उन पर मनन करते हैं। हमारे जीवन में मनन की कमी है। हमें मनन करना चाहिए और वैसा बनने का प्रयास करना चाहिए।

गुरुदेव हम सबको शक्ति दें कि जैसी गुरुदेव हमसे आशा रखते थे, हम वैसे बन जायें। हर माँ-बाप की एक ही इच्छा होती है कि उनकी सन्तान योग्य निकले, जो उनके नाम को बढ़ाये। संत इच्छा-मुक्त होते हैं। तब भी वे यही चाहते हैं। वह प्रेम द्वारा सेवा करके हम सबको स्वयं अपना जैसा बनाने का प्रयास करते हैं। हम भी उनमें श्रद्धा और विश्वास रख कर उनके जैसा बनने का प्रयास करें।

गुरुदेव सबका भला करें।

(अप्रैल 1986 अलवर)00000000

हम सब क्यों भीतर से दुःखी हैं ?

(ब्रह्मलीन परमसंत डॉंकरतारसिंह जी महाराज)

परमात्मा ने मनुष्य को अपना जैसा बनाया है अर्थात् मनुष्य में वे ही गुण हैं जो परमात्मा में हैं। अन्तर केवल मात्रा का है। प्रभु तो पावन स्वरूप हैं। दुःख -सुःख से निरन्तर अछूते रहते हैं। शिव भगवान की तस्बीर देखिए। उनके शीष से गंग -नीर बहता रहता है, प्रेम और ज्ञान बहता रहता है। उनके व्यवहार में कोई झंझट नहीं, किसी की कोई बुराई नहीं सबकी सेवा, सबको ज्ञान, प्रेम और आनन्द प्रदान करते रहते हैं।

हम सब क्यों भीतर से दुःखी हैं ? जो सत्संग में नहीं आते, उनके लिए तो कुछ कहना ही नहीं चाहिये परन्तु जो सत्संग में आते हैं और जो इस रास्ते पर चल पड़े हैं, वे क्यों दुःखी रहते हैं ? कारण इसका एक ही है। जो दुःख -सुःख से अछूता है, वह हमारी आत्मा है। हमारी आत्मा हमारे भीतर में है। उसके ऊपर आवरण हैं - शरीर का, प्राणों का, खुदी का आनन्द का। दुःख -सुःख को कौन अनुभव करता है ? हमारा यह अहंकार, मन, बुद्धि मिलकर। तो जब तक हम निजस्वरूप में, आत्मरूप में, स्थित नहीं होते, तब तक सुःख -दुःख का अनुभव होना स्वाभाविक ही है। इसमें किसी का दोष नहीं है।

जो व्यक्ति आत्मस्थित रहता है उसको दुःख -सुःख व्याप्त नहीं होता। इसका साधन क्या है ? आत्मा का साक्षात्कार करना या अपने स्वयं -रूप में स्थित होना या प्रभु के चरणों में रहना - इसके कई साधन हैं। भक्ति का साधन , प्रेम का साधन , योग -अष्टांग योग का साधन , वेदान्त का साधन , ज्ञान का साधन। ईश्वर के प्रति समर्पण के भी कई साधन हैं।

हमारे यहाँ प्रेम और भक्ति का साधन है। इसी में ज्ञान भी आ जाता है। स्वामी रामदास जी लिखते हैं कि केवल प्रभु का नाम लेने से ही यह स्थिति आ सकती है। वह केवल प्रभु का नाम लिया करते थे - " ओम श्री राम, जय राम, जय जय राम/" उन्होंने बड़ी दृढ़ता से लिखा है कि आत्मा का साक्षात्कार करने का मैंने कोई अन्य साधन नहीं किया। केवल नाम जाप से ही मुझे यह महान अवस्था प्राप्त हुई है। उनके कहने का मतलब यही था कि व्यक्ति केवल

नाम के उच्चारण से ही आत्मा का साक्षात्कार कर सकता है, परमात्मा के दर्शन प्राप्त कर सकता है।

परन्तु हम भी तो नाम लेते हैं, हमें साक्षात्कार क्यों नहीं होता ? हम तो अभी पहले ही चरण में नहीं आये हैं। हमारे में प्रभु के लिये कोई प्रेम नहीं है, उसमें कोई रुचि नहीं है। नाम के सुमिरन के साथ जब तक प्रभु के लिए तड़प नहीं होगी, तब तक कितना भी नाम लेते रहिये तोते की तरह, कुछ नहीं बनने का। जिसका नाम ले रहे हैं उसके दर्शन के लिए तड़प होनी चाहिये, उसके प्रति श्रद्धा और विश्वास होना चाहिये। संसार में आपके जितने भी स्वजन -सम्बन्धी हैं सबके साथ यथा -योग्य व्यवहार तो करना है परन्तु ईश्वर से अधिक किसी से भी प्रेम नहीं करना है। निरन्तर ईश्वर या गुरु की याद बनी रहे, वह भी प्रेम से, श्रद्धा से, विश्वास के साथ। जैसे सरल बच्चा, नवजात शिशु, माँ की गोद में सन्तुष्ट रहता है, उसी प्रकार हमें प्रभु के चरणों में रहना है। जो व्यक्ति इस तरह प्रभु के नाम का स्मरण करता है, उसे प्रभु के दर्शन हो सकते हैं। अपनी आत्मा का साक्षात्कार हो सकता है तथा संसार के जितने दुःख -सुःख हैं उनसे व्यक्ति मुक्त हो सकता है। ज्ञान कहता है - मूर्ख ! तू शरीर नहीं, तू तो आत्मा है। सुःख -दुःख तो आत्मा को नहीं होता। पर ज्ञान भी थोथा ज्ञान नहीं होना चाहिये, वास्तविक ज्ञान होना चाहिये। यानी मनुष्य को विज्ञानी होना चाहिये, ज्ञान की अनुभूति होनी चाहिये - /" में आत्मा हूँ " इसकी अनुभूति होनी चाहिये/ तभी वह कह सकता है " अहं ब्रह्मास्मि "।

हमारी स्थिति अज्ञान की है। हम भूले हुए हैं। हमारे में सच्ची प्रीति नहीं है। हम प्रेम साधना करते हैं, थोड़ा बहुत ज्ञान को समझते हैं मगर हम विज्ञानी नहीं हैं। हम तो किसी भी रास्ते पर सही तरीके से या गम्भीरता से नहीं चल रहे हैं। हम जब भी साधना करते हैं मौन में बैठते हैं। अपने आपको पूर्णतयः प्रभु के चरणों में, गुरु के चरणों में, समर्पण कर देते हैं। पर जो वास्तव में करना चाहिये वह करते नहीं। शरीर भी आपका, मन भी आपका, संसार की जितनी भी वस्तुएँ हैं, जिन्हें लोग कहते हैं "मेरी हैं", वो भी सब आपकी (ईश्वर की)। तो जब पूर्णतः सब कुछ समर्पण कर देते हैं तो फिर हमारे भीतर में आसक्ति क्यों रहती है ? 'यह सब मेरा है' - यह विचार बना रहता है। तो यह झूठा समर्पण है। गीता का यही सार है। जो व्यक्ति मोहासक्ति को छोड़ देता है, पूर्णतः भगवान के चरणों में समर्पण कर देता है उसको कुछ करने की आवश्यकता ही नहीं।

यह प्रेम साधना है। यदि आपका प्रेम गुरु के साथ है तो आपको कुछ करने की ज़रूरत ही क्या है ? सभी गुरु का है तो फिर दुःख -सुःख किसका होता है ? भीतर में बैठा हमारा अहंकार केवल ऊपर- ऊपर से कहता है, परन्तु वास्तव में यह समर्पण करता नहीं है, इसीलिये दुःखी है। संक्षेप में, सब दुःखों की निवृत्ति का एक ही साधन है कि हमें अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाय। जब तक ऐसा नहीं होता दुःख -सुःख की अनुभूति तो होगी ही। हम इस जन्म -मरण के चक्कर से कभी नहीं छूटेंगे। तो हम सब को अपने प्रति गंभीर होना होगा। जिस रास्ते पर हम चल रहे हैं उसके और निज स्वरूप के प्रति हमें गंभीर होना होगा कि हमारा लक्ष्य क्या है, हमारा आदर्श क्या है और उसकी प्राप्ति के लिये हम क्या कर रहे हैं ? आपका हमारा दोष नहीं है। अर्जुन को भी कठिनाई हुई थी भगवान के चरणों में समर्पण करने के लिए। हमारी वृत्ति, हमारे पिछले संस्कार ही ऐसे हैं कि जैसा समर्पण होना चाहिये वैसा हम नहीं कर पाते। इस समर्पण की तैयारी के लिये हमें पहले धर्म का आश्रय लेना होगा। अपने जीवन को अर्थात् अपने शरीर, मन, बुद्धि को, गुरु के आदेशों के अनुसार स्वस्थ रखना है। जिन्होंने गुरु दीक्षा नहीं ली है उनको चाहिये कि धर्म शास्त्र के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करें। प्रकृति के नियमों का पालन करें। धर्म के जितने नियम हैं - अर्थात् यम, नियम, सत्य बोलना, झूठ नहीं बोलना, हिंसा नहीं करना, सबसे प्रेम, सबकी सेवा, आदि, इन सबका पालन करना चाहिये। जिसका जीवन धर्म का नहीं है उसका परमार्थ नहीं बन सकता। यदि धर्म बन भी जाए परन्तु यदि गुरु के साथ या ईश्वर के साथ प्रेम नहीं है, उधर रुचि नहीं है, लगाव नहीं है, भाव नहीं है, तब भी व्यक्ति कोरा ही रह जाता है, खाली रह जाता है। यह रास्ता किसी तकनीक का नहीं है। यह रास्ता सरलता का, नज़ाकत का रास्ता है। इसमें विशेष गुणों की आवश्यकता है।

समर्पण कैसे होता है ? अपने आपको नम्र से नम्र, नीच, गरीब, आजिज़ बनाते हैं। हमारे में वह आजिज़ी कहाँ, वो गरीबी (दीनता) कहाँ है ? भाईयों के साथ, संसार के साथ , हमारा व्यवहार नम्रता का नहीं कठोरता का है। जिस व्यक्ति के भीतर कठोरता है, वह इस रास्ते का अधिकारी नहीं है चाहे वह ज्ञान साधना करता हो या भक्ति साधना करता हो। रास्ते दोनों ही ठीक हैं। महर्षि रमण कहा करते थे कि जिनकी जैसी वृत्ति होती है, जैसे पिछले संस्कार होते हैं उसके अनुसार व्यक्ति अपनी साधना अपना लेता है। उससे कहो कि अमुक साधना करो, वह कर ही नहीं पायेगा। तो गुरुजन जैसा जिस जिज्ञासु का स्वभाव होता है वैसी साधना उसको

बतला देते हैं। एक ही साधना सबको नहीं करनी हमें अन्तर में गुरु के दर्शन करने हैं, आत्मा का साक्षात्कार करना है, या ईश्वर के दर्शन करने हैं - तीनों बातें एक ही हैं।

इस आदर्श की प्राप्ति के लिए हमें गंभीरता से विचार करना चाहिये। पहले साधना में रुचि लाइए। संसार के सब भोगों, सब सम्बन्धों, सब विचारों को एक तरफ़ रख दीजिये। जिस प्रकार जल से निकाल देने पर मछली तड़पती है उसी प्रकार की तड़प हममें ईश्वर से मिलने की होनी चाहिये। जब तक हमारी ऐसी स्थिति नहीं होती तब तक हमें कुछ प्राप्त करने की आशा नहीं रखनी चाहिये। इससे कम में कुछ नहीं बनेगा। बच्चे, बूढ़े, नये या पुराने अभ्यासी सबको इसी आदर्श को अपने सम्मुख रखना चाहिये। आत्मा का साक्षात्कार ही असली प्रेम है। इसी में आनन्द है, शान्ति है।

गुरु महाराज ने एक प्रवचन में बताया है कि गुरु भक्ति कैसे की जाय। गुरु से प्रेम करने से तथा गुरु की भक्ति करने से भी आत्मा का साक्षात्कार हो सकता है, गुरु या परमात्मा के दर्शन हो सकते हैं।

पहले गुरु के शरीर की सेवा करते हैं। यह श्री गणेश है। जिस किसी को गुरु की शारीरिक सेवा करने का अवसर नहीं मिला, उसमें सरलता नहीं आयेगी। गुरुजन अपनी सेवा नहीं कराते। शरीर की सेवा बहुत कम कराते हैं। यदि गुरु की सेवा का अवसर न मिले तो भाइयों की सेवा करो, यह भी गुरु सेवा है। इसके बाद गुरु के, ईश्वर के, गुणों को सराहते हैं। जितना उसके स्वरूप को, उसके गुणों को सराहेंगे उतना ही निखार होता चला जायेगा। गुरु महाराज फरमाते थे कि जैसे किसी लड़की की नई-नई शादी होती है तो वह लड़की हर बात में अपने पति की बात करती है। ससुराल से वापस आने पर भी हरेक बात में पति की ही बात करती है। रामदास जी ने भी लिखा है कि अपने इष्टदेव की चर्चा करते रहिये, हर वक्त उसका ध्यान करिए, हर वक्त उसके गुणों को सराहिये।

मैं कई बार कहता रहता हूँ कि वह समाधि जिसमें गुण नहीं हैं, जिसमें शान्ति नहीं है, जिसमें संतोष नहीं है, तृप्ति नहीं है, निर्मलता नहीं है, वह जड़ समाधि है चाहे कई-कई घंटे आँखें बंद करके बैठे रहिए। तो गुरु या ईश्वर के गुणों को सराहो। इसी को कीर्तन कहते हैं। प्रभु की कीर्ति करो, उपमा करो। यह जो नौ प्रकार की भक्ति है वह भी इसी में आ जाती है। भक्ति

में अर्चना करते हैं, जल, अक्षत, पुष्प चढ़ाते हैं, भिन्न-भिन्न तरीके से अपने इष्टदेव के साथ प्रेम का व्यवहार करते हैं, वे भी हमारी साधना को सफलता की ओर ले जाते हैं। पहले शरीर की सेवा की फिर गुरु के मन की सेवा की यानी उसके गुणों को सराहा, फिर गुरु की जो ज्ञान की, विज्ञान की स्थिति है, उसका अनुसरण करना चाहिये। वे जैसा आदेश दें, श्रद्धा और विश्वास के साथ उसको सही मानें, उस पर मनन करें तथा उसको अपने जीवन में उतारने की कोशिश करें। थोड़े शब्दों में, गुरु के जो गुण हैं उन्हें सराहें और उनकी स्मृति करते हुए उन्हें अपने जीवन में उतारें। समर्पण इसके आगे चल कर होता है, इसके पहले नहीं होता। इसके लिए तैयारी करनी पड़ती है। तब हमारी आत्मा गुरु में या ईश्वर में लय होती है।

" मेरा मुझ में कुछ नहीं , जो कुछ है सो तोर - तेरा तुझ को सोंपते क्या लागत है मोर "

यह बात शब्दों में तो सभी कह देते हैं। वास्तविकता होनी चाहिये। कहने को कह लेते हैं पर यह जो मोह और आसक्ति है आसानी से नहीं छूटती। हर प्राणी जानता है कि मरने के बाद हमारा कुछ नहीं रहता। तब भी प्रत्येक व्यक्ति में आसक्ति है, प्रत्येक व्यक्ति मोहग्रस्त है। यह कैसा समर्पण है ? समर्पण कैसे करें ? इस सबके लिए घबराना नहीं चाहिये। इसके लिए तो तय करना होगा। हाँ, यदि ईश्वर कृपा हो तो उस व्यक्ति को कुछ करना नहीं होता। ऐसे व्यक्तियों को महापुरुष अपने साथ लाते हैं। गुरु नानकदेव गुरु अंगद देव जी को अपने साथ लाये। पहली ही भेंट में गुरु नानकदेव जी ने पूछा - " तुम्हारा नाम क्या है "? उन्होंने कहा मेरा नाम है - 'लहना' यानी जिसको किसी से कुछ लेना हो। गुरुदेव ने कहा - "हमें देना है " महज ये दो शब्द कहे और सब कुछ दे दिया। स्वामी रामकृष्ण परमहंस जी स्वामी विवेकानन्द जी को अपने साथ लाये थे। विवेकानन्द जी भागते तो परमहंस जी उनके पीछे-पीछे जाते थे। देखिए गुरु-शिष्य की कैसी लीला है ?

इस प्रकार का सम्बन्ध हो तो ठीक है। ऐसे व्यक्ति को कुछ नहीं करना पड़ता। गुरु या परमात्मा की कृपा से ही सब कुछ हो जाता है। मगर यह कृपा सब पर नहीं होती। इसलिए हम सबको साधना करनी चाहिये। साधना के लिए पहली बात है कि साधना में रुचि होनी चाहिये। बिना रुचि उत्पन्न हुए आनन्द नहीं आयेगा। जब तक आनन्द नहीं आता, चित्त निर्मल नहीं होगा। जब तक चित्त निर्मल नहीं होता है, आप किसी तरफ नहीं बढ़ सकते।

लोग बाग कहते हैं कि मन एकाग्र नहीं होता। मन एकाग्र कैसे हो ? आपकी लगन कितनी है ? एकाग्रता की विशेष चिन्ता न करें। प्रेम की चिन्ता करें कि हमारा गुरु या ईश्वर की तरफ़ प्रेम उत्पन्न क्यों नहीं होता, क्यों नहीं बढ़ता ? हम संसार के व्यक्तियों, जिनके साथ हमारा व्यवहार है, थोड़ा बहुत भय रखते हैं, परन्तु ईश्वर के साथ हमारा कोई भय या भाव नहीं है। अपने मन से पूछिये कि क्या हम ईश्वर या गुरु का भय रखते हैं ?

इसलिए पहले सतगुरु को अपनाइए। ईश्वर से प्रेम, व्याकुलता, विरह उत्पन्न करिए । मन एकाग्र होता है या नहीं, यह साधारण बात है। इसकी कई तकनीक हैं। मन एकाग्र होने में दिक्कत नहीं होती। प्रेम उत्पन्न होने में देर लगती है, दिक्कत होती है। जो पुराने अभ्यासी हैं उन्हें और अधिक समय देना चाहिये इस ओर, क्योंकि उन्हें अपने इस जीवनकाल में ही अपने स्वरूप में या गुरु स्वरूप में या परमात्मा के चरणों में स्थित होना है। सिर्फ़ थोड़ा -थोड़ा , कभी -कभी प्रकाश देख लेना या कभी -कभी शब्द सुनाई आ जाए तो शुक्र है, आपका रास्ता ग़लत नहीं है, परन्तु मन्ज़िल अभी दूर है।

प्रेम (आत्मा का प्रेम) आत्मा में स्थित होना चाहिये। तब सब दुःखों की निवृत्ति अपने स्वरूप में स्थित होने से या अन्तर में गुरुदेव के दर्शनों से होगी। यह जितने नाम और रूप दीखते हैं, सबका नाश होना है फिर भी हम इनमें फँसे हुए हैं क्योंकि हमारा ईश्वर के साथ लगाव नहीं है। जैसे -जैसे आप आगे बढ़ते जायें, अपने लक्ष्य को अच्छी तरह समझते जाइए और उसको पाने के लिए जीवन की बाज़ी लगाइए यही सच्ची साधना है। ओम ।

हमारा व्यवहार प्रेममय होना चाहिये

(ब्रह्मलीन परमसंत डॉ०करतारसिंह जी महाराज)

पहले प्रसाद को परमपिता परमात्मा के चरणों में बड़ी दीनता से अर्पित करना चाहिये। प्रसाद को जब बाँटा जाय, तब बाँटने वाला अपने इष्टदेव में लय होकर प्रसाद बाँटे। जो भी प्रसाद को ले, वह अपने गुरुदेव -इष्टदेव के ध्यान में लय होकर ले। ऐसे प्रसाद से रोगियों के रोग तक ठीक हो जाते हैं। परन्तु हम लोग प्रसाद हँसी -मज़ाक में बाँटते और लेते हैं। ऐसा करने से प्रसाद की महत्ता चली जाती है।

भगवान तो सरलता के, प्रेम के भूखे हैं। हमें प्रभु के चरणों में प्रसाद अनुरोध से, दीनता से, बच्चों जैसी सरलता से, समर्पित करना चाहिये। ऐसा करने पर परमपिता परमात्मा और हमारे पूर्वज प्रसाद वास्तव में स्वीकार करते हैं। जब प्रसाद लें, सरलता से, शान्ति से लें। सत्संग में जब तक बैठें तब तक तो कम से कम शांत रहें ही। ईश्वर की जो कृपा बरस रही है, उसका अनुभव यहाँ करें और उसी भावना से घर वापस लौटें। थोड़ी देर के लिए ही सही कृपा का अनुभव करें। सब मिलकर ईश्वर से, गुरुदेव से प्रार्थना करें कि हे प्रभु ! हे गुरुदेव ! आप हमारी इस तुच्छ भेंट को स्वीकार करें ।

प्रभु दयानिधि है । उनके गुणों की सराहना करनी चाहिये। मन ही मन प्रभु के गुणों पर विचार करें तथा उन्हें अपनाने का प्रयास करें। शरीर को ढीला छोड़ दीजि । मन में विचार हों तो मन से कह दीजिए कि थोड़ी देर के लिये इनकी गुणावन न करे। कोई तनाव न हो। हमारे और परमात्मा के बीच अहंकार की जो दीवार है, उसे तोड़ दीजिये। हम समझते नहीं हैं, अकारण ही संकल्प -बिकल्प उठाते रहते हैं, ख्यालों को और मज़बूत करते रहते हैं। इसका अभ्यास करना है कि हमारे भीतर में विचार न उठें या कम से कम उठें। साधना यह करनी है कि हमारा मन हमारे अधीन हो जाय। परमपिता परमात्मा ने हमें बड़ा विचित्र उपकरण 'मन ' दिया है। हमें इसका सदुपयोग करना है। आवश्यकता हो तो विचार उठा लिया, नहीं तो इसको शान्त रखना

चाहिये। जिस प्रकार से भगवान शिव का नन्दी बैल उनकी सेवा में बैठा रहता है, उतनी ही सरलता से हम अपने मन रूपी नन्दी को बैठाये रखें।

साधना यही करनी है कि यह मन प्रेमस्वरूप परमात्मा के चरणों में प्रेममय होकर, स्थिर होकर बैठे। इसमें कोई विशेष कठिनाई नहीं है। बस करना यह है कि जैसे निद्रा में आप सोते हैं उस समय आप क्या करते हैं। कुछ भी तो नहीं करते। बड़ा सरल है। शरीर शिथिल है, मन तनाव रहित है। आप निद्रा देवी का आनन्द ले रहे हैं। इसी प्रकार आपको जागृत अवस्था में ही सुषुप्ति की अवस्था में रहना है। जागृति -सुषुप्ति को अपनाना है क्योंकि इस प्रगाढ़ जागृति -सुषुप्ति में ही प्रभु की प्राप्ति होती है। जब तक हमारी जागृति -सुषुप्ति अवस्था नहीं होती तब हमारी परमात्मा के साथ तदरूपता नहीं होती। हमें अपने आपको तनाव -मुक्त करना है।

इसी प्रकार प्रभु के चरणों में जाकर अपने बल का प्रयोग नहीं करते। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक - किसी प्रकार के बल का प्रयोग नहीं करते। केवल उसकी (प्रभु की) इच्छा पर सब छोड़ देते हैं। अपने आपको पूर्णतः उस प्रेमास्पद के चरणों में समर्पित कर दें। आप देखेंगे कि कुछ समय बाद आपके भीतर में एक अजीब तरह की शान्ति, आनन्द की अनुभूति होने लगेगी।

मन अकारण ही कोई न कोई समस्या खड़ी कर देता है। जीने का तरीका यह है, जैसा भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है, कि अनासक्ति से कार्य करें। सँसार के प्रति पकड़ को ढीला कर दे। जो अतीत में हो चुका है, उसे क्यों पकड़ें ? उसे भूल जाइये। यदि परमात्मा में विश्वास है तो कल की चिन्ता क्यों ? यह हमारी भूल है, हमारा अहंकार है, हमारी नासमझी है। हमें ईश्वर का आश्रय लेना है। ईश्वर की गोद में बच्चे की तरह बैठना है। वह हमारा सच्चा पिता है। पिता के रहते हुए बच्चों को चिन्ता की क्या आवश्यकता ? यह जीने का तरीका है।

हमें वर्तमान में ही प्रभु की कृपा को पाना है। यही आत्मिक उन्नति का समय है। इसलिए बाकी सभी समस्याओं को छोड़कर प्रभु के चरणों का आश्रय वर्तमान में ही ले लें। यदि किसी से हमारी शत्रुता है तो उसे क्षमा कर दें। क्षमा ही परमात्मा का रूप है। यदि आप परमात्मा की पूजा करना चाहते हैं तो आपको परमात्मा के गुणों को सराहना होगा, उन्हें अपनाकर अपने व्यवहार में विकसित करना होगा। परमात्मा का गुण है - क्षमा करना। उसी प्रकार का आपका भी स्वभाव बन जाय आपको दुनियाँ में कोई कितनी ही उत्तेजना दे, शत्रुता करे, आप उसे क्षमा

कर दें। यदि सत्संगी यह कहता है कि उसने ऐसा किया, उसने वैसा किया, तो आपमें और एक सामान्य व्यक्ति में क्या अन्तर है?

विचार ही आत्मा और परमात्मा के बीच की दीवार हैं। विचार विमुक्त होना है। विचार विमुक्त तब तक नहीं हो सकते जब तक विकार मुक्त नहीं होंगे। यह सत्संगों भाईयों की भूल है कि छः - छः घंटे एक आसन पर बैठ कर पूजा करते हैं। इससे यह अहंकार हो जाता है कि- " मैं तो बहुत पूजा करता हूँ "। इससे कितना लाभ होता है, यह तो वही व्यक्ति जानते हैं। वास्तविक लाभ तब जानना चाहिये जब हमारे भीतर में वे ही गुण समा जायें जो ईश्वर के होते हैं। ईश्वर पूजा, गुरु पूजा, इष्ट पूजा यही है - उनके गुणों को सराहें और उन्हें अपनाने का प्रयास करें।

गुरु दर्शन, ईश्वर दर्शन यही है कि ईश्वर, गुरु या इष्ट के जो गुण हैं वे सब हमारे में समा जायें। आत्मा -परमात्मा या जीव और परमात्मा में इतना ही अन्तर है कि परमात्मा सागर है और जीव उसका अंश है। मात्रा का अन्तर है, गुणों में अन्तर नहीं है। विकारों के कारण हमारे गुण छिप गये हैं, सूर्य अस्त हो गया है। साधना यहीं करनी है कि हम सूर्य की तरह प्रकाशित हों। हमारे स्वभाव में वे ही गुण हों जो ईश्वर के हैं। उन गुणों का विकास करें। पुरातन विचारों से धीरे - धीरे मुक्त होकर शुद्ध हों और सदगुणों, सदविचारों को अपनाकर सब कार्य करें। धीरे - धीरे मन को प्रभु के चरणों में लय करते जायें। आगे चल कर इसी रास्ते से जब चाहेंगे निर्विचार हो जायेंगे और जब चाहेंगे इस संसार के साथ व्यवहार कर लेंगे। कोशिश यह करनी चाहिये कि हम निर्विचार और निर्विकार हों।

पूजा में पहले हम प्रार्थना करते हैं। परमात्मा के गुणों को याद करते हैं, उन गुणों को सराहते हैं उसके लिए वायुमण्डल, वातावरण बना लिया, परमात्मा की नज़दीकी प्राप्त कर ली। अब उससे प्रार्थना करो, जो माँगना है माँगो। फिर उसकी प्रसादी लेने के लिए अपने आप को उसके समर्पण कर दो। उसकी कृपा की गंगा में स्नान करो, डूब जाओ। यदि आप अपने मन को दृढ़ करना चाहते हैं तो थोड़ा -थोड़ा अभ्यास भी आज्ञा चक्र पर (या जैसा भी आपको आपके गुरु ने बताया हो) करें। प्रसाद लेने का जो तरीका ऊपर बताया गया है, अवश्य अपनाना चाहिये। यह घर में ही गुरु के साथ, ईश्वर के साथ सत्संग हो जाता है।

इसके साथ-साथ अपने गुरुदेव के, इष्टदेव के, प्रवचन पढ़ने चाहिये। थोड़ा पढ़िये, मनन अधिक करिये और देखिए कि उसका भाव क्या है ? जिस बात पर हम मनन करते हैं वह दृढ़ हो जाती है, आपके मन पर अंकित हो जाती है, आपका स्वभाव बन जाती है। आम तौर पर सत्संगी लोग मनन नहीं करते, मनन करना चाहिये। गुरुमहाराज का, पूज्य लाला जी महाराज का, जो साहित्य है वही हमारे लिए गीता है, रामायण है, कबीर साहब - गुरुनानक साहब की वाणी है। उन्हें पढ़ना चाहिये, उन पर मनन करना चाहिये। शब्दों में जो गंगा छिपी है उसमें भीतर घुस कर स्नान करना चाहिये। जैसे सागर की गहराई में जाकर मोती प्राप्त किये जाते हैं, उसी तरह हमें अपने इष्टदेव के वचनों की गहराई में जाना चाहिये। जितना आप इष्टदेव की वाणी का मनन करेंगे उतने उनके नज़दीक होते चले जायेंगे।

एक बात और कह दूँ। यह हमारे मन में ख़ाली विचार है कि केवल आँखें बंद करके बैठने से ही लाभ होता है। यह ठीक है कि जैसे प्रातः स्नान करने से शरीर साफ़ हो जाता है, स्फूर्ति आ जाती है, इसी तरह प्रातः काल स्नान करने के बाद कुछ समय के लिए ईश्वर का चिन्तन करने से, पूजा करने से कुछ और ताज़गी आ जाती है। परन्तु जिनको समय नहीं मिलता उन्हें परेशान होने की कोई आवश्यकता नहीं है। सुबह से शाम तक हम जो भी कार्य करते हैं, उन सभी को हम ईश्वर की पूजा का रूप बना लें, यज्ञ बना लें।

ईश्वर से लौ लगाये रहें। यह जो आम पूजा की जाती है उससे वह हज़ार गुणा अच्छी है। हम प्रतिक्षण उसकी याद में रहें। गुरु महाराज को हमेशा अपने सामने देखें। सबके साथ सुन्दर व्यवहार करें। हमारा व्यवहार सेवा का रूप लिये हुए है। हमारी सेवा प्रत्येक को आनन्द देने वाली हो। हमारी पूजा दूसरे की प्रसन्नता के लिये, शान्ति देने के लिये हो, उनके शोषण के लिये नहीं हो।

सत्संगी वही हो सकता है जो 'वीर' हो। इसीलिए भगवान कृष्ण अर्जुन से कहते हैं - "वीर बन / वीरता को अपना कर युद्ध करो" यह संसार तो कुरुक्षेत्र है। प्रत्येक को लड़ना है। किससे लड़ना है ? यह जो भीतर में हमारा मन है उससे। बुद्धि की चंचलता को स्थिर करना है, सन्तुलन में लाना है। इनसे लड़कर जब तक हम विजय प्राप्त नहीं कर लेते तब तक न तो हमारा व्यवहार संसार के साथ सुन्दर बनेगा और न आप प्रभु चरणों के अधिकारी बनेंगे।

अपनी दिनचर्या को ही पूजा का, यज्ञ का, दान का रूप दे दीजिए। सबके साथ मधुरता का व्यवहार करें। मधुर बोलिये, प्रेम से बोलिये, प्रेम का व्यवहार करें। जितनी आप सेवा करते हैं उसका मुनासिब पैसा लीजिये । ईश्वर की हुजूरी, ईश्वर की प्रसन्नता के लिये, ईश्वर का ही काम समझकर हमें दफ़्तर में काम करना चाहिये। घर -परिवार में पत -पत्नि, बच्चों, सबको ईश्वर रूप समझकर उनकी सेवा करें। संसार को प्रभु -मय समझ कर प्रसन्नता से कार्य करें, सबकी सेवा करें प्रातः सांय हमें समय मिले पूजा पर बैठे । जो कार्य में व्यस्त रहते हैं, उनका मन स्थिर रहता है। जो आलस्य में व्यर्थ बैठे रहते हैं, उनका मन स्थिर नहीं होता। वे विचारों में फँसे रहते हैं और अपने मन को गन्दा करते रहते हैं।

प्रत्येक क्षण मन पर निगाह रखनी चाहिये। यह ऐसी - वैसी निरर्थक बातें करता रहता है। इससे आपको ही नुकसान होता है। आपके भीतर के बुरे विचारों से वायुमण्डल भी दूषित होता है। आपके शरीर से प्रतिक्षण तरंगे निकलती रहती हैं जो सारे वायुमण्डल को शुद्ध अथवा अशुद्ध करती रहती हैं। इसीलिये कहते हैं कि संत जहाँ जाता है वह स्थान तीर्थ बन जाता है। उसके अच्छे विचारों की, आत्मा की तरंगे वहाँ फैल जाती हैं और वह स्थान शुद्ध हो जाता है। मन्दिर, गिरजाघर, गुरुद्वारे जाईये, वहाँ अपना मन लगेगा। हजार -हजार साल के पुराने मज़ार हैं, उनके दर्शनों के लिए जाइए अब भी वहाँ जाकर बैठते हैं तो ऐसा मालूम होता है कि किसी ने नशा पिला दिया हो। वो संत तो वहाँ शरीर रूप से नहीं हैं, परन्तु उन्होंने उस स्थान को अपनी तरंगों से इतना रंग दिया है कि जो भी श्रद्धा से वहाँ आता है उसको प्रसादी मिलती है। हम भी कई स्थानों पर गुरु महाराज के साथ गये, हमें विशेष कृपा मिली।

न तो हम मनन करते हैं और न ही हम ईश्वर के, गुरु के गुणों को सराहते हैं और न यह प्रयास करते हैं कि गुरु की सुन्दरता को, उनके गुणों को अपनायें। सत्संग में इतने दीर्घ काल से आने पर भी हमारी घृणा की आदत, लड़ने की आदत, खाने -पीने की आदत नहीं जाती। रसना का रस, आंखों के देखने का रस वही चल रहा है। बातें करने में वही रस आता है, जाता क्यों नहीं ? न तो हमने मनन किया है और न ही हमने ईश्वर के गुणों की पूजा की है।

इन्सान की इंद्रियां और मन अपना ही खेल खेल रहे हैं। मन संकल्प -विकल्पों में फँसा हुआ है । वह शरीर और इंद्रियों को अपने बश में किए हुए है। वह बुद्धि के, विवेक वैराग्य के

गुणों को अपनाता ही नहीं। इसलिए मन अपनी शक्ति को खो चुका है, चंचलता में फँस गया है। आत्मा परमात्मा से, गुरु से प्रकाश नहीं लेता। हमारा मन प्रश्न उठाता रहता है। गुरु और परमात्मा की तरफ उन्मुख ही नहीं होता। अपने को प्रकाशित नहीं करता। मनमानी करता है, दिखावा करता है कि मैं पूजा करता हूँ। गम्भीरता से प्रेम की तरफ उन्मुख होना पड़ेगा। बुद्धि को परमात्मा के, गुरु के, गुणों को अपनाना होगा और अपने मन पर उनका प्रकाश डालना पड़ेगा। मन को अपने अधीन करना पड़ेगा। तब ईश्वर प्रेम का संगीत बजेगा। तभी हम शान्ति और आनन्द को प्राप्त करेंगे। असली शान्ति तो आत्मा में है।

ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिए। जितनी आपकी अपनी शक्ति लग सकती है, उसका उपयोग करना चाहिये। पूज्य लाला जी महाराज ने तथा पूज्य गुरु महाराज ने कहा है, लिखा भी है, कि हमने अपनी जो-जो कमजोरी अपने गुरुदेव से कह दीं वे तो दूर हो गयीं। जिनको हमने कुछ लज्जा के कारण छिपाकर रखा, हमसे अब तक नहीं छूटी। यदि गुरु को अपना बना लिया है और यदि कोई कमजोरी आपसे नहीं छूटती तो उसे गुरु से अवश्य कह दीजिये। गुरु आपकी सेवा करेंगे, आपके लिए दुआ करेंगे, साधन करेंगे। उससे आपको अवश्य बल मिलेगा।

प्रार्थना करने, मनन करने, आचार-व्यवहार शुद्ध करने, सदगुणों को अपनाने तथा सदव्यवहार करने के बिना रास्ता नहीं चलेगा, साधना नहीं हो सकती। मन, शरीर, इंद्रियों पर अंकुश रखें। बुद्धि मन को वश में रखे और बुद्धि आत्मा और गुरु से प्रकाशित होवे। यदि हम इन बातों को याद रखेंगे तो थोड़े ही दिनों में हमारी प्रगति विकसित होने लगेगी। आप स्वयं तथा आपके मित्र एवं परिवारीय-जन अनुभव करेंगे कि आपमें विशेष परिवर्तन आ गया है। आपके स्वभाव में शान्ति होगी, प्रेम और करुणा होगी। आप जहाँ बैठेंगे, आपके पास जो भी बैठेगा उसे भी शान्ति का अनुभव होगा। आप एक सुगंधित पुष्प बन जायेंगे। आपसे सुगन्ध का प्रवाह होने लगेगा। एक ही व्यक्ति को सेवा नहीं करनी है। आप सबको मिलकर सुगन्धित पुष्प बनना है और अपनी सुगन्धि से चारों ओर परमात्मा के नाम को फैलाना है। अपने गुरु के नाम को प्रसारित करना है।

यदि व्यवहार शुद्ध नहीं हुआ तो आपकी बदनामी तो होगी ही, साथ में आपके गुरु तथा सत्संग की भी बदनामी होगी। महात्मा बुद्ध ने इस पर बड़ा जोर दिया है कि किसी भी

तरह से संघ की बदनामी न ह । हमें सचेत रहना है कि हमें अपने संघ (सत्संग) को, गुरु को बदनाम नहीं करना है। प्रत्येक सत्संगी का व्यवहार सामान्य व्यक्ति से ऊँचा होना चाहिये। सभी भाई -बहिन आपस में एक परिवार की तरह रहें, प्रेम से रहें। दूसरे का दुःख अपना दुःख, दूसरे का सुःख अपना सुःख समझें । तभी हमारी प्रार्थना - " सब का भला करो भगवान " का सही मतलब निकलेगा।

हम हर काम प्रभु का काम समझकर प्रभु के लिए करें। परमात्मा हम सबका पालनहार है, हम सब उसकी संतान हैं। पिता जो भी करता है, संतान के हित के लिए ही करता है। इसलिए परिवार में प्रेम से रहें। संसार के सब गुणों के समूह का नाम परमात्मा है। यदि हम प्रत्येक काम में परमात्मा की स्मृति रखें तो हमारा काम खुशी से होगा तथा स्वयं हमको भी प्रसन्नता का अनुभव होगा। हम ईश्वर के गुणों को याद रखें। सुबह से लेकर रात तक जो भी काम हम करें, ईश्वर के गुणों की याद के साथ करें। इसी से हमारा उद्धार हो जायेगा। हमारा मन निर्मल हो जायेगा , ईश्वर -मय हो जायेगा। हमारा मन जो अशुद्ध हो गया है, संसार के साथ, अज्ञान के साथ चिपक गया है, मुक्त हो जायेगा। हमें मोक्ष प्राप्त हो जायेगी। हम जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जायेंगे। हमारे भीतर जो संस्कार हैं, उनसे हम मुक्ति पा लेंगे। तो ईश्वर के गुणों को अपनाते रहें। ईश्वर क्या है ? सब कुछ प्रेम -मय हो जाय। हमारी वाणी में, हमारे व्यवहार में प्रेम हो। इससे अच्छी पूजा और क्या हो सकती है? । सच्चे बने , स्वयं प्रेम रूप बनें और अपने व्यवहार द्वारा ईश्वर के प्रेम को विस्तार दें। हम जितना इस प्रेम को बाँटेंगे उतना ही यह बढ़ेगा।

00000000000000

हमारे जीवन का लक्ष्य क्या है ?

(ब्रह्मलीन परमसंत डॉ०करतारसिंह जी महाराज)

आप लोग दूर - दूर से कष्ट उठाकर यहाँ आए हैं। यह प्रतीक है कि आपके हृदय में प्रभु- मिलन की कितनी जिज्ञासा है। मेरा अनुरोध है कि इस जिज्ञासा को और बढ़ाना चाहिये। यहाँ तीन दिन हम रहेंगे। यदि सम्भव हो तो हम यहाँ ईश्वर चिन्तन के अतिरिक्त और कोई बात न करें। केवल प्रभु चिन्तन ही करें, समय का सदुपयोग करें।

हमें यह सोचना है कि हम इस संसार में किस लिए आये हैं। हमारे जीवन का लक्ष्य क्या है ? क्या खाना -पीना, सो लेना, चतुराई की बातें कर लेना, बुद्धि -विलास कर लेना, ही जीवन का लक्ष्य है ? यह स्व -निरीक्षण प्रत्येक साधक को जिसके भीतर कुछ गंभीरता प्रकट हुई है, करना चाहिये।

हमें यह जन्म मिला, बड़ा सौभाग्य था। कुछ अच्छे कर्म किये थे पहले कि प्रभु ने मनुष्य चोला प्रदान किया। पूर्व जन्मों में अच्छे काम करने के परिणाम स्वरूप ही यह मनुष्य जन्म प्राप्त होता है। परन्तु वह किस लिये ? इस हेतु प्राप्त होता है कि हम अपना उद्धार कर लें। उद्धार क्या करना है ? यह जीव 84 लाख योनियों में घूमता हुआ यहाँ आया है व इसे भवसागर से पार होना है, जन्म -मरण के चक्कर से छूटना है, निर्वाण प्राप्त करना है।

एक सुःख की अवस्था को, परमात्मा के आनन्द को, निरन्तर प्रवाह आनन्द, गंग -प्रवाह आनन्द को प्राप्त करना है। वो आनन्द बना रहे। अब थोड़े समय सत्संग में बैठें, अनुभव करेंगे कि अनुभूति होती है। वह भी पूर्ण अनुभूति नहीं होती। इस आनन्द को प्रवाह स्वरूप बनाना है। उसमें निरन्तरता आनी चाहिये। उसमें बीच में तनिक भी रुकावट न आये। मगर ऐसा नहीं होता। कितने वर्ष हमें हो गये हैं, कितनी हम साधना करते हैं, कितनी हमारी आयु है। हम भाग्यशाली हैं कि महान गुरु से भेंट हुई। उनकी कृपा प्राप्त हुई। परन्तु यदि हम भीतर में झाँक कर देखते हैं तो अपने आप को कोरा ही पाते हैं। हम भीतर में खाली हैं। पता नहीं कब यमराज आ जाते हैं। उन्हें क्या उत्तर देंगे ? यह सब क्यों ? ईश्वर की कृपा से हमें यह मनुष्य चोला

मिला, गुरु कृपा हुई, एक महान गुरु (परमसंत महात्मा श्रीकृष्ण लाल जी महाराज) की प्राप्ति हुई, उनकी महान कृपा की प्रसादी मिली। वो इतने उत्सुक रहते थे, वो चाहते थे कि विश्व का कल्याण कर दें। परन्तु हम लोग हैं जिन्होंने उनको यह कहने का अवसर दिया कि - " हमने बड़ी कोशिश की परन्तु एक भी व्यक्ति जैसा हम चाहते थे वैसा न बन सका।" यह सत्यता थी। इस वक्त भी वही हाल है, कितने दुःख की बात है। संसार में आम व्यक्ति को यह उपहार नहीं मिलते। बड़ी कठिनाई से सच्चे गुरु की प्राप्ति होती है, परन्तु यह सब कुछ हुआ। सब तरह की कृपा प्राप्त हुई। परिस्थितियों की कृपा, गुरु कृपा, ईश्वर कृपा, परन्तु निज कृपा अभी तक भी नहीं हुई है।

गुरु महाराज अपने अन्तिम दिनों में यही कहते रहे - " सरदार जी, देखना तुम कड़ाई से काम लेना।" परन्तु मेरा वह व्यक्तित्व (**personality**) नहीं है। मेरे में वह शक्ति नहीं है जो गुरु महाराज में थी। परन्तु यह उनका आदेश ज़रूर था जिसका मैं पालन नहीं कर पाया। कहता रहता हूँ। जब भी हम लोग आपस में मिलते हैं तो बार-बार कहता हूँ। आप भी कहते हैं कि यह क्यों यह बात कहते हैं। परन्तु क्या करूँ ? दोष किसका हैं ? ईश्वर का दोष नहीं है, गुरु का दोष नहीं है। परिस्थितियों का दोष नहीं है। दोष मेरा है व आपका है। अब बहुत समय निकल गया। अब तो जाग उठें। प्रतिक्षण महापुरुष आते हैं, जागृत करते हैं, पुकारते हैं, परन्तु मनुष्य ऐसा ठीत है कि वह पत्थर जैसा बना रहता है। कुछ असर नहीं होता। इसको कर्ण रस, जुबान रस, बुद्धि विलास का रस मिलता है। इन सब रसों में मनुष्य फँसा हुआ है। कोई एक-आध ही व्यक्ति होगा जो आत्मा के, गुरु चरणों के, परमात्मा के आनन्द के रस को ढूँढ़ना चाहता है। वो ही हमारे जीवन का लक्ष्य है, जिसके लिए गुरु महाराज ने पुकार-पुकार कर कहा, जिसके लिए उन्होंने मुझे आदेश दिया कि मैं सख्ती करूँ जिससे सब भी यम नियम का सख्ती से पालन करें। यदि वह रस, वह सुःख मिल जाता है तो उसके मिलने के बाद संसार के सब सुखों की कुछ कीमत नहीं रहती। उस सुःख के लिए हमें और अधिक सतर्क रहना और जागरुक होना है, अपना जितना भी बल है लगाना है।

दो तीन मोटी - मोटी बातें हैं इस रास्ते पर चलने वालों के लिये। ईश्वर प्राप्ति को ही विशेष ध्यान देना है, बाकी सब बातों को गौण समझना है। अभी हमने ऐसा नहीं किया है। सुबह अखबार आ जाता है। हम साधना के समय साधना छोड़कर पहले अखबार पढ़ लेते हैं। तब

कहीं प्रभु के चरणों में जाते हैं। यह प्रतीक है इस बात का कि हमारे भीतर में गंभीरता नहीं है। जितनी चाह प्रभु मिलन की होनी चाहिये, नहीं है। समझदार मनुष्य में भी अपने सर्वस्व मालिक के लिए, सब सुखों के आधार के लिए, सब प्रकार की शांति व आनन्द के लिए, व्याकुलता अर्थात् विरह नहीं है। जो पुराने जिज्ञासु हैं उनसे मेरी प्रार्थना है की सुबह जल्दी उठना चाहिये तथा कम से कम दो घंटे ज़रूर बैठना चाहिये। इसी प्रकार साँय को भी एक घंटा बैठना चाहिये और सारा दिन भी प्रभु की, अपनी आत्मा की याद आती रहनी चाहिये।

दूसरे, जब तक हमारे जीवन में हम सदगुणों को नहीं अपनाते तथा अपनी इंद्रियों को बस में नहीं करते, साधना में आनन्द नहीं आयेगा। सदगुण होने चाहिए, सदव्यवहार होना चाहिये, वाणी में मधुरता होनी चाहिये। सदविचार होने चाहिये। प्रभु पूजा के लिए इन तीन-चार बातों का ख्याल करना होगा। भीतर में शुद्ध विचार हों। किसी के प्रति बुरी भावना न हो। दूसरे के प्रति बुरी भावना भीतर में होने से आप स्वयं अपने प्रति हिंसा करते हैं क्योंकि आप अपने आप को दुःख देते हैं। संसार इतना दुःख नहीं देता जितना अपना मन स्वयं अपने को दुःख देता है। अपने प्रति इस हिंसा से बचना चाहिये।

हे प्रभु ! सबका भला करो, कोई हमारा शत्रु नहीं है। सभी हमारे हैं क्योंकि तुम सर्वव्यापक हो तुम्ही घट-घट में रमते हो। कौन बुरा है, किसको बुरा कहें ? सभी में तुम हो। कोई हमारे साथ बुराई कर रहा है तो सोचना चाहिये कि वह ईश्वर की आज्ञानुसार, हमारे कर्मों के अनुसार हमारे साथ ऐसा कर रहा है। उसका क्षमा कर दीजिये, भूल जाइए। यदि आप ऐसा नहीं करते तो आपके मन को दुःख होगा। भीतर के इस दुःख से कोई नहीं बचता।

हम साधक हैं। हमारी साधना यही है कि किसी को दुःख न दें और अपने को भी दुःख न दें। क्रोध न करें, यह पाप है। जो सच्चा साधक है वह पाप नहीं कर सकता। जो सत्यता की पूजा कर रहा है वह झूठ नहीं बोल सकता। परन्तु हमारे में वह गुण अभी तक प्रकट नहीं हुए हैं। इसलिए सतर्क रहना चाहिये, जागरूक रहना चाहिये कि हम क्या कर रहे हैं। जब तक सदगुणों की नीव पक्की नहीं होगी, साधना की इमारत गिर जायेगी। किसी भी क्षण जब मायावी विचारों की आँधी आयेगी तभी गिर जायेगी। यह इमारत तभी मज़बूत रहेगी, तभी खड़ी रहेगी जब उसकी नीव पक्की होगी यानी हमारा आचार-व्यवहार शुद्ध होगा। सारे दिन हम जो

व्यवहार करते हैं उसे देखते रहना चाहिये कि हम कोई बुराई तो नहीं कर रहे। सबकी सेवा, सबके साथ नेकी, कर रहे हैं या नहीं ?

साधना की इमारत की नींव मज़बूत बनायें। आप बेशक सारा दिन आँखें बंद करके बैठे रहें किन्तु अगर एक बार भी झूठ बोल गये तो सब व्यर्थ गया। इन बातों को जब आप अपनायेंगे तो आपके भीतर में करुणा उत्पन्न होगी, दीनता, उत्साह, प्रेम उत्पन्न होंगे। इन गुणों को अपनाने से आत्मा का साक्षात्कार, गुरु या ईश्वर के दर्शन होने शुरू हो जाते हैं। वाह्य पवित्रता का अपना स्थान है, परन्तु भीतर में निर्मलता होनी चाहिये। भीतर में न राग हो, न द्वेष हो, केवल ईश्वर का प्रेम हो। अहंकार न हो, दीनता हो। पहले जब महापुरुष ऐसे गुणों को देख लेते थे तब दीक्षा देते थे। परन्तु अब समय के अनुसार जो भी आता है और दीक्षा के लिए कहता है - हम सेवा कर देते हैं। परन्तु यह तरीका ठीक नहीं है।

तो सदगुणों को अपनाना चाहिये। दूसरा हमारे साथ क्या करता है इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। गीता का उपदेश पढ़ना चाहिये जहाँ अन्याय हो रहा है तो यदि आपमें शक्ति है उसका मुकाबला करने की तो ईश्वर का आश्रय लेकर उसका मुकाबला करिए। यदि शक्ति नहीं है तो अपने आप को छिपायें तथा मानसिक दुःख से बचने के लिए एक तरफ़ हो जाएँ। ईश्वर से प्रार्थना करें कि हे प्रभु ! सबका भला करो। सबको सुमति दो कि वह बुराई को छोड़ कर अच्छे काम करे।

दूसरा उपाय है कि अपने काम को सेवा का, ईश्वर पूजा का रूप दे दो। दूसरा क्या करता है इसकी चिन्ता नहीं करें। आप अपना कर्तव्य निभाएं। शास्त्रों में या गुरु ने जो कुछ कहा है, उसके अनुसार अपना जीवन व्यतीत करें। दूसरा बुराई करता है, आप नेकी करें। बुराई का बदला बुराई से मत दीजिये। इसके लिए साधना करनी होगी, अभ्यास करना होगा।

जिज्ञासु को जिसे ईश्वर की शक्ति प्राप्त करना है, उसको इस हेतु तैयार रहना चाहिए। इससे हमारे संस्कार कटते हैं। अपना कर्तव्य पूरा कीजिए। यह सहनशीलता है कि हम किसी को सुःख पहुँचाने का प्रयास करें और बदले में वह हमें दुःख दे। यह सहनशीलता बहुत कठिन है। मगर जिसे ईश्वर की प्राप्ति करनी है, उसको तो यह साधन अपनाना ही है।

तीसरा उपाय है त्याग का, सन्यास का। वह तो प्रत्येक व्यक्ति कर नहीं सकता कि सब कुछ छोड़कर जंगल में जा बैठे। हमारे यहाँ का तप अलग है। किसी की बुराई को, किसी की उत्तेजना को सहन करना, यह हमारे यहाँ का तप है। हम लोग साधक हैं। भले ही हम पास हों या न हों, हमें कोशिश करनी चाहिये। साधना यहीं है। हमें लक्ष्य सामने यही रखना चाहिये कि यदि कोई बुराई करता है तो हम उसके साथ नेकी करें। नेकी करने के बाद भी यदि वह बुराई करे तो उसके लिए प्रार्थना करें।

बदला न लें। एक और बात। कोई बुराई करता है, तो दुःख न मानें। आप चुप भी कर गये, आपने कुछ कहा भी नहीं परन्तु भीतर में आप बुरा मानते रहे तो भीतर में आप जलते रहेंगे। ईंधन की तरह जलते रहेंगे। यह पाप है। इसको छोड़ने हेतु हमें अभ्यास करना होगा। जो संत लोग हैं, सत पर खड़े हैं, जो अहंकार मुक्त हैं उन पर इन बातों का असर नहीं होता। वो भीतर में शांत रहते हैं। संसार में उत्तेजना किसको नहीं मिली ? जितने महापुरुष हुए हैं, महात्मा बुद्ध, स्वामी दयानंद, गुरु नानकदेव, सबके साथ दुर्व्यवहार किया गया। परन्तु उन्होंने गुस्सा नहीं किया। उन सबने आत्मिक शांति की सुगन्ध बाँटी। जो लोग पीड़ित थे, उनके घर जाकर उनकी सेवा की। यदि हम उन महापुरुषों के सच्चे अनुयायी हैं तो हमारा जीवन भी सेवा का होना चाहिये। हममें गंभीरता उत्पन्न होनी चाहिये। जागें और अपने जीवन और उसके लक्ष्य के प्रति सतर्क हो जाएँ कि हमें क्या करना है?। निज कृपा अवश्य होनी चाहिये।

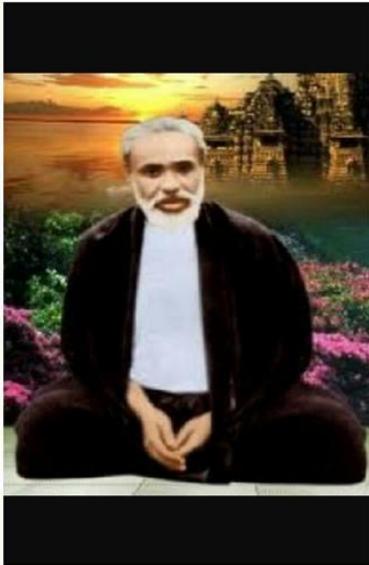
अपने अन्तिम दिनों में गुरु महाराज ने विस्तार से कहा था कि कृपा चार प्रकार की होती है। ईश्वर कृपा, गुरु कृपा, परिस्थितियों की कृपा और निज कृपा। उन्होंने हमें कहते हुए कहा कि ईश्वर की कृपा है, परिस्थितिओं की कृपा है, गुरु की महान कृपा है, परन्तु निज कृपा का अभाव है। निज कृपा को ही स्वयं की साधना कहते हैं।

परमात्मा उन्हीं की सहायता करते हैं जो अपनी सहायता स्वयं करते हैं। कितनी कृपा है गुरु की। बीज डाला परन्तु हमने उसमें पानी और खाद नहीं डाला। उस बीज को प्रस्फुटित नहीं होने दिया, विकसित नहीं होने दिया। इसीलिए बार-बार आपसे निवेदन करता हूँ कि जीवन के प्रति जागरूक रहें, सतर्क रहें। कोशिश करें कि भीतर का आनन्द, शान्ति, सुख विकसित न हों। साधना में शान्ति यानी प्रभु प्रेम की गंगा का स्नान प्रतिक्षण करते रहना चाहिए। मन में सुख,

शांति, आनन्द हमेशा रहनी चाहिए। शान्ति द्वार है, किबाड़ है, जिसको खोलने के बाद ही आनन्द का अनुभव होगा, दुःख की निवृत्ति के लिए भरसक प्रयास करें। सफलता मिलती है तो शुक्र है, असफलता मिलती है तो समझें कि प्रभु यही चाहते हैं। इसी को समता कहते हैं जो साधना से आती है। इसी को संतोष कहते हैं। जो व्यक्ति इसकी पूजा नहीं करता वह आत्मिक शांति प्राप्त नहीं कर सकेगा। किसी से कटुता नहीं करनी, ईर्ष्या नहीं करनी। ऐसी बुराईयों को छोड़ते जाएँ अवगुणों का त्याग करते जायें, सदगुणों को अपनाते चले जायें।

गुरुदेव आप सब का कल्याण करें।

0000000000000000



कुछ रीति रिवाज़ों को पूरा कर लेना लोगों ने धर्म या मज़हब समझ रखा है . मैं ऐसे धर्म को , चाहे वह किसी भी पंथ का हो , धर्म या मज़हब नहीं मानता .मज़हब वास्तव में विशाल हृदयता , फरागदीली , अच्छी आदतें (नेक सीरती)सदाचार , सहानभूति , एकविचार , आत्मानुभव और प्राणिमात्र के साथ प्रेम और एकता का व्यवहार करना सिखाता है न की रिवाज़ों के बारे में बाल की खाल निकालना और अपने आप को फ़कीर कहना और कहलवाना

.....
अदिगुरु परमसंत महात्मा रामचंद्र जी महाराज , फतेहगढ़ी

हमें दिखावटीपन से बचना चाहिए

(ब्रह्मलीन परमसंत डॉ०करतारसिंह जी महाराज)

" जब मैं था, तब हरि नहीं, अब हरि हैं, मैं नहीं
प्रेम गली अति सांकरी, जामें दो न समाहिं।"

सब संतों ने यही कहा है कि जो प्रेम में रहते हैं, सत्संग करते हैं, महापुरुषों का जूठा भोजन करते हैं, सत्य की कमाई खाते हैं, धोखा देकर किसी का शोषण नहीं करते, वही प्रेम-गली में पाँव रख सकते हैं। भोजन पर विशेष ध्यान देना चाहिए। इस बात को तो वैज्ञानिक भी मानते हैं - " जैसा अन्न, वैसा मन।" आप जिस प्रकार का खाना खाते हैं, उसी प्रकार का आपका मन भी बन जाता है। यदि आपका भोजन नेकी की कमाई का होगा और ईश्वर की याद में पकाया गया होगा, तो हमारा चित्त भी मधुर होगा।

रावण बहुत विद्वान था। लेकिन उसको बहुत अहंकार था जिसने उसे धूल में मिला दिया। अपने व्यवहार में हम ऐसा देखते हैं कि कम पढ़े-लिखे या छोटी नौकरी करने वाले लोग अपने व्यवहार में कम अहंकार वाले होते हैं, इनमें दिखावटीपन कम होता है। लेकिन जो लोग धनवान या विद्वान (अधिक पढ़े-लिखे) होते हैं उनमें अहं या अहंकार बहुत होता है। दीनता सबसे अच्छी चीज़ होती है, दिखावटीपन अच्छा नहीं होता।

इस रास्ते पर चलने वालों को अपने विचारों से अति-सूक्ष्म बनना है। निन्दा हमें बुरी लगती है। हम किसी पढ़े-लिखे व्यक्ति को यदि ज़रा कुछ कह दें तो उन्हें क्रोध आ जाता है। हमारा व्यवहार ही सच्ची साधना है। हमारे देश की साधना प्रेममयी, आत्म साधनों से युक्त, सूक्ष्म मानी जाती है। मुख्य साधन दीनता है, प्रेम है।

" कहु नानक मैं नाहिं कोई गुन, राखि लेउ सरनाई।"

नानक जी फ़रमाते हैं कि - " मैं किसी लायक नहीं हूँ, मेरे पीछे कोई नहीं है, आप मुझे अपनी शरण में ले लें।"

हमें प्रेम को अपनाना है, दीनता को अपनाना है। करुणा मुख्य साधन है। हमें दिखावटीपन से बचना चाहिए। हमें किसी दूसरे का नुकसान, उसकी हानि नहीं करनी चाहिए।

चाहे अपनी हानि ही क्यों न हो जाय। फ़ारसी में ग़रीबी को आजिज़ी कहते हैं। इससे मन कोमल बनता है। मन जितना ही कोमल होगा, उतना ही हमारा अधिकार बनेगा। फ़रीद साहब खड़े थे, किसी व्यक्ति ने उनके गाल पर थप्पड़ जड़ दिया। उन्होंने उसे बुलाकर कहा, " भाई, इस दूसरे गाल पर भी एक थप्पड़ और लगा दो। "

साधना करने वाले इन बातों को समझते हैं। सांसारिक व्यक्ति ऐसा नहीं कर पाते। हमारा व्यवहार कुछ है और बोली कुछ और है। हमारे राम और रहमान एक जैसे होने चाहिए। हमारा व्यवहार कोमल होना चाहिए। हे ईश्वर ! आप ग़रीब निवाज़ हैं, ग़रीबों की रक्षा करते हैं। परन्तु हम स्वयं यह गुण नहीं अपनाते, हम ग़रीबों का शोषण करते हैं। हम सबको आत्मनिरीक्षण करना चाहिए। हमें महापुरुषों की चरण-रज लेनी चाहिए। हमारी माताओं, बहिनों में दीनता है, पुरुषों में उतनी दीनता नहीं होती। मैं आपकी सेवा में हूँ, अपने चरणों की रज दीजिये। ' मेरी रक्षा करें " - ये कोरे शब्द नहीं हैं, हम इनके गहरे अर्थ के भाव को समझते नहीं हैं, क्योंकि हम महापुरुषों की शरण में नहीं जाते।

वास्तविकता यह है कि जितना आपका मन कोमल बनता जायेगा। जितने आपके विचार पवित्र होंगे, उतनी ही आपकी बुद्धि में दीनता आती चली जाएगी। परमार्थ के रास्ते में अधिक ध्यान सद्व्यवहार पर देते हैं और यह प्रेरणा देते हैं कि किसी ने कुछ गलत कहा तो उसे एक कान से सुनें और दूसरे कान से निकल दें।

आप कभी अमृतसर स्वर्ण मन्दिर गए हैं। वहाँ भक्त लोग दर्शनार्थियों के जूते सारे दिन साफ़ करते रहते हैं यह अच्छी आदत है। इससे महापुरुषों की चरणों की रज मिलती है।

सभी महापुरुषों ने प्रेरणा दी है कि दीनता अपनायें। हमें ही महापुरुषों की शरण में जाने का प्रयास करना चाहिए। आपके जीवन में प्रकाश आ जायेगा और मधुरता होगी, आनन्द होगा। हमारा मन कोमल होगा, तभी भगवान की कोमलता प्राप्त होगी। हमारे व्यवहार में कोमलता होनी चाहिए।

भोजन सात्विक हो, खाने में मिर्च-मसाले कम खायें। कच्चा प्याज़ न खायें। मैं एक महापुरुष की सेवा में गया। गुरुद्वारे का लंगर था। वहाँ प्याज़ दी जा रही थी। मैं उसे एक ओर रख रहा था। एक सेवादार ने कारण पूछा- मैंने कहा, " मैंने प्याज़ खाना छोड़ दिया है।' प्याज़ तामसिक है, तामसिकता का प्रतीक है। यह साधना में बाधक है। एक बार

गुरुमहाराज मेरे घर आये। मैंने खाने में कई प्रकार की प्याज़ बनवाई। वे मुझे एकांत में बुलाकर कहते हैं - "आपसे एक बात करनी है।" मैंने कहा, 'फरमाइए।' आप मुझसे बोलते हैं - " आप प्याज़ खाना छोड़ दें और वो भी आज और अभी से।" उनके शब्दों में इतनी शक्ति थी कि मैंने तुरन्त प्याज़ खाना छोड़ दिया। आप कहेंगे कि प्याज़ खाने या न खाने से क्या? ऐसा नहीं। मन पर नियंत्रण आ जाता है। विचार शुद्ध होते हैं। हम तामसिकता से दूर रहते हैं।

इस रास्ते पर चलने वालों को इन आवश्यक बातों को ध्यान में रखना चाहिए। भोजन साफ़ और सादा रहे, जो तुरन्त पच जाये। वह भोजन न हो जो बुराई पैदा करे। यदि भोजन सच्ची कमाई का बना हो तो आपको पवित्र भाव और विचार आएंगे। अन्न सात्विक हो, सच्चाई का हो, तभी आत्मिक भाव पैदा होगा। गुरु महाराज के ये शब्द भूलते नहीं। कई भाई लोग रात को बहुत खाना खाते हैं। इससे साधना नहीं हो पाती। मेरे एक मित्र थे। उन्होंने कोशिश की कि कुछ योग्य बन संसार से मुक्त होऊँ। वे डाक्टर थे। उतना ही खाते थे, जितना हज़म हो जाये। खैर, संक्षिप्त में, अन्न पर विशेष ध्यान देना चाहिए। जैसी कमाई होगी, वैसा ही अन्न बनेगा।

हम सबको इसे अपनाना है। ईश्वर का दूसरा नाम ही 'सेवा' है। सबकी सेवा में लगें। यदि आपका भोजन सही नहीं होगा, आपकी वाणी सत्य नहीं होगी, माफ़ करेंगे, तो नर्क में जायेंगे। इसीलिए हमारे यहाँ लोग जंगलों में चले जाते हैं। इन्द्रियों को वश में करने के लिए आत्मनिरीक्षण करते हैं। और महीने में व्रत रखते हैं। हमारी सभ्यता धीरे-धीरे पुरानी संस्कृति छोड़ती जा रही है। इसीलिए हमारी साधना सफल नहीं हो रही। अपने आप देखें। एक कॉपी बना लें। उसमें अपनी बुराइयों को लिखें और उन बुराइयों को छोड़ने की कोशिश करें। अधिकांश में सफलता कम मिलती है। फिर भी प्रयत्न करना चाहिए, आपको रास्ता मिल जाएगा। इस रास्ते पर चलने वालों को अपने मन को सात्विक बनाना होगा। तीन प्रकार के गुण हैं - तामसिक, राजसिक और सात्विक। आपको सात्विक गुण अपनाना होगा। पूज्य गुरुदेव आपको शक्ति दें। इतना कठिन रास्ता तय करने में आप सफल हों। सात्विक मन, सात्विक भोजन, सात्विक वातावरण - यही आपके तीर्थ हैं और यही धार्मिकता है।

गुरु महाराज दया करें।

आध्यात्मिक परहेज़

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ०करतारसिंह जी महाराज)

हमारे जीवन का जो लक्ष्य होता है उस लक्ष्य को हमें ही प्राप्त करना होता है। वह लक्ष्य कैसे प्राप्त हो ? मोक्ष कैसे मिले ? वे दर्शन कौन से हैं जिनके कर लेने से निर्मल मुक्ति हो जाती है ? प्रायः देखने में आता है कि गुरु के दर्शन तो कर लिए परन्तु हमारी आन्तरिक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया, वह ज्यों की त्यों वैसी ही है। यही समझने की बात है कि जब तक हमारी आन्तरिक स्थिति में परिवर्तन नहीं आयेगा, तब तक हमें सच्चे गुरु के या ईश्वर के दर्शन प्राप्त नहीं होंगे। गुरु महाराज (परमसंत डॉ०श्रीकृष्ण लाल जी) कहा करते थे कि गुरु के दर्शन करने के लिए गुरु के गुणों को तथा ईश्वर के दर्शन करने के लिए ईश्वर के गुणों को अपनाना होगा। असली साधना भी मन ही की है। किसी एक आसन में बैठना कोई बड़ा विशेष साधन नहीं है। बैठाना तो अपने विचलित मन को है। मन के बैठने पर विचलित शक्ति का संचय होता है, हमें शक्ति मिलती है, हमारा पुरुषार्थ जागृत होता है। उससे हमारा विश्वास बढ़ता है कि हमारा रास्ता गलत नहीं है, हम ठीक चल रहे हैं। हमें जिस लक्ष्य को प्राप्त करना है। उसके लिए दीन बनना होगा। हमें दीनता के लिये कुछ न कुछ करते रहना होगा। हम प्रातः उठकर स्नान करते हैं, शरीर को स्वच्छ करते हैं। जीव पानी में हर समय नहाते ही रहते हैं। पर क्या वे जीव पुण्य -पवित्र हैं ? बाहर के स्नान से ही कुछ विशेष नहीं होगा। हमें अन्तर का स्नान करना होगा। उस अन्तर का स्नान करना होगा जिस पर यह वाह्य शरीर कार्यरत रहता है। हमारे भीतर में जन्म - जन्मान्तर से संस्कार भरे पड़े हैं जिनके कारण यह जीवन अशुद्ध हो गया है, बड़ा अजीब हो गया है। चित्त की निर्मल पवित्रता हमारी साधना की नींव है। इसलिए हमें उस मलीन चित्त को शुद्ध और पवित्र करना है। जब तक हमारा भीतर पवित्र नहीं होगा, हमें शान्ति प्राप्त नहीं होगी और जब तक हमारा अन्तर शान्त, निर्मल नहीं होगा, हमें आत्मिक आनन्द नहीं मिलेगा। आत्मिक आनन्द है ईश्वर में लय हो जाना अर्थात् चित्त की वृत्तियों से ऊपर उठ जाना, मन से उपराम हो जाना। सभी ने सरस्वती देवी की तसबीर देखी होगी। उनका वाहन हँस है, जिसका रंग श्वेत है, जो पवित्रता का प्रतीक है। हँस

में पक्षी होते हुए भी विवेक हम मनुष्यों से कहीं अधिक है। वह बड़ी तत्परता से रेत और पानी को छोड़ कर केवल दूध -दूध ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार हँस बनिये । हमारी दशा क्या है ? पहले तो हम लोग शत - प्रतिशत शुद्ध नहीं हैं। पाश्विक वृत्ति, बुराई, को लोग ज़ल्दी पकड़ लेते हैं। नेकी, शुभ्रता की तरफ़ हमारा ध्यान नहीं जाता। यदि गया भी तो क्षण भर,

दो - चार क्षण के लिये। इसके विपरीत बुराई की स्मृति तो लगातार बनी रहती है। हँस की वृत्ति यह है कि वह शुभ गुणों की छान- बीन करके शुभ्रता को अपना लेता है और अवगुणी मलीनता को छोड़ देता है। हमारी ऐसी पवित्र वृत्ति क्यों नहीं बनती ? क्योंकि हम विवेक खो बैठे हैं और वृत्तियों में लिप्त मात्र रह गये हैं। यदि अन्तर की पवित्रता नहीं बनती तो हमें क्या करना चाहिये ? एक मात्र मार्ग है कि हम अवगुणों को छोड़ें और सदगुणों को अपनायें, चाहें एक - दो जीवन की बाज़ी क्यों न लगानी पड़े। तभी हम मनुष्य कहला पावेंगे, नहीं तो हम पशु मात्र हैं। मनुष्यों में सात्त्विक वृत्ति के लोग प्रायः बहुत कम होते हैं। लाखों -करोड़ों में कोई एक होता है जिसमें हँस वृत्ति होती है। हम स्वयँ ईमानदारी से अपनी दशा को, अपने व्यवहार को देखें - परखें। हम हर समय अवगुणों का ही व्यवहार करते रहते हैं। उन की ही चाहना और शकल देखते रहते हैं। हमें दूसरे की निन्दा सुननी दिलचस्प लगती है। हमारी जिह्वा से झूठ निकलता है, बुराई का व्यवसाय चलता है, निन्दा ही निन्दा हमसे प्रस्फुटित होती रहती है, ईर्ष्या, द्वेष भावना निकलती रहती है। इसीलिये तो यदि हमें कभी कभार सत्य बोलना पड़े तो बड़ा कठिन लगता है। अगर सत्य बोल भी दिया तो हम उसे बड़ी कठोरता से, अप्रियता से बोलते हैं। हमारे व्यवहार में माधुर्य तो दूर - दूर भी नहीं है। इसी तरह आँखों से भी बुराई देखने में रुचि ली जा रही है। सबसे निकृष्ट बुराई होती है अन्तरस्थ मन की। हाथ -पाँव, जुबान, जिह्वया से हम कम बुराई करते हैं। परन्तु मन से हम-आप-सब हर समय बुराई करते रहते हैं क्योंकि उसके लिए जाहिरदारी या प्रत्यक्ष में हमें कोई डर नहीं दीखता, फलतः कोई संयम नहीं होता। न कोई मर्यादा न कोई अनुशासन, न अपना न समाज का, न कुल का, न ईश्वर का। चौबीसों घण्टे, अन्तर- मन के भीतर, रेशम के कीड़े की तरह बुराई, बुराई, बुराई, का चिन्तन रहता है। बुराई का चिन्तन करने से निन्दा उभर कर आती है, सो हम निन्दा में लिप्त हो जाते हैं। हमारे भीतर में अशुद्धि और मलीनता के अम्बार लगे पड़े हैं। तब हमारा व्यवहार और रहनी - सहनी भी मलीन हो जाती है। जब तक हम मानसिक रूप से पवित्र नहीं बनेंगे, भीतरी स्नान नहीं

होगा, जो कि नितान्त आवश्यक है। हमारा वाह्य हमारे अन्तर पर निर्भर या आश्रित है। स्थूल बुराईयों का कारण है -- चाहना या भोगेच्छा की वृत्ति का मोह। महात्मा बुद्ध ने सारी बुराईयों का मूल कारण ऐसी इच्छा को ही बताया है। उपनिषदों में भी कहा गया है कि भोगेच्छा आती है तो वासना जागृत होती है। काम का अर्थ केवल कामवासना मात्र ही नहीं है। शरीर के स्पर्श से, आँखों के देखने से, जो प्रातिविम्ब या छाया हम अपने चित्त पर लेते हैं, वह सब कामना ही है। आँख, कान व जिह्वा से वासनार्यें बुराई में लिपट कर हमारे अन्तर में प्रवेश करती हैं। रसों में अनुरक्ति निरन्तर भीतर ही भीतर गहरा मोह संस्कार बनाती रहती हैं जो फिर उखाड़े नहीं उखड़ते। उसके लिये हमें सदा सतर्क रहना चाहिये। इन इंद्रियों से परिणित कार्यों से हम बच नहीं सकते। हर कोई, चाहे वह घर में रहे या जंगल में, वह इनसे काम तो लेगा ही। परन्तु यदि वह सतर्क रहे, जागरूक रहे, चौकीदार बन जाये, अपने ऊपर उपरामता का अंकुश लगा ले तो वह जीवन सिद्धि, जीवन मुक्ति की ओर चल निकलता है।

परमार्थ में साधक की सफलता के लिए परमात्मा के गुणों को अपनाना बहुत आवश्यक है। एक भी गुण जैसे दीनता, परोपकार, सरलता, आदि पूरी तरह आ जाये तो परमार्थी साधक का कल्याण हो जायेगा। जो गुण परमात्मा के हैं, सत्संगी को उन गुणों को अपनाना होगा तथा उन्हें अपने व्यवहार में विकसित करना होगा। हमारा आदर्श, हमारा व्यवहार और हमारा जीवन भी उस अकाल पुरुष परमपिता परमेश्वर की तरह हो। चाहे साधक स्त्री हो या पुरुष, सबको ईश्वरमय बनना होगा।

गुरुदेव सब पर कृपा करें ।

00000000000

गुरु या प्रभु की सच्ची पूजा है -शिष्य का समर्पण - अनुपालन

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ०करतारसिंह जी महाराज)

संसार के देशों में ऐसा कोई धर्म -सम्प्रदाय नहीं जहाँ गुरु की महानता और महत्त्व के प्रति गुरु पूर्णिमा या व्यास पूजा जैसा सुन्दर पर्व मनाने की प्रथा हो। हमारे यहाँ यह दिन जीवन के परम लक्ष्य की ओर ले जाने वाले पूज्यतम मार्गदर्शक - अर्थात् गुरु, की विशेष पूजा का अवसर प्रदान करता है। गुरु तो अपने शिष्यों की हर प्रकार सेवा करने के कारण पूज्य और कृतज्ञता के अधिकारी सदैव ही होते हैं। परन्तु इस शुभ दिन प्रत्येक शिष्य साधक का विशेष प्रयास होता है कि वह अपनी प्रगाढ़ श्रद्धा को अपने सदगुरु के प्रति आभार - स्वरूप प्रकट करे। गुरु भी विशेष कृपा -उदारता पूर्वक अपने प्रिय शिष्यों पर भगवत -प्रसादी की अमृत वर्षा करते हैं।

ये जो पुष्प या पुष्पहार भेंट किए जाते हैं, इनमें वास्तव में साधक का अहंकार समर्पित होना चाहिए। दीक्षा के समय यों तो सभी साधक अपना तन - मन -धन गुरुदेव के चरणों में अर्पित कर देने का वचन देते हैं, परन्तु वास्तव में हम स्वनिरीक्षण करके देखें कि हम उनको क्या दे पाते हैं ? तन और धन की भेंट तो सच्चे सदगुरु चाहते ही नहीं। यदि शिष्यों की खुशी के लिए कुछ स्वीकार करते भी हैं तो वह नाम - मात्र ही लेते हैं। वह तो मन की अर्थात् शिष्य के अहंभाव की भेंट लेना चाहते हैं जिससे उसका उद्धार हो जाए।

इसी प्रकार हम उनके प्रति सम्मान प्रगट करने के लिए उनका चरणस्पर्श भी करते हैं। गुरुवाणी का एक बड़ा सुन्दर भजन है। यदि जीवन का लक्ष्य प्राप्त करना है तो गुरु के चरणों को छुओ। गुरु के चरण केवल शरीर के चरण नहीं हैं (लाभ इनसे भी होता है) किन्तु जो गुरुवाणी में संकेत हैं उसके अर्थ ये हैं कि उनके आत्मिक गुणों को अपने रोम - रोम में रमा लो, अपने भीतर में गुरु के सच्चे स्वरूप को बसा लो जब तक उनके आत्मिक गुणों को नहीं अपनाएंगे और अपने अनात्मिक अवगुणों को नहीं त्यागेगे, तब तक विशेष आध्यात्मिक प्रगति नहीं होगी। गुरु जो कि ईश्वर का प्रतिनिधि स्वरूप है, उसके चरणों में माथा टेकने का सही मतलब यही है कि सबसे पहले हम अपने अहंकार को, अपनी बुराइयों को उनके चरणों में

अर्पण कर दें। उनके सद - वचनों की प्रसादी लें, उनकी निर्मलता लें, उनके गुणों को अपनाएँ और वैसे ही हम हो जायें। वास्तव में वैसे तो हम हैं भी, पर अहंकार के कारण हम समझते हैं कि हम शरीर हैं , हम मन हैं या बुद्धि हैं। कोई समझता है कि मेरी बुद्धि तीव्र है, मैं तो अपनी बुद्धि के चातुर्य से दूसरों को प्रभावित कर लेता हूँ। ये मन की बातें रास्ते की रुकावटें हैं, हमारे अहंकार को पोषित करती हैं। अहंकार कम करने का सबसे सरल तरीका है दीनता अपनाना। दीनता है इस अहं -भावना को छोड़ना । दीनता यह नहीं कि किसी को प्रभावित करने के लिए या उससे काम निकालने के लिए दो -चार मीठी - मीठी बातें कर लीं। यह सूक्ष्म अहंकार है। असली दीनता अपनाना और अहंकार त्यागना यह है कि हमारी आत्मा के ऊपर जो आवरण पड़े हुए हैं, जो आपके बंधन है --उससे मुक्त होना, दीनता है। दीनता है अपने पृथक अस्तित्व का त्याग कर देना। अपनी आत्मा को परमात्मा में मिला देना। परमात्मा और हमारी जीवात्मा एक है। आत्मा के ऊपर आवरण चढ़े हैं जिसके परिणामस्वरूप हम अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं देख पाते हैं। साधना करने का मतलब यही है कि कोई भी पद्धति अपनाएँ उसका परिणाम होना चाहिए कि हमारी आत्मा के ऊपर जो आवरण पड़े हुए हैं इनसे हम इसी जीवन में मुक्त हो जाएँ। यही मुक्ति है। जिसको इन आवरणों से मुक्ति जीते जी नहीं मिली, जिसने जीते जी अपने निर्वाण यानी जीवन मुक्त होने की अनुभूति नहीं की है, वे यह चाहें कि उनको शरीर छोड़ने के बाद मुक्ति मिल जायेगी, सो यह तो सम्भव नहीं है - अपने आप को भ्रम में रखना है।

हमारे जीवन को हर समय प्रभावित करने वाले दो शब्द हैं : स्तुति और निन्दा। स्तुति करनी है तो परमपिता परमात्मा की करो, उसके एक प्रकट स्वरूप संत सदगुरु की करो, और निन्दा करनी है तो अपने आप की कर । दैनिक व्यवहार में अपने विचारों को देखिए। हम प्रतिक्षण दूसरों की निन्दा करते रहते हैं। ऐसा व्यक्ति यदि चाहे कि वो परमार्थ में सफल हो जाए, तो ये अपने आपको धोखा देना है। सत्संग में भी भाई आते हैं, कहते हैं हमें २० -२५ साल हो गए पर अब तक हमें प्राप्ति क्या हुई ? इसी प्रकार का एक भाई का पत्र मिला। मैंने उनसे पूछा तुमने २५ साल में क्या सदगुण सीखे और दोष कौन सा छोड़ा ? और वह मौन था। अपना स्वनिरीक्षण करो। हम दूसरों के दोष देखते हैं, अपना दोष कोई नहीं देखता। हमारे यहाँ

की साधना की विशेष बात यही है हम अपनी स्वयं की दशा का निष्पक्ष निरीक्षण करें, स्वयं के दोष देखें और उनका त्याग करें।

हम सत्संग में आकर सत्संगी तो कहलाते हैं परन्तु गुरु महाराज की बातों का अनुसरण तो दूर की बात है, उन पर मनन भी गम्भीरता से नहीं करते हैं। शिष्यों को यदि गुरु में पूरी आस्था न हो तो उनकी संगति न करें। पर जिस धर्मगुरु पर आपको विश्वास है उस धर्मगुरु के अनुसार चलिए। उसके अनुसार चलना ही उस महापुरुष के चरणों में पुष्प चढ़ाना है, अपने शीश को रखना है। हम चरण छूकर शरण में होने का बाहरी दिखावा करते हैं। इससे बेहतर है कि ऐसा दिखावा न करें।

हम स्तुतिगान करें - ईश्वर का, ईश्वर के प्रकट रूप का गुणगान खूब करें पर इसके साथ - साथ अपने अवगुणों को भी देखते चलें। पूज्य लालाजी महाराज का कथन था कि - दो रास्ते हैं एक ज्ञान का , दूसरा प्रेम साधना का । वह एक बड़ी सुन्दर मिसाल दिया करते थे - दो चादरें बिछी हैं काँटों पर । एक रास्ता यह है कि अपने ग़लत आचरण अर्थात अवगुणों की सारी चादर को एक झटके से तुरन्त ही उठा दें। वो रास्ता है ज्ञान का जो कि सबके लिए सरल नहीं है। दूसरा रास्ता है कि चादर में से काँटों को एक -एक करके धीरे -धीरे निकालते जाएँ। यह तरीका है भक्तों का जिसमें स्तुति करते हुए धीरे -धीरे अपनी ज़िन्दगी से अहंकार, दोषदर्शन, आलोचना और प्रतिक्रिया जैसे अवगुणों के कांटे निकाल फेंकें और आत्मा की 'चदरिया' 'को साफ कर लें।

सच्चा गुरुपूजन यही है की साधक की स्थिति जो ऐसी थी कि "मैली चादर ओढ़ के कैसे पास तुम्हारे आऊँ ?" वह इतनी निर्मल हो जाए कि जब अन्त समय आए तो वह भी ऐसा कुछ कहने योग्य हो जाए कि - " दास कबीर जतन से ओढ़ी , ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया "। इस शुभ दिन हमें स्वयं ऐसी गुरुपूजा करनी चाहिये (केवल औपचारिकता पूरी करने के लिए नहीं) कि हम गुरुदेव की कृपा को पाने के अधिकारी बनें। गुरु पूर्णिमा पर्व मनाने का पूरा और सच्चा लाभ उठा सकें। गुरु महाराज की दया आप सबको प्राप्त होती रहे - यही मेरी शुभ - कामना है।

गुरुदेव हमें शक्ति प्रदान करें।

राम संदेश: नवम्बर- दिसम्बर, 1999

परम पूज्य गुरुदेव द्वारा लिखित पुस्तक "प्रेम का सूर्य " (रामाश्रम प्रकाशन) से साभार

एको सत्य विप्रा बहुधा वदन्ति

(ब्रह्मलीन परमसन्त डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

The truth is one, the wise call it by many names

ऋग्वेद में प्रतिपादित यह शाश्वत सत्य भारत के सांस्कृतिक और धार्मिक स्वभाव की आधार शिला है। जिस तरह से भारतवर्ष अनेक लोगों और अनेक धर्म के मतावलम्बियों का गृहस्थान रहा है वैसा स्थान विश्व में और कहीं भी देखने में नहीं आता। विभिन्न समुदाय के लोग अलग-अलग संस्कृति, धर्म और वंशानुगत परम्परा के साथ सहस्राब्दियों से भारत में आकर रच बस गए। यह सत्य है कि यह देश केवल भारतीय धर्मों का ही निवास स्थान नहीं, बल्कि पश्चिम देशों से आने वाले सेमिटिक (semitic) धर्म, इस्लाम, क्रिश्चियानिटी और जुड़ाइज़्म का भी यहाँ उतना ही विकास हुआ जितना भारतीय सनातन धर्म का। निःसंदेह धार्मिक चेतना की तह में भारतीय भूमि की उत्पादक गौरवशाली प्रेरणा ही रही है। सचमुच ही भारत धार्मिक विश्वासों की वह भूमि है जहाँ जहाँ विश्व के सभी धर्मों का समागम देखने को मिलता है।

यद्यपि समय के साथ धर्म के शाश्वत तत्व में कुछ रूढ़िवादी तत्वों का समावेश होता रहा है, तब भी सनातन धर्म विलीन नहीं हुआ। आज भी भारतीय संस्कृति की जिस निष्ठा की, देश-विदेश के लोगों पर भारतीय संस्कृति की अमिट छाप पड़ी है वह अद्वितीय है। इसका कारण क्या है? वास्तव में इसका कारण सनातन धर्म का वह स्रोत है जो विश्व के लिए अनोखा है। हमारी प्रकृति, परमेश्वर की दयालुता की शक्ति, विवेक बुद्धि, इच्छा शक्ति हमारे जन्म से पूर्व तथा जन्म के पश्चात भी हमारे साथ लगी रहती है, इससे दूर भाग सकना हमारे वश से परे की बात है। अतः यह सदा से है और सदा रहेगी। इसीलिए इनको सनातन धर्म कहते हैं। 'सना' से अभिप्राय सदा से है, जो सदा रहे वह सनातन है। 'धर्म' शब्द का अर्थ है जो जगत् को धारण किये हुए है। इसीलिए सनातन धर्म शाश्वत है। इस देश में मनुष्य जन्म का उद्देश्य

परमात्मा की प्राप्ति है। यह धर्म उस स्रोत को मानता है जहाँ आत्मा को परमात्मा का अंश मानते हैं, जिसे ऋषि-मुनियों ने अपने अनुभव के आधार पर कहा है। सबके लिए उनका एक ही उपदेश है, एक ही सन्देश है। परमात्मा एक है। वह किसी जाति विशेष या धर्म विशेष का नहीं है, बल्कि सारे संसार का है। उसकी प्राप्ति ही सब धर्मों का असली उद्देश्य है। यद्यपि संसार के सभी धर्मों का का शाश्वत सत्य एक ही है, तो भी धर्म का बाहरी स्वरूप एक दूसरे से भिन्न अवश्य प्रतीत होता है। हर धर्म के तह में यदि हम झाँकें तो सबका सार एक ही मिलेगा। मनुष्य होने के नाते हम सब एक ही मानव जाति के हैं तथा हमारा आन्तरिक आधार भी एक ही है। वास्तव में सभी मनुष्य, क्या पूर्व और क्या पश्चिम, सभी एक ही पिता (परमात्मा) की संतान हैं, सब एक समान हैं। किन्तु मनुष्य अहंकार, मोह-माया और विषय-विकारों में इस तरह फँसा है कि वह अपने असली उद्देश्य को तो भूल गया है और आपस में एक दूसरे को हेय दृष्टि से देखने लगा है। धर्म के नाम पर ईर्ष्या, द्वेष, कलह आपस में बढ़ने लगे। अहंकार ने नए-नए सिद्धान्तों को जन्म दे दिया। मानव मानव न रहा, धर्म के नाम पर दानवता नृत्य करने लगी। यह तो सोचने की बात है कि बच्चा जब जन्म लेता है तो क्या धर्म, सम्प्रदाय के अनुसार उसका रक्त, मांस-मंजर, हड्डियाँ, जिगर, गुर्दे, मष्तिष्क और हृदय अलग-अलग होते हैं ? क्या एक का रक्त लाल और दूसरे का काला होता है ? अन्तर कहाँ है ?

यह ठीक है कि हर सम्प्रदाय अथवा धर्म की अपनी विधियाँ हैं, अपने-अपने तरीके हैं और अपना विचार तथा दर्शन है। अपने धर्म के अनुसार चलना गलत नहीं है, क्योंकि सभी धर्मों का उद्देश्य एक है। धर्म तब तक धर्म है जब तक दूसरों को बिना कोई नुकसान पहुँचाये उसका पालन किया जाता है। यह हिन्दू का धर्म है, मुसलमान का अपना धर्म है, ईसाई, सिख का अपना धर्म है, बौद्ध, पारसी और जैन का अपना धर्म है। इन तमाम धर्मों को देखते हुए एक प्रश्न उठता है - क्या मानव होने के नाते उसका कोई धर्म नहीं है ? पृथ्वी पर जब मनुष्य आता है तो क्या वह कोई धर्म अपने साथ लाता है ? आज से लगभग पाँच सौ साल पहले सिख नहीं थे। तेरह सौ साल पहले मुसलमान नहीं थे, दो हजार वर्ष पूर्व ईसाईयों का कहीं नामो-निशान भी न था। धर्म, जाति की यह संकुचित मानसिकता तो हमारी अपनी बनाई हुई है। इसीलिए आज सारा संसार बेचैन है। यह जो आपस में इतनी लड़ाई हो रही है सब इसी संकीर्णता का परिणाम है। जो कुछ भी हम यहाँ देख रहे हैं सब नाशवान है और यहीं छूट

जायेगा। किन्तु आश्चर्य तो इस बात का है कि हम उसी के पीछे मदान्ध हैं, वही हमें स्थिर और सुखदायी प्रतीत हो रहा है। नित्य जो है उसे हम न देख पा रहे हैं और न समझते ही है। यही कारण है कि हमारे अन्दर घृणा, द्वेष व वैर भाव का बाहुल्य होता जा रहा है। आपसी प्रेम तो स्वप्न सा प्रतीत होता है। दुःख है कि आज हम मत, सम्प्रदाय, वर्ग और दल व गुटों तथा जाति-उपजाति आदि की भूल-भुलैयाओं में उलझ गए हैं। अन्तर कहाँ है ? मनुष्य को हिन्दू, मुसलमान, ईसाई अलग धर्म के नाम से कहा जाता है। क्या वह केवल मनुष्य नहीं है ?

वर्तमान समय में हम देख रहे हैं कि विश्व में चारों ओर भीषण विभीषिका मची हुई है। लोग एक दूसरे के रक्त के प्यासे हो उठे हैं। मेरा-तेरा, धर्म-उपजाति को लेकर लोग आपस में लड़ रहे हैं। लोग इधर से उधर आश्रय के लिए भाग रहे हैं। औरतें, बच्चे, बेसहारा ओर अनाथ हो रहे हैं परन्तु अपनी दानवी कृतियों के आगे मनुष्य को इसका होश भी नहीं है कि इस रक्तपात का धार्मिक कृत्य क्या है? क्या यह मानवता के उत्थान के लिए हो रहा है ? शरीर, जो हमारे साथ आता है परन्तु साथ जाता नहीं है, उसी के द्वारा जो नाते रिश्ते संसार में हमारे बनते हैं उस के लिए हम पागल हुए रहते हैं। यह तो मनुष्य के अन्तर का " मैं " है जो देख कर भी नहीं देखता। यह वह "मैं" ही तो है जो कहता है कि मैं अमुक धर्म का हूँ इस भेद-विभेद का रचियता भी तो यह "मैं" ही है। यह वह "मैं" ही तो है जो कहता है कि यह मन्दिर ,मस्जिद, गुरुद्वारा मेरा है। यही मनुष्य को मनुष्य से लड़ा कर सभ्यता को विनाश तट पर पहुँचा देता है। किन्तु फिर भी हम सोचते हैं कि हम बड़े सुखी हैं। परन्तु क्या नाशवान वस्तु भी कभी सुख पहुँचा सकती है ? सब जानते हुए भी मनुष्य मोह माया की धारा में बहा चला जा रहा है जिसका कोई ओर छोर नहीं है। संसार की आशा मनुष्य बांधे रहता है परन्तु क्या कभी परछाई भी हाथ आयी है ? मनुष्य का जन्म अनमोल है, वह बार-बार नहीं मिलता। अतः इसी जन्म में परमात्मा से मिलने की चेष्टा करनी चाहिए। इसीलिए संतों का आगमन संसार में होता है कि वे मनुष्य मात्र को अज्ञान से निकाल कर ज्ञान की ओर ले जायें। संतों की यह परम्परा अनादि काल से चली आ रही है। उन्होंने संसार को केवल एक ही उपदेश दिया है - मनुष्य एक है, प्रकृति एक है, श्रष्टि एक है, उसका रचियता एक है, वह असीम है, उसे घेरे में बांधना कैसा ? मनुष्य जन्म बड़े भाग्य से मिलता है, उसे बंध में बाँधकर जीवन मत गंवाओ। उम्र दिन प्रतिदिन घट रही है। मृत्यु पास मंडरा रही है। अतः परमात्मा का अनुभव अपने अन्तर में करो।

अन्तर की आँखों से सत्य को देखो। संसार सागर की लहरें किसी की प्रतीक्षा नहीं करतीं। संत किसी को घरबार छोड़कर जंगल में जाने को नहीं कहते। पूज्य गुरुदेव (डॉ०श्रीकृष्ण लालजी महाराज) हम लोगों को पूज्य संत बनर्जी साहब के पास ले जाया करते थे। एक दिन उनका एक शिष्य तीर्थ स्थानों का दर्शन करने के लिए जाने की आज्ञा मांगने आया। बहुत शांत भाव के साथ आपने केवल इतना ही कहा - " भ्रमण पर जाओ पर भ्रम को छोड़ कर जाओ।" सत्य है यह भ्रमजाल ही तो है जो हमें नचा रहा है। धर्म कोई कपडा नहीं है जो मन्दिर, गिर्जा, गुरुद्वारा या मस्जिद या गोष्ठी में से आकर उतार कर हँगर में टांग दें। यह तो मानव के रोम-रोम में समा जाने वाला एक अनूठा रंग है जिसमें रंग जाने पर फिर कभी कदम डगमगाते नहीं।

सन्तों का कहना है कि संसार में रह कर सभी सांसारिक कर्तव्यों को निभाते हुए आत्मिक अभ्यास अवश्य करो। इसीलिए वह कहते हैं कि सम्पूर्ण प्राणियों में परमात्मा को देखो और परमात्मा को सम्पूर्ण प्राणियों में देखो। यही धर्म है, यही शाश्वत सत्य है, सनातन है। गीता में स्वयं भगवान ने अपने श्रीमुख से कहा है --

शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्थैकान्ति कस्य च !!

(गीता अ० १४ श्लोक २०)

शाश्वत (नित्य) धर्म का एक एवं अखंड एक रस आनन्द का मैं ही आश्रय हूँ। इन्द्रिय सुख की मृगमरीचिका से निकलकर उस असीम से लौ लगाना ही पड़ेगा। इसके लिए शुद्ध आजीविका की आवश्यकता है। क्योंकि शुद्ध आजीविका ही सत्य विचार और सत्य विवेक की जननी है। देखा जाए तो जितने भी सन्त हुए हैं सभी ने जीवनयापन के लिए स्वयं परिश्रम किया है। कबीरदास कपड़ा बुनते थे, रविदास जूता बनाते थे, नानक, नामदेव सभी अपनी आजीविका के लिए श्रम करते थे। समाज पर भार बनकर जीवनयापन करना भक्ति के विरुद्ध है। आलस और भक्ति का कोई मेल नहीं है। इसीलिए उन्होंने कर्म और आत्मनिर्भरता का उपदेश स्वयं वैसा करके दिया है।

सन्तों का जीवन ही परोपकारमय होता है। उनके लिए तो सभी जाति, धर्म, पंथ व सम्प्रदाय एक होते हैं। उनका किसी से भी भेद-भाव नहीं होता है। वह पुकार-पुकार कर कहते हैं - " उठो, जागो, निर्बलता के इस व्यामोह से जागो/ वास्तव में कोई भी दुर्बल नहीं है/ आत्मा अनन्त, सर्वशक्तिसम्पन्न और सर्वज्ञ है, इसलिए उठो, अपने वास्तविक रूप को प्रकट करो/ तुम्हारे अन्दर जो भगवान है उसकी सत्ता को ऊंचे स्वर में घोषित करो, उसे अस्वीकार मत करो। " (स्वामी विवेकानन्द) अपनी दुर्बलताओं से जागने के लिए उन्होंने हमें सदा प्रेरित किया है। निष्पक्ष भाव से मनुष्यों में वह अपना प्रेम लुटाते रहे क्योंकि वे हर किसी में परमात्मा के रूप को देखते हैं। उन लोगों ने प्रेम के द्वारा घृणा पर विजय प्राप्त की थी। अशान्त जनों को शान्ति तथा दुःखियों को सुख प्रदान किया था। यह सब उन्होंने लोगों को दिया था अपने हृदय की परिपूर्णता के फलस्वरूप। इन सन्तों और महापुरुषों ने निर्भय होकर संसार को उपदेश दिया है। उन्होंने कभी किन्हीं मतों, पन्थों, सम्प्रदाय, जाति व राष्ट्र को संकीर्ण दायरे में बाँध कर न तो चिन्तन ही किया और न उसकी शिक्षा दी। उन्होंने मानव को केवल मानव के ही रूप में देखा। उसकी अपूर्णता और क्षुद्रता के प्रति करुणा का अनुभव किया, मानव में निहित गुणों को विकसित करने की प्रेरणा दी। उनका ध्येय तो भ्रमों में उलझे मनुष्यों को सच्चाई और यथार्थ की ओर मोड़ देना रहा है।

सन्तों का कहना है कि आत्मा जो परमात्मा की अंश है उसे अपने अन्तर में ढूँढो। जीवात्मा अन्तर्मुखी तभी हो सकती है जब वह अपने मन पर संयम करे। मन तो बड़ा चंचल होता है। उसकी आदत ही होती है तरंगें उठाना, जन्म-जन्मान्तरों से संसार में भटकते रहने से उसकी आदत जो हो गयी है। घर-परिवार, धन-दौलत की मोह-माया में उलझ कर असली याद परमात्मा की तो छोड़ बैठता है, सांसारिक प्रलोभनों में भटकने लगता है। मन पर अनेक संस्कारों का भार पड़ा होता है, इसीलिए सब सन्त महात्माओं का कहना है कि अपने अंतर में झाँको। बिना अन्तरावलोकन के मन में स्थिरता नहीं आएगी; इस अन्तरावलोकन से अपनी कमियाँ मालूम पड़ेंगी। अन्तर की कमी दूर होने पर एक अदभुत शक्ति का अनुभव होने लगेगा।

सन्तों का धर्म ही निराला होता है। उनका धर्म मानवता है। वे सत्य की खोज और मानव कल्याण में सदैव लगे रहते हैं। वह कहते हैं - " एक प्रेम के नाते को छोड़कर मैं और किसी भी नाते को नहीं जानता/ केवल प्रेम और वह भी निःस्वार्थ प्रेम/ जो लोग बिना स्वार्थ के मुझे प्रेम

करते हैं, चाहे वे सज्जन हैं या दुष्ट, मैं उन्हें प्रेम करता हूँ/ वे मेरे हैं और मैं उनका/ वे सदैव मुझपर आश्रित रह सकते हैं और वे देखेंगे कि मैं सदैव उनकी सेवा के लिए प्रस्तुत हूँ/ " (पूज्य गुरुदेव डॉ०श्रीकृष्ण लाल जी)ईश्वर सर्वव्यापी है, उसका दर्शन तो संसार की हर चीज़ में होता है, अतः बिना किसी भेद-भाव के सबसे प्यार करना चाहिए। सन्त मन, बुद्धि और आत्मा के भेद -विभेद बता कर सहज ही प्राणी को असली आनन्द की ओर मोड़ देते हैं। मनुष्य में मनुष्यता के उत्तम गुणों को विकसित करना ही सभी सन्तों का प्रयास रहा है। उनका कहना है कि जबतक मनुष्य में मनुष्यता का विकास नहीं होता तब तक क्या उसे मनुष्य कहा जा सकता है ? सत्य, शील, दया, सन्तोष व क्षमा आदि गुण मनुष्य के अन्तर में समां जाना चाहिए।

वास्तव में सच्चा धर्म सर्वव्यापी है। हर एक मनुष्य के लिए, सारे संसार के लिए एक ही है। बाहर से देखने में ज़रूर एक दूसरे से फ़र्क दिखाई देता है। परन्तु अगर हम हर एक धर्म की निष्पक्ष विवेचना करें तो पायेंगे कि सबका लक्ष्य एक ही है। एक ही नियम सब धर्मों का आधार है जो सारे संसार के लिए एक है। वह सदा यही कहते हैं कि माया अर्थात् सांसारिक विषय वासनाओं से उपराम होने के लिए दीनता को अपनाओ। जब तक दीनता नहीं आती 'अहम' से छुटकारा पाना कठिन है। 'अहम ' से छुटकारा मिलने पर ही आत्मा का साक्षात्कार होता है। एक बार आत्मसाक्षात्कार होने पर परमात्मा से मिलन होना कठिन नहीं है।

अब इस आत्मसाक्षात्कार के लिए हमें प्रयत्न करना होगा। साधारण विद्याओं की प्राप्ति के लिए हमें विद्यालय ओर शिक्षकों की ज़रूरत पड़ती है। उसी तरह आत्मतत्व को समझने के लिए अनुभवी सन्त को खोजना होगा। सन्तों की शरण तथा उन सत्संग में जाकर ही परमात्मा के सच्चे नाम के विषय में पता चलेगा और उन्हीं से इनकी प्राप्ति होगी।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने इस बात को सिद्ध कर दिया कि रास्ते और नाम अलग-अलग होते हुए भी परमात्मा एक है और सच्चे भक्तिभाव से खोजने पर वह ज़रूर मिलते हैं। उन्होंने सभी धर्मों की उपासना करके उस धर्म के नामानुसार दीक्षा लेकर ईश्वर के दर्शन किये हैं। इस बात से स्पष्ट है कि ईश्वर के जिस नामरूप की आराधना की जाए वह उसी रूप में दर्शन देंगे।

यह एक ऐसा दृष्टांत है कि बार-बार मनुष्य को सोचने के लिए विवश करता है कि भेद कहाँ है ? यह विरोधाभास क्यों है ? " संसार के सभी विचारशील पुरुषों को इस बात का निश्चय हो चुका है। सभी धर्म एक ही वस्तु को प्राप्त करने वाले भिन्न-भिन्न मार्ग हैं, इसीलिए एक को दूसरे से द्वेष नहीं करना चाहिए। यही बात सर्वत्र बुद्धिमानों के लेखादि से ध्वनित होने लगी है। भिन्न-भिन्न मतों के सम्बन्ध में लोगों के मन में उपेक्षा होती थी और आत्मीयता के अभाव में परस्पर प्रेम उत्पन्न होने का कोई मार्ग ही नहीं था। ऐसी आत्मीयता का अनुभव करने का कोई साधन न था कि भिन्न-भिन्न धर्म वाले अपने-अपने धर्म में रहते हुए भी एक दूसरे के सहधर्मी हैं तथा उन सबका उदगम स्थान एक ही है।

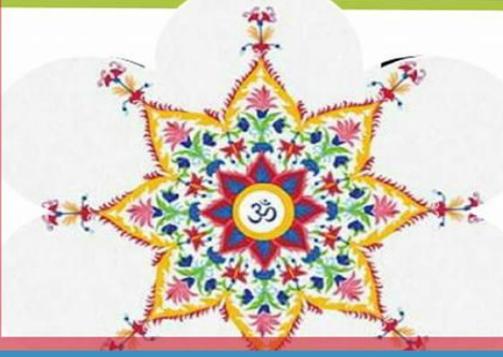
इसी कमी को दूर करने के लिए भगवान श्री रामकृष्णदेव का अवतार हुआ। यही कारण है कि विभिन्न धर्मावलम्बियों को श्री रामकृष्ण में स्वधर्मीय आदर्श गुरु की प्राप्ति हो जाती है। "

0000000



हमारे दुःखों का कारण ही यह है कि हम अपनी आत्मा को नहीं पहचानते, हम परमात्मा से बिछुड़ गये हैं . जब तक हमारा योग परमात्मा से नहीं होगा , हमारी आत्मा का योग उसके सच्चे पति परमात्मा के साथ नहीं होगा , तब तक संसार के चाहें कितने ही पदार्थ प्राप्त हो जायें, व्यक्ति को कभी भी सच्चा सुःख नहीं मिल सकता . सच्चा सुःख तो प्रभु के मिलने में ही है . वही हमारे जीवन का लक्ष्य है . यही मनुष्य चोले का ध्येय है कि इसी जीवन में हम आत्मा का साक्षात्कार करलें , भगवान के दर्शन कर लें .





-सद्गुरु डॉ . करतारसिंह जी महाराज

मानव जीवन में ईश्वरीय गुण सीखें - परमात्मा से साक्षात्कार करें

(ब्रह्मलीन परमसंत डॉ०करतारसिंह जी महाराज)

मेरा निन्दक मेरा सबसे बड़ा हितेषी है, उसको अपने आँगन में बिठा दें ,ताकि वो मेरे दोष देखता रहे और मैं उससे अपने दोषों को सुनकर, उन दोषों से निवृत्त होने की कोशिश करता रहूँ।

हमें कोई बुरी बात कहता है तो हमें बड़ा दुःख लगता है परन्तु कबीर साहब के शब्दों में इतनी गहराई है, वे फिर कहते हैं - " निंदों, निंदों, मुझे निंदों "।बार-बार कहते हैं। उससे मैं जागूँगा। कुम्भकर्ण की जो निद्रा है उसी में प्रत्येक व्यक्ति सोया हुआ है। कुम्भकर्ण तो छह महीने सोता था, हम जीवन- पर्यन्त सोये रहते हैं। तो हमें कौन जगायेगा ? वह जो हमारी आलोचना करता है, हमारी प्रतिक्रिया करता है, हमारी निन्दा करता है। वही वास्तव में हमारा हितेषी है। हितेषी गुरु को कहते हैं। वही हमारा सच्चा मित्र है। तो भीतर में घुस कर देखें कि हमारे में कौन-कौन सी कमियाँ हैं। हमें उन कमियों से निवृत्त होने के लिए प्रयास करते रहना चाहिए। ईश्वर का आश्रय लें, गुरु का आश्रय लें, भीतर में आत्मा है, उसका आश्रय लें। सारा दिन बुराइयों से दूर रहने की कोशिश करते रहना चाहिए। यही परमार्थ का सीधा-सीधा रास्ता है। बाकी जितना है सब इसका विस्तार है।

आपकी इच्छा है जो भी रास्ता आप अपनायें, परन्तु करना यह जरूर पड़ेगा कि हमारे भीतर में जो मलीनता है उससे मुक्त होना ही पड़ेगा। जब तक व्यक्ति के कर्म और व्यवहार में ये मलीनता है, मनुष्य जन्म-मरण के चक्कर से नहीं छूटेगा। कोई दूर जाने की आवश्यकता नहीं है, महाभारत हमारे सामने है, गीता हमारे सामने है। युधिष्ठिर को भी केवल परलोक ही मिला, उसे भी मोक्ष नहीं मिला। मोक्ष बड़ी दूर है। जब युधिष्ठिर जैसे व्यक्तियों को भी केवल परलोक ही मिला, तो हमारी क्या स्थिति होगी ? हमें यह सोचना चाहिए। आप कहेंगे कि रास्ता बड़ा कठिन है। हाँ, महनत न करने वालों के लिए बड़ा कठिन है। परन्तु जिसने दृढ़ संकल्प कर लिया है उसके लिए कोई कठिन नहीं है। केवल एक ही बात करनी है कि हमारे भीतर में जो

अहंकार है उसे ईश्वर के या गुरु के चरणों में अर्पण कर दें। अपनी मति को छोड़कर गुरु की सन्मति में चलना है।

यही भगवान अर्जुन को समझा रहे हैं। अर्जुन अपनी मति पर चलना चाहता है। वह विद्वान और बुद्धजीवी था। ये तो बड़ी कृपा थी अर्जुन पर भगवान की कि उसे इतना सुन्दर उपदेश दिया। अर्जुन पूछे जा रहा है, प्रश्न किये जा रहा है। भगवान कितने दयालु हैं, कितने कृपालु हैं, अपने मित्र अर्जुन के लिए उनके हृदय में कितनी मंगल -कामनाएं हैं, सो वो थकते नहीं हैं, समझाये जा रहे हैं। उन्होंने अंत में जाकर यही कहा है कि - ' हे पार्थ, अब तुम कर्म, धर्म सब छोड़ो, आत्म समर्पण कर दो, अपनी इच्छा को मेरी इच्छा में मिला दो/ मेरी इच्छा के अनुसार कर्तव्य परायण बनो और अपने कर्तव्य के साथ आसक्ति मत रखो/ कितना सरल रास्ता बताया है उसे कि कर्म करते हुए भी अकर्मि हो जाये। गुरुवाणी में भी आता है कि कर्म करते हुए निरकामा'। इस प्रकार से कर्म करते जाँ तो उस कर्म का संस्कार भी नहीं बनेगा। यानी कर्म, अकर्म और विकर्म भी यही है। तो साधारण तरीका है, परन्तु चेतनता चाहिए, व्यक्ति को सचेत रहना चाहिए।

उधर कर्म का जो फल है उसे ईश्वर के चरणों में अर्पण कर दें। निष्काम कर्म के विषय में यही कहना है कि कर्म को प्रेम के साथ करो और वो प्रेम के साथ करते-करते आपका स्वभाव बन जायेगा जैसे सूरज का स्वभाव है, ईश्वर का स्वभाव है सूरज सबको गर्मी देता है, सबको जीवन ज्योति प्रदान करता है परन्तु यह स्वयं नहीं जानता कि मैं क्या कर रहा हूँ? कर्म वह भी कर रहा है। ईश्वर भी इसी प्रकार कर्म कर रहा है। इसी प्रकार भगवान अर्जुन को समझा रहे हैं कि वह भी इसी प्रकार कर्म करे। ' कर्म करते हुए भी कर्म न करना - अकर्मि बन जा/ ये व्यवहार में बरतने से आएगा। किसी ने मुझे गालियाँ दीं, ठीक है - ये भी ईश्वर की तरफ से हुआ। ऐसे रहो कि जिसने गालियाँ दीं उसके साथ भी प्रेम करो, उसको भी ईश्वर रूप मानो। सूफी संत फ़रीद जी कहते हैं - " जो तुम्हारी पिटाई करे तुम उसके घर जाकर उसके पाँव दबाओ/" यह अकर्म से एक चरण आगे है - ये विकर्म है। कर्म करें तो ऐसे करें कि सबको ईश्वर-रूप समझ कर करें और फिर कर्म करते -करते अकर्मि हो जाँ यानी जो कर्म हो वह हमसे अपने आप हो।

' ब्रह्म ज्ञानी पर उपकार ' - यानी ब्रह्म ज्ञानी को पता भी नहीं है परन्तु उसके हृदय से प्रेम झरना जैसे प्रवाहित होता रहता है इस प्रकार प्रेम निकलता है, प्रेम फैलता है और सबको शीतलता और शांति प्रदान करता है। सबका कल्याण तो प्रभु का विरद है, ये उनका स्वभाव बना हुआ है। जब ऐसे कर्म करेंगे तो कर्म का जो फल है, कर्म का जो संस्कार है वो हमें नहीं छुएगा। और जो संस्कारों से अछूता हो गया वह मुक्त हो गया। गुरुजनों ने बड़ा सीधा सरल रास्ता बताया है कि कर्म से कैसे स्वतंत्र हो सकते हैं। कैसे मोक्ष को प्राप्त हो सकते हैं।

महात्मा गाँधी ने गीता का अनुवाद, उसकी व्याख्या करते हुए लिखा है। उन्होंने उसका नाम रखा है - 'अनासक्ति योग ' यानी मोह से मुक्ति का योग। हम सब पढ़ते हैं परन्तु हमसे ऐसा होता नहीं है। ये मन ऐसा बड़मान है कि हमें करने नहीं देता। इसीलिए तो युधिष्ठिर ने एक ही शब्द सीखा, ज़्यादा सीखने की ज़रूरत नहीं है। जो हमारे रोज़ के काम हैं वो सब काम हम निष्काम भाव से करें। दूसरों को सुख पहुँचाने के लिए करें, फल की आकांक्षा न रखें, फल को बलिदान में दे दें। योग रूपी यज्ञ में और स्वतंत्र होकर रात को सोयें और याद नहीं रखें कि हमने सारा दिन क्या किया। किसी ने हमें बुरा कहा या किसी ने भला कहा या हमने कोई काम किया - तो किसी बात की स्मृति हमें न रहे, कोई याद न रहे। हम जब बच्चों को दान देने के बारे में समझाते हैं तो उनसे कहते हैं कि खैरात देनी है तो ऐसे दो कि यदि दाँया हाथ देता है तो बाएँ हाथ को भी पता न चले। छोटी-छोटी बातें हैं जो हम बच्चों को समझाते हैं परन्तु हम लोग स्वयं नहीं समझते।

हम हर बात में अपने आप को फँसाते हैं। भगवान हमें अनासक्त करना चाहते हैं, मुक्त करना चाहते हैं, परन्तु हम मोह में फंसे रहते हैं। इसका यह मतलब नहीं कि हम सेवा न करें, माता-पिता की सेवा न करें, बीबी-बच्चों की सेवा न करें। परन्तु माता-पिता, बच्चों की सेवा करें जैसे यशोदा जी व नन्द जी कृष्ण जी की सेवा करते थे। पहले तो वे उनकी बच्चों की तरह सेवा करते थे परन्तु जब उनको पता चल गया कि ये तो भगवान हैं तो वे उनकी सेवा पूजा के रूप में करते थे। तो माता-पिता बच्चों को प्रभु का रूप ही समझें। बच्चे अगर माता-पिता को परमात्मा का रूप समझें तो दुःख कहाँ है। सिर्फ़ अपने व्यवहार को बदलना है। आज विश्व में कितना दुःख है, कारण यही है कि माता, पिता, बच्चे एक दूसरे का विरोध करना चाहते हैं। यहाँ तक कि पति-पत्नी भी ऐसा ही स्वभाव रखते हैं। ऐसा परिवर्तन समय में आ

रहा है कि हमारे जितने शास्त्र हैं, जितनी मान्यताएं हैं, दर्शन हैं - सब खतम होते चले जा रहे हैं।

मनुष्य का मन जो है हम उसी मन के पीछे लग रहे हैं। मैं सुखी रहूँ चाहे सारा संसार दुखी रहे। हमें आदिकाल से समझाया गया है कि मन के गुलाम न होकर संतों का सा जीवन जियें। ये जितने यज्ञ हैं उनका भाव यही है कि हम सारे संसार को, केवल अपने बच्चों को ही नहीं, सारे संसार को ही अपना परिवार मानकर सारे संसार की सेवा करें और इस सेवा के साथ हमारी आसक्ति यानि कोई आशा न हो। किसी के साथ यदि हम भलाई करते हैं तो यह मत सोचें कि कोई हमें सलाम करेगा, इसे भूल जाइये।

वैसे सारा काम प्रकृति करती है, परमात्मा कुछ नहीं करता। वह तो अकर्मि है। काम हो रहा है - उसके जो भी ज़रिये हैं यानी जो सूरज चाँद हैं या प्रकृति के और स्वरूप हैं - उनके द्वारा मनुष्य को भी वैसा ही बनना है। सबकी सेवा करते हुए बड़ा सरल बनना है। बच्चे कितने सरल होते हैं। जैसे-जैसे बड़े होते जाते हैं माँ-बाप उनसे उतना प्यार नहीं करते। छोटे शिशु को हर कोई गोद में लेना चाहता है। क्या चीज़ है बच्चे में? बच्चे में सरलता है, उसमें रागद्वेष नहीं है, मेरा- तेरा -पन नहीं है। अपने भीतर में से मेरा- तेरा -पन निकालने के लिए लाखों में से कोई एक आदमी सफल होता है। जिसके हृदय से मैं और मेरापन खत्म हो जाता है। बच्चों में, शिशुओं में मैं और मेरापन का भाव होता ही नहीं। ऐसी सरलता सब मनुष्यों के हृदय में आनी चाहिए और उनके व्यवहार में विकसित होनी चाहिए। सरलता का गुण अपनाने वाले मनुष्य ही प्रभु का आलिंगन करते हैं। ये सरलता पुस्तकों के पढ़ने से नहीं आएगी। जिस पर गुरु की या ईश्वर की कृपा हो उसे ही यह सरलता प्राप्त होती है। बड़ा कठिन है बूढ़े से बच्चा बनना। ऐसे निश्छल सरल स्वरूप पर ही परमात्मा की कृपा होती है।

0000000000000000

मानव जीवन का सच्चा सदुपयोग

(ब्रह्मलीन परमसंत डॉ० करतारसिंह जी महाराज)

ईश्वर ने मनुष्य को अपना जैसा बनाया है। अन्य जीवों की तुलना में इसमें विशेषता है कि इसमें विवेक है। वह अपने भविष्य को बनाने के लिए स्वतंत्र है एवं अतीत की मलीनता से मुक्त होने के लिए उसको ईश्वर ने शक्ति दी है। हमारा जीवन एक विस्तार के परिणाम-स्वरूप है - " *We are the result of an evolution* " - इस प्राणी-मनुष्य के आने का मुख्य महत्व यह है कि वह अपने इस जीवन काल में आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाये - मोक्ष को प्राप्त हो। सच्चिदानन्द - जो परमात्मा का स्वरूप है - उस स्थिति में लय हो और उसका स्वरूप - 'सत-चित्त -आनन्द, उसके व्यवहार में भी विकसित होने लगे।

सत -चित्त -आनन्द - मनुष्य के भी लक्षण हैं परन्तु दुर्भाग्यवश जिस मनुष्य को देखो वह अपने स्वरूप को भूला हुआ है। उसके अन्दर शांति का भंडार है, आनन्द और ज्ञान का भंडार है, परन्तु वह कहता है कि मेरे जैसा दुखी और कोई है ही नहीं। चाहे गरीब हो, अमीर हो, स्वस्थ हो, अस्वस्थ हो, सब लोग अपने आपको दुःख से ग्रस्त पाते हैं। सब माया रूपी कीचड़ में फँसे हुए हैं। उनकी होश नहीं कि वो हैं क्या ? वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति के भीतर में परमपिता परमात्मा विराजमान हैं। प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में सुख का भण्डार है। ऐसा जीवन है जहाँ न जन्म-मरण है, न रोग-शोक है, मोक्ष की स्थिति है अपने भीतर। कैसी विचित्र माया है? व्यक्ति अपने स्वरूप को, अपने भण्डार को, अपने भीतर में खोज क्यों नहीं पाता ?

जीवन का विस्तार होता रहता है, evolution (क्रमिक विकास) होता रहता है। मनुष्य जब जन्म लेता है तो उसके चित्त पर पिछले जन्मों के सहस्रों संस्कार अंकित होते हैं। वह इन्हीं संस्कारों, जिनको हम वृत्तियाँ कहते हैं, के अनुसार व्यवहार करता है। उसका कर्तव्य यह है कि वह इस शरीर में रहते हुए इन वृत्तियों से मुक्त हो जाये। यदि ऐसा नहीं होगा तो उसे दूसरा जन्म लेना पड़ेगा या किसी और योनि में जाना पड़ेगा। जितने भी दार्शनिक हुए हैं, संत-सुधारक हुए हैं, सबने मनुष्य को सचेत करने के प्रयास किया हैं। परन्तु मनुष्य सचेत नहीं हो पाता। वह अपने संस्कारों के कारण विवश है। उसका दोष नहीं है। पढ़े-लिखे व्यक्ति जो दर्शन

जानते हैं, वे यह भी जानते हैं कि धर्म क्या है, यह भी जानते हैं कि उन्हें क्या करना चाहिए, पर वे कर नहीं पाते। प्रत्येक व्यक्ति विवश है, वह चाहता है कि उसे सुख मिले, शांति मिले, ऐसा जीवन मिले जहाँ कभी जीना-मरना न हो, अमर जीवन हो, मोक्ष का जीवन हो। परन्तु वह यह तय नहीं कर पाता कि इसके लिए वह करे क्या? हम इस मनुष्य चोले में महान भाग्यशाली हैं। प्रत्येक जीव की विद्या यहीं से प्रारम्भ होती है। प्राचीन काल में इस तरह की शिक्षा बच्चों को दी जाती थी कि वह गुरुकुल में रहे। माता-पिता से अलग होकर गुरु की सेवा करे और गुरु से आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त करे। ये बातें अब खत्म हो गयी हैं।

सरस्वती पूजन का पवित्र त्यौहार इन्हीं दिनों (बसंत पंचमी) में होता है। यह त्यौहार भी इसी का प्रतीक है। हम प्रत्येक वर्ष सरस्वती जी की पूजा करते हैं। परन्तु हम इस पूजन की वास्तविकता का अनुभव नहीं करते और न ही जो लोग जानते हैं कि यह त्यौहार क्यों मनाया जाता है वे लोग उसके अर्थ को समझ कर उस रास्ते पर चलते हैं। वास्तव में विद्या का मतलब यही है कि मनुष्य अपने आप को पहचाने, अपने आप को जाने। प्रत्येक मनुष्य को जानना है कि वह कौन है। शंकराचार्य जी ने लोगों को प्रेरणा दी। उन्होंने लोगों को समझाया 'तत्त्वमसि' अर्थात् हे मनुष्य ! तुम तो वही हो जो ईश्वर है। तुम अपने आपको पहचानो ' **know thyself** जब मनुष्य अपने आपको पहचान लेता है, अपने भीतर के खजाने को जान लेता है तो वह समझ लेता है कि वो तो स्वयं ब्रह्म है, परमात्मा का अंश है, स्वयं परमात्मा ही है।

इस स्थिति में तो वह हमेशा के लिए अमर हो जाता है। न तो उसको शारीरिक दुःख का ज्ञान होता है, न मानसिक दुःख रहता है, न बुद्धि का या अन्य किसी प्रकार का भौतिक रोग रहता है। वह पूर्ण स्वतन्त्र हो जाता है, आनन्द-स्वरूप हो जाता है, आनन्द में लय हो जाता है। समस्या तो यही है कि मनुष्य अपने आप को पहचाने कैसे ? इसके लिए कई पद्धतियाँ हैं, कई साधन हैं। जो भी साधन या पद्धति उसको अच्छी लगे अपनाना चाहिए। कई महापुरुष हुए हैं जिन्होंने साधन बतलाये हैं - वे सभी साधन ठीक हैं, कोई गलत नहीं है।

कोई लोग भक्ति के मार्ग को अपनाते हैं, वो ठीक हैं, कई लोग ज्ञान के मार्ग को अपनाते हैं, वो भी ठीक हैं। कई लोग कोई अन्य साधना करते हैं। साधन कोई गलत नहीं है।

परन्तु मनुष्य को कुछ न कुछ करना चाहिए। हज़रत ईसा ने भी कहा है कि, ' ऐ मनुष्य ! तू अपने आप को पहचान कि तू कौन है। तू तो वही है जो परमात्मा है। ' यही हमारे वेद कहते हैं। यही उपनिषद आदि सदग्रन्थ कहते हैं।

पंद्रहवीं शताब्दी में देश के कोने-कोने में परमात्मा की कृपा से अनेक संत हुए। पंजाब में ही नहीं, उत्तरी भारत में ही नहीं, दक्षिण भारत में भी अनेक संत हुए। हम उनकी जीवनियों से परिचित नहीं हैं। उस समय कबीरदास जी हुए। पंजाब में गुरु नानकदेव हुए। महाराष्ट्र में भी बहुत से संत हुए। यह पंद्रहवीं शताब्दी कुछ विशेष समय था। उस समय जुल्म भी बहुत था। ईश्वर की कृपा से देश के कोने-कोने में बहुत से संत हुए। सबने संतमत अर्थात् राजयोग का प्रचार किया। व्यक्ति को साधना के लिए ज़रूरी नहीं कि वह परिवार को छोड़कर जंगलों में जाए, एकांत में बैठकर साधना करे। वह पारिवारिक जीवन व्यतीत करते हुए भी अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। उसके तीन मुख्य रूप हैं। किसी महापुरुष को ढूंढो जिसको उन्होंने गुरु, सतगुरु कहा। उसका संग करो, उसका स्मरण करो। और ,नाम पद्धति। जो गुरु ने बतलायी है, उस पद्धति को अपनाकर अपना जीवन सफल करो। संक्षेप में, परमार्थ साधन के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं - सतगुरु, सत्संग और सतनाम।

अब कठिनाई यह आती है कि सच्चा गुरु नहीं मिलता। महापुरुषों का कथन है कि यदि आपके पिछले शुभ कर्म हों और इस जीवन में कोशिश की जाये तो ईश्वर कृपा से एक सच्चे गुरु की सत्संगति प्राप्त हो सकती है। यहाँ ईश्वर कृपा को विशेष महत्व दिया गया है। जब सतगुरु मिल गए तो रास्ता सरल हो जाता है। सतगुरु में और ईश्वर में कोई विशेष अन्तर नहीं होता। सतगुरु का रोम-रोम परमात्मा में समरस हुआ होता है। वह परमात्मा का ही रूप होता है। उसका आचरण बहुत ऊँचा होता है। उसका व्यवहार सात्विक तथा आत्मिक होता है। उसका संग ऐसा होता है जैसे सूरज के पास बैठने से प्रकाश की अनुभूति होती है, ऊष्मा की अनुभूति होती है। इसी तरह गुरु के पास रहने से स्नेह एवं शांति की अनुभूति होती है। उसका संग करना मतलब गुरु के समीप बैठना है। उस महापुरुष के पास बैठना उसका संग करना है। जैसे अग्नि के पास बैठने से अग्नि की ऊष्मा की अनुभूति होती है वैसे ही यदि वह सच्चा संत है तो उसके पास बैठने से हमें मानसिक शांति मिलती है। हमारा मन स्थिर होने लगता है। हमें एक प्रकार की सुखानुभूति होती है जिससे समाधि सी लग जाती है, आनन्द की प्रतीति होती है।

व्यक्ति यदि सच्चा साधक है और उसका चित भी निर्मल है तो सच्चे गुरु के पास बैठने से उसकी शेष मलीनता, शेष बुराई भी जितनी उसके चित पर है, धीरे-धीरे अपने आप धुल जाएगी। कोई कार्य करने की ज़रूरत नहीं। यदि सच्चा साधक ऐसे महापुरुष के पास रहता है और उसके आदेश के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करता है तो, विश्वास रखिये, कि थोड़े ही समय में उसमें ऐसा परिवर्तन आ जायेगा कि सारा संसार देखेगा कि इसको क्या हो गया। यह रीति कोई नवीन नहीं है। यह हमारी पुरातन संस्कृति का मात्र एक अंग है जिसको हमने भुला दिया है।

हर जिज्ञासु को इस खोज में रहना चाहिए कि कोई सच्चा संत मिल जाये जिसके पास बैठने पर और कुछ करने की ज़रूरत ही नहीं हो। गंगा-स्नान करने पर शीतलता की अनुभूति न हो यह असम्भव है। सच्चे संत के पास बैठकर यदि शांति नहीं मिलती तो या तो हमारा चित बहुत ही मलीन है या उस संत में कोई कर्मी अवश्य है। जब सतगुरु मिल गया तो फिर करना होगा -उसका सत्संग। यह सत्संग शुरू-शुरू में समीप बैठकर होता है परन्तु बाद में सतगुरु और सच्चे सेवक का आंतरिक सम्बन्ध हो जाता है, प्रेम का नाता हो जाता है। गुरु शिष्य के लिए अपना सब कुछ बलिदान कर देता है, सब कुछ न्योछावर कर देता है। हम अपने कमरे में एक छोटा सा फोटो लगाते हैं उसका जिसको हम प्यार करते हैं। यह भी उसी का प्रतीक है, एक प्रकार की स्मृति है, एक प्रकार की याद है, 'नाम' है। इसी को स्मरण कहते हैं। यह भी 'नाम' का एक रूप है।

यदि उस महापुरुष के साथ साधक का आत्मिक सम्बन्ध हो जाता है तो उसको, या यदि वह अपना शरीर छोड़ चुके हैं, आत्मा के रूप में हैं, तो उनको याद करने से भी आत्मिक लाभ होता है। सतगुरु रास्ता बतलायेंगे, तो वे 'नाम' देंगे। जिस 'नाम' से वे साधना करने को कहें उसे सतनाम कहते हैं। 'नाम' और 'नामी' में कोई अन्तर नहीं होता। जब सतगुरु 'नाम' देता है वह केवल यह नहीं कहता कि " राम कहो, ॐ कहो" । शर्त यह है कि सच्चे साधक का चित निर्मल हो और उस 'नाम' को ग्रहण करने की उसमें उत्सुकता हो। सूरज बाहर प्रकाश दे रहा है, हम खिड़की बन्द कर देते हैं तो सूरज का कोई दोष नहीं जो प्रकाश हमें नहीं मिल रहा। दोष हमारा है कि हमने खिड़की बन्द कर रखी है। इसलिए यह आवश्यक है कि सच्चा गुरु भी हो और सच्चा साधक भी जो अपने हृदय की खिड़की खोल कर रखे।

कई अभ्यासियों को पहली ही स्थिति में, पहली ही बार बैठने पर, आत्मिक अनुभूति होना शुरू हो जाती है, किसी को बाद में धीरे-धीरे प्राप्त होती है। यह जैसी किसी की स्थिति होती है उसे वैसे प्राप्त होती है। इसी को 'गुरु-प्रसादी' या 'ईश्वर-प्रसादी' कहते हैं। प्रसादी का मतलब है - गुरु की कृपा, गुरु की प्रसन्नता जो शिष्य पर हो जाती है। गुरु शिष्य पर कई प्रकार से कृपा करता है। उधर शिष्य की सबसे उत्तम सेवा गुरु के आदेश को शत-प्रतिशत मानने और उसके अनुसार अपना जीवन व्यतीत करने में है। गुरु कुछ नहीं चाहता, वह केवल यही चाहता है कि शिष्य कुशलता पूर्वक रहे और वह इस प्रकार जीवन व्यतीत करने के लिए शिष्य को कुछ बातें बता देता है। जैसे हमारी संस्कृति के कुछ यम और नियम हैं, उनकी बातें बता देता है। जो सच्चा साधक होता है वह गुरु की प्रशंसा का पात्र होने की कोशिश करता है। वह उनके उपदेशों का पालन करता है। जितनी उसकी पात्रता बढ़ती जाती है उतना ही अधिक प्रसाद शिष्य को गुरु से मिलता जाता है। एक समय ऐसा आ जाता है कि कबीरदास जी कहते हैं - "तू-तू करता तू भया, मुझमें रहा न हूं/" नाम का अर्थ केवल शब्द नहीं है। 'नाम और नामी', या गुरु और शिष्य - दोनों एक ही चीज़ हैं।

यह 'नाम' एक बीज है। यही बीज अंकुरित होता है, पौधा बनता है, बृक्ष बनता है, पत्ते लगते हैं, शाखाएँ लगती हैं, फल-फूल लगते हैं। 'नाम' एक सीढ़ी है, 'नाम' एक रास्ता है। शुरू में यह साधना कहलाता है। साधना की पूर्ति होने पर यही 'नाम', नामी से मिला देता है। सारी साधना-अवस्था को 'नाम' ही कहते हैं। केवल नाम लेते रहना, राम-नाम या ॐ आदि कहना काफी नहीं है। काठ की माला जपने से कुछ खास फ़ायदा नहीं होगा। मन की माला जपनी चाहिए। धीरे-धीरे मन से, फिर बुद्धि से जाप करते हैं, फिर मौन जाप और फिर आत्मिक जाप करते हैं। इस अवस्था में केवल परमात्मा रह जाता है। उस आयाम में कौन नाम लेने वाला और कौन नामी जिसका नाम लिया जाता है - इसका भेद मिट जाता है और रह जाता है केवल परमात्मा ही।

यह संत-सूफ़ियों की संस्कृति है जिसका प्रचार पन्द्रहवीं शताब्दी में हुआ और आजकल भी हो रहा है। परन्तु यह पुरानी संस्कृति है, नई नहीं है। पढ़े-लिखे व्यक्ति ज़ल्दी से किसी पर विश्वास नहीं करते और न ही करना चाहिए। हमारे पूज्य दादा गुरु (पूज्य महात्मा रामचन्द्रजी महाराज) फ़रमाया करते थे कि हम जब बाज़ार में सौदा खरीदने जाते हैं तो जो चीज़ जहाँ

अच्छी मिलता है, सस्ती मिलती है, वहीं से लेते हैं। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि किसी को अपनाने से पहले वह उसकी खूब जाँच-पड़ताल करे। गुरु की पहले जाँच करनी चाहिए कि उसका आचरण शुद्ध है, उसकी रहनी-सहनी शास्त्रों के अनुकूल है। क्या वह जैसा बाहर से बोलता है वैसा भीतर से भी है, उसका व्यवहार भी वैसा है या नहीं ? और मुख्य बात है कि उसके पास बैठने से हमारे हृदय में परिवर्तन आता है या नहीं। हमें झूठ बोलने की आदत है, बुराई करने की आदत है, छोटी-मोटी चोरो करने की आदत है, तो उसके (गुरु के) पास बैठने से हमारी ये बुराइयाँ कम होती हैं या नहीं ? क्या हम दुःख में अत्यन्त दुखी और सुख में अत्यन्त सुखी हो जाते हैं ? यदि ऐसा है तो यह तो साधारण मनुष्य की ही स्थिति है। ऐसा नहीं करना चाहिए कि यदि दो-चार व्यक्ति दीक्षा ले रहे हैं तो आप भी लाइन में खड़े हो जाएँ कि हमें भी 'नाम' दे दें।

ऐसे महापुरुष की सेवा और सत्संग में जाकर, भगवान् कृष्ण जैसा कहते हैं - सुख-दुःख आया तो क्या हम सम-अवस्था में, आत्म-स्थिति में रह पाते हैं ? यदि हम विचलित होते हैं हमें सत्संग का पूरा लाभ अभी नहीं मिला। या तो हमारे में कमी है या या हमारे गुरु में कमी है। व्यक्ति के लिए वेदों में, शास्त्रों में, उपनिषदों में जो सद्गुण बताये गए हैं यदि सत्संग में आकर वे गुण हममें प्रकाशित नहीं होते, तो सत्संग में आने का कोई फ़ायदा, कोई मायना नहीं। यही भाव पूज्य गुरु महाराज ने व्यक्त किया है।

जब सत्संग खत्म होता है तो हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि ' सबका भला करो भगवान ' इसका क्या मतलब है? क्या यह प्रार्थना ईश्वर तक जाएगी ? हमारी यह प्रार्थना ईश्वर के पास तभी जाएगी जब हम इस प्रार्थना को अपने व्यवहार में उतारेंगे। हमारा शरीर, हमारी आत्मा, हमारी बुद्धि, हमारी सम्पत्ति जब सबके भले में खर्च होगी। तब यह प्रार्थना स्वीकार होगी अन्यथा यह एक रिवाज़ मात्र बन कर रह जायेगी। सबका भला करना प्रभु के जिम्मे है पर यह हमारा भी कर्तव्य है। क्या हम अपने व्यवहार में, वाणी में, विचार में, हाथ-पैरों से सबका भला करते हैं ? यही तो गीता का उपदेश है, कर्म करने का सिद्धान्त है। व्यक्ति को अपना सब कुछ न्योछावर कर देना है, संसार को सुखी बनाने के लिए। संसार का सुख पहले, अपना सुख बाद में - तभी तो वह निस्वार्थी होगा, स्वार्थी नहीं जो केवल अपने सुख की ही बात सोचता है। भगवान कहते हैं अपने कर्म में स्वार्थ का त्याग करो। जब हम औरों का भला

करेंगे तभी तो हमारे अपने स्वार्थ कम होंगे। यदि सारा विश्व ऐसा करे तो पूरे विश्व में शांति ही शांति हो जाय।

इस वक़्त क्या हो रहा है, सब देख रहे हैं। अखबारों की हेड-लाइन्स पढ़ कर दिल काँप उठता है। इस सबके पीछे क्या है ? निजी स्वार्थ, घोर लिप्सा और अहंकार। ख़ैर, साधकों को अपना जीवन संतों के उपदेशों के अनुसार बनाना चाहिए। संतों का जीवन शास्त्रों के अनुसार होता है, शास्त्रों के प्रतिकूल नहीं। कोई भी संत ईश्वर की सत्यता के प्रतिकूल नहीं जायेगा। इसलिए उसके उपदेश को मानना हमारा धर्म हो जाता है। परन्तु खेद है, हम बातें तो बहुत सी करते हैं परन्तु हमारा व्यावहारिक जीवन हमारे आदर्शों के अनुरूप नहीं होता है।

परमार्थी तो सर्वप्रथम यह प्रयास करे कि कोई सच्चा गुरु मिल जाए जिससे उसे सच्ची विद्या प्राप्त हो सके। यही सरस्वती जी की पूजा का प्रसाद या वरदान है। सच्चा ज्ञान यही है कि हम उनकी सेवा करें, और उनके बताये हुए रास्ते पर चलकर अपना जीवन सफल करें। यह सादा सा सिद्धान्त ही संतमत है, जिसको सेवक भी अपनाता आया है और आप भी यदि इसे अपनाएंगे तो निश्चय ही लाभ होगा। इस रास्ते में ज़ोर -ज़बरदस्ती नहीं होती। प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रता है कि वह चाहे जिस महापुरुष के पास जाये, जिस उपनिषद या धर्मग्रंथ को पढ़े। वास्तव में यह रास्ता मौन का है। यहाँ कम से कम शब्दों का उपयोग किया जाता है। सभी गुरुजन यही कहते हैं कि कम बोलना चाहिए, कम खाना चाहिए और कम ही सोना चाहिए।

वास्तव में सत्संग साधना की यह विद्या मौन की ही है। पहले मन का, तत्पश्चात् आत्मा का मौन होता है। यही हमारे जीवन का लक्ष्य है। आप जैसे साधना करते हैं, करियो। परमात्मा के जिस रूप को आप मानते हैं, जिसमें आपका विश्वास है, उसी के ध्यान में बैठें। फिर यह ख्याल करें कि परमात्मा उस रूप के समीप में आप बैठे हैं और उनकी कृपा उनके हृदय में से निकलकर आपके शरीर में प्रवेश कर रही है। ईश्वर का जो नाम आप लेते हैं, मन ही मन वह नाम लेते रहियो। शरीर बिलकुल ढीला हो जैसे कपड़ा टंगा होता है खूँटी पर। जितना शरीर ढीला होगा, उतना ही व्यक्ति साधना में आराम से जमता है और लीन होता है। शरीर भी ढीला हो, मन भी ढीला हो, बुद्धि में तर्क-वितर्क बिलकुल न हो, बस प्रगाढ़ निर्मल प्रेम का, श्रद्धा और

समर्पण का भाव होना चाहिए कि हम ईश्वर-प्रसादी ग्रहण कर रहे हैं। हमें गुरु-कृपा का आभास होने लगेगा।

गुरुदेव सबका कल्याण करें।

0000000000000000

राम सन्देश :फरवरी 1994



संत के भीतर से पवित्र किरणें निकलती हैं . जो व्यक्ति उनके सम्पर्क में आते हैं उनका उद्धार हो जाता है . इसलिए संतों के सत्संग का महत्व है . सत्संग में अपने हृदय की खिड़की खोल कर बैठना चाहिये . अपना कोई निजी अभ्यास नहीं करना चाहिये . परमात्मा के जिस रूप को आप मानते हैं उस रूप को सामने रख कर बैठना चाहिये . ख्याल करें कि उसी के स्वरूप से 'कृपा' की किरणें आपके शरीर में , आपके मष्तिस्क में प्रवेश कर रही हैं